इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

बीएचआईसी-105

भारत का इतिहास-III
(लगभग 750-1206 सी.ई.)

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

विशेषज्ञ समिति

प्रो. कपिल कुमार (संयोजक)
अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. पी. के. बंसत
इतिहास और संस्कृति विभाग
मानविकी एवं भाषा विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

प्रो. डी. गोपाल
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. माक्खन लाल
संस्थापक, निदेशक एवं प्राध्यापक
दिल्ली का विरासत अनुसंधान
और प्रबंधन संस्थान, नई दिल्ली

डॉ. संगीता पांडे
इतिहास विभाग,
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम समंवयक : प्रो. नंदिनी सिन्हा कपूर

पाठ्यक्रम संयोजन दल

प्रो. नंदिनी सिन्हा कपूर डॉ. शुचि दयाल डॉ. अभिषेक आनंद

पाठ्यक्रम निर्माण दल

इकाई संख्या	पाठ्यक्रम लेखक	इकाई संख्या	पाठ्यक्रम लेखक
1.	डॉ. शुचि दयाल, शैक्षणिक सलाहकार, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	9.	डॉ. ऋचा सिंह, पी.एच.डी., इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2.*	डॉ. अशोक शेट्टर कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़	10.******	प्रो. चंपकलक्ष्मी, इतिहास अध्ययन केन्द्र से सेवानिवृत्त, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; डॉ. वी. के. जैन, इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; प्रो. हरबंस मुखिया, इतिहास अध्ययन केन्द्र से सेवानिवृत्त, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
3.**	डॉ. पिंटु कुमार सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरु महाविद्यालय (संध्याकाल), दिल्ली विश्वविद्यालय; डॉ. नैना दासगुप्ता, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय, कैलाश कॉलोनी, नई दिल्ली; डॉ. संगीता पांडे, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	11.*******	श्री प्रेम कुमार, सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरु महाविद्यालय, (संध्याकाल), दिल्ली विश्वविद्यालय
4.***	प्रो. वाई. सुब्बारायलु, अध्यक्ष भारतीय विद्या विभाग, फ्रेंच इंस्टीटयूट ऑफ़ पॉडिचेरी, पुदुचेरी; डा. संगीता पांडे, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	12. एवं 13. ********	प्रो. रणबीर चक्रवर्ती इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
5.****	प्रो. के. एम. श्रीमाली, इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	14.*********	प्रो. अजय डांडेकर, शिव नाडर विश्वविद्यालय, नोएडा, उत्तर प्रदेश
6.*****	डॉ. जया प्रियदर्शिनी पी.एच.डी., इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	15.	डॉ. ऋचा सिंह, पी.एच.डी., इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

7.	डॉ. जया प्रियदर्शीनी, पी.एच.डी., इतिहास अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली; डॉ. खुशबु कुमारी, शैक्षणिक सलाहकार, नॉन कॉलिज्येट वुमेन्स एजुकेशन बोर्ड (भारती कॉलेज), दिल्ली विश्वविद्यालय	16.	डॉ. अवंतिका शर्मा इतिहास विभाग, इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
8.	डॉ. अवंतिका शर्मा, इतिहास विभाग, इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	17.	डॉ. शुचि दयाल, शैक्षणिक सलाहकार, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

* यह भाग ई.एच.आई.-03 (भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक), खंड 3 (भारतीय राजनीति : क्षेत्रीय विभिन्नताएँः आठवीं सदी से तेरहवीं सदी तक), इकाई 10 (पश्चिम तथा मध्य भारत) से ग्रहित है।

** यह इकाई बी.एच.आई.सी.-132 (भारत का इतिहास : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक), इकाई 10 (राष्ट्रकूटों का आविर्भाव) एवं एम.एच.आई.-04 (भारत में राजनैतिक संरचनाएं), खंड 2 (प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में राज्य), इकाई 5 (उत्तर भारत में सातवीं से बारहवीं शताब्दी ई. के दौरान प्रारंभिक मध्यकालीन राजनैतिक पद्धतियां) से ग्रहित की गई है।

*** यह इकाई बी.एच.आई.सी.-132 (भारत का इतिहास : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक), इकाई 6 (कदंब, बादामी के चालुक्य, चोल और होयसल राज्य) से ग्रहित की गई है।

**** यह इकाई ई.एच.आई.-03 (भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक), खंड 2 (समाज और संस्कृति : आठवीं से तेरहवीं सदी तक), इकाई 7 (क्षेत्रीय सांस्कृतिक परंपराओं का विकास) से ग्रहित है।

***** यह इकाई बी.एच.आई.सी.-132 (भारत का इतिहास : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक), इकाई 11 (अरब : हमले एवं विस्तार) और इकाई 12 (महमूद ग़ज़नी और मोहम्मद ग़ौरी : आक्रमण एवं प्रतिरोध) से ग्रहित है।

****** यह इकाई ई.एच.आई.-03 (भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक), खंड 1 (प्रारंभिक मध्ययुगीन अर्थव्यवस्था : आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक), इकाई 1 (कृषि अर्थव्यवस्था), इकाई 3 (वाणिज्य और व्यापार), एवं एम.एच.आई.-05 (भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास), खंड 3 (प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था और उसकी निरन्तरताएँ), इकाई 10 (भारतीय इतिहास में सामंतवाद : विभिन्न दृष्टिकोण) से ग्रहित है।

******* यह इकाई बी.एच.आई.सी.-132 (भारत का इतिहास : लगभग 300 सी.ई. से 1206 तक), इकाई 14 (सामाजिक सरंचना और लैंगिक संबंध : लगभग 700-1200 सी.ई.) से ग्रहित है।

******** ये इकाइयाँ एम.एच.आई.-05 (भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास), खंड 3 (प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था और उसकी निरन्तरताएँ), इकाई 14 (व्यापार-तंत्र एवं शहरीकरण : उत्तर भारत लगभग 300-1300 ईसवीं) एवं इकाई 15 (विनिमय तंत्र, व्यापारी संगठन एवं शहरीकरण : दक्षिण भारत) से ग्रहित है।

********* यह इकाई एम.एच.आई.-06 (भारत में विभिन्न युगों के दौरान सामाजिक संरचना का विकास), खंड 4 (प्रारंभिक मध्यकालीन समाज), इकाई 15 (समाज में धर्म) एवं खंड 6 (मध्यकालीन समाज-2), इकाई 22 (सामाजिक धार्मिक आंदोलन) से ग्रहित हैं।

सामग्री प्रारूप और भाषा संपादन : प्रो. नंदिनी सिन्हा कपूर, डॉ. शुचि दयाल

अनुवाद
श्री बिरेन्द्र साह
श्रीमति अनीता चौधरी

ग्राफ़िक्स
डॉ. शुचि दयाल

कवर डिज़ाइन
श्री राकेश कुमार
डॉ. शुचि दयाल
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ,
इग्नू, नई दिल्ली

पुनरीक्षण (Vetting)
डॉ. शुचि दयाल
डॉ. अभिषेक आनंद

मुद्रण निर्माण

श्री. तिलक राज
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

श्री यशपाल
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

मार्च, 2021

© *इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2021*

ISBN-81-266

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के विश्वविद्यालय कार्यालय मैदान गढ़ी नई दिल्ली से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव, एम.पी.डी.डी. द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी–166ए, भगवती विहार, (नजदीक सेक्टर 2, द्वारका, उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059

मुद्रक :

पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए दिशानिर्देश

इस पाठ्यक्रम में हमने शिक्षण सामग्री को प्रस्तुत करने के लिए एक समान प्रतिमान का पालन किया है। यह पाठ्यक्रम महत्वपूर्ण घटनाओं को एक कालानुक्रमिक तरीके में रेखांकित करते हुये एक परिचय के साथ शुरू होता है। इसमें 17 इकाइयाँ है। अध्ययन की सुविधा के लिए सभी इकाइयों को एक समान संरचना के साथ प्रस्तुत किया गया है। इकाई के पहले भाग में उद्देश्य यह जानने में मदद करते हैं कि आपको इकाई के अध्ययन से क्या सीखने की उम्मीद है। कृप्या इन उद्देश्यों को ध्यान से देखें और इकाई के कुछ भागों का अध्ययन करने के बाद उन्हें प्रतिबिंबित और जाँचते रहें। इकाई की प्रस्तावना आपको संबंधित विषय क्षेत्रों से परिचित कराती है और आपको विषय-वस्तु प्रस्तुत करने के तरीकों के बारे में बताती है। इसके बाद भाग व उप-भाग के माध्यम से मुख्य विषय क्षेत्र पर चर्चा की गई है ताकि वह आसानी से समझ आ सके।

पाठ के बीच में कुछ बोध प्रश्न प्रदान किये गये है। हम अपको सलाह देते हैं कि जब आप उन तक पहुंचें तो इनके उत्तर लिखने का प्रयास करें। ये आपके अध्ययन का आंकलन करने व विषय की अपनी समझ का परिक्षण करने में आपकी मदद करेंगे। सारांश के बाद दिए गए बोध प्रश्नों के उत्तरों के दिशानिर्देशों के साथ अपने उत्तरों की तुलना करें। प्रमुख शब्दों और अपरिचित शब्दों को शब्दावली के माध्यम से समझाया गया है। इकाई के अंत में हमने संदर्भ ग्रंथ के तहत पुस्तकों और लेखों की एक सूची भी प्रदान की है। इनमें वे स्रोत शामिल हैं जो संबंधित इकाई के लिए पठन सामग्री विकसित करने के लिए उपयोगी हैं या अध्ययन सामग्री के निर्माण के दौरान प्रयुक्त किए गए हैं। आप उन पर अवश्य नज़र डालें। वे विषय-वस्तु को समग्र रूप से समझने और सीखने में आपकी सहायता करेंगे।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

पाठ्य विवरण

पाठ्यक्रम परिचय

इकाई 1	ऐतिहासिक स्रोत	9
इकाई 2	राजनीतिक परिदृश्य-I – राजपूत : उदय और सत्ता के लिए संघर्ष	29
इकाई 3	राजनीतिक परिदृश्य-II – राष्ट्रकूट व पाल	44
इकाई 4	राजनीतिक परिदृश्य-III – चोल व चालुक्य	60
इकाई 5	कला और वास्तुकला : उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत	75
इकाई 6	अरबों की सिंध पर विजय, तुर्की आक्रमण, महमूद ग़ज़नी और मोहम्मद गौरी	90
इकाई 7	अरब और तुर्की आक्रमणों का सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव	123
इकाई 8	समाज, अर्थव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और संस्कृति : पूर्व और उत्तर-पूर्व भारत	137
इकाई 9	दक्षिण-पूर्व एशिया में राजनैतिक और सांस्कृतिक विस्तार	145
इकाई 10	कृषि, भू-स्वामी, कृषक और जनजाति : सामंतवाद विवाद	160
इकाई 11	जाति, लिंग और व्यवसाय	181
इकाई 12	व्यापार, व्यापार मार्ग और समुद्री व्यापार	200
इकाई 13	वैणिक श्रेणियाँ और उत्तर व दक्षिण भारत में शहरीकरण	223
इकाई 14	धर्म का विकास	241
इकाई 15	शिक्षा, बौद्धिक परंपराएँ, विचार विमर्श एवं दर्शन	256
इकाई 16	भाषाएँ और साहित्य	269
इकाई 17	विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण	282

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

पाठ्यक्रम परिचय

वर्तमान पाठ्यक्रम लगभग 750-1206 सी.ई. की अवधि के भारत के इतिहास से संबंधित है। इस अवधि को प्रारंभिक मध्यकाल भी कहा जाता है। इस अवधि में कुछ विशेषताएं उभरने लगीं जो इसे प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से अलग बनाती हैं। ये परिवर्तन मध्यकालीन युग में निश्चित रूप से उभर कर आए। हालांकि हमें याद रखना होगा कि इतिहास के एक चरण से दूसरे चरण में परिवर्तन न केवल एक राजवंश से दूसरे राजवंश की ओर परिवर्तन के रूप में किया जाता है, बल्कि स्थानीय राजवंशों के उद्भव के रूप में भी परिवर्तन को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों यानि आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि के संबंध में देखा और विश्लेषित किया जाना चाहिए। इन सभी क्षेत्रों में हम इस चरण के दौरान महत्वपूर्ण परिवर्तन पाते हैं। उदाहरण के लिए, सामंती संरचना समेकित हो गई और इस अवधि के अंत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई।

सामंतवाद की कुछ विशेषताएं गुप्तकाल से सामने आईं और वे गुप्तोत्तर काल में और अधिक उजागर हुईं। बड़ी संख्या में अनुदान प्राप्तकर्ताओं को भूमि का अनुदान किया गया। इन भू-स्वामियों ने राजनीतिक अधिकार भी हासिल किए। किसानों, कारीगरों और व्यापारियों की गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाया गया। कृषकों की स्थिति बिगड़ती गई और जबरन श्रम को प्रमुखता मिली। शहरीकरण की प्रक्रिया को एक झटका लगा और वाणिज्य और व्यापार में गिरावट देखी गई।

हम यहां उल्लेख करना चाहेंगे कि अध्ययन के तहत अवधि का इतिहास विभिन्न स्रोतों पर आधारित है। ऐतिहासिक संदर्भ में जानकारी, विश्लेषण और व्याख्या करने के लिए इतिहासकार समकालीन साहित्यिक ग्रन्थों का उपयोग करते है। शिलालेख और पुरातात्विक स्रोत इस अवधि पर आवश्यक जानकारी प्रदान करते हैं।

पहली इकाई इन स्रोतों से संबंधित है जो इस अवधि के पुनर्निर्माण के लिए महत्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक लेखन की कुछ विधाएँ इस काल में सामान्य हुईं जैसे *चरित, काव्य* और *वंशावलियाँ*। इस अवधि ने इस्लामी इतिहास-लेखन की शुरूआत भी देखी और कई विद्वानों ने ऐसे ग्रन्थों को लिखा जिन्हें प्रकृति में वास्तव में ऐतिहासिक माना जा सकता है। इकाइयां 2, 3 और 4 विभिन्न क्षेत्रिय राजनीतिक शक्तियों से संबंधित हैं जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में पकड़ मज़बूत की। हम एक सामान्य स्तर पर उनकी प्रकृति पर चर्चा करेंगे और उनकी क्षेत्रीय विशेषताओं का विश्लेषण करेंगे। कुछ राजनीतिक शक्तियां जैसे राजपूत वंश अपना प्रभाव दिखाती हैं। हम राज्यों के उदय में वंशों और भूमि अधिकारों जैसे कारकों के महत्व का आंकलन करेंगे। कई शक्ति-स्तरों के एकीकरण की प्रकृति पर भी प्रकाश डाला जाएगा। दक्षिण भारत की राजनीति से पता चलता है कि पल्लवों (छठी शताब्दी) और चोलों (तेरहवीं शताब्दी) के मध्य विशिष्ट राजनीतिक-सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ एक क्षेत्रीय राज्य के रूप में तमिल वृहत-क्षेत्र का विकास हुआ। पांचवी इकाई इस अवधि में वास्तुशिल्प परंपरा के एक निश्चित रूप धारण करने की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेगी। द्रविड़, नागर और वेसर नामक तीन स्थापत्य शैलियां उभरीं। कला और वास्तुकला में भी क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति ने जड़े जमा लीं। मंदिर की वास्तुकला और अन्य कलाएं जैसे पत्थर व धातु की मूर्तियां, चित्रकला गुप्तोत्तर शताब्दियों में लोगों के भौतिक जीवन में हो रहे परिवर्तनों का सूचक है।

प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक युग के संदर्भ में आवधिकता (Periodization) पूर्ण रूप से संदिग्ध नहीं है, वास्तव में हम इससे बच नहीं सकते। समस्या तब शुरू होती है जब हम प्राचीन भारत को हिन्दू, मध्यकालीन के साथ मुस्लिम और आधुनिक के साथ 'ब्रिटिश' काल की पहचान करते हैं। लेकिन सबसे कठिन कार्य उपरोक्त अवधि से संबंधित तिथियों का निर्धारण करना है। प्राचीन भारत कब समाप्त हुआ और मध्यकालीन भारत की शुरूआत

कब हुई? आधुनिक भारत की अवधि-सीमा क्या होनी चाहिए? इस समस्या का हल करने के लिए निश्चित रूप से कोई ''वैज्ञानिक'' निश्चित तिथियाँ नहीं दी जा सकतीं। और शायद यही कारण है कि हम क्यों इतनी आसानी से एक आवधिकता को अपनाते हैं जो सचेत रूप से या अन्यथा भारतीय इतिहास के हिंदू, मुस्लिम और ब्रिटिश काल के वर्गीकरण से शायद ही अलग है। संयोग से, सभी तीन 'काल' विदेशी आक्रमणों में स्थित हो सकते हैं – आर्य, तुर्की और ब्रिटिश। इस बहस को छोड़ते हुए हम कुछ सहजता के साथ कह सकते हैं कि 712 सी.ई. (जब मुहम्मद बिन क़ासिम ने सिंध के राजा दहर को हराया था) में भारत में पहली महत्वपूर्ण मुस्लिम घुसपैठ ने एक नए दौर की शुरूआत की जिसने ग़ज़ना के महमूद से लेकर शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी तक के आक्रमणों की एक श्रृंखला उत्पन्न की। यदि 1192 सी.ई. में तराइन की दूसरी लड़ाई ने भारत की आसन्न राजनीतिक नियति का संकेत दिया तो 1206 सी.ई. भारतीय इतिहास में एक प्रमुख घटना बन गयी जब कुतुबुद्दीन ऐबक पहला सुल्तान बना। 6वीं और 7वीं इकाइयां प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में अरब से विदेशी आक्रमणों को समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि पर चर्चा करेंगीं। पहले तुर्क और बाद में ग़ज़नी और घुरिद आक्रमण हुए। इन आक्रमणों ने आक्रमणकारियों और निवासियों के बीच सांस्कृतिक संपर्क का मार्ग प्रशस्त किया। हम इन आक्रमणों के सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभावों पर भी चर्चा करेंगे।

भारत का अधिकांश इतिहास उत्तर और दक्षिण में उभरने वाली प्रमुख राजनीति पर केंद्रित है। शायद ही हम पूर्वी भारत पर कोई चर्चा करते हैं। इस क्षेत्र में क्या राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रियाएं उत्तर और दक्षिण भारत से अलग थीं? हम इस क्षेत्र की विशेषताओं की जाँच करेंगे जो भारत के इतिहास को नया दृष्टिकोण प्रदान करेगा और इसे प्रकृति में अधिक समग्र बना देगी। भारतीय विचारों और प्रथाओं का प्रसार समुंदर पार हुआ और वे दक्षिण-पूर्व एशिया के ऐतिहासिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र का हिस्सा बने। हालाँकि दक्षिण-पूर्व एशिया को 'वृहद भारत (Greater India)' के संदर्भ में देखना और इसे भारत के उपनिवेश के रूप में देखना सही नहीं है। इकाई 9 में हम जाँच करेंगे कि यह भारतीय और वहाँ की स्वदेशी परंपराओं का एक समामेलन था जिसने दक्षिण-पूर्व एशिया की संस्कृति और इतिहास की रचना की।

दशकों से, लगभग एक सदी से, औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी धारणाएँ हमें बताती हैं कि भारतीय समाज सहस्राब्दियों से स्थिर रहा है। यह सच नहीं है। अगली चार इकाइयों में हम चर्चा करेंगे कि कैसे मध्ययुगीन काल में भारतीय समाज और संस्कृति, अर्थव्यवस्था, राजव्यवस्था और समाज के दायरे में हो रहे परिवर्तनों के लिए बेहद जीवंत और उत्तरदायी थे। आर्थिक क्षेत्र में कुछ बदलावों के कारण, विषेश रूप से भूमि-अनुदान अर्थव्यवस्था के उभरने से, सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे का एक विशिष्ट रूप उभरा। मौटे तौर पर इसे सामंतवाद कहा गया। एक तरफ बदलते भूमि अधिकारों और उनके परिणामस्वरूप आर्थिक परिवर्तनों के बीच अंतः क्रिया और दूसरी ओर सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों का उभरना एक कृषि अर्थव्यवस्था के उद्भव के लिए मार्ग प्रशस्त करता है जो बंद व आत्मनिर्भर प्रवृत्ति की थी। शहरी केन्द्रों को क्षय और गिरावट का सामना करना पड़ा और व्यापार और वाणिज्य में गिरावट आई। एक नए सामाजिक चरित्र का निर्माण हुआ जो वैश्यों और शूद्रों की बदलती स्थिति, नए साक्षर वर्ग के उदय, जातियों के गुणन, वर्ण व्यवस्था के कमज़ोर पड़ने, सामंती पदों के उभरने और बढ़ते सामाजिक तनाव के रूप में चिन्हित हुआ। दसवीं शताब्दी के बाद व्यापार पुनर्जिवित हुआ। इस चरण में शहरी केन्द्रों और समुद्री और अंतर्देशीय व्यापार का उदय हुआ। भारत ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में शहरीकरण की भूमिका निभाई जिसमें अरबों जैसे कई अन्य समूहों ने भाग लिया। विभिन्न व्यापारी संगठन जैसे कि *अय्यवोल 500*, *नानादेसी/नानदसी*, *मणिग्रामम* आदि अपने अखिल भारतीय जालतंत्र के लिए जाने जाते हैं।

एशिया के एक छोर से दूसरे छोर तक चलने वाले व्यापार और प्रवास के मार्गों के साथ बौद्ध धर्म और इस्लाम सबसे प्रमुख बन गए। हालांकि सरंक्षण बदलता रहा। शुरुआत में बौद्धों ने व्यापक संरक्षण का आनन्द लिया, आठवीं शताब्दी के बाद पश्चिम और मध्य एशिया के अरबों और तुर्कों के पूर्व एवं दक्षिण की ओर पलायन ने इस्लाम के प्रति धार्मिक संरक्षण के स्वरूप में बदलाव को मजबूर किया। मध्ययुगीन सांस्कृतिक वातावरण में लोकप्रिय धर्म में रूझान एक विशिष्ट गैर-ब्राह्मण प्रकार की धार्मिक भावनाओं के बढ़ते प्रभाव को इंगित करते हैं। कई सामाजिक-धार्मिक आंदोलन प्रमुख हो गए जो सामाजिक समानता और शोषण से मुक्ति के लिए संघर्षरत थे। इकाई 14 में हम इन सभी पहलुओं पर चर्चा करेंगे और इस तथ्य की सराहना करने की कोशिश करेंगे कि भारत में धर्म एक जटिल रूप में विकसित हुआ और लोकप्रिय प्रभावों से कभी अलग नहीं हुआ। अगली इकाई (15) प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में उभरे दर्शन के विभिन्न विचारधाराओं पर चर्चा करेगी। शंकराचार्य और वैश्णव आचार्यों के दर्शन ने वेदान्त दर्शन को पुराणिक हिंदू धर्म से जोड़ा और इसके कारण हिंदु धर्म का पुनरुद्धार हुआ। भक्ति पंथ के दार्शनिक आधार ने एक भक्त के व्यक्तिगत देवता के प्रति पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने की आवश्यकता को रेखांकित किया। जबकि भक्ति परंपरा ने जाति आधारित और असमानता से ग्रस्त ब्राह्मणवादी धार्मिक परंपराओं का विरोध किया, शक्तिवाद ने धीरे-धीरे ब्राह्मणवादी परंपरा के दर्शन को शामिल किया, लेकिन साथ ही साथ अपनी कुछ विशेषताओं को बनाए रखा और अन्य पंथों और प्रथाओं के दर्शन को प्रभावित किया। इकाई 16 में इस बात पर जाँच होगी कि कैसे प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में संस्कृत, जो अभिजात्य संस्कृति की कुलीन भाषा थी, क्षेत्रीय भाषाओं से हार गई। इस अवधि के दौरान उत्पादित संस्कृत कार्यों की गुणवत्ता में एक निश्चित गिरावट आई, हालांकि काव्यों, कानून की पुस्तकों, वैज्ञानिक ग्रन्थों और धार्मिक कृतियों की रचना जारी रही। इस अवधि के साहित्यिक इतिहास की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक भारत के विभिन्न हिस्सों में क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य का विकास है। उत्तर भारत में इस अवधि के दौरान क्षेत्रीय भाषाओं का तेजी से विकास हुआ जिनमें हिन्दी, पंजाबी, बांगला, असमिया, उडिया, मराठी और गुजराती शामिल हैं।

अंतिम इकाई 17 प्रारंभिक मध्यकाल में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में उपलब्धियों पर चर्चा करेगी। भारत में मुस्लिम शासन के आने के साथ स्वदेशी शास्त्रीय शिक्षण की परंपराओं को एक झटका लगा। अरब देशों में शिक्षा के प्रतिरूप में मकतबों और मदरसों की विशेषता थी। ये संस्थान भारत में भी स्थापित होने लगे और उन्हें शाही संरक्षण प्राप्त हुआ। जहाँ कुछ स्थानीय लोगों को, जो शिक्षा की विभिन्न शाखाओं के विशेषज्ञ थे, इन संस्थानों का प्रमुख बनाया गया, वहीं दूसरी ओर अरब, फारस और मध्य एशिया से विद्वानों को भी मदरसों का प्रभार संभालने के लिए आमंत्रित किया गया। हालांकि ज्ञान की स्वदेशी परंपराएँ निरंतर जारी रहीं। इस इकाई में हम यह भी देखेंगे कि विभिन्न कारकों द्वारा दक्षिण एशिया के पर्यावरण को कैसे आकार दिया गया। भारतीय उपमहाद्वीप में विभिन्न विपरीत पारिस्थितिक क्षेत्र मौजूद थे जिनके कारण समाज के स्थायी व्यवस्थित केन्द्रों और विचल सरहदों के बीच अंतःक्रिया हुई। हम देखते हैं कि मध्ययुगीन दक्षिण एशिया अभी भी बहुत मिश्रित अर्थव्यवस्था के रूप में उभर रहा था। इसमें व्यापक जंगल, रेगिस्तान, चरागाह, अरण्य, पशुपालक खानाबदोश, जंगली या पालतू जानवर मौजूद थे। दूसरी सहस्राब्दी सी.ई. से दक्षिण एशिया उत्तरी अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान क्षेत्र और यूरेशिया के शुष्क क्षेत्रों का गठन करने वाले एक बहुत शुष्क क्षेत्र का हिस्सा बन गया। सांस्कृतिक रूप से इस शुष्क क्षेत्र में हाल ही में तुर्क-फारसी वास्य क्षेत्र का विस्तार देखा गया। अरब, फारसी और तुर्क तत्वों का सांस्कृतिक मिश्रण, नौवीं और दसवीं शताब्दी में खोरासान/खुरासान और ट्रान्सोक्सेनिया में सम्मिलित हुआ और जहां से इसे अश्व योद्धाओं ने पूरे शुष्क क्षेत्र में उत्तरी और मध्य भारत की ओर विजेताओं के रूप में कूच किया।

इकाई 1 ऐतिहासिक स्रोत-1*

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 जीवन-वृतांत या चरित

1.3 शिलालेख

1.4 मंदिर

1.5 मौखिक परंपराः एक स्रोत

1.6 *पुराण*

1.7 *धर्मशास्त्र*/विधिसम्मत किताबें

1.8 कविताएँ, गीत और अन्य साहित्यिक स्रोत

1.9 चीनी लेख

1.10 समीक्षाएं/टिप्पणियाँ

1.11 वंशावलियाँ या इतिवृत्त

1.12 इस्लामिक स्रोत

1.13 पुरातात्विक स्रोत

1.14 सारांश

1.15 शब्दावली

1.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.17 संदर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आपको निम्नलिखित जानकारियाँ प्राप्त होंगी :

- इतिहास लेखन के नए स्वरूप जो प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में सामयिक/समीचीन थे;
- चरित और वंशावली का अर्थ;
- स्रोत सामग्री के रूप में शिलालेख और प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में इसकी मुख्य विशेषताएं;
- सल्तनत शासन के बारे में जानकारी प्राप्त करने के इस्लामी स्रोत; तथा
- पुरातात्विक स्रोत और प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में सीमित पुरातात्विक कार्य से ऐतिहासिक जांच की प्रगति में बाधा।

* डॉ. शुचि दयाल, शैक्षणिक सलाहाकार, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली।

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत के स्रोतों की तरह, प्रारंभिक मध्ययुगीन स्रोतों को भी साहित्यिक और पुरातात्विक में विभाजित किया जा सकता है। चीनी तीर्थयात्रियों के भी कुछ लेख हैं। यह अवधि विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि उत्तर भारत में इस्लामी शासन की शुरुआत से इतिहास लेखन को बड़े पैमाने पर बढावा मिला। इस प्रकार हमारे पास कई इस्लामिक ग्रंथ हैं जिनका उपयोग सल्तनत काल के प्रारंभिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए किया जा सकता है।

इस इकाई में उन स्रोतों के बारे में भी चर्चा की जाएगी, जिनका उपयोग 8वीं से 13वीं शताब्दी के प्रारम्भिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए किया जा सकता है। इस अवधि में लेखन की कई नई विधाएं आम थी जैसे चरित, वंशावली और प्रशस्ति। *राजतरंगिणी* को छोड़कर, उनमें से अधिकांश को इतिहास लेखन के रूप में अंकित/लेबल नहीं किया जा सकता है। इसके बावजूद उनसे एतिहासिक महत्व की बहुत कुछ जानकारियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध करने हेतु उपयोगी विभिन्न प्रकार की स्रोत सामग्रियों को सारांश के रूप में नीचे प्रस्तुत किया गया है।

1.2 जीवन-वृतांत या चरित

उत्तर गुप्तकालीन इतिहास लेखन तीन प्रकार का हैः चरित, प्रशस्ति और वंशावलियाँ। इस तरह के इतिहास लेखन को हमेशा से महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि ये सब अनुष्ठान ग्रंथों में अंतर्निहित नहीं थे। चरित ऐतिहासिक जीवन-वृतांत थे। चरित शब्द का शाब्दिक अर्थ "चलायमान", "करना", "जाना" है – जो व्यक्ति की गतिविधियों से सम्बंधित है। ये मुख्य रूप से काव्य के रूप में लिखे गए थे और इतिहास के पुनर्निर्माण के एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इस संबंध में सबसे उल्लेखनीय बाणभट्ट की *हर्षचरित* है। *हर्षचरित* में कनौज के राजा हर्षवर्धन द्वारा राजकीय सत्ता हासिल करने के उनके प्रयासों और उनके शासनकाल के बारे में विस्तृत उल्लेख है। चरित व्यक्तियों की आधिकारिक गतिविधियों से संबंधित है। रोमिला थापर के अनुसार ऐतिहासिक लेखन की यह नई परंपरा ऐतिहासिक चेतना को व्यक्त करती है क्योंकि यह एक विशेष व्यक्ति के कार्यों से संबंधित है, उनके कारण और उद्देश्य को इंगित करती है और उन्हें समय और स्थान में रेखांकित करती है। चरित का विषय ऐतिहासिक रूप से ज्ञात है और इसमे कल्पना को कोई स्थान नहीं दिया गया है। हालाँकि चरित महत्वपूर्ण इतिहास लेखन का प्रकार नहीं था तथा यह साहित्य के रूप में अधिक प्रचलित था, फिर भी यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत है।

ऐतिहासिक संदर्भ जिसमें जीवनी, आधिकारिक शिलालेख और राजवंशीय कालक्रम, या क्षेत्रों के कालक्रम की रचना की गई थी, पहली मध्य सहस्राब्दी सी.ई. से भिन्न था। इस समय राजनीतिक परिदृश्य पर बड़ी संख्या में राजनीतिक शक्तियाँ उभर रही थी। नए दरबारों को योग्य दरबारी कवियों की आवश्यकता थी जो उनके जीवन-वृतांत लिख सकें, राजवंश को वैधता प्रदान करें और राजाओं की गतिविधियों को प्रचारित करें। दरबारी संस्कृति भी पूर्व गुप्तकाल से भिन्न थी। इतिहासकारों का मानना है कि पहले की दरबारों की अनौपचारिक भाषा और शैली की तुलना में, सातवीं शताब्दी के बाद के दरबारी संस्कृति में शासकों को अधिक प्रधानता दी गई है। चरित साहित्य में व्यक्ति की अहमियतता भक्ति संप्रदायों के विकास के कारण रही हो सकती है जहां उसके व्यक्तिगत कार्यों से जीवन का मूल्यांकन किया जाता था।

पहली सहस्राब्दी के अंत में जीवनी लेखन की परंपरा खूब प्रचलित हुई। पूर्व लिखित आत्मकथाओं को उदाहरण के रूप में पेश किया जाता था। जीवन-वृतांत महत्वपूर्ण हैं

क्योंकि ये ऐतिहासिक स्थिति में हुए परिवर्तनों को दर्शाते हैं। यह वह समय था जब *पुराणों* का साम्प्रदायिक पूजा के रूप में प्रचलन बढ़ रहा था। *पुराणों* में उत्तर मध्य-प्रथम सहस्त्राब्दी में राजवंशीय सूचियों की जानकारी नहीं है। चरित और शिलालेख इस कमी की भरपाई करते हैं।

एक महत्वपूर्ण जीवनी *रामचरित* है जिसे 12वीं शताब्दी की शुरुआत में संध्याकरनंदिन ने लिखा था। यह पूर्वी भारत के पाल शासनकाल विशेष रूप से राजा रामपाल पर केंद्रित है। यह हमें रामपाल द्वारा कैवर्तों से पाल शासन के प्रमुख स्थल वरेंद्रि क्षेत्र को अपनी हुकूमत में वापस हासिल करने जैसी राजनीतिक घटनाओं के बारे में जानकारी देता है। यह पाठ हमें भारतीय इतिहास के पहले किसान विद्रोह की समीक्षात्मक जानकारी देता है। कैवर्त, सामंत थे जिन्होंने पालों के खिलाफ विद्रोह किया था। यह पाठ रामपाल के उत्तराधिकारी मदनपाल के शासनकाल में रचा गया था। इसमें न केवल विद्रोह बल्कि रामपाल की स्वैच्छिक मृत्यु तक का जीवन वृत्त भी दर्ज है। यह चरित समकालीन घटनाओं के बारे में नहीं बल्कि इसमें मदनपाल के पूर्ववर्ती रामपाल के शासनकाल के दौरान हुई कुछ घटनाओं का भी उल्लेख है। इसमें यह बताया गया है कि कैसे रामपाल के बड़े भाई महीपाल ने अपने छोटे भाइयों को अपने खिलाफ साजिश रचने के संदेह पर उन्हें कैद कर लिया था। उसके क्षेत्र वरेंद्री पर कैवर्तों ने कब्जा कर लिया था जो दिव्य और बाद में भीम के नेतृत्व में उनके खिलाफ विद्रोह में उठ खड़े हुए थे। पराजित होने के पश्चात राजा भाग खड़ा होता है और सिंहासन पर उसका छोटा भाई रामपाल कब्जा कर लेता है। यह घटना ज्येष्ठाधिकार के कानून को चुनौती देता है इसलिए एक चरित की जरूरत पड़ी ताकि वह अपने परिग्रहण को सही ठहरा सके। यह जीवनी लेखन के कार्य को भी पूरा करता है जिसमें अधिकार और वैधता पर जोर दिया गया है तथा शाही महत्वाकांक्षा का समर्थन किया गया है। इस मामले में यह बड़े भाई की अयोग्यता को दर्शाता है। यद्यपि विद्रोह के बारे में अनिश्चितता है कि यह कुछ ही सामंतों या किसानों द्वारा किया गया था, फिर भी यह एक ऐसी घटना थी जो हमें विद्रोह के दमन के संगठन की जटिल प्रक्रिया में एक दुर्लभ अंतर्दृष्टि प्रदान करती है जो अन्यथा आगामी नहीं है (थापर, 2013)। पाल नरेश ने वरेन्द्री पर सफलतापूर्वक कब्जा कर लिया तथा यह चरित उसके इस कब्जे को वैध ठहराता है। यह हमें रामपाल के वाराणसी के गहड़वाल, ओडिशा के पूर्वी गंगा, दक्कन के कर्नाटा और दक्षिण भारत के चोल के विरुद्ध अभियानों के बारे में जानकारी प्रदान करता है। धर्मपाल को कन्याकुब्ज/कन्नौज (जो प्रथम सहस्राब्दी सी.ई. के उत्तरार्ध में पाल, राष्ट्रकूट एवम प्रतिहारों के बीच के संघर्ष का केंद्र बिंदु था) का राजा भी माना जाता है। आगे कहा गया है कि धर्मपाल के शासन को भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवंती, गांधार, कीरा और पांचाल नरेशों ने स्वीकार किया था। ये पूर्व के शासक थे इसलिए यह सूची पहले के इतिहास को उद्घाटित कर रही है (थापर, 2013)।

रामचरित जैसे चरित, ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हुए क्योंकि इसमें राजा के अपने अधीनस्थों के साथ राजनीतिक संबंध में बदलाव को स्पष्ट किया गया है खासकर वहां जहां विपक्ष की राजनीति को दृश्यमान किया जाता है (थापर, 2013)। *पुराणों* के वंशानुचरित खंड में उन राजाओं को जिन्हें अनुचित तरीके से चित्रित किया गया है (इस तथ्य के कारण कि कई नए उभरते हुए राजा गैर-ब्राह्मणवादी संप्रदायों के रक्षक थे) चरित में जगह दी गई हैं।

पद्मगुप्त की *नवसहसंकारिता* एक अर्ध-ऐतिहासिक कार्य है जिसमें मालवा के राजा सिंधुराज नवसहसंक द्वारा शशिप्रभा नामक राजकुमारी से प्रणय निवेदन सम्बंधी (शादी) की दास्ताँ है। बिल्हन की कृति *विक्रमणदेवचरित* में कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य VI के बारे में बडे ही प्रशंसनीय ढंग से वर्णन किया गया है। हेमचंद्र की *कुमारपालचरित*

(संस्कृत और प्राकृत में) नामक पुस्तक अनहिलवाड़ा राजा कुमारपाल की कहानी के साथ व्याकरण के नियमों को उद्धृत करती है।

1.3 शिलालेख

प्रारंभिक भारत में कई प्रकार के शिलालेख होते थेः शाही फरमान, मन्नत पूरा होने पर उपहार भेंट को दर्शाता शिलालेख, संक्षिप्त जीवन वृतांत शिलालेख, शासकों की प्रशंसा में उत्कीर्ण शिलालेख, विशेष घटनाओं के अभिलेख, भूमि पर अधिकारों और इस तरह के दायित्वों से संबंधित कानूनी दस्तावेज आदि। ऐतिहासिक डेटा की ये सभी श्रेणियाँ ऐतिहासिक परिवर्तन को दर्शाते हैं। एक मूलग्रन्थ के संदर्भ में कई प्रश्न उठते हैं, जैसेः लेखक कौन है? ग्रन्थ का उद्देश्य क्या है? कौन है अभिप्रेत (लक्षित) दर्शक? भाषा इतिहास को कैसे दर्शाती है? भाषा में परिवर्तन की स्थिति में, उचित भाषा के चुनाव का आधार क्या है? ऐसे ही प्रश्न शिलालेखों के संदर्भ में भी पूछे जा सकते हैं। विभिन्न प्रकार के दर्शकों को ध्यान में रखकर अलग-अलग तरह के एतिहसिक स्रोत हैं। शिलालेख शाही दरबार और अन्य समकालीन दरबारों के व्यक्तियों मसलन प्रशासन से संबंधित अधिकारी, भूमि अनुदान के सदंर्भ में उल्लेखित धार्मिक संप्रदाय और अनुदान के संदर्भ में स्थानीय समुदाय के लिए विशेष अर्थ रखते थे। शिलालेखों को सार्वजनिक स्थानों जैसे कि मंदिर की दीवारों, या तांबे की प्लेटों पर उकेरा गया था। ये तांबे की प्लेटें एक परिवार की संपत्ति बन गईं तथा इसका हस्तांतरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हुआ। शिलालेखों को आमतौर पर बाद के लेखकों द्वारा विचार विमर्श के प्रयोग में लाया गया तथा भाट भी इसे उपयोग करते थे। ये शिलालेख आम जनों के लिए थे और इसीलिए इसकी चर्चा अभिजात वर्ग मसलन सामंत, श्रेष्ठगण, कायस्थ, ब्राह्मण आदि द्वारा की जाती थी।

सातवीं शताब्दी के बाद के कई शिलालेख महत्वपूर्ण हुए क्योंकि ये एक राजवंश के कालानुक्रमिक इतिहास के बारे में घटना सहित जानकारी देते हैं। शिलालेख में राजाओं की प्रशस्ति होती है जो राजवंश के बारे में ऐतिहासिक जानकारी देती है। यह राजाओं और उनकी उपलब्धियों के आख्यान /स्तवन के रूप में है। शुरू में यह स्तवन राजा के बारे में है लेकिन जल्द ही इसमें उनके वंश को भी शामिल किया गया। जब प्रशस्ति में राजा की पदवी/उपाधि में परिवर्तन को अभिलिखित किया जाता है तो यह इतिहास के एक महत्वपूर्ण राजनीतिक पल के रूप में याद किया जाता है। इस प्रशस्ति से राजा के धार्मिक जुड़ाव, राजवंशीय इतिहास के अद्यतन विवरण, महत्वपूर्ण राजाओं, वंशजों और बहुत कुछ के बारे में जानकारी मिलती है। ये शिलालेख हमें अनुदानकर्ता की पहचान, उपहार की प्रकृति मसलन भूमि या भूमि का राजस्व, भूमि का विस्तार क्षेत्र (जिसमें छोटा भूभाग से लेकर कई गाँव हो सकते हैं), अनुदानकर्ता की धार्मिक संबद्धता (पूर्वानुसार बौद्ध मठ या ब्राह्मण हो सकते हैं) के बारे में पता चलता है। अनुदानों को दर्शाने वाले शिलालेख की नई विशेषता केवल अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों को चिन्हित करना ही नहीं बल्कि यज्ञ से दान की ओर का बदलाव, बलिदान की रस्म से उपहार देने तथा दान देने और लेने वाले को वैधता प्रदान करना भी है (थापर, 2013)। अब भूमि-धन को चल सम्पत्ति नहीं (जैसा कि पहली सहस्राब्दी बी.सी.ई. में गायों या सोने के उपहार को माना जाता था) बल्कि अचल सम्पत्ति की श्रेणी में रखा गया। ब्राह्मणों को भूमि अनुदान में देने से वे भूमि के मालिक बने तथा उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत हुई। ब्राह्मण, राजा द्वारा अनुदान में दी गयी भूमि पर बसे। उन्होंने ब्राह्मणवादी परंपराओं की शुरुआत की तथा इसने राजसत्ता की स्वीकृति को बढ़ावा दिया।

पूर्व गुप्त काल से उत्तर गुप्त काल के दौरान राज्यों की आर्थिक संरचना में विशिष्ट परिवर्तन हुआ था जिसे इस अवधि के शिलालेखों में परिणामी परिवर्तन के रूप में देखा

जा सकता है जो एक महत्वपूर्ण स्रोत सामग्री है। छठी शताब्दी सी.ई. से इन शिलालेखों में महत्वपूर्ण आधिकारिक बयान एवम घटनाओं को अभिलिखित किया जाता था। अधिकतर ये अनुदान ब्राह्मणों, धार्मिक प्रतिष्ठानों, शिक्षालयों या व्यक्तियों को भूमि के रूप में प्रदान किये जाते थे। आधिकारिक शाही शिलालेखों (*राजकीयम्*) में *शासन* (निर्देश), *जयपत्रम* (कानूनी निर्णय), *आज्ञापत्रम* (आदेश), और *प्रज्ञापनम्* (उद्घोषणा) जैसी श्रेणियां शामिल थीं। ये निर्देश भावी राजाओं के लिए जरूरी थे और शाही निगरानी में रखे जाते थे। कई शिलालेखों में तो प्रमाणीकरण के उद्देश्य से शाही मुहर भी लगी थी। शिलालेखों से बयान जारी करने वाले व्यक्ति की वंशावली, इसका उद्देश्य और एक सटीक तारीख के बारे में पता चलता है।

पूर्व गुप्तकालीन शिलालेख प्राकृत में लिखे गए थे लेकिन बाद में इन्हें संस्कृत में लिखा जाने लगा। उत्तर गुप्तकाल में संस्कृत जन सामान्य की भाषा बन गई। प्राकृत एक समावेशी प्रक्रति की भाषा थी जिसकी पैठ सभी जातियों और सामुदाय में थी जबकि संस्कृत को केवल उच्च-जाति (ब्राह्मणों) की भाषा के रूप में पहचान मिली। दूसरी सहस्राब्दी तक शिलालेखों में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रचलन शुरू हो गया था। हालाँकि प्रशस्ति संस्कृत में ही जारी होती रही। संस्कृत का व्यापक रूप से उपयोग प्रशासकों, चुनिंदा धार्मिक संप्रदायों, दार्शनिकों और साहित्यकारों द्वारा किया जाता था।

प्रारंभिक मध्ययुगीन शिलालेख उन विषयों के बारे में उपयोगी जानकारी देते हैं जो इस अवधि में बहस के प्रमुख केंद्रीय मुद्दे थे। भूमि अनुदान, जो गुप्त काल के बाद से बहुत प्रचलित हुआ, आर्थिक पुनर्निर्माण तथा समाज, शिल्पकारों और शिल्प की स्थिति, फसलों, सामंतों, भू-स्वामियों, राजाओं और रानियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में काफी उपयोगी सिद्ध हुए। वास्तव में प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में राज्य का गठन, तीसरा शहरीकरण, सामंतवाद, महिलाओं की स्थिति आदि पर बहस के लिए आवश्यक जानकारी इन शिलालेखों से ही प्राप्त हुई थी। पुराणों में गुप्तों के बाद की वंशानुगत जानकारी नहीं मिलती। इस संबंध में, शिलालेख उस शून्य को भरते हैं और राजवंशों के इतिहास के बारे में बहुत कुछ बताते हैं।

शाही शिलालेख जो इस अवधि में सामान्य हैं, न केवल शासन से संबंधित जानकारी, बल्कि जीवन के अन्य पहलुओं को भी अभिलिखित करते हैं। इस अवधि के शिलालेखों का एक अध्ययन हमें कई बिंदुओं के बारे में बताता है। पूर्व-गुप्त शिलालेखों से सामान्यतया वेतन के बदले में भूमि से राजस्व के अनुदान सम्बंधी जानकारी मिलती है। लेकिन बाद में भूमि अनुदान को शाश्वत (सदा के लिए) बना दिया गया तथा दान प्राप्तकर्ता द्वारा भूमि पर दावा किया जाने लगा। दान प्राप्तकर्ता ब्राह्मण बहुत धनी और शक्तिशाली हो गए। वे *पुराणों* के वंशानुचरित के अपने ज्ञान के आधार पर ज्यादातर वंशावली के निर्माण कार्य में संलग्न थे और यह *कृषिप्रसार* से सिद्ध होती है जो चावल की खेती के बारे में संस्कृत की नियम पुस्तिका थी। भूमि के पर्याप्त अनुदान से छोटे राज्यों और रियासतों के निर्माण की नींव पड़ी। इसका उदाहरण 475 सी.ई. में जारी महाराजा हस्तिन के खोह ताम्रपत्र शिलालेख तथा बाद में 529 सी.ई. के शंक्शोभा शिलालेख है। अनुदान में अठारह वन राज्य शामिल थे। इस प्रकार दान प्राप्तकर्ता स्वयं को एक अर्ध-स्वायत्त शासक के रूप में स्थापित करने में सक्षम बना जिसके अपने सामंत थे। यह एक उदाहरण है कि कैसे राज्यों व साम्राज्यों ने जंगलों का अतिक्रमण किया और उन्हें खेती के लिए तैयार किया (थापर, 2013)। उन्होंने वनवासियों को कृषक बनने के लिए विवश किया, या फिर अपनी जमीन पर खेती करने के हेतु अन्यत्र से अपनी जमीन पर बसाया। इस प्रकार अनुदानकर्ता को राजस्व का एक स्रोत प्राप्त हुआ। कई अनुदान खेतीहर भूमि के थे, या यहां तक कि गाँव भी थे, जो अनुदानकर्ता के लिए आय का एक तत्काल स्रोत था। इन शिलालेखों का उपयोग आधुनिक विद्वानों

ने भारतीय इतिहास के एक नए कालखंड के निर्माण हेतु किया है, जो कि पूर्व अवधि से उत्तर पहली सहस्राब्दी सी.ई. को अलग करता है (थापर, 2013)।

अब हम संक्षिप्त में चर्चा करेंगे कि कैसे अभिलेखों का उपयोग कर चंदेल जैसे प्रारंभिक मध्ययुगीन राजवंश के इतिहास का पुनर्निर्माण किया गया हैं (थापर, 2013)। चंदेल का शासन मध्य भारत में नौवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक रहा। उनके शिलालेख से हमें मध्ययुगीन काल में क्रमिक राज्य गठन की प्रक्रिया के पुनर्निर्माण सम्बंधी जानकारी मिलती है। चंदेल् साम्राज्य, प्रतिहार, राष्ट्रकूट और पाल राज्यों की परिधि क्षेत्र में उभरा। वे शुरू में अपने पड़ोसी प्रतिहारों और कलचुरि-चेदी के सामंत थे। शिलालेखों से चौहानो और उत्तर-पश्चिम में गाहड़वालों के साथ उनके टकराव और गज़नी के महमूद के विरुद्ध अल्पकालीन अभियान की भी जानकारी मिलती है। शिलालेखों के अध्ययन से राज्य के पूर्ण रूप से उभरने से पूर्व की राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझा जा सकता है। हमें चंदेल राजाओं के प्रारंभिक वंश, उनकी संभावित निम्न स्थिति और इसे कैसे आंशिक काल्पनिक और कुछ ऐतिहासिक प्रशंसात्मक वंशावली के निर्माण से सुधारा गया; कैसे राजनीतिक गठजोड़ से राज्यों का गठन हुआ; देवताओं, ऋषियों और प्राचीन इतिहासों के द्वारा उत्पत्ति मिथकों का निर्माण व चौहान राजकुमारी के साथ विवाह द्वारा गठबंधन वो तमाम जानकारी प्रदान करते है जिसे राज्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। इन सभी से उन तरीकों के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकी जिसके द्वारा छोटे छोटे राज्यों को मिलाकर एक बडा साम्राज्य स्थापित किया गया। इन शिलालेखों से हमें कायस्थों के एक शक्तिशाली समूह के रूप में उभरने के बारे में भी जानकारी मिलती है। वे विभिन्न धार्मिक संप्रदायों को उदारतापूर्वक दिए जाने वाले दान का लेखा जोखा रखते थे जो सम्बंधित राजाओं की धन, शक्ति और स्थिति को बयान करता है।

1.4 मंदिर

उत्तर गुप्त काल में मंदिर निर्माण में तेजी देखी गई। बड़ी संख्या में राजनीतिक परिदृश्य पर उभरने वाले राज्य अपने सिंहासन पर अपने कब्जे को वैध बनाने के लिए पवित्र स्थान के साथ संबंध बनाने का प्रयास कर रहे थे। चोलों ने विशाल अहाते वाले प्रवेश द्वार, मंडप, हॉल और जल निकायों के साथ विशाल मंदिरों का निर्माण किया। हालांकि निम्न सामाजिक स्थिति वाले लोग भी इस काम में ज्यादा पीछे नहीं थे। उदाहरण के लिए नौवीं शताब्दी सी.ई. में खजुराहो में चौसठ योगिनी मंदिर की तरह निर्मित शक्ति तीर्थ शायद उन लोगों की जरूरतों को पूरा करता था जो मुख्यधारा का हिस्सा नहीं थे। गुप्तोत्तर काल के ऐसे बड़े और छोटे मंदिरों की दीवारों पर शिलालेख लगवाए गए। मंदिर के उद्भव के साथ, नए राजा धार्मिक क्षेत्र के साथ अपनी लौकिक शक्ति का तालमेल बनाए रखना चाहते थे। मंदिर जितना बड़ा होगा, उसके प्रसिद्ध होने की संभावना उतनी ही अधिक थी। मंदिर जितना प्रसिद्ध होगा, इसके संरक्षक राजा को उतनी ही बडी प्रसिद्धि प्राप्त होगी। मंदिरों का निर्माण बेहतरीन सामग्रियों से हुआ था जिस कारण ये लम्बी अवधि तक टिकाउ थी। धार्मिक स्थलों पर मंदिर का उद्भव राज्य के विकास को दर्शाता है और यह स्वतंत्रता और शक्ति के दावे का प्रतीक है। आमतौर पर मंदिरों की उत्पत्ति छोटे स्वरूप में होती थी। शाही परिवार की उत्पत्ति संबंध एक छोटे पंथ से जुड़ा था जो बाद में एक बड़े मंदिर के रूप में उभरा। धीरे-धीरे यह कई मंडपों, गुम्बजदार इमारतों, गोपुरम, मीनारों आदि के साथ एक विस्तृत संरचना बन गई। मंदिरों का काफी महत्व था क्योंकि एक स्थल को दिनांकित करने में यह सहायक थी। वे वास्तुशिल्प परंपराओं, शाही विचारधारा, हैसियत, राजाओं और उनके स्थानीय गणमान्य व्यक्तियों आदि के बारे में भी जानकारी प्रदान करते हैं। यह सब मंदिर की दीवारों पर उत्कीर्ण शिलालेखों में है, जिसमें अनुदानों के संदर्भ में

जानकारी दी गई है। प्रारंभिक मध्यकाल में अधिकांश बस्तियाँ मंदिर के आसपास विकसित हुईं। इस प्रकार मंदिर दिन-प्रतिदिन के मामलों के निपटान में एक केंद्र - बिंदु के रूप में उभरे। यदि कोई व्यक्ति मध्ययुगीन काल में विभिन्न प्रक्रियाओं को समझना चाहता है, तो वह धार्मिक, प्रशासनिक और आर्थिक इतिहास के इस स्रोत की उपेक्षा नहीं कर सकता है।

1.5 मौखिक परम्परा : एक स्रोत

अभिजात वर्ग के बारे में जानकारी का एक और स्रोत है जो औपचारिक पहलू से अलग है। यह बार्डिक (कवि/भाट) परंपरा है। हालांकि अब यह लुप्त होती जा रही है किंतु विद्वानों का मानना है कि यह आज भी जारी है। यह उस साहित्य का प्रतिनिधित्व करती है जो निम्नपदस्थ व अधीनस्थ नजरिए को दर्शाता है। यह उन लोगों का दृष्टिकोण है, जो यदा-कदा दरबार की गतिविधियों में भाग लेते रहे हों किंतु अनिवार्य रूप से दूर ही रहते थे।

सामंतों या स्थानीय स्वामियों ने उन भाटों/चारण/कवि को संरक्षण दिया जो उनकी वंशावली और संपत्ति के अधिकारों का लेखा-जोखा (रेकौर्ड) रखते थे। दरबार के मुंशी और ब्राह्मण राजगुरु, जिन्होंने शिलालेख और इतिहास (जिन्हें सबसे प्रभावशाली ऐतिहासिक दस्तावेज माना जाता था), को लिखा था, वैद्यता का एक स्वरूप प्रदान करते है। भाटों का विवरण दूसरा स्वरूप है। प्रमुख जातियों के परिवार पंडों, पुजारियों-सह-वंशावली विशारद के संरक्षक थे, जो तीर्थ स्थानों जैसे पुष्कर, हरद्वार के रहने वाले थे। विवाह, बेटे के जन्म, या बुजुर्गों की मौत, या जब भी कोई विशेष संस्कार कार्य का अवसर होता था तो सपरिवार ये लोग जाते थे। शिलालेखों के साथ भाटों के आख्यान ऐतिहासिक जागरूकता को विविधता प्रदान करते हैं (थापर, 2013)। भाटों की कविताएँ स्थानीय नायकों पर केंद्रित थीं। ये कविताएँ महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें उन्होने निम्न हैसियत वाले समूहों की धारणाओं को प्रदर्शित किया है। यहाँ चांदबरदाई द्वारा चौहान राजपूतों पर लिखे गये महाकाव्य *पृथ्वीराजरासो* का उदाहरण दिया जा सकता है। वर्तमान स्वरूप का यह महाकाव्य सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में लिखित माना जाता है, हालांकि इसमें चार शताब्दी पूर्व की घटनाओं का भी उल्लेख है। इसमें चौहानों का बाद के चंदेल राजाओं के साथ हुए संघर्ष के बारे में बताया गया है। उल्लेखनीय है कि चंदेल काल के शिलालेखों में उत्कीर्ण आधिकारिक इतिहास से यह अलग है। संघर्ष की गाथा न केवल *पृथ्वीराजरासो* में है, बल्कि इस क्षेत्र की अन्य काव्य रचनाएँ, जैसे जगनिक राव की *अल्हारासो* में भी पढने को मिलती है। इस तरह के आख्यानों का राजदरबार के आधिकारिक दस्तावेजों के साथ तुलनात्मक अध्ययन हमारे ज्ञान की रिक्तता को भरता है तथा निम्नपदस्थ दृष्टिकोण भी प्रदान करते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) चरित साहित्य क्या है? प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के इतिहास के पुनर्निर्माण में इसका क्या महत्व है? उदाहरणों की सहायता से समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के शिलालेखों की प्रकृति पर चर्चा करें। यह एक महत्वपूर्ण स्रोत कैसे है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.6 पुराण

वस्तुतः "जो प्राचीन है" वही *पुराण* है। यह ग्रंथ प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। ये विभिन्न राजवंशों के बारे में वंशावली सम्बंधी जानकारी प्रदान करते हैं जो इस अवधि में शासन कर रहे थे। इनकी रचना पहली सहस्राब्दी सी.ई. में की गई थी। प्रत्येक *पुराण* में किसी एक देवता के बारे में वर्णन है। प्रत्येक को पंच लक्षण या "पांच पहलूओं" का माना गया है। इनमें सर्ग (प्राथमिक निर्माण), प्रति-सर्ग (द्वितीयक निर्माण), मन्वंतर (समय चक्र), वंश (बड़े पैमाने पर देवताओं और ऋषियों का वंश क्रम), और वंशानुचरित आदि का वर्णन है। अठारह महापुराण और कई उपपुराण हैं जो सहायक ग्रंथ हैं, जिसमें अक्सर लघुस्तरीय देवी देवताओं के बारे में वर्णन है। इनके साथ पवित्र *स्थलाकृति* और तीर्थ स्थानों से सम्बंधित ग्रंथ जैसे कि स्थलपुराण एवम *महात्म्य* है। तथापि बाद में, जाति *पुराण* जैसे मल्ल, श्रीमल और धर्मारण्य ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण हैं। गैर-ब्राह्मणवादी संप्रदायों में, जैनियों ने अपने *पुराण* प्रस्तुत किये जो ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण से अलग हैं।

उपपुराण विशेष रूप से लोकप्रिय मान्यताओं, रीति-रिवाजों और त्योहारों के बारे में जानकारी प्रदान करते हैं। वे ब्राह्मणवादी और गैर-ब्राह्मणवादी विचारों, मूल्यों और प्रथाओं के बीच विचार-विमर्श का पता लगाने के लिए उपयोगी हैं, जिसके परिणामस्वरूप विशिष्ट क्षेत्रीय गठन इकाइयों का उदय हुआ (सिंह, 2008)।

1.7 *धर्मशास्त्र* / विधिसम्मत किताबें

प्रारंभिक मध्यकाल में बड़ी संख्या में महत्वपूर्ण और प्रभावशाली *धर्मशास्त्रों* का संकलन, सार-संग्रह और व्याख्यात्मक निबंधों का लेखन हुआ। यह धर्म और धार्मिक प्रक्रियाओं के औपचारिककरण की ओर इशारा करता है जिसने राज्य को अपने प्रजा के सामाजिक जीवन को विनियमित और मध्यस्थता करने में मदद की (सिंह, 2008)। संकलनों में *चतुर्विंशतिमाता* शामिल हैं, जिसमें 24 धर्मशास्त्रज्ञाताओं की शिक्षाओं को संकलित किया गया है। जीमूतवाहन ने प्रक्रियात्मक शास्त्र पर एक ग्रंथ लिखा, जिसे *व्यावहारमात्रिका* कहा जाता है और वंशानुक्रम पर कानूनों का सार-संग्रह लिखा जिसे *दयाभाग* कहा जाता है। प्रमुख सार-संग्रहों में शामिल हैं: *मेदतिथि* (9वीं शताब्दी), *गोविंदराजा* (11/12वीं शताब्दी), और *मनुस्मृति* पर कुल्लूका की टिप्पड़ी (12वीं शताब्दी)। *विघ्नेश्वर* (11-12वीं शताब्दी) और अपरारका (12वीं शताब्दी) ने *याज्ञवल्क्यस्मृति* पर टीकाएँ (सार-संग्रह) लिखीं। विघ्नेश्वर की सार-संग्रह *मिताक्षर*, हिंदू कानून के विभिन्न पहलुओं पर एक प्राधिकार बन गई। धर्मशास्त्र के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में लक्ष्मीधर के *कृत्यकल्पतरु* (12वीं शताब्दी) और देवभट्ट की *श्रीचंद्रिका* (11/12वीं सदी) शामिल हैं।

1.8 कविताएँ, गीत और अन्य साहित्यिक स्रोत

आलवार और *नयनार* के भक्ति गीत और संतों की संचरित लेखन महत्वपूर्ण तमिल ग्रंथ थे। *नंदिक्क्लांबकम,* 80 श्लोक की एक कविता है जो पल्लव राजा नंदिवर्मन तृतीय के शासनकाल का एक स्तुतिकृत/ प्रशंसात्मक वृतांत है। इसके लेखक के बारे में जानकारी नहीं है। कन्नड़ कृतियाँ, जिनमें से कई जैन धर्म के बारे में लिखी गई थीं, की रचना राष्ट्रकूट, होयसाल और चालुक्य के शाही संरक्षण के तहत की गई थी।

संस्कृत और प्राकृत में लिखित ग्रंथ *लेखपद्धति* से उपयोगी ऐतिहासिक जानकारी मिलती है और इसमें विभिन्न प्रकार के कानूनी दस्तावेजों के प्रारूप शामिल हैं। यह गुजराती में रचा गया था और इसका लेखक ज्ञात नहीं है। एक अन्य उदाहरण *कृषिप्रसार* ग्रन्थ है, जो कि बांगला में रचा गया है तथा यह कृषि से संबंधित है। पश्चिमी भारत की जैन लोक कथा *धर्म-कथा* व्यापारियों की तरफ से लिखी गई है। इसमें व्यापार और व्यापारियों के बारे में उपयोगी जानकारी प्रदान की गई है। गणित के ग्रंथों जैसे कि महावीर आचार्य कृत 9वीं शताब्दी का *गणितासारसंग्रह* और भास्कराचार्य की 12 वीं शताब्दी की *लीलावती* में कीमतों, वजन और माप, मजदूरी और सिक्कों के बारे में आनुषंगिक जानकारी प्रदान की गई है (सिंह, 2008)।

1.9 चीनी लेख

भारत आने वाले भिक्षुओं जुआनजंग (लगभग 600 से-64 सी.ई. तक) और यीजिंग (लगभग 635 से 713 सी.ई. तक) के लेख भारत में बौद्ध सिद्धांतों और प्रथाओं के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए महत्वपूर्ण हैं।

1.10 समीक्षाएं/टिप्पणियाँ

प्रथम सहस्राब्दी सी.ई. के मध्य से धर्मवैधानिक और गैर-धर्मवैधानिक कई ग्रंथों विशेषकर थेरवाद संघ के बारे में कई व्याख्यात्मक निबंध लिखे गए। बदले में व्याख्यात्मक निबंधों पर टीका-टिप्पणी की गई। पाली मुख्य रूप से पसंदीदा भाषा थी क्योंकि संस्कृत की तुलना में इसकी व्यापक पहुंच थी और मूल ग्रंथों की रचना इसी भाषा में की गई थी। इसके अलावा संस्कृत वह भाषा थी जिसे महासंघिकाओं ने पसंद किया था और इसलिए थेरवादियों ने खुद को इस भाषा से दूर रखते हुए पाली भाषा का अनुसरण किया। इस दिशा में बेहतरीन योगदान देने वाले विद्वान बुद्धघोष थे जो पांचवीं शताब्दी सी.ई. में श्रीलंका आए थे। उनके द्वारा रचित ग्रंथ *विशुद्धिमग्ग, सामंतपसदिका* और *सुमंगलाविलासिनी* बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसमें थेरवाद पर एक आधिकारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। बुद्धघोष के करीबी समकालीन बुद्धदत्त ने *मधुरथ-विलासिनी* लिखी, जो बुद्धवंश पर एक व्याख्यात्मक निबंध था।

महावंश पर एक प्रसिद्ध व्याख्यात्मक निबंध, बारहवीं शताब्दी की एक कृति थी जिसे *वक्सथप्पाक्षिणी* कहा जाता था। इन विभिन्न कार्यों और महावंश की अगली कड़ी चूलवंश के संकलन में कई अन्य परिवर्धन के बाद संघ के आधिकारिक इतिहास का निर्माण हुआ। तेरहवीं शताब्दी में *दथवंश* और *थुपवंश* की रचना हुई जो कि वस्तुओं और अवशेषों जैसे बुद्ध के दांत के इतिहास पर केंद्रित थी। सांप्रदायिक संघर्ष के कारण थेरवाद को मान्यता प्रदान करने की आवश्यकता थी। राजाओं और शाही उत्तराधिकारियों की इन जीवनियों के अलावा उदाहरणस्वरूप *राजरत्नाकर* और *राजावली* की भी रचना की गई थी। उपरोक्त सभी कार्य संप्रदायों के इतिहास से संबंधित हैं और साहित्य संघ के उन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के आख्यानों की जानकारी देता है जो सत्तासीन थे।

1.11 वंशावलियाँ या इतिवृत्त

राजतरंगिणी जैसे ग्रंथ किसी राज्य, क्षेत्र या राज्य के इतिवृत्त के उदाहरण है। इसमें विभिन्न परिवर्तनों विशेष रूप से उस छोटे राज्य को अधिक शक्तिशाली बड़े राज्य में परिवर्तित करने सम्बंधी बिंदुओं को दर्ज किया गया है। अभिलेखों में स्थानीय घटनाओं को शामिल किया गया है, लेकिन उनके स्वरूप में वे परिवर्तनों की प्रक्रियाएं दिखाई गई है जो अन्य क्षेत्रों में हो रही थीं (थापर, 2013)। इतिवृत्त में क्षेत्र के शुरू से वर्तमान तक के इतिहास शामिल होते हैं। विलियम जोन्स के समय से यह बार-बार कहा गया है कि प्रारंभिक भारत में केवल एक ही ग्रंथ था जिसे ऐतिहासिक लेखन के रूप में माना जा सकता है, वह है *राजतरंगिणी*, कश्मीर का इतिहास जो 1148 में कल्हण द्वारा लिखा गया था। कल्हण ने इसे काव्य के रूप में निरुपित किया है।

नौवीं से बारहवीं शताब्दी तक कश्मीर व्याकरण, सौंदर्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। यह अल-बरूनी, मध्य एशियाई विद्वान द्वारा सत्यापित है, जिन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी में अपना समय भारत में व्यतीत किया था। उसकी सोच थी कि गजनी के महमूद के आक्रमण ने विद्वानों को कश्मीर और बनारस की ओर पलायन करने को बाध्य किया था। कश्मीर उत्तरी बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण केंद्रों में से एक था, जहाँ से बौद्ध भिक्षु और विद्वान सामान्य युग की आरंभिक शताब्दियों में मध्य एशिया और चीन गए थे। शैव पंथ के साथ प्रतिस्पर्धा भयंकर थी, उन्होंने बौद्धों को शाही संरक्षण के लिए प्रतिद्वंद्वियों के रूप में देखा।

राजतरंगिणी जैसा इतिवृत्त या वंशावली की शैली उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में पाई जाती है। वंशावली में दरबार, मंदिर एवम् यहां तक कि कुछ अवसर पर जाति पर ध्यान केंद्रित किया जाता था। कुछ स्थानों पर उन्हें अलग-अलग नामों से संदर्भित किया जाता है, जैसे कि गुजरात और राजस्थान में *पीढ़ीयावली* (पीढ़ियों की रेखा); *प्रबन्ध* और *रासो*; असम के अहोमों के बीच *बुरुंजी*; तथा ओडिशा में *मदालपंजी*।

राजतरंगिणी में आठ पुस्तकें या तरंग हैं, और यह कविता रूप में रचित है। पहले तीन तरंगों में क्षेत्र के 7वीं शताब्दी तक के इतिहास, चौथी से छठी तरंगों में 11वीं शताब्दी तक की घटनाओं तथा अंतिम दो तरंगों (जो सबसे लंबा भी है) में 12वीं शताब्दी की घटनाओं/ इतिहास का उल्लेख है। कल्हण को पूर्ववर्ती राजा के दरबार के मंत्री, चनपक का पुत्र बताया गया है। राजा को 1101 में पदस्थ कर उसकी हत्या कर दी गई। चनपक कई वर्षों तक दरबार में रहा, लेकिन उसे कोई आधिकारिक पद नहीं दिया गया था। उत्तराधिकारी राजवंश ने पिछले राजा की सेवा करने वाले परिवारों की सेवाओं को जारी नहीं रखा होगा। राजदरबार में राजा का व्यवहार इस विद्वान को रास नहीं आया। इस प्रकार, कल्हण भले ही खुद दरबार में पेश न हुआ हो किंतु वह दरबार के हलकों से परिचित था। राज दरबार से उसकी दूरी ने शायद उसे विभिन्न शासकों के बारे में स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम बनाया।

कल्हण किसी विशेष संरक्षक को खुश करने के लिए नहीं लिख रहे थे। उसका काम कश्मीर के अतीत, उस राज्य जहाँ वह रहता था और उस दरबार जहाँ उसके पिता ने सेवा की थी, के बारे में है। वह वर्तमान राजवंश से ठीक पहले के राजाओं के वर्णनातीत व्यवहार से भी चिंतित है। इसलिए उसने करीबी समकालीन राजाओं के कार्यों की आलोचना की है। उसका कथन कश्मीर का शोषण करने वाले विभिन्न समूहों पर गंभीर टिप्पड़ियों से जुड़ा है। कल्हण बीते काल को "इतिहास" के रूप में निरुपित करने के प्रति सजग थे। उनकी कथानक में अशोक और कनिष्क और यहां तक कि मिहिरकुल जैसे शासक शामिल हैं। अशोक, जो राजाओं की सूची में केवल एक नाम है, को छोड़कर इन सभी का

महायान के बौद्ध ग्रंथ में उल्लेख है लेकिन *पुराणों* में नहीं है। मूलपाठ कश्मीर के इतिहास का वर्णन करता है और उसके विवरण में किंवदंतियों, लिखित अभिलेखों के आधार पर कालक्रम, और लेखक के समय की घटनाओं का विवरण शामिल है। यह संस्कृत में लिखा गया है। उसका दावा है कि उसने अपने पूर्ववर्तियों के कालक्रम को ठीक किया है और रिक्त स्थानों को आंशिक रूप से भरकर और काल्पनिक वंशावली को हटाकर अतीत का एक जुड़ा हुआ वृतांत पेश किया है। अन्य कई कालक्रम से इतर, कल्हण ने उन स्रोतों का उल्लेख किया है जिससे उसे परामर्श मिला। उसका काम न केवल महाकाव्यों और *पुराणों* के साथ, बल्कि ऐतिहासिक रूप से उन्मुख अधिकांश लेखन के साथ घनिष्ठ परिचय को दर्शाता है, जैसे कि बाणभट्ट एवम् हाल ही में बिल्हन द्वारा लिखा गया ऐतिहासिक जीवन-वृतांत। *हर्षचरित* का प्रभाव उल्लेखनीय है। *राजतरंगिणी* की रचना के क्रम में उन्होंने *राजकथा* (शासकों की कथा) की ग्यारह कृतियों से जानकारी ली थी। उन्होंने सुव्रत का *प्रबंध* जो खंडित इतिवृत्त का परितुलन और सारांश है, का अध्ययन किया। अन्य स्रोतों में *नीलमतापुराण*, और क्षेमेंद्र की *नृपावली* या राजाओं की सूची नामक महत्वपूर्ण स्थानीय *पुराण* शामिल हैं। विभिन्न स्थानीय शिलालेख, विशेष रूप से मंदिरों और मठों की स्थापना के लिए *शासन* (आदेश), जो आम तौर पर भूमि के अनुदान से सम्बंधित थे और इसमें प्रशस्तिपत्र (सारांश रूप में राजवंश का इतिहास) और सिक्का उपाख्यान (किंवदंतियों) को शामिल किया गया, जो लोकप्रिय किंवदंतियों और अन्य ऐतिहासिक कथाओं में संरक्षित मौखिक परंपरा के खंड थे (थापर 2013) ।

चौथी पुस्तक की शुरुआत करकोटा राजवंश से होती है, जो सातवीं शताब्दी में कश्मीर राज्य को मजबूत करने के लिए जिम्मेदार था। करकोटा की उत्पत्ति नाग करकोटा से जुड़ी हुई है, जिसे एक देवता तथा शासक परिवार का परिजन भी कहा जाता है। चूँकि यह सातवीं शताब्दी सी.ई. का एक राजवंश था, इसलिए चीनी वर्षक्रमिक इतिहास (उद्घोषणाएँ) भी इसके मूलपाठ को सम्पुष्ट (समर्थन) करने के लिए आनुषंगिक संदर्भ प्रदान करती हैं। तैंग शासक उत्तरी भारत में दिलचस्पी रखते थे। वे उल्लेख करते हैं कि 713 सी.ई. में एक समय जब अरब सिंध पर विजय प्राप्त करने का प्रयास कर रहे थे तब करकोटा के राजा चंद्रपीड ने अरबों के खिलाफ उनसे सहायता का अनुरोध किया था। यह कालानुक्रम सही मेल प्रदर्शित करता है। इस समय उत्तरी भारत ने अपने मोर्चे पर चीन की निकटता, तिब्बती शक्ति का उदय, अरबों की उपस्थिति और अफगानिस्तान में तुर्की शासन के खतरे का अनुभव किया।

एक अन्य महत्वपूर्ण इतिवृत्त था चंबा वंशावली। चम्बा पश्चिमी हिमालय में एक छोटा सा पहाड़ी राज्य था जो रावी नदी की ऊपरी खंड और चिनाब नदी के बीच अवस्थित था। शासकों और घटनाओं के अलावा, परिवर्तन की अन्य महत्वपूर्ण प्रक्रियाएं वंशावली में निहित हैं, जैसे कि राज्य का गठन, बिचौलियों का उदय, जातिवादी समाज का संक्रमण, और *पुराण* आधारित हिंदू धर्म का आगमन (थापर, 2013))। मूलपाठ का आरम्भिक केंद्र-बिंदु रावी का ऊपरी खंड ब्रहम्पुर का व्यवस्थापन था। हालांकि यह क्षेत्र कदाचित अलग-थलग था, परन्तु मार्ग द्वारा विभिन्न दिशाओं से जुड़ा था, मसलन कश्मीर और पंजाब के मैदानी इलाकों से किश्तवार, जम्मू और कांगड़ा तक, और अन्य मणिमहेश सरोवर और त्रिलोकनाथ के माध्यम से लाहुल और कुल्लु तक। ब्रहम्पुर को पश्चिमी हिमालय के विभिन्न हिस्सों से परिचित गद्दा चरवाहों का निवास स्थान गदेरन कहा जाता है। पहली सहस्राब्दी सी.ई. में राज्य की स्थापना पर इसकी राजधानी चंबा के पठार के निम्नतर ऊंचाई वाले स्थान पर स्थापित की गई। शिलालेखों में वर्णित चंपा या चंपका नाम के आधार पर चम्बा राज्य का नामकरण हुआ जो रावी और साहो नदियों के जंक्शन के उपजाऊ पठार पर स्थित था। आम तौर पर घाटियों पर बिचौलिए राणाओं का कब्जा था, जो चंबा के राजा के अधीन थे। चंबा वंशावली में चंबा के राजाओं का 17वीं शताब्दी तक का उल्लेख है। इसके अंत

में चंबो और नुरपुर (दक्षिण में स्थित) के बीच युद्ध हुआ। यह एक सटीक इतिवृत्त भले न हो किंतु यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया अवश्य है। इसका लेखक अज्ञात है। चम्बा वंशावली को इसके तीन खंडों को मिलाकर समझा जा सकता है। शाही वंशावली के पहले खंड में दावा किया गया है कि राजाओं की उत्पत्ति देवताओं से हुई है। दूसरे खंड में पूर्व के शासकों के बारे में विकृत छवि प्रस्तुत की गई है जिसे *पुराणों* के क्षत्रिय वंश सूची से लिया गया है। तीसरा खंड राज्य की स्थापना और राज करने राजवंशों के लिए साक्ष्य प्रदान करता है। प्रारंभ में अधिक महत्वपूर्ण राजाओं को सूची में शामिल किया गया है, लेकिन बाद में इसमें लगभग सभी का उल्लेख किया गया (थापर, 2013)।

1.12 इस्लामिक स्रोत[1]

भारतीय इतिहास में उत्तर भारत पर गौरी का विजय 12वीं शताब्दी के अंत का एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम है। क्योंकि स्वतंत्र सल्तनत, जो इसके परिणामस्वरूप बना, ने एक तरफ भारत पर विदेशी प्रभाव का मार्ग खोला दूसरी तरफ देश को एक मजबूत केंद्र के अंतर्गत एकीकरण की तरफ ले गया। इसने पड़ोसी आगंतुकों से भी देश को परिचित कराया जो विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उनके द्वारा इतिहास. लेखन की परंपरा प्रारंभ की गई। फारसी भाषा में इतिहास-लेखन का साहित्य उनके द्वारा प्रचुर मात्रा में तैयार किया गया। वास्तविकता यह है कि मुस्लिम संभांत वर्ग में विधिशास्त्र और धार्मिक पांडुलिपि के बाद इतिहास-लेखन तीसरा महत्वपूर्ण अध्ययन माना जाता था। 16वीं शताब्दी में मुगलों के आगमन के बाद इतिहास-लेखन परंपरा ने नई ऊँचाई प्राप्त की।

फारसी में तुर्कों के बारे में इतिहास-लेखन जो 12वीं शताब्दी में भारत में आए उसी समय से पाया जा सकता है। जहाँ तक दिल्ली सल्तनत की बात है हमारे पास लगातार उपलब्ध पाठ फारसी भाषा में सल्तनत (1526) के अंत तक का है। बहुत सारे लेखक राजदरबार में अधिकारी के पदों पर तैनात थे जबकि बहुत कम स्वतंत्र थे और सरकारी पदों पर तैनात नहीं थे। आमतौर पर, जो इतिहास उपलब्ध है वह घटनाओं का सरकारी पक्ष है न कि नीतियों और घटनाओं का तार्किक मूल्यांकन। यह दुर्लभ है कि कोई सूचना एक शासन कर रहे सुल्तान विरोधी संदर्भ से आए। यहां तक कि शैली भी साधारणतः सुल्तान की प्रशंसा या चापलूसी से भरपूर होती थी जिसके शासन में यह लिखा जाता है। बहुत सारे मामलों में, लेखक मुक्त रूप से पूर्व कार्यों के उद्धरण देते थे पूर्व काल के बारे में बताने के लिए।

ऐतिहासिक पाठ के अलावा दूसरे फारसी के कार्य इस काल के लिए उपलब्ध हैं। अब्दुर्रज्जाक का *मातला उस सादेन* (यात्रा-वृत्तांत), तुत्सी का *सियासतनामा* (प्रशासन और राजनीति), फक्र-इ मुदाबिर का *अदबुल-हर्ब वास-शुजाअत* (युद्ध) कुछ महत्वपूर्ण कार्य हैं। कुछ अरबी के कार्य भी इस काल के उपलब्ध हैं। इब्न बतुता (रिहला) और शिहब-अल दीन अल-उमरी (*मसालिक अल-अब्सुर ममालिक अल-अंसार*) ने बहुत अच्छे यात्रा वृतांत प्रदान किए हैं।

इतिहास-लेखन का पथ-प्रदर्शक मुहम्मद बिन मंसूर था, जो फख्र-इ मुदाबीर के नाम से भी जाना जाता था। यह ग़ज़ना से लाहौर में परवर्ती ग़ज़नीवाद काल में बस गया। लाहौर में उन्होंने *शज़रा-इ अंसाब* का संग्रह किया, जिसमें इस्लाम के पैगंबर की वंशावली है, उनके साथी और इसके समेत मुस्लिम शासक, सुल्तान मुजुद्दीन मुहम्मद बिन साम (सामान्य रूप से सुल्तान शिहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी) के पूर्वजों के बारे में वर्णन हैं। संग्रहकर्ता इसे सुल्तान को प्रस्तुत करना चाहता था किंतु रास्ते में उसकी हत्या 1206 में पंजाब से ग़ज़ना जाते वक्त हो जाने से, उसने अलग भाग *मुकदिमा* (भूमिका) इसमें जोड़ा। यह भूमिका

[1] यह भाग एम.एच.आई.–03, खंड 3, इकाई 10 से लिया गया है।

कुतुबुद्दीन ऐबक के जीवन और सैनिक कारनामों की कथा वर्णित करती है। कुतुबुद्दीन ऐबक के 1192 में भारत में कुहराम और सुनाम के सियाहसलार के रूप में 1206 की लाहौर सिहांसन पर आरूढ़ होने तक का विवरण है। गौरी के विजयों का और भारत में स्वतंत्र सल्तनत की नींव का यह पहला इतिहास था। यह सुल्तान मुजुद्दीन महुम्मद बिन साम के अच्छे गुणों का वर्णन करता है। किंतु भारत में जीत का श्रेय कुतुबुद्दीन ऐबक को दिया जाता है। उसके द्वारा किए गए अभियान में सुल्तान का नाम कहीं भी नहीं आता है। फिर भी फख्र-ई-मुदाबीर के द्वारा कुतुबुद्दीन ऐबक के हिन्दू राजाओं के प्रति समझौतापूर्ण रणनीति की योजना, यहाँ तक कि उसके राज शासन पर सिंहासनारूढ़ होने के पहले का वर्णन बहुत ही दिलचस्प है। ऐबक ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया उसने उसके उत्तराधिकारियों को भी प्रेरित किया। सभी प्रमुख जिन्होंने ऐबक की प्रभुता को स्वीकार किया उनके साथ मित्र की तरह व्यवहार हुआ। इसमें संदेह नहीं कि, फक्र-इ मुदब्बीर ने अपने कार्यों का संग्रह पुरस्कार पाने की आशा से राज कर रहे सुल्तान की प्रशंसा करके किया था, फिर भी, ऐतिहासिक सामग्री का चयन उनके ऐतिहासिक ज्ञान को इंगित करती है। उसने प्रशासनिक सुधार जिसे ऐबक ने लाहौर में अपने राज सिंहासन पर आरूढ़ होने पर शुरू किया था का वर्णन किया है। उसने बहुत सारे रीति-रिवाजों का भी वर्णन किया जिसका सांकेतिक महत्व था। उदाहरण के तौर पर, वह पहला इतिहासकार था जो हमें सूचित करता है कि नए सुल्तान के प्रति जनता एक समारोह में किस प्रकार अपनी स्वामिभक्ति उसके लाहौर राज्य में प्रकट करती है। वह कुतुबुद्दीन ऐबक के दिल्ली से लाहौर के आगमन को 1206 में प्रकट करता है कि कैसे लाहौर की पूरी जनसंख्या नए सुल्तान के प्रति अपनी स्वामिभक्ति प्रकट करने के लिए बाहर आती है। सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा शुरू किए गए प्रशासनिक सुधार इसके महत्वपूर्ण प्रमाण है। यह समारोह, वास्तव में, सुल्तान की प्रभुता की दावेदारी के सांचालिक योग्यता को संकेतिक करती है। उसने योग्य लोगों को भूमि अनुदान किया और दूसरों के लिए रखरखाव भत्ता नियत किया। किसानों या बंधुआ मजदूरों के द्वारा अन्यायपूर्ण ढंग से अधिग्रहित संपति और उसका संग्रह खत्म कर दिया गया। रचयिता यह सूचित करता है कि राज्य पूरे खेती के उपज का पाँचवाँ हिस्सा भूमि राजस्व के रूप में ग्रहण करता था। संक्षेप में, यह गौरी के विजय तथा कुतुबुद्दीन ऐबक के राज्य का पहला इतिहास है जो भारत में संकलित हुआ।

दूसरा महत्वपूर्ण कार्य *अदबुल-हर्ब-वास-शुजाअत,* मुद्बीर के द्वारा संकलित किया गया जो सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश को समर्पित है। यह वृत्तात्मक रूप में लिखा गया इतिहास-लेखन है। इसमें राजा के कर्तव्यों पर अध्याय है, राज्य के विभागों का संचालन, युद्ध कौशल, युद्ध नियम, युद्ध अश्व, उनके उपचार आदि पर अध्याय है। संकलनकर्त्ता ने एक क्रम में, उस काल के दौरान हुए महत्वपूर्ण घटनाओं को शामिल किया है। उनमें से बहुत सारे ग़ज़नवी काल के ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित हैं। गौरी की विजय और सल्तनत का महत्वपूर्ण इतिहास है – *ताजुल-मा-आसीर*। इसके लेखक, हसन निज़ामी निशापुर से भारत अपने भाग्य की खोज में बस गए। ऐबक के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के कुछ पहले उन्होंने दिल्ली में शरण ली। दिल्ली में उसके 1206 सी.ई. में सिंहासन पर बैठने के बाद उन्होंने कुतुबुद्दीन ऐबक की उपलब्धियों का इतिहास संकलित किया। इतिहास लिखने के पीछे शासकीय संरक्षण पाने की लालसा थी। जहाँ तक उनके विचार का सवाल है, वह अपनी कथा की शुरूआत अपने समय के बदलते परिदृश्य के साथ अपने गृह नगर निशापुर से करते हैं। अपनी ग़ज़ना यात्रा के दौरान वे बीमार पड़ गए और बाद में भारत वापस आ गए। आमुख तराई (1192) के द्वितीय युद्ध से शुरू होता है। तराई के प्रथम युद्ध का जिक्र नहीं है जहाँ पृथ्वीराज चौहान ने सुल्तान मुइजुद्दीन मुहम्मद बिन साम को हराया था। फिर भी, वर्ष 1192 से 1196 तक सभी ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तार से वर्णन है। उसके बाद, हसन निजामी कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा 1202 तक सारी

लड़ाइयों और जीत को छोड़ते हुए एक लंबी छलांग लेते हैं। संभवतः 1210 में ऐबक के दुर्घटना में मृत्यु हो जाने से विध्न आ गई जिससे लेखक निराश हुआ और लगता है कि लिखना भी बंद कर दिया। बाद में, जब इल्तुतमिश ने उत्तराधिकारी के रूप में राज्य को संघटित किया, उसने पुनः अपना काम शुरू किया। इस समय वह अपनी कथा 1203 से शुरू करता है क्योंकि इल्तुतमिश, जिसको कार्य प्रस्तुत करना था, एक महत्वपूर्ण सेनापति बन चुका था और ऐबक के सभी अभियानों में भागीदार था। कुतुबुद्दीन ऐबक के 1197 में बंदायूँ की विजय की चर्चा नहीं की गई है और 1198 सी.ई. में कन्नौज तथा छंदवार के अधिग्रहण की भी चर्चा नहीं है, फिर भी, यही कहा जा सकता है कि अतिशयोक्तिपूर्ण उक्ति ऐबक के बारे में प्रयुक्त होने के बावजूद, संकलनकर्त्ता को यह क्रेडिट दी जानी चाहिए कि उसने प्रामाणिक सूचनाएँ इकट्ठी की थीं यहां तक कि उसे वह अपने कार्य में वर्णित भी करता है। हसन निजामी ऐबक द्वारा स्थानीय राजाओं के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार को दर्शाने में असफल रहे जिन्होंने अपनी प्रभुता सौंप दी थी। उनका वर्णन बहुत ही संक्षिप्त हैं और एक समय बहुत ही सांकेतिक। भारत और विदेश में उपलब्ध *ताजुल मा-आसीर* की सभी पांडुलिपि प्रतियां 1217 में इल्तुतमिश द्वारा लाहौर पर कब्जा करने के साथ ही अंत की जाती है। इसमें महान् लोगों का जीवनीपरक वर्णन नहीं है, यद्यपि बहुत सारे लोग सल्तनत के निर्माता रहे थे।

मिन्हाज सिराज जुज़ानी द्वारा संकलित उनकी *तबाकत-इ नसीरी* इतिहास-लेखन में युगान्तरकारी थी। मिन्हाज सिराज जुज़ानी (बाद में मिन्हाज के रूप में उद्धत) खोरसान के एक प्रवासी विद्वान थे। इस्लाम और मुस्लिम शासकों के इतिहास के बारे में उसका इस्लाम के शुरूआती दौर से लेकर 1259 तक का समय, उनके विधिवेत्रा (कानूनविद) के रूप में पेशेवर प्रशिक्षण तथा मध्य एशिया और भारत के शासकों के संपर्क से प्रभावित लगता है। वह विद्वानों के एक ऐसे परिवार से संबंध रखते थे जो ग़ज़ना और फिरोजकुह के घुरीद सुल्तानों के राजदरबारों सें संबंधित रहे हैं। वह स्वयं कई घुरीद राजकुमारों और कुलीनों के साथ अपने भारत प्रवजन के पहले कार्य कर चुके थे। 1227 में, वह भारत आया और नसीरूद्दीन कुबचा के राजदरबार में शामिल हुआ। वह सुल्तान नसीरूद्दीन कुबचा की राजधानी उच्च में फिरूज़ी मदरसा (सरकारी कालेज) के मुखिया पद पर नियुक्त हुआ। 1228 में, वह सुल्तान इल्तुतमिश की सेवा में शामिल हो गया जब कुबचा की सत्ता नष्ट हो गई और उसके सिंध और मुल्तान के क्षेत्र दिल्ली सल्तनत के साथ जोड़ दिए गए। उन्होंने इल्तुतमिश के अधीन ग्वालियर के काज़ी (न्यायिक अधिकारी) के रूप में कार्य किया। सुल्तान रज़िया (1236-40) ने उन्हें दिल्ली बुलवाया और दिल्ली में मदरसा-इ नसीरी के मुखिया पद पर नियुक्त किया। बाद में सुल्तान नसीरूद्दीन महमूद के शासन के दौरान वह सल्तनत के मुख्य काजी पद पर आसीन हुए। सुल्तान नसीरूद्दीन महमूद के शासन के दौरान ही उन्होंने अपने जीवन काल तक इस्लाम के इतिहास को लिखने का निश्चय किया। अपने काम को फख्र-इ मुदाबीर और हसन निज़ामी से अलग रखने के प्रयास में मिन्हाज ने *तबाकत* इतिहास-लेखन पद्धति अपनाई। पहले के दो लेखकों ने अपने काम को एकांशात्मक रूप में लिखा है, जिसमें प्रत्येक शासन को एकांश के रूप में रखा गया है। *तबाकत* रूप में, प्रत्येक वंश और शासक अलग *तबका* (खण्ड) में प्रस्तुत किया जाता है और 1259 में पूरा किया गया। अंतिम पाँच खंड इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसमें हमे मध्य एशिया, फारस, भारत के शासक राजवंशों के उदय और पतन के साथ चंगेज खान के तहत मंगोल गतिविधियों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। निश्चित रूप से, घुर के शासकीय घराने पर मिन्हाज हमारे प्रारंभिक और बेहतर विशेषज्ञ हैं। उनका घुर के शासकों का लेखा अपने नजरिये में वस्तु-निष्ठता से चित्रित है। उसी तरह, ख़्वारिज़्म शाही वंश के इतिहास के प्रति समर्पित खंड और चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोल सत्ता का चढ़ाव और उसके तुरंत बाद के उत्तराधिकारियों के बारे में सूचना मिलती है, जो कि अता मलिक जुवैनी और रहिदुद्दीन फज़लुल्ला के कार्यों में

नहीं मिलती जिन्होंने मंगोल राजकुमारों के संरक्षण में लिखा था। मिन्हाज़ के उद्देश्य दिल्ली सल्तनत के इच्छुक पाठक को यह प्रामाणिक सूचना प्रदान करना था कि मंगोलों ने मुसलमानों पर विजय प्राप्त की और मुस्लिम नगरों और शहरों को ध्वस्त किया। उन्होंनें कई स्रोत का इस्तेमाल किया जिनमें कई व्यापारी और अप्रवासी शामिल थे जिनका मंगोल शासकों के साथ व्यापार संबंध था। इसके अतिरिक्त, उनके भारत प्रवास के पहले, उसका खुरासन में मंगोलों के विरुद्ध लड़ने का पहला अनुभव था। इसलिए, कार्य का अंतिम खंड आधुनिक विद्वानों के द्वारा मंगोल सत्ता के वर्णन के लिए अमूल्य माना जाता है। 1259 सी.ई. में मंगोल शासन का विघटन शासक मूँगे खान की मृत्यु के बाद होता है। बीसवां और इक्कीसवां खंड भारत को समर्पित है, जो ऐबक से लेकर सुल्तान नसीरूद्दीन महमूद शाह तक का है। यह इल्तुतमिश के प्रमुख कुलीन पुरूषों का जीवन वृत है। दोनों खंडों में उसने इन मामलों पर तार्किक सूचना दी है। एक इतिहासकार के रूप में अपने कर्त्तव्यों के प्रति वह सचेत है। उन्होंने सुल्तान और उसके पिता के आलोचकों को या तो सूक्ष्म तरीके से संकेत देकर या लाइनों के बीच लिखकर संदेश पहुंचाने की विधि का आविष्कार किया। चूंकि सुल्तान इल्तुतमिश की सीधे तौर पर आलोचना नहीं की जा सकती थी क्योंकि उसका बेटा, नसीरूद्दीन महमूद वहां का शासक था, मिन्हाज ने इल्तुतमिश की आलोचना उसके प्रतिद्वंदियों बिहार और बंगाल के सुल्तान गयासुद्दीन इवाज ख़िलजी और सुल्तान नासिरूद्दीन कुंबाया के अच्छे कार्यों की प्रशंसा करके की। इसी तरह वह कुछ रईसों (भद्रजनों) से छुटकारा पाने की नीति पर भी इशारा करते हैं। मलिक सैफुद्दीन ऐबक की प्रशंसा में वह कहता है कि वह अल्लाह से डरने वाला मुसलमान था और सुल्तान के आदेश पर मारे गए कुलीनों के बच्चों से उनकी सम्पत्ति नहीं छीनता था। यह वास्तव में मिन्हाज की इतिहास की समझ थी कि जिसने जियाउद्दीन बरनी को श्रद्धांजलि देने के लिए बाध्य किया। बरनी ने *तबाकत-इ नसीरी* के काल में लिखने को बेअदबी माना।

1.13 पुरातात्विक स्रोत[2]

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल का पुरातत्व अभी भी एक कम खोजा गया क्षेत्र है। अधिकांश उत्खनन और अन्वेषण का सरोकार प्रारंभिक ऐतिहासिक स्थलों से है। इस अवधि में किए गए उत्खनन और सीमित उत्खनन ने अल्प अवशेष और खराब पुरातात्विक डेटा हमारे समक्ष रखे है। सिक्के यदि दुर्लभ नहीं हैं तो बहुत कम तादाद में अवश्य हैं। कई स्थलों में लोगों के निवास स्थान की खोज नहीं की गई है। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल से संबंधित परतें या तो रिक्त हैं या खराब अवशेष दिखाती हैं। इसने आर. एस. शर्मा जैसे कुछ विद्वानों द्वारा शुरुआती मध्ययुगीन काल में शहरी पतन और क्षय के उनके सिद्धांत को आगे बढ़ाया ।

यह सच है कि कई स्थलों से इस अवधि के भौतिक अवशेषों न के बराबर प्राप्त हुए है। जैसे कि अतरंजीखेड़ा, कौशांबी, हस्तिनापुर से विनष्ट पुरातात्विक रिकॉर्ड श्रृंगवेरपुर एवं अहिच्छत्र से कमजोर संरचनाएँ, कुछ पत्थर की मूर्तिया, मिट्टी के बर्तन और अन्य भौतिक वस्तुएँ। कई बार तो हस्तिनापुर और श्रृंगवेरपुर जैसे स्थलों की इस काल की परतें अक्सर 1200 सी.ई. के उपरांत की मध्ययुगीन काल की परतों से इतनी मिलती जुलती है कि पहले चरण की संरचनाओं से अंतर करना मुश्किल हो जाता है। उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में स्थित हस्तिनापुर में, पीरियड V ग्यारहवीं शताब्दी सी.ई. में निर्मित माना जाता है तथा इसमें ईंट के टुकड़ों से बने ढांचों, ईंट से बनी दीवार एवं कमरा सहित मिट्टी के बर्तन, लोहे की वस्तुएं, टेराकोटा वस्तुएँ और पत्थर से बनी तीन मूर्तियां आदि मिले है। उत्तर प्रदेश के मथुरा जिला के सोंख भी ज्यादातर टूटे-बिखरे बेमेल दीवारें, विनाश और क्षय की तस्वीर पेश करतीं हैं। ठोस ईंटों के बजाय ईंट के टुकड़े और मिट्टी के मलबे के लगातार

[2] यह भाग एम.एच.आई.-10, खंड 4 से कुछ चुने हुए अनुच्छेदों पर आधारित है।

उपयोग के कारण नवनिर्मित संरचनाओं की गुणवत्ता बहुत खराब थीं। हालांकि खुदाई से हिंदू देवी-देवताओं के पत्थर की पट्टिकाएं बरामद हुई हैं। दिल्ली के लाल कोट को ग्यारहवीं से बारहवीं शताब्दी के राजपूत काल के रूप में विभाजित किया गया है और यहां मलबें की दीवारें, चूने के फर्श और लाल मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर कोई प्रमुख संरचनाएं नहीं प्राप्त हुई है। हालाँकि बाद के चरण को बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी का शुरुआती सल्तनत काल कहा जाता है, जिसमें अधिक संख्या में संरचनाएं और कलाकृतियाँ मिली हैं। दिल्ली के पुराने किले की पकी- ईंट व मिट्टी से निर्मित संरचना के अवशेष को उत्तर गुप्त काल के दौरान तीन चरणों में हुए निर्माण के रूप में चिह्नित किया गया था। संरचनाओं में प्रयुक्त पके हुए ज़्यादातर ईंटें पहले के निर्मित मकानों से लूटे गए थे। ध्यान देने योग्य वस्तुओं में कुछ सजावटी बरतन, मनके (मोती) तथा उत्कृष्ट किन्तु क्षतिग्रस्त पत्थर की बनी मूर्ति उल्लेखनीय है। संबंधित मिट्टी के बर्तनों में मुख्य रूप से एक लाल बर्तन (रेड वेयर) था, जिसमें चाकू की धार जैसी किनारे वाला एक विशिष्ट प्रकार का कटोरा था। बाद की अवधि जिसे राजपूत काल कहा जाता था (दसवीं से बारहवीं शताब्दी सी.ई.) में कच्ची-ईंटों और पुरानी (दुबारा प्रयुक्त) ईंटों से निर्मित संरचनाएँ विशेषता थी। घर की दीवारों के निर्माण में पकी ईंटें व कच्ची ईंटों का समान रूप से इस्तेमाल होने की जानकारी मिलती है। कुछ घरों में मिट्टी से बने फर्श व चूल्हे भी मिले हैं। हालांकि, इस अवधि की सबसे महत्वपूर्ण संरचना एक किले (दुर्ग) की दीवार थी, जो संभवतः तोमर वंश के शासकों के काल में बनी थी। पत्थर के मलबे से निर्मित यह दीवार 1.5 मीटर चौड़ी और 30 मीटर से अधिक ऊंची थी। राजपूत काल को पाँच संरचनात्मक चरणों में दर्शाया गया है जिनमें एक में मिट्टी से बना फर्श व चूल्हा है। मुख्य निर्माण-सामग्री पत्थर के टुकड़े व मिट्टी का मलबा था जो पूर्ववर्ती अवधि के समान ही था। इस अवधि के अन्य महत्वपूर्ण खोज में शामिल हैं तांबे के सिक्के, इंद्रगोप के मोती, टेराकोटा वस्तुएं, ढाली गई अलंकृत ईंटें और पत्थर में विष्णु की एक छोटी आकृति आदि। संबद्ध मिट्टी के बर्तन मुख्य रूप से लाल और काले रंग के थे, कभी-कभी साधारण रूप से चित्रित, मोहरबंद या उकेरी गई डिज़ाइनों से सजाए गए होते थे। उत्तर प्रदेश के वाराणसी स्थित राजघाट एक विख्यात स्थल है जहां उत्खनन से पता चलता है कि 300 से 700 सी.ई. का काल व्यवस्थापन योजना और वास्तुकला में एक वृहत प्रगति का काल था। इसकी जानकारी उस समय के घरों के विकास और टाउन प्लानिंग के विकास से मिली। कमरे का आकार 7.08 × 6.25 से लेकर 2.30 × 1.30 मीटर का था। नदी के करीब स्थित संरचनाओं को आवासीय घरों के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। इनमें से एक संरचना बड़े-बड़े खंभों वाला हॉल था। कुछ भूमिगत संरचनाएं भी मिली हैं जिसके निर्माण का उद्देश्य चर्चा का विषय है। कुएँ और ईंट-निर्मित नालियाँ भी हैं। शहर का एक नियमित नक्शा था तथा यह कई सड़कों और गलियों में विभाजित था। शहर को अच्छी तरह से योजनाबद्ध तरीके से बनाया गया था जिसमें विस्तृत जल निकासी प्रणाली, आवासीय और सार्वजनिक दोनों तरह के भवन, 'औद्योगिक' एवं धार्मिक गतिविधियों के लिए संरचनाएं थीं। यह सब एक बड़े शहरी केंद्र के बारे में बयाँ करता है जिसकी जड़ें काफी पहले समय तक की है और जो उत्तर गुप्त काल तक फैली हुई थी। छोटी खुदाई से यह भी स्पष्ट होता है कि ईंट की दीवारें, दो बड़े भवन और कई स्थापत्य टुकड़े पीरियड V (700 से 1200 सी.ई. तक) के प्रमाण हैं। तमिलनाडु के पल्लवमेडु में पल्लवों के पुरातात्विक साक्ष्य मिले हैं। बसावट के आधार पर तीन अवधियों की पहचान की गई है, मिट्टी के बर्तनों और अन्य कलाकृतियों के साथ अवधि I, मिट्टी के फर्श, चूल्हा और प्लेटफार्मों के साथ अवधि II, और मिट्टी के बर्तनों एवं टूटे.फूटे संरचनात्मक अवशेष के साथ अवधि III। पांडय (कोरकाई), चोल (कुरुम्बनमेडु और पल्यराई) और होयसल (कन्ननूर) के राजवंशों से जुड़े तमिलनाडु के कई स्थलों पर उत्खनन के पश्चात मिट्टी के बर्तन सहित ज्यादातर कलाकृतियाँ बरामद हुई हैं लेकिन कन्ननूर की सिंचाई प्रणाली और पल्यराई में ईंट की दीवार को छोड़कर कोई संरचनात्मक अवशेष नहीं मिला।

कर्नाटक के उत्तर कन्नड जिले में स्थित बनवासी, कदंब वंशीय शासन के लिए जाना जाता है जो हाल के दिनों में एक पुरातात्विक सर्वेक्षण का स्थल भी रहा है। सातवीं से सोलहवीं शताब्दी सी.ई. के दौरान शिव मंदिरों ने स्तूपों की जगह ली और व्यापक मिट्टी के बने बर्तनों के अवशेष, जलाशयों के निर्माण, असितोश्म पत्थर निर्माण स्थल और लोहे की तलछट की मौजूदगी से बस्ती का विस्तार तथा उत्पादन गतिविधि का संकेत मिलता है। ऐसा लगता है कि प्रारंभिक ऐतिहासिक बस्ती के क्षेत्र में बाद की अवधि के मिट्टी के बने बरतनों के अभाव के कारण व्यवस्थापन अलग क्षेत्र में स्थानांतरित हो गया था। कर्नाटक के ऐहोल क्षेत्र में प्रसिद्ध मंदिर परिसर के अध्ययन पर ध्यान केंद्रित किया गया है। लेकिन हाल के सर्वेक्षण कार्य से पता चला है कि शुरुआती चालुक्य मंदिर के एक किलोमीटर के इर्द-गिर्द मिट्टी के बर्तनों के अवशेषों की खोज, जलाशय, स्तंभो से बने हॉल एवं भवन समूह सहित बड़े स्थापत्य कॉम्प्लेक्स, पत्थर के खदानों एवं मोर्टारो के मिलने से पता चलता है कि यह सब बहुत बड़ी बस्ती का हिस्सा थे। प्राप्त मिट्टी के बर्तनों में ज्यादातर जार मिले थे जो कटोरे से भिन्न थे तथा ये खाना पकाने और भंडारण करने का संकेत देते हैं।

खराब अवशेषों और सीमित उत्खनन के बावजूद, प्रारंभिक मध्ययुगीन पुरातत्व ने ऐसे प्रमाण दिए हैं जिनका उपयोग विभिन्न सिद्धांतों जैसे कि शहरी क्षय, सामंतवाद, तीसरा शहरीकरण, उत्तर प्रदेश में सियडोनी जैसी शहरी बस्तियों के उद्भव और निरंतरता, व्यापार मार्गों, व्यापार, शिल्पी संघ, दक्षिण पूर्व एशिया आदि के साथ व्यापार के लिए किया गया है। इस प्रकार पुरातात्विक साक्ष्य घर के अवशेष, फर्श, गड्ढे, ईंटें, टूटी हुई ईंटें, कुएं, मंदिर, भवन, चूल्हे आदि के रूप में मौजूद हैं,। फिर चाहे ये साक्ष्य कितने भी महत्वपूर्ण या तुच्छ क्यों न हों, पुरातत्वविद् को किसी भी अवधि के इतिहास को फिर से बनाने में सहायक सिद्ध होते है। प्रारंभिक मध्यकाल इसका अपवाद नहीं है। इस अवधि के पुरातत्व में काफी संभावनाएं हैं और इस क्षेत्र में आगे किए जाने वाले कार्य कई मान्यताओं और धारणाओं को ठीक कर सकते हैं जो सीमित उत्खनन और अन्वेषणों के कारण बनी हैं।

बोध प्रश्न 2

1) 'वंशावली' शब्द का क्या अर्थ है? ऐतिहासिक स्रोत के रूप में *राजतरंगिणी* के महत्व की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के इस्लामी स्रोतों पर एक नोट लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. प्रारंभिक मध्ययुगीन काल का पुरातत्व अभी भी एक अनन्वेषित/अपरीक्षित क्षेत्र है। कुछ स्थलों पर किए गए उत्खनन और अन्वेषणों के आलोक में इस कथन की जाँच करें।

.....

.....

.....

.....

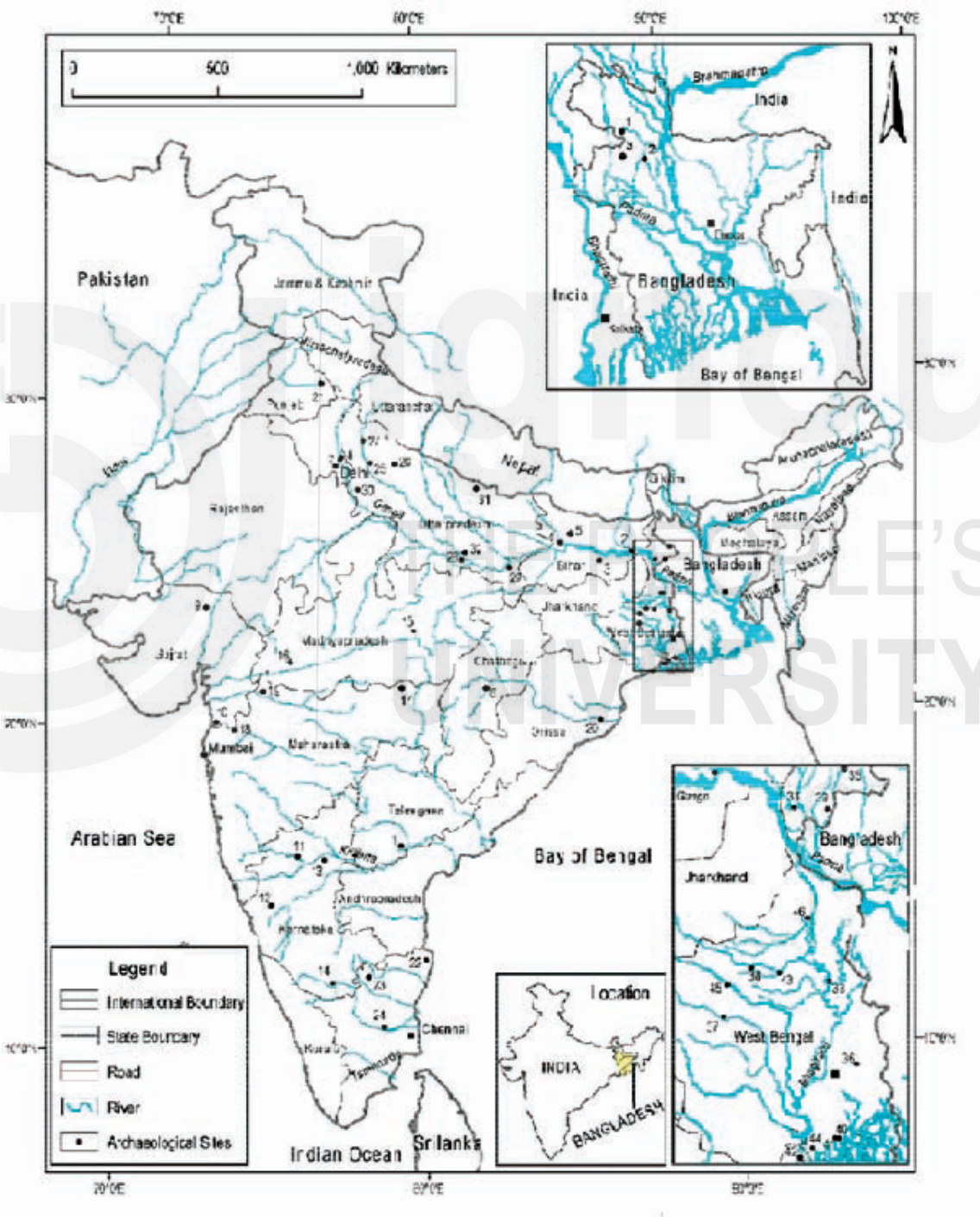

मानचित्र 1: गुप्तोत्तर काल के पुरातात्विक अवशेष
(शीना पांजा द्वारा तैयार किया गया नक्शा)
स्रोतः एमएचआई 10, ब्लॉक IV

भारतः 1) येलैवरम् 2) अंतीचक 3) चिरांद 4) क्रिमिला 5) वैशाली 6) सिरपुर 7) लाल कोट (किला राईपिथोरा) 8) पुराना किला 9) वडनगर 10) संजम 11) ऐहोल 12) बनवासी-गुदनापुर 13) मास्की 14) तलक्कड़ 15) त्रिपुरी 16) नावदातोली 17) मानसर 18) नासिक 19) प्रकाश 20) शिशुपालगढ़ 21) रोपड़ 22) कांचीपुरम 23) कावेरीपट्टनम 24) उरियुर 25) अहार 26) अहिच्छत्र 27) हस्तिनापुर 28) कौशांबी 29) राजघाट 30) सोंख 31) श्रावस्ती 32) श्रृंगवेरपुर 33) बल्लालढिपी 34) बालुपुर 35) बंगहड 36) चंद्रकेतुगढ़ 37) दीहार 38) गोस्वामीखंड 39) जगजीवनपुर 40) जतर देउल 41) कंकनदीघी 42) मंदिरतल 43) मंगलकोट 44) पाकुरतल 45) पोखन्न 46) राजा बाड़ी डंग।

बांग्लादेशः 1) बीरमपुर परिसर 2) महस्थान 3) पहाड़पुर

1.14 सारांश

इस इकाई में आपने विभिन्न श्रेणियों के स्रोतों के बारे में पढ़ा जो प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए उपलब्ध हैं। इस काल में कुछ नए प्रकार के ऐतिहासिक लेखन सामयिक हो गए जैसे कि चरित, प्रशस्ति और वंशावलियाँ। आपको इन शब्दों के अर्थ और ये ऐतिहासिक स्रोत के रूप में कैसे महत्वपूर्ण हैं, के बारे में अवगत कराया गया। यह वह समय था जब भारत में मुस्लिम घुसपैठ ने सल्तनत की स्थापना की। ऐतिहासिक लेखन का एक व्यवस्थित रूप उभरा और हमारे पास कई ग्रंथ हैं जो शुरुआती सल्तनत काल पर प्रकाश डालते हैं। अंत में हमने पुरातात्विक स्रोतों पर चर्चा की और देखा कि कैसे प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में सीमित उत्खनन और अन्वेषणों ने उन प्रक्रियाओं/ कार्यविधियो पर हमारी जांच में बाधा उत्पन्न की जिसने इस अवधि को पहले वाले से अलग बनाया। हमने भारत के प्रमुख स्थलों और उस तरह के पुरातात्विक रिकॉर्ड का एक छोटा सा सर्वेक्षण भी किया है, जिसका इसमे खुलासा किया गया है।

1.15 शब्दावली

चरित : ऐतिहासिक जीवनी

महायान : शाब्दिक रूप से "सबसे बडा यान", एक बौद्ध परंपरा जहाँ बुद्ध की पूजा एक मानव के रूप में की जाती है।

प्रशस्ति : स्तवन/ प्रशंसा पत्र

राजतरंगिणी : कश्मीर राज्य के उद्भव का वर्णन करने वाली एक ऐतिहासिक कथा।

थेरवाद : बौद्ध धर्म की एक रूढ़िवादी शाखा जो हीनयान बौद्ध धर्म से विकसित हुई।

वंशावली : कल्हण द्वारा लिखित इतिवृत्त। इसे प्राचीन भारत का पहला सच्चा ऐतिहासिक कार्य माना जाता है।

1.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 1.2 देखें

2) भाग 1.3 देखें

बोध प्रश्न 2

1) भाग 1.11 देखें

2) भाग 1.12 देखें

3) धारा 1.13 देखें

1.17 संदर्भ ग्रन्थ

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1997). *द मेकिंग ऑफ अर्ली मेडीवल इंडिया.* दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

शर्मा, आर.एस. (1965). *इंडियन फ्यूडलिज्म.* मद्रासः मैकमिलन.

शर्मा, आर.एस. (1987). *अर्बन डिके इन इंडिया (लगभग 380. लगभग 1000).* नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहरलाल.

सिंह, उपिंदर (2008). *ऐ हिस्ट्री ऑफ ऐशियंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया : फ्रॉम द स्टोन ऐज टू द 12वीं सेन्चुरी.* डोरलिंग किंडरस्ले (इंडिया) प्रा. लिमिटेड

थापर, रोमिला (2013). *द पास्ट बिफोर अस. द हिस्टोरिकल ट्रडीशक्स ऑफ अर्ली नॉर्थ. इंडिया.* लंदनः हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

इकाई 2 राजनीतिक परिदृभय-I – राजपूतः उदय और सत्ता के लिए संघर्ष*

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 राजपूत वंशों का उदय

2.3 उत्पत्ति की कथाएं : उनके राजनीतिक परिणाम

2.4 राजनीतिक सत्ता का वितरण
- 2.4.1 राजपूत वंशों की वृद्धि
- 2.4.2 वंशीय शक्ति का निर्माण
- 2.4.3 सामाजिक स्तर में उत्थान की प्रक्रिया

2.5 वंशीय शक्ति का सुदृढ़ीकरण

2.6 राजनीतिक संगठन की प्रकृति एवं ढांचा
- 2.6.1 राजनीतिक अस्थिरता
- 2.6.2 नौकरशाही का ढांचा
- 2.6.3 वंशात्मक राज्य एवं सामंतीय राजनीति

2.7 सारांश

2.8 शब्दावली

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.10 संदर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आप जान सकेंगेः

- राजपूतों के संदर्भ में पश्चिमी और मध्य भारत में विभिन्न राजनीतिक शक्ति विन्यास कैसे उभरे;
- राजनीतिक संगठन के ढांचे के साथ-साथ आपको राजनीतिक सत्ता के वितरण की प्रकृति के बारे में ज्ञान;
- राजनीतिक शक्तियों के निर्माण के प्रतिमानों एवं उनके सुदृढ़ीकरण का विश्लेषण।

2.1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीति के परंपरागत अध्ययन में शासक वंशों की वंशावली एवं उनके शासन के तिथिक्रम पर अधिक बल दिया जाता है। राजनीति में जो भी परिवर्तन हुए उनको शासक वंश में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप मान लिया गया। राजनीतिक व्यवस्था में घटित

* यह इकाई ई.एच.आई.–03, खंड 3, इकाई 10 से ली गयी है।

होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने की इस पद्धति को अब अपूर्ण माना जाता है। अभी हाल के वर्षों में राजनीति पर जो शोध किये गये हैं उनके अंतर्गत प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय राजनीति का विश्लेषण उन संभावित प्रक्रियाओं के दृष्टिकोण से करने का प्रयास किया गया है जो उस समय कार्यरत थीं। आजकल राज्य निर्माण, राजनीति का ढांचा, सत्ता का चरित्र एवं राजनीतिक नियंत्रण जैसे विषयों के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा है। उपमहाद्वीपीय स्तर पर सामान्यीकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि इस तरह के विषयों पर सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए। इस इकाई में हमें पश्चिमी तथा मध्य भारत की क्षेत्रीय राजनीतिक प्रणाली के उद्‌भव एवं विकास की जानकारी प्राप्त होगी। इस क्षेत्र के अंतर्गत आधुनिक राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश के अधिकतर भू-भाग आते हैं। इस वास्तविकता को समझते हुए कि भारत के बहुत से भागों में होने वाले क्षेत्रीय राजनीतिक परिवर्तनों का अध्ययन गहराई से नहीं किया गया है, इसलिए उपमहाद्वीपीय स्तर पर इन परिवर्तनों का सामान्यीकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि इन पर आगे शोध किया जाए। क्षेत्रीय राजनीतिक परिवर्तनों का अध्ययन करना निम्नलिखित कारणों से और भी महत्वपूर्ण है :

1) इन क्षेत्रों में सत्ता के केन्द्रों में जल्दी-जल्दी बदलाव आते थे।

2) नवीन राजनीतिक प्रणालियों का निर्माण एक अनवरत प्रक्रिया थी।

पश्चिमी तथा मध्य भारत में हमें स्थानीय राज्यों के उदय के नवीन उदाहरण देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, गुर्जर प्रतिहार, गुहिला, परमार, चाहमान, कलचुरी एवं चन्देल जैसे राजपूत वंशों ने गुप्तकाल के बाद एवं दसवीं सदी सी.ई. के बाद के काल में पश्चिमी तथा मध्य भारत में पैदा हुई राजनीतिक अनिश्चिताओं का लाभ उठाया। कई शताब्दियों तक विशेषकर सन् 800 सी.ई. से 1300 सी.ई. तक राजनीतिक क्षीतिज पर उनका दबदबा कायम रहा। जिस तरह से इन राजपूत वंशों की उत्पत्ति के विषय में कुछ स्पष्टता से नहीं कहा जा सकता है उसी तरह से उन राजनीतिक प्रक्रियाओं के विषय में भी कुछ निश्चित नहीं है जिनके द्वारा इन राजपूत शक्तियों ने पुराने राजवंशों का स्थान ग्रहण किया। इसके बावजूद भी राजनीतिक सत्ता के विवरण की कुछ आवश्यक विशेषताओं का उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। इस क्षेत्र की राजनीति में उतरी तथा पूर्वी भारत की राजनीति से कुछ भिन्नता थी। इस क्षेत्र की राजनीति पर विशेषकर कुछ भागों में राजकुल का प्रभाव था। इन भागों में भी नौकरशाही के ढांचे सहित प्रशासनिक एवं वित्तीय शक्तियों का विसर्जन नये प्रकार के भू-स्वामित्व पर आधारित था, इसने सामंतीय राजनीतिक व्यवस्था के मार्ग को प्रशस्त किया।

2.2 राजपूत वंशों का उदय

712-13 सी.ई. में अरबों ने सिंध एवं मुल्तान पर आक्रमण किया। आगामी 25 वर्षों में उन्होंने मारवाड़, मालवा तथा भड़ौंच को रौंद डाला और भारत के अन्य भागों पर भी उनका खतरा मंडराने लगा। उनके इन आक्रमणों ने पश्चिमी भारत तथा दक्कन के राजनीतिक नक्शे में होने वाले परिवर्तनों में काफी योगदान दिया। राष्ट्रकूट एवं अब राजपूत कह जाने वाले अनेक राजवंश इस काल में सामने आये। इन वंशों का नाम इससे पूर्व के समय में सुनायी नहीं पड़ता। इन वंशों ने इस क्षेत्र की राजनीति में 800 सी. ई. से महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी शुरू कर दी थी। परमार एवं चाहमान जैसे सामान्य राजवंश बहुत सी कठिनाइयों को पार करने के बाद गुर्जर प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट जैसी बड़ी शक्तियों के अंतर्राज्यीय संघर्षों के समय महत्वपूर्ण हो गये। राजपूतों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय एक घटना प्रतीत होती है। लेकिन प्रारंभिक राजनीतिक घटनाक्रम के विश्लेषण से स्पष्ट है कि राजपूतों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय अचानक घटित होने वाली घटना

न थी। इन राजवंशों का उद्भव विद्यमान राजनीतिक ढांचे के पदानुक्रम में ही हुआ था। इसलिए इनके उद्भव को संपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में ही समझा जाना चाहिए।

2.3 उत्पत्ति की कथाएं : उनके राजनीतिक परिणाम

राजपूत वंशों के उत्पत्ति की समस्या काफी जटिल एवं विवादास्पद है। राजपूतों के गोत्र निर्माताओं ने उन्हें चन्द्रमा (सोमवंशी) से संबंधित क्षत्रिय बताया जबकि कुछ ने पुराने महाकाव्यों के आधार पर उनका संबंध सूर्यवंशियों से जोड़ा। सूर्य से उनकी उत्पत्ति की कल्पना करने का भावार्थ यह था कि कलयुग में इन क्षत्रियों की उत्पत्ति मलेच्छों (विदेशियों) का सर्वनाश करने के लिए हुई। राजस्थानी भाटों और वंशावली निर्माताओं ने उनकी उत्पत्ति को आग से बताया (अग्निकुल)।

अग्निकुल मिथक : इसका रचयिता एक दरबारी कवि था – की कहानी के अनुसार परमार वंश के संस्थापकों की उत्पत्ति वशिष्ठ मुनि के माउंट अबू पर्वत पर स्थित अग्निकुंड से हुई थी। वशिष्ठ के अग्निकुंड से जिस व्यक्ति की उत्पत्ति हुई उसने वशिष्ठ मुनि की इच्छानुसार वरदान देने वाली गाय को मुनि विश्वामित्र से शक्ति के बल पर प्राप्त कर लिया और उसको पुनः वशिष्ठ मुनि को लौटा दिया। मुनि वशिष्ठ ने उस व्यक्ति को उसके द्वारा किए गए कार्यों के अनुरूप परमार अर्थात् 'दूसरे का वध करने वाला' नाम प्रदान किया। इस व्यक्ति से उत्पन्न होने वाली जाति के लोगों को सद्गुण संपन्न राजाओं द्वारा श्रेष्ठ माना जाने लगा। परमार राजाओं के अभिलेख भी उनकी उत्पत्ति को मुनि वशिष्ठ के माउंट अबू पर्वत पर स्थित अग्निकुंड से ही घोषित करते हैं।

राजस्थानी भाटों ने इस विवरण में कुछ बढ़ोतरी करते हुए कहा कि न केवल परमारों की अग्नि से उत्पत्ति हुई थी बल्कि प्रतिहारों, गुजरात के चौलुक्यों एवं चाहमानों की उत्पत्ति भी अग्नि से हुई। चाहमानों की उत्पत्ति को अग्नि से बताते हुए भाट कथाओं में कहा गया कि अगस्तय मुनि एवं अन्य दूसरे मुनियों ने माउंट अबू पर्वत पर एक विशाल आहुति यज्ञ को प्रारंभ किया। राक्षसों ने मलिन वस्तुओं को फेंक कर इस यज्ञ को अपवित्र करने का प्रयास किया। वशिष्ठ मुनि ने अग्निकुंड से तीन योद्धाओंः प्रतिहार, चालुक्य एवं परमार को उत्पन्न किया। लेकिन इन तीनों में से कोई भी राक्षसों को दूर न रख सका। फिर वशिष्ठ ने एक नये अग्निकुंड का निर्माण किया और इससे हथियारों से लैस एक चतुरभुज योद्धा का जन्म हुआ। इस योद्धा ने राक्षसों को पराजित कर दिया। ऋषियों ने उसको चाहमान नाम दिया। उसने दानवों का संहार किया। अग्निकुल की यह कथा भाट कवियों की कल्पना मात्र से अधिक कुछ नहीं है। अपने आश्रयदाताओं की उत्तम वंशावली की तलाश में उन्होंने परमारों की अग्नि उत्पत्ति की कहानी को रचा। उन्होंने सोचा यदि इस कथा का और विस्तार किया जाए तब वे चाहमानों की उत्पत्ति की अधिक शानदार व्याख्या कर सकते हैं। यदि उत्पत्ति की समस्या पर विचार किसी व्यक्तिगत वंश के आधार पर करने की अपेक्षा इसकी संपूर्णता में किया जाए तब इसका राजनीतिक महत्व समझ में आता है। नवीन सामाजिक समूहों के द्वारा स्वयं को क्षेत्रीय बताने का दावा प्रारंभिक मध्यकाल में काफी प्रचलित हो गया था। क्षत्रिय स्तर, उन बहुत से प्रतीकों में से एक था जिसके द्वारा नव उदित सामाजिक समूहों ने अपनी नई शक्ति को वैधता प्रदान करने का प्रयास किया।

प्रारंभिक मध्यकालीन एवं मध्यकालीन राजपूत वंश मिश्रित जाति का प्रतिनिधित्व करते थे। इन वंशों में भू क्षेत्रों के छोटे प्रमुख थे और इन्होंने धीरे-धीरे राजनीतिक प्रमुखता को प्राप्त कर लिया। प्रतिहारों, गुहिलों, चाहमानों एवं अन्य वंशों के द्वारा प्राप्त की जाने वाली राजनीतिक शक्ति और सम्मानीय सामाजिक स्तर (अर्थात् क्षत्रिय राजपूत) प्राप्त करने की दिशा में उनके प्रयास के बीच एक सहज संबंध था। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि इन वंशों ने स्वयं को प्राचीन क्षत्रियों से जोड़ने का दावा राजसत्ता को प्राप्त करने के काफी

लंबे समय बाद किया। सबसे पहले हम गुर्जर प्रतिहारों के उदाहरण का उल्लेख कर सकते हैं। तिथिक्रम के अनुसार गुर्जर प्रतिहार राजपूत वंशों में ऐतिहासिक रूप में सबसे पहले का महत्वपूर्ण वंश था। नौंवी सदी सी.ई. के अंत में राजा भोज प्रथम द्वारा जारी किये गये एक अभिलेखानुसार वे स्वयं को सूर्य वंश का मानते है और वे रामायण काव्य के नायक राम के भाई लक्ष्मण को अपने परिवार का पूर्वज बताते है। लेकिन गुर्जर-प्रतिहारों के अभिलेख राजा भोज के चरमोत्कर्ष के दिनों तक उनकी उत्पत्ति के प्रश्न पर कुछ भी नहीं बताते। सूर्य वंश की शिलालेख परंपरा तिथि क्रमानुसार उस समय से जुड़ी है जबकि गुर्जर प्रतिहार एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति थे। इस तरह से यह परंपरा साम्राज्य प्रधानता की स्थिति का महाकाव्यों के गौरवमय युग के साथ संपर्क स्थापित करने के प्रयास का प्रतिनिधित्व करती है। परमार एवं चाहमान जैसे वंशों की उत्पत्ति को भी क्षत्रियों से संबंधित करने की परंपरा का उदय इन शक्तियों के प्रारंभिक काल में नहीं हुआ था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजपूत वंश में प्रवेश केवल राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने पर ही हो सकता था। ये नवीन राजनीतिक शक्तियां अपनी वैधता को सिद्ध करने के लिए अपने-अपने वंशों को काल्पनिक भूतकालीन क्षत्रीय परंपरा के साथ जोड़ने का दावा कर रहे थे।

बोध प्रश्न 1

1) भाट कवियों ने अग्निकुल जैसी काल्पनिक कथाओं की रचना क्यों की? लगभग पाँच पक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्षेत्रीय राजनीतिक प्रणाली के अध्ययन की आवश्यकता के कारणों को बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित कथनों पर सही (√) एवं गलत (×) का चिन्ह लगाइएः

i) राजपूत वंश भारतीय राजनीतिक क्षीतिज पर अचानक प्रकट हुए।

ii) प्रारंभिक मध्यकाल में नवीन सामाजिक समूहों ने क्षत्रिय होने का दावा करना शुरू किया।

iii) अरबों ने छठी सदी सी.ई. में सिंध पर आक्रमण किया।

iv) राजपूत वंशों की उत्पत्ति के संबंध में कोई समस्या नहीं है।

2.4 राजनीतिक सत्ता का वितरण

भारत में राजनीतिक शक्ति का वितरण एक समान प्रतिमान के आधार पर नहीं किया गया। मध्यकालीन पश्चिम भारत में राजनीतिक शक्तियों के उद्‌भव की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि राजनीतिक शक्ति के वितरण को राजतंत्रीय राजनीतिक प्रणाली के अंतर्गत राजवंशीय (कुल, वंश) ढांचे के द्वारा संगठित किया गया था। राजस्थान के चाहमान और दक्षिणी राजस्थान, गुजरात तथा मालवा के परमार जैसे राजपूत वंशों का राजनैतिक इतिहास राजनीतिक शक्ति का वंशों पर आधारित वितरण के उदाहरण को स्पष्ट तौर पर दर्शाता है।

2.4.1 राजपूत वंशों की वृद्धि

मारवाड़ के भाट लेखकों द्वारा रचित वंशावली के अनुसार अबू के परमार वंश के धारनिवराह ने स्वयं को नवकोट मारवाड़ का स्वामी बना लिया और बाद में उसने इसको अपने नौ भाइयों में विभाजित कर दिया– एक भाई को मंदोवर, दूसरे को अजमेर तथा इस तरह से शेष को अन्य भाग प्रदान कर दिये। मालवा के परमारों के अलावा उनकी चार अन्य शाखाएं (1) अबू, (2) भीनमल, (3) जलौर, (4) वागदा में भी शासन करती थी। इसी तरह से भड़ौच के चाहमानों के अतिरिक्त प्रतापगढ़ क्षेत्र पर उनकी एक अन्य शाखा शासन करती थीं। इसका प्रमुख प्रतिहार राजाओं का एक महासामंत था। इस महासामंत का पूर्वज शाकम्भरी की प्रसिद्ध चाहमान शाखा का सदस्य था। शाकम्भरी के चाहमानों के पास पुष्कर से हर्सा तक का (मध्य और पूर्वी राजस्थान) भू-भाग था, परन्तु यह भू-भाग उनकी शाखाओं (1) नाडौल, (2) जालौर, (3) सत्यपुरा, (4) अबू में विभाजित था। अपने पांच शताब्दियों के शासन काल में उन्होंने पश्चिम राजस्थान एवं गुजरात के विशाल क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाये रखा।

प्रारंभिक मध्यकाल में चाप नाम का एक और राजपूत वंश था। उन्होंने भीलमल काठियावाड़ में वंधियार और गुजरात में अनाहिलपटक जैसी रियासतों पर शासन किया। इसी तरह से गुहिलों ने उदयपुर एवं मेवाड़ पर शासन किया।

इन बड़े वंशों के उप-विभाजनों के साथ-साथ बहुत से छोटे-छोटे वंशों का उदय, प्रारंभिक मध्यकाल में राजपूतों के फेलाव में एक और महत्वपूर्ण कारण था। राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के माध्यम से राजपूत वंशों के निर्माण की एक अनवरत प्रक्रिया जारी थी। नवीन वंशों का निर्माण तथा पुरानों का उप-विभाजन जारी था। नवीन वंशों का निर्माण तथा पुरानों का उप-विभाजन राजपूत राजनीतिक ढांचे के अंतर्गत कई तरीकों से जारी रहता था।

2.4.2 वंशीय शक्ति का निर्माण

वंशीय शक्ति के निर्माण एवं सुदृढ़ीकरण का विकास एक समान रूप से न हुआ। राजकुल या वंशीय शक्ति के निर्माण की प्रक्रिया का एक संकेत उन नये क्षेत्रों को बसाना था – जिसका प्रमाण बहुत सी बस्तियों के प्रसार के रूप में मिलता है। नये क्षेत्रों का बसाना संगठित सैन्य शक्ति के साधनों द्वारा विजित किये गये नये क्षेत्रों के परिणामस्वरूप हो सका। नादौल के चौहान राज्य को सप्ताशंत के नाम से जाना जाता था। ऐसा कहा जाता है कि सप्तसहसरिकादेश का निर्माण एक चौहान सरदार ने अपने राज्य की सीमाओं के सरदारों का वध कर उनके गांवों को प्राप्त करके किया था। पश्चिमी भारत की शक्तियों का क्षेत्रीय प्रसार कुछ क्षेत्रों में कबिलाई बस्तियों को नष्ट करके पूर्ण हुआ। उदाहरण के लिए, मंदौर प्रतिहार कक्कूका जिस स्थान पर जा बसे वह भयंकर था क्योंकि उस स्थान पर आभिरों का निवास था। पश्चिम तथा मध्य भारत में सबरों, भीलों एवं पुलिन्दों जैसी कबिलाई आबादी के दमन से इस तरह के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इसी तरह की कार्यवाहियों को गुहिलों तथा चाहमानों के दृष्टांत में भी पाया जाता है। सातवीं सदी की प्रारंभिक गुहिला बस्तियां राजस्थान के अनेक भागों में पायी गई। कुछ बाद के गुहिलों के नागद-अहार अभिलेखों के अनुसार उनका प्रारंभ गुजरात से हुआ था। भाट कवियों की परंपरा के अनुसार गुहिलों ने अपने दक्षिण राज्यों की स्थापना भीलों के प्रारंभिक कबिलाई राज्यों के स्थान पर की थी।

चौहानों की प्रवाह भी अहिच्छत्रपुर के जंगल देश (शाकम्भरी) की ओर हुआ। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह एक उजाड़ क्षेत्र था। उनके इस ओर विस्तार के कारण यहां भी बस्तियां बस गई। दसवीं सदी सी.ई. के एक लेख के अनुसार शाकम्भरी चाहमान वंश के वाकपति प्रथम के पुत्र लक्ष्मण ने अपने कुछ समर्थकों के साथ अभियान शुरू किया और मेदों के विरुद्ध युद्ध किया। ये मेद नाडुला के आस-पास के क्षेत्रों में अपनी लूट-खसोट से वहां की जनता को आंतकित किए हुए थे। लक्ष्मण ने इस क्षेत्र के ब्राह्मण स्वामियों को प्रसन्न कर दिया। इसी कारण से उन्होंने उसको नगरों का रक्षक नियुक्त कर दिया। लक्ष्मण ने शनैः शनैः सेना की एक टुकड़ी का गठन कर लिया और मेदों का उनके ही क्षेत्र में दमन कर दिया। मेदों ने यह भी वायदा किया कि वे उन गांवों से दूर रहेंगे और वे लक्ष्मण को निश्चित कर का भुगतान करते थे। वह 20 घोड़ों का स्वामी बन गया और उसने सरलता से अपने प्रभुत्व का विस्तार किया और नाडौल में एक विशाल भवन का निर्माण किया।

एक राजवंश को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे राजवंश की सत्ता स्थापित की जा सकती थी और ऐसा जालौर के चाहमानों के दृष्टांत से स्पष्ट भी होता है। जालौर के चाहमान नाडौल के चाहमानों की ही एक शाखा थे। नाडौल चाहमान अलहण का पुत्र किर्तिपाल उस भूमि के भाग से असंतुष्ट था जो उसको विभाजन के बाद प्राप्त हुआ था। लेकिन यह महत्वाकांक्षी पुरुष था और उस समय मेवाड़ की स्थिति ऐसी थी जिससे कि वह उस पर आक्रमण कर अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता था। परन्तु उसको मेवाड़ पर किए गए आक्रमण में सफलता प्राप्त न हुई तब उसने उस क्षेत्र पर आक्रमण किया जहां पर पारमारों का शासन था। उसने जालौर पर अधिकार कर उसे अपने नये राज्य की राजधानी बना लिया। इस तरह से चाहमानों की भड़ौच शाखा उस समय अस्तित्व में आयी जब चाहमान सरदार भारत्रवद्ध द्वितीय ने भड़ौच के गुर्जरों के क्षेत्र पर अधिकार कर राज्य की स्थापना की। अरबों के आक्रमण के कारण इस क्षेत्र में अराजकता पैदा हो गई थी और प्रतिहार नागभट्ट-प्रथम ने भड़ौच के गुर्जरों को उखाड़ने के लिए चाहमान सरदार की सहायता की थी। तब उसने 756 सी-ई. में महासामंताधिपति की उपाधि को धारण किया।

इस प्रकार राजवंशीय शक्ति के निर्माण का विकास उन बहुत से रास्तों एवं प्रक्रियाओं के माध्यम से हुआ जो अलग-अलग बंटे हुए नहीं थे और एक दूसरे के साथ संबंध रखते थे।

2.4.3 सामाजिक स्तर में उत्थान की प्रक्रिया

पश्चिमी भारत के राजनीतिक इतिहास से स्पष्ट है कि किसी एक क्षेत्र की एक जाति राजनीतिक शक्ति को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकती थी। वह इस क्षेत्र में एक ऐसे राजनीतिक ढांचे की नींव रख सकती थी जो सदियों तक चलती रहे। कोई भी वंश कृषि को आधार बनाकर आगे बढ़ने का प्रयास करता और समय के साथ-साथ वह अन्य स्थानीय वंशों के साथ मिलकर एक बड़ी क्षेत्रीय शक्ति के रूप में स्थापित हो जाता। उदाहरणार्थ, भूमि के एक विशेष भाग को गुजरात्र, गुर्जर भूमि, गुर्ज्जाराष्ट्र आदि के नाम से जाना जाता। बार-बार जिस भू-भाग का इन नामों से उल्लेख किया गया, संभवतः वह दक्षिणी राजस्थान के साथ जुड़ा भू-भाग था और यही वह आधार था जहां से कई राजकुलों का उद्भव हुआ।

गुर्जर समूह के अंतर्गत स्तरीकरण की प्रक्रिया में ऐसे कई परिवारों का विकास हुआ जिन्होंने राजनीतिक सर्वोच्चता को प्राप्त कर लिया और वे शासक वंश बन गये। सातवीं सदी से उन वंशों की अनेक शाखाएं हो गई जो गुर्जर समूह से बने थे और वे राजनीतिक शक्ति के माध्यम से पश्चिम भारत में व्यापक रूप से फैल गई। गुर्जर प्रतिहारों का इस सामाजिक पृष्ठभूमि में उदय सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा कहा गया कि शक्तिशाली एवं सर्वोच्च सत्ता के ढांचों का उदय स्थानीय कृषि व्यवस्थाओं के आधार पर ही हुआ और इसने अनुकूल राजनीतिक परिस्थितियों में प्रगतिशीलता के मार्ग का अनुसरण किया।

2.5 वंशीय शक्ति का सुदृढ़ीकरण

पश्चिम एवं मध्य भारत में राजनीतिक शक्तियों का उदय कुछ निश्चित प्रकार की विशेषताओं से जुड़ा था। आर्थिक स्तर पर भूमि वितरण के प्रतिमान अतिमहत्वपूर्ण थे। दसवीं सदी के अंत से चाहमान शासक वंशों के सदस्यों के बीच वितरित की जाने वाली भूमि के प्रमाण मिलते हैं। राजा सिंहराज, उनके भाइयों वत्सराज, विध्नराज और उनके दो पुत्रों चन्दराज, तथा गोविन्दराज के पास अपनी व्यक्तिगत जागीरें थीं। नाडौल के चाहमान राजा भी इस प्रकार के भूमि अधिकारों का आवंटन करते थे तथा उनको *ग्रास, ग्रासभूमि* या *भुक्ति* कहा जाता था और इस तरह की संपत्तियों के स्वामी राजा, रानी, युवराज या अन्य राजकुमार आदि होते थे। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा राजस्थान में इस भांति की भूमि आवंटन की प्रथा का कुछ अधिक ही प्रचलन था। शाही परिवार के सदस्यों को इस तरह से भू का यह आवंटन एक प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है और इसका धीरे-धीरे विकास हुआ तथा यह कुल के विस्तार के साथ जुड़ गई। इसका दूसरा प्रतिमान यह था कि कुछ गांवों से बनी इकाइयों पर भी वंश के कुछ सदस्यों का नियंत्रण होता था और ये इकाइयां *मंडल* या *भुक्ति* का भाग होती थीं। इकाई पर संभवतः स्थानीय नियंत्रण होता था। 84 गांवों की इकाई को चौरसिया कहा जाता था तथा प्रारंभ में इसका प्रचलन सोराष्ट्र में गुर्जर प्रतिहारों के नियंत्रण में था और बाद में इसका विस्तार राजस्थान में भी हुआ। इस प्रकार की अभिव्यक्ति शासक वर्ग के सदस्यों के बीच भूमि वितरण तथा राजनयिक नियंत्रण के रूप में हुई। 10वीं सदी और 12वीं सदी के मध्य तक इस तरह की बड़ी-बड़ी जागीरों के स्वामित्व का प्रचलन चाहमान एवं परमार कुलों के राजाओं तथा युवराजों के अधीन था। इस प्रक्रिया का एक दूसरा पक्ष भी था जिसके कारण विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक किलेबंदी करने की प्रथा का प्रारंभ हुआ। जहां ये किले एक ओर सुरक्षा के कार्य करते थे; वे अपने आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों पर नियंत्रण करने का भी केन्द्र बन गये और इनसे शासक परिवारों को सुदृढ़ीकरण करने की प्रक्रिया में मदद मिली।

शासक वंशों के मध्य स्थापित होने वाले वैवाहिक संबंध सामाजिक स्तर पर वंशीय शक्ति की सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं। वैवाहिक संबंधों द्वारा उन अंतर-वंशीय संबंधों की स्थापना हुई जिसके महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम हुए क्योंकि ये परिवार अधिकतर राजपूत शासक वंश थे। परमारों-राष्ट्रकूटों एवं चाहमान-परमारों के बीच स्थापित होने वाले वैवाहिक संबंधों के अतिरिक्त गुहिला वैवाहिक संबंध भी काफी व्यापक थे। यद्यपि गुहिलों ने अपने वैवाहिक संबंध चालुक्यों से स्थापित किये थे लेकिन उनके वैवाहिक संबंध राष्ट्रकूटों, चेदियों तथा हुणों सहित अन्य राजपूत वंशों जैसे कि परमारों एवं चाहमानों से भी थे। इस तरह से हम देखते हैं कि राजपूत वंशीय व्यवस्था को स्थापित करने में वैवाहिक संबंधों ने महत्वपूर्ण योगदान किया। इन वैवाहिक संबंधों को स्थापित करने में राजनैतिक लक्ष्य अधिक थे क्योंकि उपरोक्त उद्धरणों में पश्चिम भारत के प्रारंभिक मध्य काल के महत्वपूर्ण शासक वर्ग थे। अंतर-वंशीय वैवाहिक संबंधों का यह परिणाम हुआ कि सामाजिक राजनीतिक प्रकृति की व्यापक गतिविधियों में सहयोग कायम हुआ क्योंकि इन्होंने विभिन्न राज्यों एवं दरबारों में भिन्न-भिन्न वंशों के सदस्यों की उपस्थिति को बढ़ाने में सहायता की।

बोध प्रश्न 2

1) पश्चिम भारत में नई बस्तियों का बनना वंशीय शक्ति के निर्माण की प्रक्रिया का प्रतीक थी। पांच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दसवीं सदी के बाद के काल में राजस्थान में शाही वंश के सदस्यों के बीच आवंटित की जाने वाली भूमि के दृष्टांत उद्धत कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही (√) और कौन सा गलत (×) है।

i) जिस किसी भी नये वंश को राजनीतिक सत्ता प्राप्त होती है वह अपनी वैधता सिद्ध करने के लिए सम्मानीय सामाजिक स्तर का होने का दावा प्रस्तुत करता।

ii) शासक वंशों के बीच स्थापित होने वाले वैवाहिक संबंधों का सामाजिक-राजनीतिक प्रकृति की व्यापकतम गतिविधियों से कोई रिश्ता नहीं था।

iii) अंतर-वंशीय विवाहों के महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम हुए।

iv) राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने की प्रक्रिया की राजपूत वंशों के निर्माण में कोई भूमिका नहीं थी।

2.6 राजनीतिक संगठन की प्रकृति एवं ढांचा

प्रारंभिक मध्यकालीन पश्चिम भारत के राजनीतिक भूगोल तथा गुजरात, राजस्थान तथा मालवा में सदैव राजवंशों की संवृद्धि के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में राजनीतिक सत्ता के निर्माण के प्रमाण से स्पष्ट है कि शासक वंश तथा एक विशिष्ट क्षेत्र के बीच सदैव एक समान संबंध नहीं होते थे। राजवंशों की अपने प्रारंभिक सत्ता केन्द्र से बाहर की ओर गतिशीलता के कारण कई नवीन शासक परिवारों की स्थापना हुई। इस तरह के राजवंशों में मेवाड़ के गुहिलों को उदृत किया जा सकता है।

2.6.1 राजनीतिक अस्थिरता

सैन्य शक्ति की गतिशीलता ने न केवल कई शासक परिवारों को सत्तायुक्त किया बल्कि शक्ति के नवीन केन्द्रों एवं ढांचे को पैदा किया। इस संदर्भ में परमारों की मुख्य शाखा वागद का उदाहरण दिया जा सकता है। वागद शाखा का अस्तित्व नौवीं सदी के प्रथम दशक से विद्यमान था। उपेन्द्र परमार की मृत्यु के बाद उसके पुत्र ने बँसवारा एवं डूगरपुर क्षेत्र में मालवा के एक सामंत के रूप में शासन किया। चाहमानों के समय तक सदियों के लिए वागद की यह शाखा वफादार सामंतों के रूप में शासन करती रही। इस शाखा के एक शासक चामुंडराजा ने स्वयं को मालवा में परमारों से अलग कर लिया और वह 11वीं सदी के उतरार्द्ध में एक स्वतंत्र शासक बन गया। 12वीं सदी के प्रारंभ में वागदों ने मालवा राज्य को खो दिया। चामुण्डराजा के उत्तराधिकार के बाद इस वागद शाखा के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। तीन दशकों के बाद इस क्षेत्र पर वागद शाखा का एक अन्य शासक शूरपाल शासन करता है। इससे स्पष्ट है कि 1155 सी.ई. तक वागद परमार के शासक को एक गैर परमार शासक द्वारा अपदस्थ कर दिया गया था और यह उनके वंशावली इतिहास से भी मालूम पड़ता है। आगामी 25 वर्षों में परमारों की इस शाखा को उखाड़ फेंका गया और 1179 में वागद क्षेत्र पर एक गुहिल राजा का शासन था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ समय बाद इस नवीन गुहिल राजा पर *महाराजाधिराज* की उपाधि धारण करने वाले एक अन्य राजा ने अधिकार कर लिया। ऐसा लगता है कि इस राजा ने स्वयं को चालुक्य राजा की सहायता से स्थापित किया था।

2.6.2 नौकरशाही का ढांचा

यह विश्वास करना असंभव है कि चालुक्यों, परमारों तथा चाहमान जैसी प्रारंभिक मध्यकालीन राजनीतिक शक्तियाँ अपनी राजनीतिक प्रणालियों में एक शक्तिशाली नौकरशाही के ढांचे के बिना स्थायी सरकारें दे सकती थी। हमें ऐसे कई अधिकारियों के नामों की जानकारी होती है जो राजकाज के कार्यों में राजाओं की मदद करते थे।

लेखापद्धति सरकार के *करण* (विभाग) नामक नाम का बोध करता है। इसको चालुक्य सरकार के लिए भी लागू किया जा सकता है क्योंकि गुजरात के इतिहास में उपलब्ध व्यापक प्रमाणों से चौलुक्यों के काल के काफी आँकड़े प्राप्त होते हैं। चालुक्यों के ऐतिहासिक प्रमाणों में *करण* शब्द का बार.बार उल्लेख हुआ है। *श्रीकरण* (मुख्य सचिवालय) का उल्लेख लोकप्रिय शब्द के रूप में उनके अभिलेखों में बार-बार आया है। उनके अभिलेखों में *व्यायाकरण* या लेखा-जोखा विभाग, *व्यापारकरण* या व्यापार के सामान्य निरीक्षण से संबंधित विभाग, निर्यात तथा आयात से कर को एकत्रित करने वाला विभाग और *मंडापिकाकरण* या कर को एकत्रित करने वाला मुख्य सचिवालय जैसे विभाग का विवरण मिलता है। इस तरह के विभाग मंत्रियों के अधीन होते थे और इन मंत्रियों को *महामात्य* कहा जाता था। कुछ अपवादों को छोड़कर इन मंत्रियों के नाम अभिलेखों में उपलब्ध है लेकिन नौकरशाही की वास्तविक प्रकृति एवं कार्यों का आंकलन करना बड़ा कठिन है। *महामात्यों* के अतिरिक्त महामंत्री, मंत्री और सचिव जैसे अधिकारी भी थे। इनकी स्थिति के विषय में प्राप्त सूचनाएं बड़ी अस्पष्ट है और इसी कारणवश इनका उल्लेख कुछ ही अभिलेखों में हुआ है। प्रारंभिक मध्यकाल के पश्चिम भारत के इतिहास में महासंधिविग्राहिक का प्रचुर मात्रा में उल्लेख हुआ और वह शांति तथा युद्ध का मंत्री था तथा उसके कर्तव्यों में अनुदान के संयोजन का कार्य भी शामिल था। चौलुक्यों के *महामात्य महासंधिविग्राहिक* के अधीन *श्रीकरण* तथा मुद्रा (वह विभाग जो पासपोर्ट को जारी करता तथा आयातित सामानों से कर एकत्रित करता था) विभाग भी थे। *महाक्षपतलिक* नाम के एक अन्य अधिकारी का उल्लेख हुआ है और इस अधिकारी के अधीन लेखा-जोखा विभाग एवं प्रमाण विभाग थे। यह अधिकारी

राज्य की आमदनी एवं खर्च का पूर्ण लेखा-जोखा रखता था। परमार प्रशासन के दौरान यह अधिकारी भूमि अनुदानों को पंजीकृत करता था।

महामंत्री या महाप्रधान का अर्थ मुख्यमंत्री या प्रधानमंत्री से था और इसका बहुत अधिक महत्व था। इसके अधीन शाही मोहर होती थी और यह सभी विभागों का निरीक्षण करता था। *दण्डनायक* या *सेनापति* अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी थे। यह मुख्यतः सेना का अधिकारी होता था। चाहमान साक्ष्यों से स्पष्ट है कि अश्वसेना के अधिकारीगण या *बालाधिपति* इस अधिकारी के अधीन होते थे और ये अधिकारी नगर से बाहर स्थित सैनिक छावनियों के उच्च अधिकारी होते। संपूर्ण प्रशासन पर राजधानी स्थित *बालाधिकरण* नामक विभाग का नियंत्रण होता था।

केन्द्रीय अधिकारी कहे जाने वालों की सूची में *दूतक* नाम का अधिकारी भी शामिल था और इस अधिकारी का कार्य शासकों द्वारा दिए गये अनुदानों को स्थानीय अधिकारियों को प्रेषित करना था। स्थानीय अधिकारी इन अधिकार-पत्रों को तैयार करते थे और इनको संबंधित लोगों को देते थे। *महाप्रतिहार* और *भण्डारिका* (गोदामों का अधिकारी) के नाम भी सरकारी अधिकारियों की सूची में थे।

2.6.3 वंशात्मक राज्य एवं सामंतीय राजनीति

गुप्त काल से ही राजनीतिक प्रणालियों की अंतर-संबंधता एक विशेषता थी और यह राज्य समाज के समस्तरीय प्रसार का परिणाम थी। जाति पर आधारित शासक वंशों सहित भिन्न-भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में ऐसे तत्वों का सम्मिश्रण था जो प्रारंभिक मध्यकालीन सभी प्रकार के राजनीतिक ढांचों में निहित थे। पश्चिम तथा मध्य भारत के इस समय के राजनीतिक संगठन इसके अपवाद न थे।

सबसे पहले हम राजवंश पर आधारित राज्य से संबंधित सामग्री के विषय में चर्चा करेंगे। यह राजनीतिक सत्ता के परिवेश में वंशीय शक्ति का सुदृढ़ीकरण ही नहीं था। बल्कि यह भू-स्वामित्व का गहन सवाल था। ऐसा आभास होता है कि शासक परिवार के सदस्य भूमि पर अधिकार करना चाहते थे। परन्तु इस समस्या का मूल स्वरूप एवं लक्ष्य कुछ अन्य थे। हम देखते हैं कि सरकार को संचालित करने का कार्य शनैः शनैः भू-स्वामित्व के प्रश्न से जुड़ गया। गुर्जर-प्रतिहारों के शासन में हम देखते हैं कि अनेकों भू-क्षेत्र चाहमान, गुहिला एवं चालुक्य वंशों के सरदारों के अधीन थीं। गुर्जर प्रतिहार वंश के एक अन्य सरदार मथनदेव ने स्वभोगवाप्त (स्वयं का भाग) के रूप में अपने अनुदान को प्राप्त करने के लिए दावा प्रस्तुत किया। 1161 सी.ई. की राजपुत्र कीर्तिमाल के नाडौल अभिलेखों में 12 गाँवों के एक ऐसे समूह को उद्धत किया गया है जिनको एक छोटे राजकुमार ने एक राज करने वाले राजकुमार के शासन के दौरान प्राप्त किया था। यशोवर्मन की कलवण पट्टिकाओं के अनुसार (परमार शासक राजा भोजदेव के समय का) उस समय एक ऐसा सरदार था जिसने अपने स्वामी से 84 गाँवों के अधिकार पत्र को प्राप्त किया था। जिस तरह से चाहमानों एवं गुर्जर-प्रतिहारों में भूमि अनुदान को वंशीय आधार पर बहुत अधिक दिया जाता था, परमारों के बीच भूमि अनुदान को वंशीय आधार पर करने की परम्परा इस तरह से काफी कम थी। लेकिन परमार प्रमाणों में चाहमानों की अपेक्षा ग्राम समूहों को अधिक उद्धत किया गया। 12 की इकाइयों में या 16 की इकाइयों में ग्राम समूहों या फिर गुणात्मक रूप में कम से कम सात बार उद्धत किया गया है। 1017 सी. ई. का एक परमार अभिलेख 52 ग्रामों के एक ऐसे जिले का उल्लेख करता है जो न तो 12 गुणात्मक या 16 के गुणात्मक प्रतिमान में फिट होता है। लेकिन इसका ठीक-ठाक तौर पर निश्चय भी नहीं किया जा सकता कि वंशीय आधार पर परामार राज्य का प्रशासन होता था या नहीं।

वंशीय प्रभावों की व्यापकता या फिर अपवाद के बावजूद राजवंशीय राज्य कहे जाने वाले राज्यों का मूल आधार प्रधानतः भूमि के स्वामित्व की प्रकृति ही था। जहाँ तक शाही वंशीय राज्य या फिर एकात्मक राजनीतिक संगठन का प्रश्न था उसने राजनीतिक ढांचे के किसी अन्य वैकल्पिक भौतिक आधार को प्रस्तुत नहीं किया। ऐसा न होने पर कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि पश्चिम एवं मध्य भारत के इन राज्यों में सत्ता के विभिन्न केन्द्र बिन्दु या स्तर उसी तरह से थे जैसे कि उस समय की बड़ी-बड़ी राजनीतिक प्रणालियों में सामान्य तौर से विद्यमान रहते थे। इस तरह से इसके द्वारा सामन्तीय राजनीतिक प्रणाली की परिकल्पना की पुनः वैधता सिद्ध होती है।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि सामन्तीय व्यवस्था सम्पूर्ण भारत में एक समान न थी। लेकिन इन सबके बावजूद इस सामन्तीय व्यवस्था में इस काल में सभी तरह के भू-स्वामी कुलीनों का वर्चस्व कायम था।

पश्चिम तथा मध्य भारत के इन राज्यों में वे सभी क्षेत्र शामिल थे जो उनके सामन्तों के नियंत्रण में थे। इन सामन्तों को साधारणतः मण्डालिका कहा जाता था। परन्तु वे भी कभी-कभी *महाराजाधिराज, महामण्डेलेश्वर, महामण्डिलिका, महासामन्त*, और *सामन्त* जैसी उपाधियों को धारण करते। चालुक्यों के महत्वपूर्ण सामन्त राजकुमार, अबू के परमार एवं जालौर के चाहमान थे। इन से कम महत्वपूर्ण सामान्त मेर के राजा जगमल एवं सोमेशवर परमार थे। ठीक इसी तरह से विशेषकर चाहमानों के नाडौल एवं जालौर राज्यों में भूमि पर बिचौलिये भू-स्वामियों का अधिकार था। और इन भू-स्वामियों को *ठाकुर, रणक*, और *भोक्त* कहा जाता था। इन को भू-स्वामित्व का अधिकार इस शर्त के साथ प्रदान किया जाता था कि जब भी राजा को आवश्यकता होगी तब वे सैनिकों की एक निश्चित संख्या को भेजेंगे।

परमार शासकों के अधीन सामन्तीय सरदारों, अधिकारियों तथा राजकुमारों की निम्नलिखित श्रेणियां थीं:

1) कुछ अधिकारियों को अपनी बहुमूल्य सेवा के लिये राजा के द्वारा भूमि को उपहार स्वरूप प्रदान किया जाता था।

2) जिन्होंने अपने उत्कर्ष के दौरान स्वतंत्र क्षेत्रों की स्थापना की और मुख्य शाखा की सर्वोच्चता को स्वीकार किया। इस वर्ग में वगद के तथा किरडु के परमार आते थे।

3) ऐसे सामान्त जिन्होंने परमारों के कठिन दिनों में केन्द्रीय सत्ता के विरूद्ध शक्ति के बल पर स्वयं को स्वतंत्र राज्य या जागीर का स्वामी घोषित कर लिया था। इस तरह की श्रेणी में महाकुमार जैसे परमार शामिल थे। ये सहायक उपाधियों को धारण करते लेकिन इन्होंने व्यवहारिक तौर पर स्वयं को स्वतंत्र बनाये रखा।

4) ऐसे सामन्त जिनको परमारों के द्वारा पराजित कर दिया गया था परन्तु उन्होंने परमारों की अधीनता को स्वीकार कर लिया और उनको सामन्त का दर्जा प्रदान किया गया था।

अंबुदमंडल के परमारों और परमार महाकुमार जैसे बड़े सामन्तों को पर्याप्त आन्तरिक स्वापत्तता प्राप्त थी। वे अपने उप-सामन्तों का निर्माण कर सकते थे और अपने अधिकारियों की नियुक्ति भी कर सकते थे। सामन्त सरदारों के लिये यह भी संभव था कि वे अपने ऊपर निर्भर रहने वाले लोगों को भूमि वितरित कर सकते थे। परमार शासकों के अन्तर्गत लगभग सभी सामन्तीय राज्यों में ठाकुर सामन्त सरदारों की सेवा करते थे। सामन्त करों का निर्धारण करते, गाँवों का विभाजन और कुछ निश्चित लोगों को कर से मुक्त कर सकते थे। भूमि अनुदानों की यह परम्परा और इसके साथ जुड़े आर्थिक एवं प्रशासनिक अधिकारों को सहायक सामन्तीय व्यवस्था कहा जाता है। इस अवधारणा को पुष्ट करने के

लिये गुर्जर-प्रतिहारों के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस परम्परा का निर्वाह प्रतिहारों के प्रत्यक्ष अधीन क्षेत्रों तथा सामन्तों के अधीन क्षेत्रों दोनों में होता था। चौलुक्यों के द्वारा गुजरात में सेवाओं के लिये जो अनुदान प्रदान किये गये थे उनसे भी इस सहायक-सामन्तीय व्यवस्था की पुष्टि होती है। एक सहायक सामन्त सम्भवतः भीमदेव द्वितीय के अधीन एक बनिये ने सिंचाई के लिये एक कुंए तथा इससे जुड़ी पानी की नलियों का निर्माण कराया और इस कार्य के लिये उसने प्रगवत जाति के एक सदस्य को भूमि का अनुदान दिया जो सम्भवतः एक कारीगर रहा होगा। सहायक सामन्तीय व्यवस्था परमार राज्य में किस ढंग से सक्रिय थी इसके विषय में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। परन्तु समय के साथ-साथ सामन्तीय व्यवस्था की अभिव्यक्ति पदों के रूप में हुई और इसने राजनीतिक पदानुक्रम के निर्माण की विशेषता को प्राप्त किया और इस व्यवस्था का प्रतिनिधित्व *रणक, रौत, ठाकुर, सामन्त, महासामन्त* आदि जैसे पदों के द्वारा किया जाता था।

अधिकारियों को राज्य के द्वारा प्रदान किये जाने वाले अनुदानों की मात्रा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न थी। जहाँ हमें एक ओर परमार शासकों के आधा दर्जन अधिकारियों के पदों के बारे में पता है, वहीं उनमें से कुछ ही भूमि अनुदानों को प्राप्त कर पाये परन्तु, हमें ऐसा कोई दृष्टांत उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उनमें से किसी को भी 11वीं सदी में यह अनुदान प्राप्त हुआ हो। लेकिन गुजरात के चौलुक्यों के अधीन सामन्तों एवं अधिकारियों को बड़े-बड़े क्षेत्रों का अनुदान दिया गया। चौलुक्यों की 1200 एवं 1300 सी.ई. के ताम्र पत्रों तथा *लेखापद्धति* से प्राप्त आँकड़ों की तुलना करने पर हम पाते हैं कि सामन्त एवं उच्च अधिकारीगण शनैः शनैः एक दूसरे के अन्दर मिश्रित होते गये। 11वीं व 12वीं सदी में मुख्य अधिकारियों को वेतन का भुगतान स्थायी रूप से एवं पूर्णतः करों से किया जाता था। इस प्रकार कलचुरी राज्य के *पटटाकिल*, तथा *दुष्टसाध्य* और चाहमानों के *बलाधिप* अधिकारीगण ऐसे वेतन को प्राप्त करते थे। 12वीं सदी के अन्त तथा 13वीं सदी के प्रारंभ के चाहमान अभिलेखों में सामन्तों, शाही अधिकारियों, वन अधिकारियों, सिपाहियों आदि का विवरण है और इन अधिकारियों को उपहार के रूप में हस्तांतरित गाँवों में अपने अनुलाभ को छोड़ देने के लिए कहा गया है। ऐसे अधिकारों की बहाली के भी प्रमाण मिले है।

सामन्तों की अपने राजा के प्रति वित्तीय एवं सैनिक जिम्मेदारियां थी। सामान्यतः सामन्तों की सत्ता कुछ निश्चित शर्तों के पूरा करने पर निर्भर करती थी या यों कहें कि उनकी सत्ता इन शर्तों के पूरा करने से बंधी थी। जैसे कि उनको अपने राजा को आवश्यक अवसर पर सिपाहियों की एक निश्चित संख्या की आपूर्ति करनी होती थी। वगद के परमारों ने मालवा के परमारों के लिये एक बार से अधिक युद्ध में भाग लिया। अबू, किरडु तथा जालौर के परमार सरदार गुजरात के चौलुक्यों के सामन्त थे और उन्होंने चौलुक्यों के लिये कई बार अपने प्राणों का बलिदान किया था। लेकिन इन सबके बावजूद सामन्त सरदार स्वतंत्र होने के लिये उत्सुक रहते थे और जब कभी उनको अवसर प्राप्त होता तब वे ऐसा कर भी देते थे। इस तरह के मामलों में आश्रयदाता एवं सामन्तों के बीच संबंध ताकत के आधार पर कायम रहते और इसका प्रयोग किया जा सकता था। उदाहरणार्थ, मेवाड़ के गुहिलों ने परमारों की अधीनता को उस समय स्वीकार किया था जब वाक्पति-II ने उनको पराजित कर दिया। लेकिन भोज प्रथम की मृत्यु के बाद जो अराजकता की स्थिति पैदा हुई उसके दौरान उन्होंने अपनी स्वतंत्र स्थिति को स्थापित करने का प्रयास किया। इसी तरह से चाहमान कटुदेव ने अपने चौलुक्य राजा सिद्धराज के शासन काल के अन्तिम वर्षों में स्वतंत्र होने का प्रयास किया। इसी कारणवश चौलुक्य कुमारपाल ने उसको उसकी जागीर से बेदखल कर दिया और इस क्षेत्र में एक *दंडनायक* की नियुक्ति करके नड्डुला को अपने प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन कर लिया। कुमारपाल ने विद्रोही राजकुमार विक्रमसिंह को अबू से हटा दिया और उसके भतीजे यशोधावाल को नियुक्त कर दिया। यशोधावाल के पुत्र एवं

उत्तराधिकारी धारवर्ष ने चौलुक्य राजाओं की तीन पीढ़ियों तक विशेष सेवा की। लेकिन इन सबके बावजूद वह भी भीम-II के विरुद्ध हो गया और उसको ताकत के बल पर चौलुक्य राजा ने विजयी बना लिया या फिर उसने स्वयं राजा के सम्मुख समर्पण कर दिया।

सामन्तीय राजकुमार का सबसे महत्वपूर्ण कार्य दुश्मन के विरुद्ध अपने आश्रयदाता की सहायता करना था। कभी-कभी सामन्त अपने राजा के लिए नये-नये क्षेत्रों को विजित कर लेते थे और किसी राजकुमार को राजा के अधीन सामंत के रूप में ले आते थे। एक ऐसा अभिलेख प्राप्त हुआ है जिससे यह मालूम पड़ता है कि नये राजा के सिंहासनारूढ़ होने पर सामन्त नये राजा के प्रति वफादारी की शपथ लेता था और राजा इसके बदले सामन्त के अधिकार को मान्यता प्रदान करता। सामन्तों को अपने स्वामी को नकद या सामान के रूप में नजराना भी देना होता था। इन सबके बावजूद इन शर्तों को विभिन्न श्रेणी के सामन्तीय सरदारों के द्वारा पूरा करने के लिये कोई कठोर नियम न थे। सामन्त एवं राजा के बीच के संबंध सामान्यतः परिस्थितियों पर निर्भर करते थे और अपेक्षाकृत ये संबंध एक दूसरे के प्रति ताकत पर निर्भर थे। गुजरात के चौलुक्यों के अंतर्गत अबू के परमारों या नाडौल के चाहमानों ने काफी बड़े प्रदेश पर शासन किया और उनकी अपने प्रशासन की व्यवस्थायें थीं।

राजनीतिक परिस्थितियों की अस्थिरता सामन्तीय व्यवस्था का ही एक हिस्सा थी। सामन्तीय अनुबंधों की शक्ति अक्सर राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर करती थी। जब कभी राजा लोग दूर-दराज के क्षेत्रों के लिये युद्ध अभियान पर जाते थे वे सक्षम सेनापतियों को कुछ क्षेत्रों के प्रशासन का जिम्मा सौंप देते थे या उन्हें सामन्त बना देते थे। राजा एवं सामन्त के बीच व्यक्तिगत संबंध एक या दो पीढ़ियों तक क्षेत्रों को नियंत्रण करने के लिए शक्तिशाली भले ही होते थे परन्तु समय के चलते ये संबंध कमजोर पड़ जाते थे और सामन्त सरदार स्वतंत्र होने के लिये पर्याप्त कोशिश करते थे। अक्सर सामन्तों के कोई भी स्थायी अनुबंध न थे और अगर कोई शक्तिशाली आक्रन्ता उनको विशेष अधिकार देने को तैयार हो जाता तब वे अपनी निष्ठा को इस नये स्वामी के साथ रूपान्तरित करने के लिये तत्पर हो जाते थे।

बोध प्रश्न 3

1) अनुच्छेद (अ) में *लेखापद्धति* से कुछ शब्द और (ब) में वे शब्द दिये गये हैं जो कुछ विभागों से संबंधित थे। (अ) एवं (ब) में समरूप शब्दों को मिलाइये।

(अ)		(ब)
i)	*व्यायाकरण*	(अ) मुख्य सचिवालय
ii)	*व्यापारकरण*	(ब) लेखा जोखा विभाग
iii)	*श्रीकरण*	(स) व्यापार का निरीक्षण करने वाला विभाग
iv)	*मन्डापिकरण*	(द) करों को वसूल करने वाला विभाग

2) सामन्तीय सरदारों के कार्यों एवं शक्तियों को 10 पंक्तियों में लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित कथनों पर ठीक (√ या गलत (×) का चिन्ह लगाइयेः

i) सामन्तीय व्यवस्था एक समान श्रेणी न थी एवं उसके अंतर्गत विशाल पदों का क्षेत्र शामिल था।

ii) केन्द्रीयकरण राज्य ढाँचे की एक आवश्यक विशेषता है।

iii) सामन्तीय लोग अपने स्वामियों के प्रति स्थायी तौर पर अनुबंधित थे और अपनी विश्वसनीयता को दूसरों को रूपांतरित नहीं कर सकते थे।

2.7 सारांश

आठवीं सदी सी.ई. के प्रारम्भ में पश्चिम तथा मध्य भारत में एक ऐसे राजनीतिक ढांचे का विकास हुआ जिसके अंतर्गत नये विभिन्न सामाजिक वर्गों ने नये क्षेत्रों को आबाद करने जैसे साधनों के माध्यम से राजनीतिक शक्ति को प्राप्त किया। राजपूतों के उद्भव का पैटर्न जो कि राजनीतिक प्राधिकरण का आंशिक रूप से कुल आधारित संगठन था, पश्चिमी भारत के बाहर के विकास से कुछ विचलन को दर्शाता है। इन जातियों ने अपनी वैधता को प्राप्त करने के लिये क्षत्रिय वर्ण को धारण किया और ऐसा केवल पश्चिम भारत की राजनीतिक शक्तियों ने ही नहीं किया अपितु प्रारम्भिक मध्य काल के भारत में सभी राजनीतिक शक्तियों ने ऐसा करने के प्रयास किये। स्वयं को क्षत्रिय साबित करने की वैधता को प्राप्त करने के बाद सामन्तीय स्थिति से स्वतंत्र स्थिति में रूपांतरित होने वाले काल में पश्चिम तथा मध्य भारत की इन शासक जातियों ने लम्बी-चौड़ी वंशावली को बनाया। उन्होंने भूमि वितरण एवं क्षेत्रीय व्यवस्था के द्वारा अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ किया। इस क्षेत्र की राजनीतिक प्रणाली की अन्य विशेषताएँ निम्न प्रकार से थीं–

नौकरशाही का संगठन राजनीतिक ढांचों में विभिन्न स्वरूपों को जोड़ रहा था और इस राजनीतिक ढांचे में सत्ता के विभिन्न केंद्र थे।

- स्वामी और अधीनस्थ के संबंधों का प्रभुत्व था।
- स्थानीय राज्य विशाल राज्यों की राजनीति के साथ एकीकृत हुए।
- सामन्तों की स्थिति का महत्वपूर्ण अंग भूमि का स्वामित्व था।
- राजनीतिक.प्रशासनिक भूमिका से जुड़ी भूमि आधारित रैंकिग।
- प्रशासन एवं वित्त की व्यापक शक्तियां सामन्तों एवं अधिकारियों के पास थीं जिससे कि सहायक सामन्तीय व्यवस्था का प्रसार हुआ।

2.8 शब्दावली

बलधिप : एक सैनिक अधिकारी होता था और इसके अधीन कस्टम विभाग था।

चौरसिया : 84 गाँवों का स्वामित्व।

दुष्टसाध्य : पुलिस अधिकारी जिसके अधीन आपराधिक प्रशासन का कार्य था।

गोत्रोच्चर : गोत्र की घोषणा करना।

मलेच्छ : अरबों, तुर्कों तथा विदेशियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया।

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अग्निकुल पौराणिक मिथक की रचना भाट लेखकों के द्वारा अपने आश्रयदाताओं की श्रेष्ठ वंशावली निर्मित करने के लिये की गई। उनकी उत्पत्ति की शानदार व्याख्या भी की गई। देखें भाग 2.3

2) देखें भाग 2.1

3) i) × ii) √ iii) × iv) ×

बोध प्रश्न 2

1) औपनिवेशकरण तथा नये क्षेत्रों का अधिग्रहण वंशों आदि के प्रसार का कारण बने। देखें उप.भाग 2.4.2

2) देखें भाग 2.5

3) i) √ ii) × iii) √ iv) ×

बोध प्रश्न 3

1) i) ब ii) स iii) अ iv) द

2) आपका उत्तर उपभाग 2.6.3 में उद्धत शक्तियों तथा कार्यों पर आधारित होना चाहिये।

3) i) √ ii) × iii) ×

2.10 संदर्भ ग्रन्थ

भाटिया, प्रतिपाल (1970). *द परामार्स.* नयी दिल्लीः मुन्शीराम मनोहरलाल.

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1988). ओरिजिन ऑफ द राजपूत्स : द पोलिटिकल, इकनोमिक एंड सोशियल प्रोसैसिस इन अर्ली मेडिवल राजस्थान. *इन मेंकिन ऑफ अर्ली मेडिवल इंडिया.* सैकंड एडिशनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस.

शर्मा, आर. एस. (1981). *इंडियन फ्यूडलिज्म.* नयी दिल्लीः मैकमिलन.

टॉडः मैकमिलन, जैम्स (1920). *ऐनल्स एंड ऐंटिकुटीज ऑफ राजस्थान.* ऐडीटिड बाई विलियम गुक, वॉल्यूम 1. लंदनः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस.

इकाई 3 राजनीतिक परिदृश्य-II– राष्ट्रकूट व पाल*

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 राष्ट्रकूट : नामकरण और मूल

3.3 राष्ट्रकूट राजव्यवस्था

3.4 राष्ट्रकूट प्रशासन

3.5 पाल

3.6 पाल राजाओं के काल में राजनैतिक पद्धति

3.7 कैवर्त विद्रोह

3.8 सारांश

3.9 शब्दावली

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.11 संदर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में, हम राष्ट्रकूटों की उत्पत्ति और राष्ट्रकूट साम्राज्य के गठन के बारे में चर्चा करेंगे। तत्पश्चात हम राष्ट्रकूट राज्य के संगठन और प्रकृति का भी पता लगाएंगे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आप इसके बारे में जान पाएंगे :

- 8वीं और 11वीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर शासन करने वाले प्रमुख बड़े तथा छोटे राज्य;
- दक्कन में एक प्रमुख शक्ति के रूप में राष्ट्रकूटों का उदय;
- राष्ट्रकूट साम्राज्य के गठन की प्रक्रिया और विभिन्न राजाओं का योगदान;
- दक्कन में प्रारंभिक मध्ययुगीन राजनीति और प्रशासन की प्रकृति;
- पाल और उनके तहत राजनीति; तथा
- कैवर्त विद्रोह

3.1 प्रस्तावना

भारत में 750 और 1000 सी. ई. के बीच पाल, प्रतिहार और दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट साम्राज्य जैसे तीन शक्तिशाली राज्य दिखाई देते हैं। इन राज्यों ने आधिपत्य स्थापित करने के लिए एक.दूसरे से लड़ाई की। यह प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत की विशेषता थी।

* यह इकाई बी.एच.आई.सी.-132, इकाई 10 और एम.एच.आई. -04, खंड 2, इकाई 5 से ग्रहित है।

इतिहासकार नोबोरू कराशिमा साम्राज्य को एक नए प्रकार के राज्य के रूप में देखते हैं। ऐसे राज्यों में उन राज्यों के साथ दोनों निरंतरता एवं विच्छिन्नता दिखाई देते हैं जो इन क्षेत्रों में तीसरी शताब्दी में उभरें। राष्ट्रकूट साम्राज्य ने 10वीं शताब्दी के अंत तक लगभग 200 वर्षों तक दक्कन पर राज्य किया। उसने समय-समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के क्षेत्रों पर भी नियंत्रण किया। तत्कालीन तीनों साम्राज्यों में राष्ट्रकूटों ने सबसे लंबे समय तक राज्य किया। यह न केवल उस समय का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था, बल्कि आर्थिक और सांस्कृतिक मामलों में भी उत्तर और दक्षिण भारत के बीच एक सेतू की भाँति काम करता था। इसने दक्षिण भारत में उत्तर भारतीय परंपराओं और नीतियों का भी प्रचार और प्रसार किया। गौरतलब है कि भारत ने इस दौर में राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति, शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में स्थिरता और उपलब्धियों की नई ऊँचाइयों को छुआ था।

बाद में हम इस इकाई में पाल वंश पर चर्चा करेगें। बंगाल का प्रदेश मौर्य और गुप्त साम्राज्यों का हिस्सा रहा था। गुप्तों के पतन के बाद भी भारत के राजनीतिक इतिहास में अपने प्रारंभिक इतिहास के लंबे खडों के लिए बंगाल ने महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई थी। बंगाल का पहला महत्वपूर्ण शासक शशांक था जिसने 606-637 सी.ई. के बीच शासन किया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् गोपाल सत्ता में आये जिन्होंने पाल वंश की स्थापना की। पाल के राज्यकाल को कैवर्त विद्रोह के लिए भी जाना जाता है जो उनके शासन के तहत हुआ था और पाल वंश की स्थिति को काफी कमजोर करने के लिए जिम्मेदार था।

3.2 राष्ट्रकूट : नामकरण और मूल

'राष्ट्रकूट' शब्द का अर्थ है राष्ट्र (विभाग या राज्य) का प्रमुख। यह संभव है कि राजाओं की शाखा प्रांतीय अधिकारियों के इस वर्ग से संबंधित थी। क्योंकि कई राजवंशों के शिलालेखों में पदनाम दिखाई देते हैं। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि राष्ट्रकूट उच्च अधिकारी, प्रांतीय प्रमुख या दूसरे प्रकार के प्रशासक थे। उदाहरण के लिए, शिवराज के पुत्र राष्ट्रकूट गोविंदराज, जो विग्नपति (याचिकाकर्ता) के रूप में कार्य करते थे। उनका उल्लेख बादामी के चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय के नरवाना शिलालेख में मिलता है। रोमिला थापर भी बताती हैं कि राष्ट्रकूट की मुख्य शाखा के संस्थापक दंतिदुर्ग चालुक्यों के अधीनस्थों में से एक थे और प्रशासन में एक उच्च अधिकारी थे।

राष्ट्रकूट और उसकी शाखाओं की उत्पत्ति के बारे में इतिहासकार अभी भी स्पष्ट नहीं हैं। पुराणिक वंशावली की तरह, राष्ट्रकूटों ने भी अपने शिलालेखों में दावा किया कि वे यदुवंश की सत्यकि शाखा और तुंग शाखा के थे। इतिहासकार नीलकंठ शास्त्री शिलालेखों के अध्ययन के आधार पर बताते हैं कि राष्ट्रकूट कन्नड़ मूल के थे, और उनकी शिलालेखों से पता चलता है कि संस्कृत के व्यापक प्रयोग के बाद भी कन्नड़ उनकी मातृभाषा थी। इसके अलावा, मानक शीर्षक *लट्टलूर-पुरवारेश्वर* (लट्टलूर शहर के प्रख्यात स्वामी) को मुख्य शाखा और गौण शाखाओं के राष्ट्रकूट राजकुमारों द्वारा ग्रहण किया गया था, जो उनके मूल गृह-स्थान को दर्शाता है। लटालुरा की पहचान हैदराबाद के बीदर जिले के लातूर से की गई है। इस तरह, हम कह सकते हैं कि दक्कन राष्ट्रकूटों का मूल गृह-स्थान था। इसका सामान्य अर्थ है कि महाराष्ट्र और उत्तरी कर्नाटक (कन्नड़ भाषी) के कुछ हिस्सों के साथ वह पूरा क्षेत्र जहाँ तेलुगु लोग रहते थे, राष्ट्रकूटों के अधीन था।

राष्ट्रकूट वंश बहादुर योद्धाओं और समर्थ प्रशासकों की लंबी शाखा के लिए प्रसिद्ध थे, जिसने उन्हें एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सहायता की थी। वे प्रतिहार, वेंगी (आधुनिक आंध्र प्रदेश में) के पूर्वी चालुक्य, चोल, कांची के पल्लव और मदुरै के पांड्यों के साथ लगातार लड़ते रहे। पल्लवों का पतन हो रहा था और उनके

उत्तराधिकारी चोल राजाओं का उदय हो रहा था। इन राज्यों की दुर्बलताएँ राष्ट्रकूट साम्राज्य की विजय और स्थापना में सहायक बनीं। उत्तर भारत के राजाओं में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह दक्कन के मामलों में हस्तक्षेप कर सके। इससे राष्ट्रकूटों को उभरने का अवसर मिला। रोमिला थापर का तर्क है कि राष्ट्रकूटों की भौगोलिक स्थिति, अर्थात् भारत के मध्य में होने से उनकी उत्तरी और दक्षिणी राजाओं के साथ युद्ध और गठबंधन दोनों में उनकी भागीदारी थी। उसने सभी दिशाओं में साम्राज्य का विस्तार किया। इतिहासकार काराशिमा का तर्क है कि राष्ट्रकूट शक्ति के गठन हेतु महत्वपूर्ण कारकों में से एक कृषि के विकास के लिये अनुकूल मौजूद वातावरण रहा होगा। रोमिला थापर ने भी अनुकूल आर्थिक कारकों की खोज की। उन्होंने उल्लेख किया कि राष्ट्रकूट को पश्चिमी समुद्री तट के एक बड़े हिस्से को नियंत्रित करने का लाभ था। इसलिए, पश्चिम एशिया, विशेष रूप से अरबों के साथ हुए व्यापार के द्वारा अर्जित धन ने राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को बल दिया।

3.3 राष्ट्रकूट राजव्यवस्था

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में भारत के विभिन्न भागों में राष्ट्रकूटों की अनेक शाखाएँ थीं। राष्ट्रकूटों के सबसे पहले ज्ञात शासक-परिवार की स्थापना मन्नक द्वारा मालखेड़ में की गई थी। इसके पास पालिध्वज और गरुड़-लांछन था। एक दूसरा राष्ट्रकूट परिवार मध्य प्रदेश के बैतूल जिले में शासन कर रहा था। गरुड़ मुहर वाले 757 सी.ई. के एंट्रोली-छरोली शिलालेख में चार पीढ़ियों, कर्क प्रथम, उनके बेटे ध्रुव, उनके बेटे गोविंद और उनके बेटे कर्क द्वितीय का उल्लेख है। ये गुजरात के लता देश पर राज्य करने वाली मालखेड़ शाखा की एक सहायक शाखा थी। दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट साम्राज्य के संस्थापक थे। ऐसा लगता है कि वह कर्क II का समकालीन था। मालखेड़ शाखा के साथ इन राजाओं का सटीक संबंध निश्चितता के साथ तय नहीं किया जा सकता, हालांकि यह संभव है कि 757 सी.ई. के घोषणापत्र का कर्क-I और दंतिदुर्ग के दादा एक ही है। राज्य की स्थापना दंतिदुर्ग ने की थी। उसने अपनी राजधानी मान्यखेट अथवा मालखेड़ को बनाया, जो आधुनिक शोलापुर के पास है। राष्ट्रकूटों की मान्यखेट शाखा जल्द ही दूसरी शाखाओं को अपने साथ मिलाकर एक प्रमुख व शाही शाखा बन गयी। हम राष्ट्रकूट राजाओं की एक वंशावली प्रस्तुत कर सकते हैं:

दंति-वर्मन

↓

इंद्र प्रथम

↓

गोविन्दराज

↓

कक्क प्रथम

↓

इंद्र द्वितीय

↓

दन्तिदुर्ग (*पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक*)

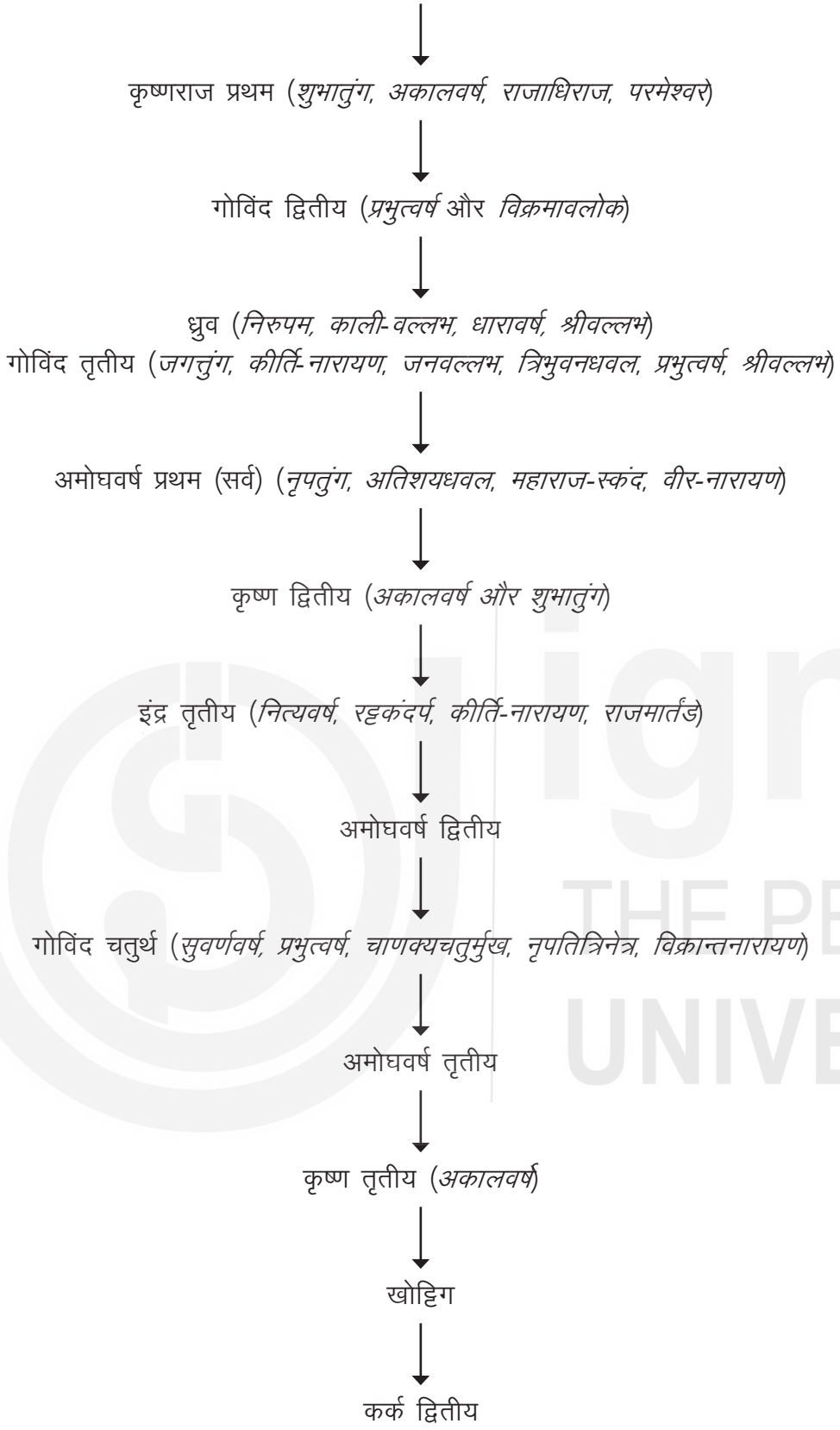

अब हम राष्ट्रकूट की मुख्य शाखा के बारे में जानेंगे। दंतिदुर्ग, एक मज़बूत और सक्षम शासक तथा एक स्थायी साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था। उनके शासनकाल का सबसे पहला साक्ष्य 742 सी.ई. का एलोरा शिलालेख है जिसमें उसके लिए *पृथ्वीवल्लभ* और *खड़गावलोक* (वे जिसकी नज़र तलवार की धार की तरह दिखती है) की उपाधियों का उल्लेख है। लता और मालव अरब आक्रमण के बाद एक विक्षुब्ध स्थिति में थे और उसका लाभ लेकर दंतिदुर्ग ने प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। दंतिदुर्ग ने पल्लवों की राजधानी कांची पर भी हमला किया और नंदिवर्मन पल्लवमल्ल के साथ गठबंधन किया,

जिस पर उन्होंने अपनी बेटी रेवा को शादी में दिया। युद्धप्रिय सम्राट दंतिदुर्ग ने व्यापक चालुक्य साम्राज्य के बाहरी क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया और फ़िर साम्राज्य के मुख्य भाग पर हमला किया और कीर्तिवर्मन को आसानी से हराया। 754 सी.ई. के समनगढ़ शिलालेख में कहा गया है कि दंतिदुर्ग ने बादामी के अंतिम चालुक्य शासक कीर्तिवर्मन द्वितीय को उखाड़ फेंका और पूर्ण साम्राज्य ग्रहण किया और स्वयं को *पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक* के रूप में वर्णित किया।

दंतिदुर्ग के शासनकाल तक कीर्तिवर्मन ने शासन किया, लेकिन उसका गौरव घटता रहा। दंतिदुर्ग ने अपने राज्य में चार लाख गांवों को शामिल किया, जिसमें संभवतः बादामी के चालुक्य साम्राज्य के आधे से अधिक हिस्से पर उसका आधिपत्य था।

दंतिदुर्ग निः संतान मर गया। इससे उसके चाचा कृष्णराज प्रथम और परिवार के अन्य सदस्यों के बीच विवाद हो गया। कुछ समय तक सिंहासन पर परिवार के सदस्यों का अधिकार था। लेकिन उसकी लोकप्रियता के कारण कृष्णराज प्रथम ने 756 सी. ई. में आसानी से उन्हें उखाड़ फेंका। कृष्ण प्रथम के *शुभातुंग* (समृद्धि में उच्च) और *अकालवर्ष* (सदा के लिए) की उपाधि का उल्लेख 772 सी. ई. के कृष्णराज प्रथम के भंडक शिलालेख में मिलता है। नव स्थापित राष्ट्रकूट राज्य का विस्तार कृष्णराज प्रथम के समय सभी दिशाओं में हुआ। कृष्ण ने इसकी शुरुआत बादामी के चालुक्यों पर आधिपत्य करके की। 772 सी.ई. की भंडक शिलालेख बताते हैं कि कृष्ण के शासनकाल में पूरे मध्यप्रदेश पर अधिकार हो गया था। अन्य शिलालेखों में, कृष्णराज के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने रहप्पा को हराया और पालिध्वज और *राजाधिराजपरमेश्वर* की शाही उपाधि प्राप्त की। इतिहासकार शास्त्री रहप्पाओं को लता देश के कक्क द्वितीय बताते हैं, जो राष्ट्रकूट की पहली लता शाखा के अंत का सूचक है। कृष्णराज द्वारा दक्षिणी कोंकण पर भी विजय प्राप्त की गई। कृष्णराज ने गंग साम्राज्य पर आधिपत्य स्थापित करके दक्षिणी दिशा में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। साथ ही उनके पुत्र और युवराज गोविंद ने औपचारिक रूप से उसका आधिपत्य स्वीकार करने के लिए चालुक्य की वेंगी शाखा के विजयादित्य प्रथम को मजबूर किया। इस प्रकार कृष्णराज के शासनकाल में राष्ट्रकूट साम्राज्य का पूरे आधुनिक महाराष्ट्र राज्य, कर्नाटक का एक हिस्सा, आंध्रप्रदेश और पूर्व में वेंगी व मध्य प्रदेश के एक बड़े भाग पर वर्चस्व था।

कृष्णराज की मृत्यु 772 सी.ई. और 775 सी.ई. के बीच हुई। उसके बाद उनके पुत्र युवराज गोविंद द्वितीय ने गद्दी संभाली। गोविंद का अलस शिलालेख में *प्रभुतावर्ष* (विपुल वर्षा करने वाला) और *विक्रमावलोक* (एक वीरतापूर्ण नज़र वाला व्यक्ति) उपाधि धारण का उल्लेख है। बाद के कुछ अनुदानों में गोविंद का नाम छोड़ दिया गया। यह उनके और उनके छोटे भाई ध्रुव के बीच सिंहासन के लिए गृह युद्ध के कारण हुआ। ध्रुव नासिक और खानदेश के राज्यपाल के रूप में शासन कर रहा था। भाइयों के बीच पहला युद्ध गोविंद के लिए विनाशकारी था। तब गोविंद ने कांची के पल्लव शासक, गंग राजा, वेंगी के राजा और मालवा के शासक, जो राष्ट्रकूट के पारंपरिक शत्रु थे, उनके साथ गठबंधन किया। लेकिन एक लड़ाई में वह हार गया और ध्रुव ने संप्रभुता हासिल कर ली। ध्रुव ने *निरुपम* (अप्रतिम), *काली-वल्लभ* (युद्ध के शौकीन), *धारावर्ष* (भारी वर्षा) और *श्रीवल्लभ* (भाग्य का पसंदीदा) की उपाधि धारण की। ध्रुव ने सिंहासन हासिल करने के बाद गृह युद्ध में गोविंद द्वितीय की सहायता करने वाले सभी राजाओं को कड़ी सजा दी। उसने अपने जीवनकाल में अपने छोटे लेकिन योग्य बेटे गोविंद तृतीय को सम्राट बनाया।

गोविंद तृतीय (793-814) सबसे महान राष्ट्रकूट शासकों में से एक थे, जिनके पास *जगत्तुंग* (विश्व में प्रमुख), *कीर्ति-नारायण* (प्रसिद्धि के क्षेत्र में नारायण), *जनवल्लभ* (लोगों का पसंदीदा), *त्रिभुवनधवल* (तीनों लोकों में शुद्ध), *प्रभुत्वर्षा* (प्रचुर वर्षा) और *श्रीवल्लभ* की

उपाधियाँ थीं। उसने सबसे पहले दक्षिण में अपने बड़े भाइयों के विद्रोह को शांत किया। उत्तर में, कन्नौज के नागभट्ट के खिलाफ एक सफल अभियान तथा कोसल, कलिंग, वेंगी, दहल और ओड्रका के साथ मालवा पर आधिपत्य किया। गोविंदा तृतीय ने फ़िर से दक्षिण की ओर रूख किया। हमें संजन शिलालेख में पता चलता है कि ''गोविंद ने केरल को भयभीत कर दिया और पांड्य, चोल राजाओं और पल्लवों को पीछे छोड़ दिया। कर्नाटक के गंगा, जो आधारहीन हो गए थे, उन्हें जकड़ लिया गया और मौत के घाट उतार दिया गया''। गोविंद का दक्षिण अभियान दिग्विजय लगता हैः पड़ोसी शासकों के क्षेत्र में घुसकर, उन्हें अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य करना उसकी उत्कृष्ट शक्ति की पारंपरिक घोषणा के समान थी। अपने पिता की अपेक्षाओं से बेहतर प्रदर्शन करते हुए, कूटनीति और युद्ध के मैदान में अपने कौशल के माध्यम से उसने हिमालय से लेकर केप कोमोरिन तक राष्ट्रकूट साम्राज्य की ख्याति फैलाई। राष्ट्रकूट उसी तरह से अपराजेय हो गए, जैसे श्रीकृष्ण के जन्म के बाद यादव हो गए थे।

गोविंद के उत्तराधिकारी उनके इकलौते पुत्र महाराजा सर्व थे जिन्हें अमोघवर्ष प्रथम (814-878) के रूप में जाना जाता है। उन्होंने अपने पिता की तरह ही स्वयं को राष्ट्रकूट सम्राट के रूप में स्थापित किया। अमोघवर्ष ने 68 वर्षों तक शासन किया, लेकिन स्वभाव से, उन्होंने युद्ध से बढ़कर धर्म, साहित्य और वास्तुकला के क्षेत्र में दिग्विजय को प्राथमिकता दी। उन्हें नृपंतुग (राजाओं के बीच अतिशयोक्ति), *अतिशयधवल* (आचरण में अद्भुत रूप से शुद्ध), *महाराजा-शंड* (महान राजाओं में से सबसे अच्छा), और *वीर-नारायण* (वीर नारायण) जैसी उपाधियाँ दी गईं। वे समकालीन भारत की धार्मिक परंपराओं में रुचि रखते थे और अपना समय जैन भिक्षुओं की संगति और आध्यात्मिक ध्यान में बिताते थे। शिलालेखों में अमोघवर्ष के जैन धर्म के सबसे प्रमुख अनुयायियों में गिना गया। अमोघवर्ष प्रथम केवल एक लेखक ही नहीं था, बल्कि लेखकों का संरक्षक भी था। *आदिपुराण* के लेखक जिनसेन, अमोघवर्ष के जैन उपदेशकों में से एक थे। उन्होंने न केवल जैन धर्म बल्कि ब्राह्मण धर्म को भी बढ़ावा दिया और अपनी प्रजा के कल्याण के लिए कई अनुष्ठान भी किए। वह एक महान निर्माता भी थे। शिलालेख संख्या XXIV, XXV, और XXVI में राजधानी शहर मान्यखेट को इन्द्र के शहर जैसा उत्कृष्ट निर्माण करने का उल्लेख मिलता है।

अमोघवर्ष के लंबे शासनकाल में राष्ट्रकूट साम्राज्य के दूर-दराज क्षेत्रों में कई विद्रोह हुए। अमोघवर्ष की मृत्यु के बाद उनके पुत्र कृष्ण द्वितीय का राज्याभिषेक लगभग 879 सी. ई. में हुआ। कृष्ण ने *अकालवर्ष* और *शुभातुंग* की उपाधि धारण की थी। विद्रोहियों पर अंकुश लगाने में वह पूरी तरह सफल नहीं था। उसके शासनकाल की एकमात्र उपलब्धि लता की राजसत्ता की समाप्ति थी। कृष्ण ने वेंगी और चोलों के खिलाफ युद्ध किया। इसमें उसे कुछ नहीं मिला, बल्कि कुछ समय तक आपदा, अपमान और निर्वासन भी झेलना पड़ा। कृष्ण का पुत्र इंद्र तृतीय 915 सी. ई. की शुरुआत में राजा बना। इंद्र के पास *नित्यवर्ष* (निरंतर वर्षा करने वाला), *रत्ताकंदर्प* (रत्त के बीच रहने वाला), *कीर्तिनारायण* और *राजामार्तण्ड* (राजाओं का पुत्र) की उपाधियाँ थीं। अमोघवर्ष के पौत्र इंद्र तृतीय ने साम्राज्य को फ़िर से स्थापित किया। राष्ट्रकूट सेना ने लता और मालवा से लेकर कलपी और कन्नौज तक चढ़ाई की और महिपाल को राजगद्दी से हटाना इंद्र की महत्वपूर्ण सैन्य उपलब्धि थीं। 915 सी. ई. में महिपाल की हार और कन्नौज को हथियाने के बाद, इंद्र तृतीय अपने समय का सबसे शक्तिशाली शासक था। उस समय भारत का दौरा करने वाले अल-मसूदी के अनुसार, राष्ट्रकूट राजा बलहार अथवा वल्लभराज भारत के सबसे महान राजा थे और अधिकांश भारतीय शासकों ने उनके आधिपत्य को स्वीकार किया और उसके दूतों का सम्मान किया।

इंद्र तृतीय का शासनकाल 927 सी-ई. के उत्तरार्ध से माना जाता है। उसके बाद उसके बेटे अमोघवर्ष द्वितीय ने सिंहासन संभाला। उन्होंने सिलाहार अपराजिता (997 सी. ई.) के

भंडाना अनुदान के अनुसार एक वर्ष तक शासन किया। उनके छोटे भाई, महत्वाकांक्षी गोविंद चतुर्थ ने अपना राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम से कराया। गोविंद चतुर्थ के पास *सुवर्णवर्षा* (सोने की वर्षा), *प्रभुतावर्ष*, *चाणक्यचतुर्मुख*, *विक्रान्तनारायण* और *नृपति त्रिनेत्र* जैसी उपाधियाँ थीं। वह एक अच्छा राजा नहीं था, उसका जीवन, शासन, और सिंहासन पर अधिग्रहण सामंतों के आक्रोश का कारण बना। सामंत एक क्रांति के लिए एकजुट हो गए, जो गोविंद चतुर्थ की हार और उसे सिंहासन से हटाने के साथ समाप्त हो गया। उसके बाद शाही परिवार के नाम को बचाने के लिए 934-35 सी.ई. में अमोघवर्ष तृतीय को सिंहासन मिला। अमोघवर्ष तृतीय का शासनकाल चार से पाँच वर्षों का था। वे एक सौम्य, शांत और बुद्धिमान राजा थे। वह दृढ़ और धार्मिक थे। उन्होंने ब्राह्मणों को कई गाँव देकर और शिव के कई मंदिरों का निर्माण करवा कर राजपरिवार का प्रचार करवाया। उनके पुत्र और युवराज कृष्ण तृतीय ने राज्य के अन्य सभी मामलों को संभाला। एक सैनिक के रूप में उनकी महानता उनके द्वारा किए गए प्रारंभिक युद्धों द्वारा प्रमाणित है जो उन्होंने अपने बहनोई बटुग्गा की ओर से किए। उन्हें वेंगी राज्य में अस्पष्ट संघर्षों में विजय हासिल हुयी। देओली और करहद की शिलालेख (XXIV और XXV) बताती हैं कि कृष्ण तृतीय अपने पिता की मृत्यु के बाद 939 सी. ई. में राजा बने और उन्हें *अकालवर्ष* जैसी विशेष शाही उपाधि दी गई।

कृष्ण तृतीय प्रतिभाशाली शासकों की शाखा में अंतिम थे। वे मालवा के परमारों और वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के खिलाफ संघर्ष में लगे हुए थे। उत्तरी अरकॉट जिले के मेलपड़ी में राजा के शिविर से जारी करहद शिलालेख (संख्या XXV) उल्लेख करता हैं कि उन्होंने तंजौर के चोल शासक जिसने कांची के पल्लवों को हराया था, के खिलाफ सबसे प्रारंभिक लेकिन व्यापक सैन्य विजय हासिल की। कृष्ण तृतीय ने चोल राजा, परांटक प्रथम को (949) हराया और चोल साम्राज्य के उत्तरी भाग को नष्ट कर दिया और चोल साम्राज्य को अपने नौकरों के बीच बाँट दिया। फ़िर उन्होंने रामेश्वरम पर कब्जा किया और वहां विजय का एक स्तंभ स्थापित किया और एक मंदिर बनाया। उनकी मृत्यु के बाद, 966 सी.ई. के उत्तरार्ध तथा 967 सी.ई. के पूर्वार्ध में उनके उत्तराधिकारी सौतेले भाई खोट्टिग के खिलाफ उनके विरोधी एकजुट हो गए। राष्ट्रकूट राजधानी मान्याखेत को 972 सी. ई. में परमार राजाओं ने बर्खास्त किया, लूटा और जला दिया। सम्राट को मान्यखेट छोड़ने पर मजबूर किया। कर्क द्वितीय खोट्टिग के बाद राजगद्दी पर बैठा परंतु उसे चालुक्य राजा तैल द्वितीय ने उखाड़ फेंका। अपराजित का बंधन अभिलेख (977 सी.ई.) व 1008 सी.ई. का खैरपटन प्लेट बताती है कि तैल द्वितीय, चालुक्य नरेश, ने कर्क को युद्ध में परास्त किया। रट्टराज्य का खात्मा हुआ और राष्ट्रकूट साम्राज्य का अंत हो गया।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित वाक्यों को पढ़ें और उनके सामने सही या गलत लिखें:

   क) राष्ट्रकूट राज्य प्रतिहारों और पालो से अधिक समय तक जीवित रहा, उसने दो शताब्दियों से अधिक समय तक दक्कन पर शासन किया। ( )

   ख) सभी राष्ट्रकूट राजकुमारों ने *लट्टलूरा-पुरावरेश्वर* की उपाधि धारण की।

   ग) दक्कन राष्ट्रकूटों का मूल स्थान नहीं था। ( )

   घ) राष्ट्रकूट उच्च अधिकारी या तो प्रांतीय प्रमुख थे या दूसरे प्रकार के प्रशासक थे। ( )

   ङ) राष्ट्रकूट राजाओं ने कृषि के विकास, पश्चिमी समुद्र तट पर नियंत्रण और अरबों के साथ व्यापार द्वारा अपने साम्राज्य की स्थापना और विस्तार किया। ( )

2) रिक्त स्थान भरें।

क) राष्ट्रकूट अक्सर अपने समकालीन राज्यों के साथ संघर्ष करते थे जैसेः

....., ..., ..., ..., ...

3) राष्ट्रकूट साम्राज्य के गठन और विस्तार में पांच अनुकूल कारकों के बारे में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) कृष्णराज प्रथम और गोविंद तृतीय ने राष्ट्रकूट साम्राज्य के विस्तार में कैसे योगदान दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.4 राष्ट्रकूट प्रशासन

राष्ट्रकूट के योद्धा राजाओं ने दक्षिण भारत में एक विशाल साम्राज्य बनाया, जो भारत के उत्तरी भागों को छूता था, जिसमें लगभग साढ़े सात लाख गाँव शामिल थे। राष्ट्रकूटों ने न केवल जीत हासिल की और एक विशाल राज्य का निर्माण किया, पर इसे बनाए भी रखा। यह शक्तिशाली राजतंत्र मूलतः सामंतों द्वारा सहायता प्राप्त साम्राज्य था। दिलचस्प बात यह है कि प्रत्येक राष्ट्रकूट राजा के शासनकाल की परिपक्वता के साथ यह क्षेत्र अधिक सामंती होता गया। इसकी प्रशासन व्यवस्था गुप्त साम्राज्य, उत्तर में हर्ष के राज्य और दक्कन में चालुक्यों के विचारों और प्रथाओं पर आधारित थी। पहले की तरह ही सम्राट प्रशासन का प्रमुख होता था। उसके पास सशस्त्र बलों के प्रधान सेनापति सहित सभी शक्तियाँ थीं। राजा राज्य के कानून और व्यवस्था के रखरखाव के लिए ज़िम्मेदार था। वह अपने परिवार, मंत्रियों, जागीरदारों, सामंतों, अधिकारियों और न्यायकर्ताओं से निष्ठा और आज्ञाकारिता की पूरी उम्मीद करता था। राजा की स्थिति आमतौर पर वंशानुगत थी, लेकिन उत्तराधिकार के बारे में नियम कठोर नहीं थे। अधिकतर बड़ा बेटा उत्तराधिकारी होता था। लेकिन कई उदाहरण ऐसे हैं, जब बड़े बेटे को अपने छोटे भाइयों से लड़ना पड़ता था, और कभी. कभी उनसे हार जाता था। इस प्रकार, राष्ट्रकूट शासक ध्रुव और गोविंद चतुर्थ ने अपने बड़े भाइयों को पदच्युत कर दिया। राजाओं को आमतौर पर उनके द्वारा चुने गए अग्रणी परिवारों के कई वंशानुगत मंत्रियों से सलाह और मदद मिलती थी। हम नहीं जानते कि उनमें कितने लोग थे और उन्होंने कैसे काम किया। पुरालेखों और साहित्यिक स्रोतों से पता चलता है कि लगभग हर राज्य में एक मुख्यमंत्री, विदेशी मामलों के मंत्री, राजस्व मंत्री, और कोषाध्यक्ष, सशस्त्र बलों के प्रमुख, मुख्य न्यायाधीश और पुरोहित होते थे।

राष्ट्रकूट साम्राज्य में, प्रशासित क्षेत्रों को *राष्ट्र* (प्रांत), *विषय* और *भुक्ति* में विभाजित किया गया था। एक *राष्ट्र* के प्रमुख को *राष्ट्रपति* या *राज्यपाल* कहा जाता था, जिन्हें कभी. कभी एक जागीरदार राजा का दर्जा और उपाधि मिलती था। *विषयपति* के अंतर्गत विशय अर्थात आधुनिक जिला होता था और *भुक्ति* एक छोटी इकाई थी। राष्ट्रकूट प्रशासन में प्रांतीय राज्यपालों और जिला स्तर के राज्यपालों के सहायकों को क्रमशः *राष्ट्रमहात्तर*, और *विषयमहात्तर* कहा जाता है। इन छोटी इकाइयों और उनके प्रशासकों की भूमिका और शक्तियां स्पष्ट नहीं हैं। ऐसा लगता है कि उनका प्राथमिक उद्देश्य भू-राजस्व की प्राप्ति और कुछ ध्यान कानून और व्यवस्था पर देना था। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी अधिकारियों को किराए से मुक्त भूमि का अनुदान दिया जाता था।

सामंतों ने राष्ट्रकूट साम्राज्य के गठन और प्रशासन में एक आवश्यक भूमिका निभाई। हम जानते हैं कि राष्ट्रकूटों ने कई युद्ध जीते और साम्राज्य का विस्तार किया। यह सामंतों की मदद के बिना संभव नहीं था। गंगा साम्राज्य के सामंत मुख्य रूप से राष्ट्रकूट के अभियानों में अपनी वीरता के लिए जाने जाते थे। राजाओं ने नियमित रूप से अपनी निष्ठा और बहादुरी के लिए इन प्रमुखों को भूमि अनुदान से पुरस्कृत किया। जिसके परिणामस्वरूप शक्तिशाली सामंतों का उदय हुआ, उदाहरण के लिए, कृष्ण तृतीय के शासनकाल में तैल और गंगा बुटुग्गा की स्थिति को देखा जा सकता है। शास्त्री ने शिलालेखों के अध्ययन से उल्लेख किया है कि बुटुग्गा बेल्वोला 300, पुरीगेरे 300, गंगावाड़ी 96000, किसुकद 70, बगनाद 70 और बनवासी 12000 पर शासन कर रहा था। साम्राज्य में प्रत्यक्ष रूप से प्रशासन क्षेत्र और जागीरदार प्रमुखों द्वारा शासित क्षेत्र शामिल थे। जागीरदारों द्वारा शासित क्षेत्र आतंरिक मामलों में स्वायत्त थे। उन पर राजा के प्रति वफादारी का दायित्व था। इसमें अधिपति को निश्चित तौर पर सम्मान और सैनिक आपूर्ति देना होता था। जागीरदार या उनके पुत्र विशेष अवसरों पर अधिपति के दरबार में जा सकते थे। कभी-कभी वह अपनी एक पुत्री का विवाह अधिपति या उसके एक पुत्र से कर सकता था।

राष्ट्रकूट राजाओं के पास बड़ी और अच्छी तरह से संगठित पैदल सेना, घुड़सवार सेना और बड़ी संख्या में युद्ध-हाथी थे, जिनका वर्णन अरब यात्रियों के विवरणों में मिलता है। बड़े सशस्त्र बल राजा के दिखावे और शक्ति से संबंधित थे। वे युद्धों के समय में साम्राज्य के रखरखाव और विस्तार के लिए भी आवश्यक थे। राष्ट्रकूट अपनी सेना में अरब, पश्चिम एशिया और मध्य एशिया से बड़ी संख्या में आयात किए गए घोड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। राष्ट्रकूटों की वास्तविक शक्ति उनके कई किलों से पता चलती है जो विशेष सैनिकों और स्वतंत्र कमांडरों द्वारा रक्षा की जाती थी। पैदल सेना में नियमित व अनियमित सैनिक होते थे तथा सामंतों के द्वारा सैनिकों की पूर्ति की जाती थी; नियमित सेनाएं अक्सर वंशानुगत होती थीं और कभी-कभी पूरे भारत के विभिन्न क्षेत्रों से लाई जाती थीं। युद्ध में रथों के उपयोग का कोई संदर्भ नहीं मिलता।

इन क्षेत्रीय विभाजनों के नीचे गाँव था। गाँव प्रशासन की मूल इकाई थी। ग्राम का प्रशासन *ग्राम प्रधान* और *ग्राम लेखाकार* द्वारा किया जाता था। इनके पद सामान्यतः वंशानुगत होते थे। उन्हें किराया-मुक्त भूमि का अनुदान दिया जाता था। महाजन या *ग्राम-महात्तर* नामक गाँव के बुजुर्ग ग्राम प्रधान की मदद करते थे। राष्ट्रकूट साम्राज्य में, विशेष रूप से कर्नाटक में स्थानीय विद्यालयों, जलाशयों, मंदिरों और सड़कों के प्रबंधन के लिए ग्राम समितियां होती थी जो मुखिया के साथ सहयोग करती थी और इसके लिये उन्हें राजस्व संग्रह का एक विशेष प्रतिशत प्राप्त था। नगरों में भी ऐसी ही समितियाँ थीं, जिनमें व्यापार संघ के प्रमुख भी जुड़े हुए थे। शहरों और उनके आसपास के क्षेत्रों में कानून और व्यवस्था की ज़िम्मेदारी *कोश्त-पाल* अथवा कोतवाल की थी। छोटे सरदारों और वंशानुगत तत्वों ने ग्राम समितियों की शक्ति को कमजोर कर दिया। केंद्रीय शासन का उन को नियंत्रित करना मुश्किल हो गया था। इसका मतलब है कि सरकार सामंती हो गई थी।

3.5 पाल[1]

बंगाल मौर्य और गुप्त साम्राज्यों का हिस्सा रहा था। इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती कि प्रारंभिक इतिहास के लंबे दौर में बंगाल ने गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भारत के राजनैतिक इतिहास में कोई महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। बंगाल का पहला उल्लेखनीय शासक शशांक था जिसने मौटे तौर पर 606-637 सी.ई. के बीच शासन किया था। शशांक को उस क्षेत्र का जिसे बंगाल कहा जाता है ऐतिहासिक तौर पर प्रमाणित पहला शासक माना जाता है। इस क्षेत्र का वह पहला शासक था जिसने अपने राजनैतिक प्रभुत्व को बंगाल की भौगोलिक सीमा के पास तक बढ़ाया था। कर्णासुवर्ण (मुर्शिदाबाद के पास) में अपनी राजधानी स्थापित कर शशांक पूरे बंगाल का स्वामी बन गया था और संभवतः इसने अपने राज्य का विस्तार उडीशा तक कर लिया था। उसने कन्नौज पर भी चढ़ाई की थी जिस पर उस काल में मौखरी राजवंश का आधिपत्य था। शशांक के सैनिक अभियान सफल रहे और उनके कारण उसके तथा थानेश्वर के शासकों के बीच दुश्मनी बढ़ती गई। जब हर्षवर्धन थानेश्वर का शासक बना तो उसने शशांक को पराजित करने की कोशिश की पर सफल नहीं हो पाया। हर्षवर्धन ने अंततः शशांक के साम्राज्य को जीत लिया लेकिन यह शशांक की मृत्यु के बाद ही संभव हो पाया था।

शशांक की मृत्यु के बाद बंगाल का राजनैतिक उत्कर्ष पतन में परिवर्तन हो गया। इस पर कन्नौज के यशोवर्मन और कश्मीर के ललितादित्य ने और कदाचित बाद में कामरूप के राजा ने भी आक्रमण किया। इससे केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ी और स्वतंत्र मुखिया उभरे। ऐसा लगता है अराजकता व्याप्त होने के कारण मुखियाओं ने संपूर्ण राज्य के शासक के तौर पर गोपाल नाम के व्यक्ति का चुनाव किया था। बाद में यह बंगाल में पाल राजवंश का संस्थापक बना और इसने बंगाल में अपने शासन को मजबूत किया तथा स्थायित्व एवं संपन्नता लाया जिसकी इस क्षेत्र को बेहत जरूरत थी। यह निश्चित तौर पर पता नहीं कि गोपाल ने सत्ता कब संभाली थी पर माना जाता है कि यह आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। उसकी मृत्यु 780 सी.ई. के आसपास हुई और उसका स्थान उसके पुत्र धर्मपाल ने लिया।

आर.सी. मजूमदार ने धर्मपाल का चित्रण बंगाल के सबसे महान शासकों के रूप में किया है जिसने साम्राज्य के गौरव को नई ऊंचाइयों तक पहुंचाया था। यहां इसका उल्लेख किया जा सकता है कि उत्तर भारत पर नियंत्रण करने के लिए पालों, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के विख्यात त्रिपक्षीय संघर्ष में धर्मपाल ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। वास्तव में कुछ समय के लिए तो उत्तर भारत में उसने सर्वोच्च स्थान हासिल कर लिया था। आर. सी. मजूमदार के अनुसार धर्मपाल ने अपना सारा जीवन सैनिक अभियानों की व्यवस्था में लगाया था। प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों से पराजित होने के बाद उसने उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्र पर सत्ता स्थापित की। उसके शासनकाल के बारे में विवरण मुख्यतः खालिमपुर नामक स्थान से प्राप्त ताम्रपत्र लेखों से मिलता है। सैनिक अभियानों के अतिरिक्त धर्मपाल को बौद्ध धर्म के संरक्षक के तौर पर भी जाना जाता है। उसने बौद्ध मठों का निर्माण कराया था। लेकिन उसे सबसे अधिक ख्याति उसके द्वारा स्थापित प्रसिद्ध विक्रमशिला विश्वविद्यालय से मिली थी। धर्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल था जिसने लगभग चालीस वर्ष तक शासन किया था। आर.सी. मजूमदार के अनुसार उसकी ख्याति भारतीय द्वीप समूह के दूरस्थ द्वीपों तक फैल गई थी। देवपाल भी एक शक्तिशाली शासक बना। पाल राजवंश के शक्तिशाली राजाओं की सूची में देवपाल अंतिम था। उसका उत्तराधिकारी विग्रहपाल था जिसने थोड़े समय तक ही शासन किया। कहा जाता है कि आक्रमक सैनिक जीवन के स्थान पर विग्रहपाल की अधिक रुचि वैरागी जीवन में थी।

[1] यह भाग एम.एच.आई.-04, खंड 2, इकाई 5 से लिया गया है।

उसके पश्चात् नारायन पाल ने शासन किया। इसके शासन काल में पालों द्वारा स्थापित राज्य के गौरव का अंत हो गया।

पाल राजाओं में से धर्मपाल और देवपाल दोनों ने विख्यात त्रिपक्षीय संघर्ष में जीतें हासिल करके नाम और यश दोनों हासिल किया था। यह संघर्ष कन्नौज की साम्राज्यिक राजधानी पर विजय प्राप्त करने और उत्तर भारत पर नियंत्रण पाने के लिए प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों के बीच था।

जिस काल में पालों ने बंगाल में एक शक्तिशाली राजतंत्र की स्थापना की थी, लगता है कि लगभग उसी काल में राजा वत्सराज के अधीन प्रतिहारों ने राजपूताना और मध्य भारत के बड़े हिस्सों पर शासन किया था। जहां पाल पश्चिम की ओर फैल रहे थे, वहां प्रतिहार अपने साम्राज्य का विस्तार पूर्व दिशा में कर रहे थे। अतः दोनों शक्तियों के बीच संघर्ष अनिवार्य था। दोनों के बीच पहला युद्ध होने तक, ऐसा प्रतीत होता है कि पालों ने अपने साम्राज्य का विस्तार कम से कम प्रयागराज (पहले का इलाहाबाद) तक तो कर ही लिया था। यह स्पष्ट नहीं कि उस समय पाल राजा कौन था। यह गोपाल या धर्मपाल में से कोई हो सकता था।

इस बीच राष्ट्रकूट राजवंश के शासक दक्कन में अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर चुके थे और अब वे अपना आधिपत्य उत्तर भारत में फैलाने का प्रयास कर रहे थे। राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने विंध्याचल को पार करके सबसे पहले प्रतिहार राजा वत्सराज को पराजित किया और फिर धर्मपाल पर आक्रमण कर उसे भी हरा दिया। गंगा-यमुना दोआब में किसी स्थान पर हुए इस संघर्ष के साथ ही सर्वोच्चता के लिए पालों, प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों के बीच त्रिपक्षीय संघर्ष की शुरूआत हो गई थी।

प्रारंभ में हालांकि पूरी जीत राष्ट्रकूटों को मिली, परन्तु ध्रुव की मृत्यु के पश्चात राष्ट्रकूट साम्राज्य में अराजकता पैदा हो गई। ध्रुव का पुत्र गोविंद तृतीय दक्षिण भारत के बारह राजाओं के गठजोड़ के विरुद्ध संघर्ष में फंसा था। पालों और प्रतिहारों ने इस मौके का फायदा उठाया। इनमें से धर्मपाल जल्दी ही फिर संघर्ष के लिए तैयार हो गया। उसने उस स्थिति का लाभ उठाकर अपने आधिपत्य को उत्तर भारत के लगभग सभी राज्यों में स्वीकार करा लिया। उसने कन्नौज पर कब्जा कर लिया और सिहांसन पर अपने द्वारा मनोनीत प्रत्याशी को बिठा दिया। कन्नौज में अधीनस्थ राजाओं की उपस्थिति में उसने विशाल साम्राज्यिक सभा आयोजित की। इसमें उसने स्वयं को संपूर्ण उत्तर भारत के अधिराज की उपाधि से विभूषित किया। इसी काल में धर्मपाल की प्रभुसत्ता मध्य पंजाब, जयपुर, मालवा और शायद बेरार तक फैली। यह निष्कर्ष उसकी सभा में उपस्थित अधीनस्थ मुखियाओं की सूची के आधार पर निकलता है। इस आयोजन के साथ बंगाल गुमनामी से बाहर आ गया और उत्तर भारत में सर्वोच्चता की स्थिति में पहुंच गया। बंगाल का सम्राट उस पूरे साम्राज्य का सर्वोपरि प्रमुख बन गया जो उत्तर भारत के पश्चिमी भाग से पूर्वी भाग तथा मध्य भारत तक फैला था।

परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही क्योंकि उस काल में राजनैतिक नियंत्रण की स्थिति लगातार बदल रही थी। वत्सराज के पुत्र और उत्तराधिकारी नागभट्ट के नेतृत्व में प्रतिहारों ने फिर अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने की कोशिश की। नागभट्ट ने आक्रमण करके कन्नौज की गद्दी से धर्मपाल द्वारा मनोनीत शासक को हटा दिया जिससे धर्मपाल के साथ संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। धर्मपाल के विरुद्ध युद्ध में नागभट्ट की विजय हुई। इस सफलता के बाद नागभट्ट ने अनेक क्षेत्रों को जीत लिया जिनमें उन क्षेत्रों के वे बड़े हिस्से भी आते थे जो धर्मपाल के अधीन थे।

इस स्थिति में, धर्मपाल ने संभवतः राष्ट्रकूट राजा गोविंद तृतीय से नागभट्ट के विजय अभियानों को रोकने के लिए सहायता मांगी जिसने या तो धर्मपाल के निवेदन पर अथवा अपनी पहल पर उत्तर भारत में सैनिक अभियान भेजे। नागभट्ट इस हमले का सामना नहीं कर पाया और भागने को मजबूर हो गया। उसके क्षेत्र पर राष्ट्रकूटों ने कब्जा कर लिया और फिर वे उत्तर की ओर बढ़ गए। परन्तु दक्षिण से उत्तर तक फैले साम्राज्य की स्थापना करने के बावजूद साम्राज्य के आंतरिक मतभेदों के कारण गोविंद तृतीय अपनी कामयाबी को बनाए नहीं रख सका। इस स्थिति में धर्मपाल ने अवसर का इस्तेमाल किया और लगता है कि उसने अपने साम्राज्य को काफी हद तक दोबारा सुदृढ़ कर लिया। 815 सी.ई. के आस-पास उसकी मृत्यु हुई और उसका बेटा देवपाल उत्तर भारत के बड़े हिस्से का निर्विवाद शासक बन गया। कहा जाता है कि उसने द्रविड़ों, गुर्जरों और हुणों को पराजित किया और उत्कल तथा कामरुप को जीता था। एक दरबारी कवि के अनुसार उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विंध्याचल और पूर्व में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में अरब सागर तक फैला था।

हम यह यह चर्चा पहले ही कर चुके हैं कि देवपाल के शासनकाल के बाद पालों की शक्ति धीरे-धीरे कम होती गई थी। तत्पश्चात पाल पूर्वी भारत में स्थानीय सत्ता के रूप में शासन कर रहे थे। उनको लगातार कलचूरियों, चंदेलों और राष्ट्रकूटों के हमलों और धावों का सामना करना पड़ता था जो कभी पालों के क्षेत्रों पर अधिकार कर लेते थे। दसवीं शताब्दी सी.ई. के उत्तरार्ध में उत्तरी और पश्चिमी बंगाल पर कंबोजों का कब्जा था। इसका लाभ उठाते हुए पालों के विरुद्ध कलचूरी मिथिला तक बढ़ आए थे। इस दौरान चोल राजा राजेंद्र चोल और चालुक्य राजा ने पाल राजा के क्षेत्रों पर हमला कर दिया। उस काल के पाल राजा महीपाल प्रथम ने कलचूरियों, चोलों और चालुक्यों के विरुद्ध अपने क्षेत्रों की सफलतापूर्वक रक्षा की और कंबोजों के कब्जे से अपने क्षेत्रों को भी पुनः प्राप्त कर लिया। लेकिन दक्षिण और पश्चिम बंगाल पर अनेक स्वतंत्र मुखियाओं का शासन था और ये क्षेत्र पालों के नियंत्रण से बाहर थे।

परन्तु महीपाल के उत्तराधिकारी नागपाल और उसके उत्तराधिकारी विग्रहपाल तृतीय लगातार त्रिपुरी के कलचूरियों से संघर्ष में लगे हुए थे। विग्रहपाल तृतीय के उत्तराधिकारी उसके बेटे महीपाल द्वितीय को अपने शासन काल में उथल-पुथल का सामना करना पड़ा। कुछ मुखियाओं ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। महीपाल द्वितीय ने प्रतिरोध करने का प्रयास किया परन्तु वह पराजित होकर मारा गया। उत्तरी बंगाल पर नियंत्रण कैवार्त जाति के दिव्य नामक एक अधिकारी ने स्थापित किया। महीपाल द्वितीय के भाइयों सूरपाल द्वितीय और रामपाल ने मगध में शरण ली। महीपाल द्वितीय की मृत्यु हो गई और रामपाल ने अपनी सत्ता स्थापित की। लेकिन इस समय तक व्यावहारिक तौर पर पूरा बंगाल पालों के नियंत्रण में नहीं रहा था। पूर्वी बंगाल पर शासन उन राजाओं का था जिनके नामों के अंत में वर्मन जुड़ा था जबकि उत्तरी बंगाल विद्रोही कैवार्त मुखिया दिव्य के नियंत्रण में था। बंगाल के बाकी के क्षेत्र भिन्न-भिन्न स्वतंत्र मुखियाओं के अधीन थे जो पालो के आधिपत्य को शायद नाममात्र के लिए स्वीकार करते थे।

रामपाल ने भारी संख्या में मुखियाओं का समर्थन जुटाया जिन्होंने दिव्य के बेटे को हटाने और मारने और उत्तर बंगाल वापस हासिल करने में उसकी सहायता की थी। रामपाल ने पूर्वी बंगाल के वर्मन शासक को भी अपना आधिपत्य स्वीकारने को बाध्य किया। उसने कामरुप भी जीता और गहड़वालों के विरुद्ध सेना भेजी। उसने उडीशा की राजनीति में भी दखल दिया। संक्षेप में रामपाल पाल साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा को काफी हद तक पुनः स्थापित करने में सफल रहा था। परन्तु उसके दो बेटों कुमारपाल और मदनपाल के शासनकाल में पाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

उत्तर भारत में प्रारंभिक मध्यकाल की राजनैतिक घटनाओं की संक्षिप्त रूपरेखा पर गौर करने के बाद आप शायद यह सोचते होंगे कि राजवंशों के वृतांतों, युद्धों, विजयों और पराजयों के विवरणों से क्या अर्थ निकाला जाए। अंततः इतिहास का अध्ययन राजनैतिक घटनाओं की महज सूची बनाना नहीं, बल्कि कुछ और भी है और इसका संबंध मुख्यतः राजनैतिक प्रक्रियाओं और सामाजिक तथा आर्थिक संरचनाओं के विश्लेषण से है। तब फिर विभिन्न क्षेत्रों के राजवंशों के इतिहास की रूपरेखा आधुनिक इतिहासकारों के किस काम की है। देखिए, जैसा कि बी.डी. चटोपाध्याय कहते हैं, ''प्रारंभिक मध्यकालीन भारत के राजनैतिक इतिहास के विवरण की विविधता, लंबी वंशावलियां, छोटे-छोटे राज्यों की उपलब्धियों के बारे में अभिलेखों में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन सत्ता केन्द्रों का तेजी से उत्थान-पतन, ये सब अंततः उन विधियों की अभिव्यक्तियां हैं जिनसे उस काल की राजनैतिक पद्धति का विकास हुआ था, और इसलिए वे सूची बनाने से कहीं ज्यादा गंभीर विश्लेषण के योग्य है।''

3.6 पाल राजाओं के काल में राजनैतिक पद्धति

परमभट्टारक, परमेश्वर और *महाराजाधिराज* के रूप में उल्लिखित पाल राजाओं ने ब्राह्मणों, पुजारियों और मंदिरों को भूमि अनुदान दिए थे। ये अनुदान सदा के लिए थे। बौद्ध मठों को भी भूमि अनुदान दिए गए। उन्होंने भूमि अनुदानों के साथ आर्थिक और प्रशासनिक अधिकार भी दिए। पाल राजाओं के अनुदान विशेषतः कानून-व्यवस्था और न्याय तथा प्रशासनिक व्यवस्था बनाए रखने से संबंध रखते थे। 802 सी.ई. के पाल अनुदान में उत्तरी बंगाल के एक अधिकारी का उल्लेख मिला है। दासग्रामिका कहे जाने वाले इस अधिकारी को जैसा कि मनु से सूचित होता है एक कुला भूमि दी गई थी। भूमि अनुदान कैवर्तों को भी दिए जाते थे जो किसान थे। पाल अभिलेखों (भूमि से संबंधित अधिकार पत्रों) में राजाओं, *राजपुत्रों, राणकों, राजाजनकों, महासामंतों, महासामंताधिपतियों* इत्यादि का उल्लेख मिलता है। ये सब संभवतः सामंत थे जिसको जमीनें उनकी सैनिक सेवाओं के एवज में दी गई थीं। पाल राजाओं के काल में उप-सामंतों के साक्ष्य नहीं मिलते। अभिलेखों में जिन राजा के अधिकारियों का उल्लेख है, वे पाल राजाओं के राज्य के क्षेत्रों जैसे बिहार और बंगाल में प्रशासन व्यवस्था कायम करने के लिए तैनात किए गए थे। पाल अधिकारियों के लिए *महा-दौसधासाधनिका, महा-कर्त्ताकृतिका, महासंधिविग्रहिका* आदि जैसी कुछ उपाधियों का प्रयोग किया जाता था। पाल सत्ता के अनेक सत्ता केन्द्रों जैसे कि पाटलीपुत्र, मुदगगिरी आदि से प्रशासनिक संचालन करते थे और ये केन्द्र गंगा के आस-पास स्थित थे। पालों के विजय शिविरों में उनके अधीनस्थ आते थे। पाल राजाओं के अधीन गांव *ग्रामपति* और *दासग्रामिका* की देख-रेख में एक और दस की इकाइयों में संगठित थे। इन इकाइयों के प्रशासन का उत्तरदायित्व राजा के अधिकारियों पर था। पाल राजाओं के काल में सेवा की एवज में दिए गए अनुदानों से संबंधित बहुत कम पुरालेख मिलते हैं।

3.7 कैवर्त विद्रोह[2]

पाल राजाओं के विरुद्ध कैवर्त विद्रोह ग्यारहवीं शताब्दी की अंतिम तिमाही में हुआ था। यह संधिकरणानंदिन की *रामचरित* का मुख्य विषय था। यह तथाकथित विद्रोह बंगाल के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस विद्रोह ने पाल वंश को उखाड़ फेंका, और उन्हें अपने पैतृक क्षेत्र, वरेन्द्र से बाहर कर दिया। पाल राजाओं के नियंत्रण के कमजोर पड़ने के तुरंत बाद, सेन वंश ने विजयी होकर पाल वंश की जगह ली। वे बंगाल के लगभग

[2] इस भाग को डॉ. शुचि दयाल, शैक्षणिक सलाहकार, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली ने लिखा है।

सभी उप-क्षेत्रों को एकीकृत करने में सफल रहे। इस विद्रोह पर कई तरह के अध्ययन किए गए है। शुरूआती कार्यों ने इसे सामंतों का विद्रोह माना जो पाल राजाओं के कमजोर पड़ने के कारण हुआ। दूसरी ओर, आर. एस. शर्मा इसे किसान विद्रोह के उदाहरण के रूप में लेते है जो सामंती दमन के कारण उभरा।

शासक पाल राजा महीपाल के खिलाफ विद्रोह में कैवर्त प्रमुख दिव्य उठा। पाल राजा को उनके पैतृक गढ़ वरेन्द्र से हटा दिया गया और राजा को मार दिया गया। उनके छोटे भाई रामपाल ने वरेन्द्र पर पुनः कब्जा करने के लिए सामंतों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। तत्पश्चात्, राजा के एक अधीनस्थ शिवराज ने वरेन्द्र पर धावा बोल दिया, उसके कुछ हिस्सों पर कब्जा कर लिया और तबाह कर दिया। इसके बाद पाल सेना ने हमला किया। रामपाल ने वरेन्द्र पर आक्रमण किया और दिव्य के भतीजे भीम का सामना किया। वह वरेन्द्र पर पुनः कब्जा करने में सफल रहा और भीम मारा गया।

कैवर्त पर हालिया शोध से पता चला है कि विद्रोह ने पाल राजाओं और सामंतों के बीच शक्ति संबंधों के उतार-चढ़ाव को रेखांकित किया। सामंत महत्वकांक्षी थे और सत्ता के शीर्ष में पाल शक्ति के कमजोर होने की साजिश रचते थे। वे चाहते थे कि इस तरह से उन्हें शाही अधिकारों और विशेषाधिकारों पर अतिक्रमण करने की अनुमति मिल जाए।

इनमें धार्मिक संस्थानों को भूमि दान किए गए क्षेत्र पर नियंत्रण करना शामिल था। धार्मिक निकायों को भूमि दान शाही विशेषाधिकार था और पाल राजाओं को हटाकर सामंतों को इन संपत्तियों पर नियंत्रण करने की अभिलाषा थी। पाल द्वारा सामंतों की शक्ति कम करने हेतु अनुदान की प्रकृति को बदलने का प्रयास करना भी घर्षण का कारण बन गया। विद्रोह के बाद के चरण में अन्य सामाजिक समूहों ने विद्रोहियों को अपना समर्थन दिया और विद्रोह ने एक बड़े विद्रोह का रूप ले लिया। अशांति का सामाजिक कारण पाल शासन द्वारा लगाया गया कराधान था। ब्राह्मणों की बढ़ती शक्ति ने उन्हें श्रम शक्ति और ग्रामीण इलाकों के कृषि संसाधनों पर अधिक नियंत्रण प्रदान किया। इसके अलावा, ब्राह्मण पदाधिकारियों ने उत्पादन का सटीक आंकलन द्वारा सक्षम वित्तीय नियंत्रण को संभालने में शाही प्रसाशन की सहायता की। सामंत ब्राह्मणों से भिड़ गये क्योंकि ब्राह्मण शाही सत्ता के ऐजेंट के रूप में इलाकों पर नियंत्रण रखते थे। विद्रोह ने पाल राजाओं को काश्तकारों के तुष्टिकरण की नीति का पालन करने के लिए मजबूर किया और उन्होंने नियमित खेती फिर से शुरू करने की कोशिश की। यद्यपि पाल अपने गढ़, वरेन्द्र पर कब्जा करने और विद्रोह को कुचलने में सफल रहे, लेकिन सामंतों पर उनकी निरंतर निर्भरता के कारण उनकी स्थिति काफी कमजोर हो गई। परिणामस्वरूप वे बंगाल से बाहर कर दिए गए और अगले वंश, सेन ने सफलतापूर्वक सत्ता संभाल ली।

बोध प्रश्न 2

1) प्रारंभिक मध्यकाल में पाल वंश की राजव्यवस्था एवं उपलब्धियों का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) कैवर्त विद्रोह पर एक नोट लिखे।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.8 सारांश

राष्ट्रकूट के इतिहास को भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण माना जाता है। बादामी के चालुक्यों के पतन से लेकर कल्याणी में तैल द्वितीय के तहत चालुक्य सत्ता के पुनरुद्धार में तकरीबन दो शताब्दियाँ तक का समय है, और इस लंबे अंतराल के दौरान दन्तिदुर्ग द्वारा शुरू किया गया राष्ट्रकूट वंश पश्चिमी दक्कन पर शासन करता रहा। वर्तुल पूरा हो गया था। उनका सीधा शासन उस क्षेत्र तक सीमित था जिसे तमिल शिलालेखों में रट्टापड़ी साढ़े सात लाख कहा जाता है। उत्तर में, प्रतिहारों और पालों को राष्ट्रकूटों द्वारा युद्ध में पराजित किया गया था और परमार उनके अधीन कई वर्षों तक वायसराय की स्थिति में था, और चोलों के बढ़ते साम्राज्य को भारी नुकसान उठाना पड़ा। दक्कन के पूर्वी भाग में, राष्ट्रकूटों ने वेंगी के चालुक्यों को नियंत्रण में लाने की कोशिश की। कई युद्धों के कारण राज्य के संसाधनों को छलनी कर दिया और सामंती परिस्थितियों और पराक्रमी जागीरदारों का उदय हुआ। जिन्होंने राज्य की शांति को भंग किया और अंततः राष्ट्रकूट सत्ता को उखाड़ फेंका। तीन शक्तियों– पाल, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के बीच त्रिपक्षीय संघर्ष इस अवधि का एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी। राष्ट्रकूटों और पालों के अधीन राजनीति की प्रकृति हमें इस काल की राजनीति की विशिष्ट विशेषताओं को समझने में मदद करती है। इनमें धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष उद्देश्य के लिए राज्य द्वारा जारी किए गए भूमि अनुदान, राज्य प्रणाली के भीतर सामंतों का उदय और वंश से सत्तारूढ़ समूहों की ओर परिवर्तन शामिल है जिन्होंने अति स्थानीय राज्य की संरचनाएं को जन्म दिया।

3.9 शब्दावली

पालिध्वज : शाही झंडा

परमेश्वर : शिव का भक्त

अनुंगजीवित : असाधारण सैन्य सेवा के लिए पुरस्कार

राष्ट्र महत्तर : प्रांत का अधिकारी

अग्रहार : ब्राह्मण गाँव

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (क) सही (ख) सही (ग) गलत (घ) सही (ङ) सही

2) प्रतिहार, पाल, चोल, पल्लव, पूर्वी चालुक्य

3) भाग 3.3 देखें।

4) भाग 3.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 3.5 और 3.6 देखें।

2) भाग 3.7 को देखें।

3.11 संदर्भ ग्रन्थ

अल्तेकर, ए.एस. (1934). *द राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स.* पूनाः ओरिएंटल बुक एजेंसी.

फर, रयोसूके (2014). कैरक्टरस्किस ऑफ कैवर्त रेबेलियन. *प्रोसीडिग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कॉंग्रेस.* वाल्यूम 75, प्लैटिनम जुबली, पृष्ठ 93.98.

कराशिमा, नोबोरु (संपादित) (2017). *ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन.* नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

महालिंगम, टी. वी. (1955). *साउथ इंडियन पॉलिटी.* मद्रासः मद्रास विश्वविद्यालय।

मिश्रा, जयश्री (1993). *सोशल एण्ड इकोनॉमिक कंडीशंस अंडर द इंपीरियल राष्ट्रकूटाज़ लगभग 750-973 ए.डी.* संयुक्त राज्य अमेरिकाः राष्ट्रमंडल प्रकाशन.

शास्त्री, के. ए. नीलकंठ (1958). *हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स टू द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर.* लंदनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

शर्मा, आर. एस. (2008). *इंडियन फ्यूडलिज़्म.* नई दिल्लीः लक्ष्मी प्रकाशन.

थापर, रोमिला. (2002). *द पेंग्विन हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इंडियाः फ्रॉम द ऑरिजिन्स टू 1300 ए.डी.* दिल्लीः पेंगुइन बुक्स.

इकाई 4 राजनीतिक पदृिभय III – चोल व चालुक्य*

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 चोल

4.2.1 चोल राजत्व

4.3 स्थानीय प्रशासन : *उर* एवं *नाडु*

4.4 *ब्रह्मदेय* एवं *नगरम*

4.5 राजा, अधिकारी तथा मुखिया

4.6 कल्याण के चालुक्य

4.7 कल्याण के चालुक्यों के तहत् संस्कृति

4.8 सारांश

4.9 शब्दावली

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.11 संदर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप जानेंगे :

- चोल, उनका क्षेत्रीय विस्तार, प्रशासन और संस्थागत संरचना;
- कल्याण के चालुक्य और उन्हें बाद-के-चालुक्य क्यों कहा जाता है;
- चालुक्य राजाओं की सैन्य उपलब्धियाँ; तथा
- कल्याण के चालुक्यों के तहत फलती-फूलती संस्कृति।

4.1 प्रस्तावना

चोल प्रायद्वीपीय राजनीति में सबसे प्राक्रमी शक्ति के रूप में उभरे। वे सबसे स्थायी क्षेत्रीय राज्य स्थापित करने में सफल रहे। यह इकाई आपको चोलों, उनके राजाओं, अधिकारियों, प्रमुखों और उनके प्रशासन से परिचित कराएगी। इकाई के उत्तरार्द्ध में कल्याण के चालुक्यों के बारे में चर्चा होगी। उन्हें बाद-के-चालुक्य के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि वे बादामी के चालुक्यों या पश्चिमी चालुक्यों के बाद आए थे। हम उनके शासनकाल में उनकी सैन्य उपलब्धियों और संस्कृति पर नजर डालेंगे।

4.2 चोल

नौवीं सदी में चोल एक शासन करने वाली राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरे, जब विजयालय ने तंजावूर को पल्लवों के सामंत प्रमुख मुट्टारया से छीनकर अपने अधीन कर

* यह इकाई बी.एच.आई.सी. 132, इकाई 6 से ग्रहित है।

लिया। इसके बाद चोलों ने पल्लवों के क्षेत्र को कब्ज़े में कर लिया तथा पांड्यों की शक्ति को क्षीण कर दिया। चोल राज्य मज़बूत रूप से कावेरी घाटी जैसे समृद्ध व उपजाऊ संसाधनों वाले क्षेत्र में स्थापित हुआ। राजराजा प्रथम व उसके बाद के काल में, कई सामंत प्रमुखों को अधीनस्थ कर लिया गया व पहले के नाडु को पुनर्गठित कर वलनाडु बनाया गया और इनको व्यवस्थित करने का दायित्व अधीनस्थ प्रमुखों को दिया गया। भू-स्वामियों को राज-व्यवस्था का हिस्सा बनाया गया और उन्हें प्रतिष्ठित उपाधियों के साथ-साथ प्रशासनिक व सैन्य कार्य दिए गए, जिसमें भ-राजस्व इकट्ठा करना और उनका आंकलन करना भी था।

4.2.1 चोल राजत्व

चोल खुद को सूर्यवंशी मानते थे। मिथकीय परंपराएँ विभिन्न अभिलेखों जैसे प्रशस्तियों में उल्लिखित हैं, जिनमें वंशावलियाँ भी हैं (तिरुवलेंगड ताम्रपत्र, बड़ा लेडेन पत्र एवं अंबिल पत्र व वीर राजेन्द्र का कन्याकुमारी अभिलेख)। इनमें ऐतिहासिक व्यक्तियों के विषय में जानकारी मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका उद्देश्य चोलों के शासन को वैधता प्रदान करना था। चोलों की प्रशस्तियाँ इतिहास-पुराण परंपरा पर आधारित थी। संस्कृतिय एवं ब्राह्मणवादी परंपराओं की प्रधानता के प्रमाण मिलते हैं। चोल अपने को *संगम* काल की परंपरा से भी जोड़ते हैं। चोलों की वंशावली में राजा के पद को प्रतिष्ठित व महत्वपूर्ण वंश से जोड़ा गया है। राजराजा के शासनकाल के आठवें साल से लेकर आगे तक के समय में तमिल मेयकीर्ति में वंशावली रूपी प्रमाण नहीं पाए जाते हैं। ये मेयकीर्ति राजा की सैन्य उपलब्धियों को दर्शाती है। ये पत्थर पर अंकित की गई तथा ये तमिल भू-स्वामियों को संबोधित करती हैं। चोल खुद को क्षत्रिय वंशज बताते थे। इस बात का प्रमाण है कि राजराजा ने *क्षत्रिय-सिक्खमणि* की उपाधि धारण की थी। राजा के नाम के साथ वर्मन प्रत्यय (संस्कृत) जोड़ना भी इस बात की पुष्टि करता है कि वे खुद को क्षत्रिय बताते थे जैसे आदित्य वर्मन (871-906 सी.ई.) और परांतक वर्मन (707-775 सी.ई.)। चोल शासन के दौरान बाकायदा राज्याभिषेक समारोह में नाम धारण किए जाते थे। जैसे प्रकेसरीवर्मन और राजकेसरीवर्मन एवं अरुमोलीवर्मन (संस्कृत प्रत्यय के साथ तमिल नाम)। चोलों के अधिकारपत्रों में प्रशस्ति तथा वंशावली संस्कृत में है तथा अनुदान से संबंधित विस्तृत विवरण तमिल में उपलब्ध है। चोल राजाओं द्वारा हिरण्यगर्भ एवं तुलाभरा अनुष्ठान आयोजित किए जाते थे। अभिषेक अनुष्ठान भी क्षत्रिय स्तर को पाने का माध्यम था। वीर चोल द्वारा दिए गए अनुदान से पता चलता है कि राजा को नैतिकता पर उपदेश देने वाले धर्मोपदेशता द्वारा यह बताया गया था कि ब्राह्मणों को भूमि देने से राजाओं के पूर्वजों को स्वर्ग मिलता है। अनुदान देने का असली उद्देश्य संसाधनों जैसे भूमि, स्वर्ण तथा मवेशियों को पुनर्वितरित करना था। ब्राह्मणों को अग्रणीय सेवा देने व राजनैतिक क्षेत्र में वैधता प्रदान करने के लिए दान दिए जाते। हमारे पास भूमि-अनुदान के समुचित अभिलेख हैं, लेकिन स्वर्ण, मवेशियों के अनुदान केवल प्रशस्तियों में बताए गए हैं। भ-अनुदान के जरिये राजा गैर-बस्तियों वाले क्षेत्रों को कृषि क्षेत्रों में परिवर्तित करने का प्रयास करता था। यह अनुदान केवल धर्मार्थ उद्देश्यों के लिए ही नहीं होता था। राजराजा को *उलकलंड पेरुमेल* (वह महान् जिसने पृथ्वी को त्रिविक्रम की तरह नापा) के रूप में एवं शिव की तरह माना गया जिसने भार्गव राम की भूमि पर नियंत्रण कायम किया।

बोध प्रश्न 1

1) संक्षेप में चोलों के क्षत्रिय विस्तार की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रशस्तियों के आधार पर चोल राजत्व की मुख्य विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4.3 स्थानीय प्रशासनः *उर* एवं *नाडु*

चोल ताम्रपत्र में भू-अनुदान को क्रियान्वित करने वाले निम्नलिखित लोगों का विवरण है:

1) *नट्टर*

2) *ब्रह्मदेयाक्किलवर*

3) अ) *देवदान*

ब) *पल्लिच्छन्द*

स) *कानिमुरुट्टु*

द) *वेट्टापेरू-उरकलिलार*

4) *नागारट्टर*

नट्टर, नाडु (इलाका) के प्रतिनिधि थे। *ब्रह्मदेयाक्किलवर* ब्रह्मदेय (भूमि जो ब्राह्मणों को दी जाती थी) अनुदान पाने वाले ब्राह्मण थे। *नागारट्टर* व्यापारी समुदाय थे जो *नगरम* या व्यापारियों की बस्तियों से जुड़े थे। *देवदान, पल्लिच्छन्द, कविमुरुत्तु* एवं *वेट्टापेरु* की पहचान कर-मुक्त गाँवों के रूप में दी गई है। वाई. सुब्बारायलु ने बताया है कि *नट्टर वेल्लनवेगाई उरार* (कृषक ग्राम) के समकक्ष थे क्योंकि अनेक *उर नाडु* बनाते थे। सुब्बारायलु *उर* या ग्राम को *नाडु* का एक छोटा हिस्सा मानते हैं। प्रशासनिक ढाँचे के रूप में *नाडु* महत्वपूर्ण थे लेकिन ये *उर* (*वेल्लनवेगाई* ग्राम) से बने थे तथा उनका प्रतिनिधित्व करते थे। इसलिए भू-सीमांकित क्षेत्र के अर्थ में *नाडु वेल्लनवेगाई* ग्रामों (*उर*) से मिलकर बने थे। *नट्टर नाडु* (इलाके) के महत्वपूर्ण सदस्य (भूमि के धारक) थे। *वेल्लनवेगाई* गाँवों के बारे में बहुत कम अभिलेख उपलब्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि *उर* सामान्य जनता के उस भाग का प्रतिनिधित्व करता था जो साक्षर नहीं थे। परंतु *उर* से संबंधित अभिलेखात्मक साक्ष्य जो मंदिरों में मिलते हैं साक्षर लोगों से संबंधित है।

एन. कारशीमा ने राजराजा प्रथम के दो तंजावुर अभिलेखों व वीरराजेन्द्र के गंगईकोंडाचोलापुरम अभिलेख का विश्लेषण किया है। उनके मुताबिक *वेल्लनवेगाई* गाँव में कृषि भूमि, पशुचारी के लिए उपयोग की जाने वाली भूमि, सिंचाई के लिए भूमि, श्मशान क्षेत्र एवं रिहाइशी क्षेत्र आदि पाए जाते थे। रिहाइशी इलाकों में निम्न आते थे :

1) भू-धारक / कृषकों (*उर-नट्टम / उर-इरुक्कई*) के आवास स्थल।

2) शिल्पकार (*काम्मानाचेरी*) के स्थल, और

3) कृषि मज़दूरों (*पराईच्चेरी*) के स्थल।

काराशीमा का मत है कि *वेल्लनवेगाई* ग्रामों में विभेदीकरण नहीं था। सुब्बारायलु इस मत का खंडन करते हैं। गाँवों में पदानुक्रम व्यवस्था के अस्तित्व में होने की बात कहते हैं जिसके अंतर्गत कृषक (*कानियुदाईयार*), काश्तकार कृषक (*उलुकुडी*), शिल्पकार तथा कृषक मज़दूर आते थे। कृषकों को सामान्यतः *वेल्लाला* कहा जाता था।

उर के निम्न कार्य थे : ग्राम भूमि की देखरेख, बिक्री, खरीद तथा उपहार देने संबंधी गतिविधियाँ। *उर* का सदस्य बनने के लिए भूमि पर अधिकार होना बेहद जरूरी था। अभिलेखीय साक्ष्यों से हमें पता चलता है कि *उर* के सदस्य भी कई उपाधियाँ धारण करते थे जैसे *उदाईयान, किलान (किलावन), वेलन, पेरारइयन*। ये सभी उपाधियाँ भूमि पर अधिकार (कब्ज़ा) की द्योतक थीं। इस तरह अभिलेखीय सबूतों के मुताबिक यह पता चलता है कि *उर* ऐसे गैर-ब्राह्मणों का समूह / सभा थी जिनका भूमि पर अधिकार था।

एन. काराशीमा ने कहा है कि *उर* गाँवों में भूमि पर अधिकार सामूहिक था। कुछ अन्य उदाहरण देकर काराशीमा ने यह बताया है कि *उर* के कुछ सदस्य भूमि को व्यक्तिगत रूप से बेचते भी थे। सुब्बारायलु बताते हैं कि इस काल में व्यक्तिगत भूमि अधिकारों के उभरने के संकेत थे। *नाडु* का नाम ग्राम के नाम पर रखा जाता था जो उसका अंश था। अभिलेखीय साक्ष्य इस ओर भी इशारा करते हैं कि अनेक *नाडु* में *ब्रह्मदेय* (ब्राह्मणों को दी जाने वाली जमीन) मुख्य गाँव थे। यद्यपि अनेक *नाडु* में *ब्रह्मदेय* नहीं भी होते थे। सुब्बारायलु यह भी बताते हैं कि *नाडु* की संख्या में बढ़ोतरी नौवीं सदी से हुई। *नाडु* शुरू में उपजाऊ भूमि में स्थापित हुए जहाँ ज़्यादा गाँव थे जबकि बाह्य क्षेत्र (कम उपजाऊ क्षेत्र) में गाँवों की संख्या तुलनात्मक रूप से कम थी। नीलकंठ शास्त्री कहते हैं कि *नाडु* कई गाँवों का सम्मिश्रण होता था जो प्रशासनिक व्यवस्था के सबसे छोटे हिस्से होते थे। महालिंगम ने कहा है कि *नाडु* एक प्रशासनिक इकाई थी जो कि गाँवों में उप-विभाजित थी। शोध करने वालों में इस संबंध में कोई सर्वमान्य मत नहीं है कि *नाडु* केवल *वेल्लनवगाई* गाँवों से ही बना था या फ़िर उसमें *ब्रह्मदेय, देवदान* आदि भी समाहित थे। वाई. सुब्बारायलु कहते हैं कि *नाडु* एवं *उर* उस स्थानीय क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते थे जिसमें *वेल्लनवगाई* गाँव शामिल थे एवम् इनके प्रतिनिधि *नाडु* की सभा में भाग लेते थे। *नाडु* कितने बड़े क्षेत्र में फैले थे इसके विषय में सुनिश्चित तौर पर बताना कठिन है। आकार की दृष्टि से *नाडु* कई तरह के होते थे और वे किसी प्राकृतिक विभाजन (जैसे नदी) के आधार पर गठित नहीं थे। *नाडु* कृत्रिम रूप से बनाई गई इकाई या विभाजित इकाई नहीं थी। कभी-कभी *नाडु* में नदी के पार का क्षेत्र भी आता था। पारंपरिक इतिहासलेखन में *नट्टर* को भू-सीमांकित इकाई *नाडु* की सभा माना गया है जिसके महत्वपूर्ण सदस्य प्रत्येक ग्राम से थे। अन्य सभाओं जैसे, *ब्रह्मदेय, पल्लिच्छदम* को प्रशासनिक व्यवस्था में *नाडु* के अधीन बताया गया है। हाल में ही इतिहासकारों ने बताया है कि *नाडु* चोल राज्य द्वारा स्थापित कोई प्रशासनिक इकाई नहीं थी बल्कि यह किसानों की बस्तियों का एक स्वाभाविक समूह था जिसे चोल राज्य व्यवस्था में पहले की परंपरा के आधार पर शामिल किया गया। यह इस बात से सिद्ध होता है कि *नाडु* समान आकार के नहीं थे और वे केन्द्रीकृत थे। राजराजा प्रथम के समय उभरे *वलनाडु* प्रशासनिक खंडों के रूप में कृत्रिम तरीके से स्थापित किए गए। *नाडु* शुरुआत में उपजाऊ क्षेत्रों में उभरे और बाद में तुलनात्मक रूप से कम उपजाऊ क्षेत्र में भी फैल गए। इस प्रकार कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ। उपजाऊ क्षेत्रों में उभरे *नाडु* की संख्या अन्य क्षेत्रों के *नाडु* से अधिक थी।

कुछ अन्य अभिलेख भी हैं जो हमें *नाडु* के बारे में जानकारी देते हैं। 1310 सी.ई. के *किरनुर* अभिलेख के मुताबिक ''नंजिल, पेरुनसेवुर, विराईक्कुडी गाँवों के उरुम को *नाडु* अथवा वडा चिरुवयइल *नाडु* (के. वेलुठट, पृ. 184) के लिए योग्य माना गया''। इससे यह साफ होता है कि साक्ष्यों के मुताबिक *वेल्लाला* ही *नट्टर* थे एवं *नट्टर (नाडु)* से संबंधित कार्य *वेल्लाला* करते थे तथा उन्होंने *वेलन* उपाधि भी धारण की थी। *नट्टर* का मुख्य कार्य कृषि था क्योंकि *नाडु* कृषक बस्तियों का समूह थे। ताम्र पत्र मूलतः भू-अनुदान से संबंधित थे तथा ये *नट्टर* को संबोधित करते थे तथा अनुदान के कार्यान्वयन का दायित्व राजा द्वारा *नट्टर* को दिया जाता था (अनुदान में दी गई भूमि की सीमा तय करना जो नए अनुदान प्राप्तकर्ताओं को विशेषाधिकारों के तहत दी गई थी)। *नट्टर* शासकों के अधीन थे तथा उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करते थे। *नट्टर* सिंचाई कार्यों की देखरेख करते थे। वे मंदिरों को भूमि अनुदान देते थे। वे मंदिरों को दिए गए दान की देखरेख करते थे। व्यक्तिगत तौर पर दिए गए अनुदानों का हिसाब रखते थे तथा इनको कर-मुक्त बनाने के बदले में नगद जमा करवा लेते थे। *नाडु* मंदिरों को कर-मुक्त (*नट्टीराईली*) भूमि देता था। मंदिरों को कर-मुक्त भूमि दिए जाने के कारण राज्य को कर देना अब *नाडु* की ज़िम्मेदारी थी। *नाडु* कर लगाकर राज्य को देकर उसके प्रति अपना दायित्व निभाते थे। ये कर थेः *नदातची, नटटु विनियोगन तथा नट्टु व्यवस्थाई*। मंदिर भूमि बेची जाती या पट्टे पर दी जाती थी और *नट्टर* इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। ऐसा लगता है कि *नाडु* कर-संग्रहण और इसके निर्धारण का कार्य करते थे। कभी राजस्व संग्रहण का कार्य राज्य की ओर से *नट्टर* करते थे। हालाँकि कई बार राजा के कार्मिक (कोमार्रवर) भी इस काम के लिए ज़िम्मेदार होते थे। *मुडलिगल* और *दंडनायकम नाडु* के लिए नियुक्त किए गए कार्मिक थे और शाही अधिकारियों की तरह प्रशासनिक ज़िम्मेदारियों को निभाते थे। चोलों ने राज्य व्यवस्था में क्षेत्र के भू-स्वामियों को शामिल किया। ये स्थानीय भू-स्वामी थे और ये राजा के निर्देशानुसार कार्य करते थे तथा उसके अधीन थे।

राजस्व प्रशासन के अंतर्गत *नाडु* सबसे छोटी इकाई होती थी। *नट्टुपुरवु, नट्टुवाड़ी* (भू-राजस्व) एवं *नट्टुक्कानक्कू* सभी का *नाडु* के राजस्व से संबंध था। *नट्टुक्कानक्कू नाडु* के राजस्व प्रशासन के लिए ज़िम्मेदार कार्मिक थे। गाँव का राजस्व संग्रहण तथा निर्धारण उस *नाडु* के संदर्भ में किया जाता था जहाँ वह गाँव स्थित था। जब *उर* करों में छूट देता था तो यह *नाडु* के खातों में प्रतिबिंबित होता था।

किसी खास उद्देश्य के तहत मंदिर संसाधनों का हस्तांरण *वरीयीलारकनकू* (शाही राजस्व दस्तावेज) तथा *नट्टुकनकू* (*नाडु* का राजस्व दस्तावेज) में प्रतिबिंबित होता था। इससे यह पता चलता है कि *नाडु* चोल प्रशासनिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण घटक था। हालाँकि इसका स्थानीय संदर्भ में स्वायत्त चरित्र था। *नाडु वगाई.चेयवर, नाडु.कुर्क.सेयवर, नाडु-कनकनी-नयाग्रम* एवं *नाडु-कनकटची* आदि कार्मिक *नाडु* में शाही शक्ति के प्रतिनिधि थे। *नाडु* कुरु का उल्लेख कुलोट्टुंगा प्रथम (1116 सी.ई.) के अभिलेखों में मिलता है जो नये *देवदान* से संबंधित प्रबंधन की ज़िम्मेदारी निभाते थे। इन कार्मिकों को स्थानीय मंदिरों के खातों की देखरेख की भूमिका दी गई थी। *नाडुवगाई ब्रह्मदेय* (*सभा*) की *सभा* में भाग लेते थे। एक अभिलेख में *नाडु-कनकनी-नयागम* के सेनापति के अधीन होने का उल्लेख है। *नाडु* के अधिकारियों के पद स्थानन्तरणीय थे। कुछ अधिकारियों को एक से ज़्यादा *नाडु* की ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी। इस प्रकार से ये शाही प्रशासनिक व्यवस्था के घटक के रूप में कार्य करते थे।

ब्रह्मदेय एवं *नगरम*

ब्रह्मदेय ब्राह्मणों की बस्तियाँ थीं जो कृषि क्षेत्र में भू-धारक थे और उन्हें भूमि (कर-मुक्त) दी गई थी और वे एक खास समूह में संगठित हुए। *नगरम* में वे व्यापारी रहते थे जो व्यापार

तथा आदान-प्रदान की गतिविधियों में संलग्न थे और उनके इलाके वाणिज्यिक केन्द्रों में परिवर्तित हो गए क्योंकि शिल्पकारों के उत्पादन में बढ़ोतरी हुई।

नौवीं सदी के मध्य में जब तंजावूर में चोल एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे तब अनेक *ब्रह्मदेय* कावेरी के उपजाऊ तथा घनी जनसंख्या वाले क्षेत्र में पहले से स्थापित थे। राजेन्द्र प्रथम के करंटाई अधिकारपत्रों में 1080 ब्राह्मणों के बारे में बताया गया है जो *त्रिभुवनमहादेवी चतुर्वेदीमंगलम* में बसे हुए थे। कृषि क्षेत्र में बसे ब्राह्मणों के समूह को *सभा* या *महासभा* कहा जाता था। ज़्यादातर *ब्रह्मदेय* या ब्राह्मण बस्तियाँ मंदिरों के आस-पास स्थापित हुई। मंदिर एवं इतिहास तथा पुराण पर आधारित विचारधारा और वर्णाश्रमधर्म एवं भक्ति के माध्यम से विभेदित समाज तथा राजवंशीय राजनैतिक पद्धति को वैधता मिली। इसलिए राजा ब्राह्मणों को ज़मीन देते थे और अपनी शक्ति को वैधता देने के लिए *ब्रह्मदेय* स्थापित करते थे।

अभिलेखों से हमें यह जानकारी मिलती है कि चोल काल में *नाडु* के तहत बहुत सारे *ब्रह्मदेय तैनियुर* (अलग ग्राम) थे। उनकी अलग प्रशासनिक व्यवस्था (राजस्व एवं न्याय) थी। बहुत से कृषि गाँवों को *तैनियुर* के साथ मिला दिया जाता था। कभी-कभी *तैनियुर* को मंदिर के अधीन रखा जाता था। यहाँ *मुलपारुसई* नामक निकाय प्रशासनिक व्यवस्था के लिए ज़िम्मेदार था।

अभिलेख *सभा* की कार्यकारी समिति का सदस्य बनने के लिए ज़रूरी शर्तों की जानकारी देते हैं जैसे आयु, भू-अधिकार, ज्ञान, अच्छा व्यवहार आदि। कर्नाटई अधिकारपत्र (1080 ब्राह्मण) *ब्रह्मदेय* के बारे में बताते हैं, लेकिन सभी व अन्य समितियों का किस तरह गठन हुआ इस बारे में जानकारी नहीं देते। उन्हें शाही शक्ति ने स्थापित नहीं किया था। उनका उद्भव *धर्मशास्त्र* के नियमों के मुताबिक हुआ था। *सभा* एवं उनकी समितियाँ मंदिर भूमि, पशु एवं अन्य संसाधनों की देखरेख करती थीं। वे जमीन काश्तकारों को देते थे तथा उनसे लगान लेते थे। वे राजस्व का लेखा-जोखा रखते, उसे एकत्र करते थे और खर्चों का विवरण रखते थे। वे मंदिर के पुजारी से लेकर सफाईकर्मियों के कार्यों पर निगरानी रखते थे और मंदिर के दैनिक कार्यों की देखरेख करते थे। *सभा* एक समूह की तरह कार्य करती थीं और जो निर्णय लिए जाते थे वे किसी व्यक्ति विशेष के हित के लिए नहीं वरन् सभी के कल्याण को ध्यान में रखकर लिए जाते थे।

चोल शासन काल के उतरार्ध में *ब्रह्मदेय* बस्तियाँ, जहाँ मंदिर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, महत्त्वपूर्ण नहीं रहीं। ग्यारहवीं सदी के मध्य में *ब्रह्मदेय* की संख्या में कमी आई तथा मंदिरों के निर्माण में वृद्धि हुई और पुराने मंदिरों को पुनर्निमित किया गया। कभी-कभी *महासभा* संसाधनों के अभाव में मंदिर से ली गई रकम को चुकाने में असमर्थ होती थी तब आसपास के ग्राम से एकत्रित रकम पर निर्भर रहती थी।

नगरम बस्तियाँ वो क्षेत्र थे, जहाँ व्यापारी व अन्य (शिल्पकारों सहित) रहते थे। ''1036 सी.ई. के चिदाबंरम के एक अभिलेख में गैर-ब्राह्मण निवासी, जो उच्च स्तर के थे (कुडीग) एवं वे जो निम्न स्तर (किल कलनाई) के थे, में अंतर बताया गया है। कुडीग के अंतर्गत दो व्यापारी समूह : शंकरप्पडियार (निचला समूह) एवं व्यापारिन (उच्च समूह) और तीन समूह वेल्लाला (कृषक), सेलियार (कपड़ा व्यापारी) एवं पट्टिनवर (मछुवारे) आते थे। छोटे स्तर के कार्मिक (किल कलनाई) थे : टच्चर (बढ़ई), कोलियार (बुनकर), टट्टर (स्वर्णकार), तथा कोलियार (लुहार) आदि'' (बी. स्टेन, *पेजेन्ट स्टेट एंड सोसाईटी इन मिडीवल साउथ इंडिया*)।

नगरट्टर व्यापारियों का प्रतिनिधित्व करने वाला निकाय था। *नगरम* बस्ती एक अलग क्षेत्र थी। *नगरट्टर* की समिति *नगरवैरियम* कहलाती थी। *नगरम* में भी भूमि व्यवस्था सामूहिक थी जिसे *नगरक्कनी* कहते थे। भूमि को खरीदा जाता था तथा पट्टे पर भी दिया जाता

था। *नगरम* कर लेते थे तथा स्थानीय समूहों को सेवाएँ प्रदान करते थे। वे आय एवं व्यय का हिसाब रखते थे तथा शाही कर सोने या अनाज के रूप में देते थे। वे स्थानीय मंदिरों पर कर भी लगाते थेः जैसे कदामयी (भूमि पर कर), नगरविनियोगम (*नगरम* के लिए कर) आदि। कभी-कभी *नगरम नाडु* से स्वतंत्र होते थे (*तनियूर*)।

4.5 राजा, अधिकारी तथा मुखिया

चोल राज्य में अनेक अधिकारी प्रशासनिक व्यवस्था के लिए ज़िम्मेदार थे। यद्यपि मंत्रिपरिषद् के बारे में स्पष्ट साक्ष्य नहीं है, लेकिन लगता है *उड़्डन-कोट्टम* मंत्रीपरिषद् के रूप में कार्य करती थी। प्रशासनिक पदानुक्रम में ऊपर या नीचे की ओर गतिशीलता देखी जा सकती है। पारंपरिक इतिहासलेखन के अनुसार *पेरुंडनन* एवं *शिरुतरम* क्रमशः उच्च एवं निम्न अधिकारियों की श्रेणी थी। सेनापति (सेना की टुकड़ी का अध्यक्ष) की बीच की स्थिति को *सिरुडनट्टुप, पेरुडंरम* कहा जाता है। *न्यायट्टर* (न्यायाधीश) दोनों श्रेणियों के होते थे। हाल ही में इतिहासकारों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि यह विभाजन साक्ष्यों के द्वारा प्रमाणित नहीं है। अधिकारियों को भू-अधिकार के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता था। भूमि पर कर नगद तथा वस्तुओं के रूप में लिए जाते थे। अधिकारियों को भू-धारक (*उदयन, किलान*) कहा जाता था। वे भूमि किसी अन्य को भी दे सकते थे या बेच सकते थे। सामुदायिक स्वामित्व प्रचलन में था तथा गाँववालों के पारंपरिक अधिकारों को मान्यता मिली हुई थी। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी। इनको मिलाकर *नाडु* बनते थे। कुछ *नाडुओं* को मिलाकर *वलनाडु* बनता था। *तेनीयूर* एक अलग गाँव और बस्ती स्थल था। वलनाडु के ऊपर मंडलम होते थे जो प्रांत के समान होते थे। *कारुमिगल* एवं *पैनिमक्कल* शब्द अधिकारी एवं नौकर की ओर इंगित करते हैं। अंबिल अधिकारपत्र में मान्य सचिव नामक ब्राह्मण के बारे में बताया गया है जिसे राजा द्वारा भूमि दी गई थी। राजा का आदेश मौखिक रूप (*त्रियुवयकेलवी*) में होता था खासतौर पर मंदिरों के लिए दान के संबंध में। दिशा-निर्देश पत्र (*श्रीमुखम*) के द्वारा दिए जाते जिन्हें राजा द्वारा नियुक्त *अनट्टी* (कार्यकारी अधिकारी) जारी करता था। स्थानी निकायों को जानकारी दी जाती थी और प्रक्रिया पूरी हो जाने पर दस्तावेज स्थानीय प्रमुख, जिन्हें *नाट्टुक्कन, नाडुकिलावन, उरुदैयान* कहते थे, के समक्ष रखा जाता था। अनुदान देने तथा उनके दस्तावेज़ बनाने की प्रक्रिया में संलग्न कुछ आधिकारियों को *उत्तरामंत्रिन* कहा गया है। *पुरवु-वारी-तिनईक्कलम* भू-राजस्व विभाग था। *वारिपोट्टगम* भू-अधिकारों से संबंधित दस्तावेज़ तथा *वारि-पोट्टगक कनक्कु* भी राजस्व विभाग का दस्तावेज़ था। *वारिपोट्टगम* और *वारियिलेडु* वे अधिकारी थे जो राजस्व विभाग तथा भू-अधिकारों से संबंधित दस्तावेज़ रखते थे। *कंकणि* या पर्यवेक्षक लेखा अधिकारी थे। दस्तावेज़ों में दी गई प्रविष्टि को *वैरियीलेडु* कहा जाता था। *मुगावेट्टी* शाही पत्र लिखते थे और *पट्टोलई* भू-राजस्व के कनिष्ठ कार्मिक थे। नाडु के 'अधिकारी' (अधिकारी स्तर के) नाडुकुरु (राजस्व निर्धारण एवं बंदोबस्त अधिकारी) व *नाडु वगाई* (राजस्व अधिकारी) थे। *मंदिर ओलई* वे अधिकारी थे जो तिरुमुगम (शाही आदेश से संबंधित पत्र) लिखते थे। नाडुविरुक्कई शब्द विज़नप्ति (*वक्केलवी*) के लिए इस्तेमाल किया जाता या आवेदन करने वाले के लिए प्रयोग में लाया जाता था और *अनट्टी* (कार्यकारी अधिकारी) राजा तथा उससे मिलने के इच्छुक लोगों के बीच की कड़ी के रूप में काम करता था। राजा मौखिक आदेश (*तिरुवयक्केलवी*) उन मुद्दों पर जारी करता था जो अधिकारियों द्वारा उसके पास लाए जाते थे। ये निवेदन आदेश में तबदील हो जाते थे जो स्थानीय प्रशासन और केन्द्रीय प्रशासन को कार्यान्वयन के लिए भेजे जाते थे। *ओलई नयागम* वे अधिकारी थे जो *मंदिर ओलई* द्वारा लिखे पत्रों को प्रमाणित करते थे। राजा के मौखिक आदेश को लिखित (*एलुट्टु*) रूप दिया जाता था तथा इसकी मूल आदेश (*ओप्पु*) से मिलाया जाता था फ़िर दस्तावेज में लिखा (*पुगुंडा*)

जाता था। *विदाइल अदिगारी* आदेश को दस्तावेज में सूचीबद्ध करते थे। इस दस्तावेज़ को टिट्टु कहते थे और धर्मार्थ कार्य को *अरावोलाई*।

ग्रामीण सभाओं द्वारा न्याय प्रक्रिया का कार्यान्वयन उन समितियों के जरिये होता था जिनमें *न्ययट्टर* होते थे। *धर्मासना* केन्द्रीय न्यायालय था जो *धर्मासना भट्ट* (ब्राह्मण जो कानून विशेषज्ञ थे) के द्वारा संचालित था। ऐसा लगता है कि नागरिक एवं फौजदारी अपराधों के मामलों के लिए अलग से व्यवस्था नहीं थी। राजा या शासन करने वाले राजवंश को प्रभावित करने वाले अपराध की सज़ा राजा निर्धारित करता था। दंड के कुछ तरीकों का विवरण उपलब्ध है जैसे आर्थिक दंड, मृत्यु दंड आदि।

राजा के अधिकारियों को *अधिकारी* कहा जाता था। वे *उदईयान, किलान/ किलावन, वेलन, मुवेन्डावेलन, ब्रह्मा, पल्लवरियन,* विलुप्परियन जैसी उपाधियाँ तथा अन्य मुखिया नामपद्धति धारण करते थे। कई बार एक से अधिक नाम पद्धतियाँ धारण की जाती थीं। चोल शासक का नाम या उपनाम अधिकारियों द्वारा प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता था। नाडुविरुक्कई अधिकांशतः ब्राह्मण (जो *भट्ट, ब्रह्माधिराजन* की उपाधि धारण करते थे) अधिकारी थे। ये अधिकारी शाही प्रशासन एवं नौकरशाही के बीच कड़ी का काम करते थे और उनका उल्लेख हमेशा अधिकारियों के संदर्भ में मिलता है। मंदिरों के प्रभारियों को *श्रीकार्यम* कहते थे। लेकिन वे आनुष्ठानिक कार्यों जैसे पूजा आदि की व्यवस्था नहीं करते थे। कुछ मामलों में हमें इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि अधिकारी *श्रीकार्यम* का पद सँभालते थे। सामान्यतः प्रशासनिक व्यवस्था में उनकी विशिष्ट स्थिति थी। उनके द्वारा धारण की जाने वाली उपाधियाँ थीं *किलन/ किलावन, वेलन, मुवेन्डवेलन, ब्रह्मा, भट्ट, कोन, पल्लविरयान, विलुप्परियन, नाडु उपाधि, राजा की उपाधि*। सैन्य मामलों का प्रभारी *सेनापति* होता था। वे राजा की उपाधि या नाम धारण करते थे एवं अन्य उपाधियाँ जैसे *उदईयान, ब्रह्मा, आरियन, किलान* आदि भी धारण करते थे। *दंडनायकम* का कार्यालय सेनापति (सैन्य कार्यालय) की भांति ही था। इस कार्यलय को *पल्लवारियन* के नाम से जाना जाता था। सेनापति की उपाधियाँ निम्नलिखित थीः

- *उदायिन*
- *ब्रह्मा*
- *अरायन*

तिरुमंदिर ओलई नयाकम भूमि-अनुदान से संबंधित दस्तावेज़ों को तैयार करते थे। इन अधिकारियों की उपाधियाँ थीं *मुवेन्डवेलन, ब्रह्मा* आदि।

नाडु के अधिकारी जो राजा के प्रतिनिधि थे उन्हें *नाडु वगाई* कहते थे। ये राजस्व का निर्धारण एवं आंकलन करते थे। *कोट्टम वगाई* तोंड़ाइमंडलम क्षेत्र में तैनात थे और *नाडु वगाई* के समान कार्य करते थे। *नाडुकंकनियकम* का एक से अधिक नाडु पर नियंत्रण था और उसका स्तर *नाडु वगाई* से उच्च था। *नाडु वगाई* से संबंधित उपाधियाँ आरियन एवं *उदईयन* थीं। *मुवेन्डवलेन* उपाधि *नाडु कुरु* धारण करते थे (नाडु के अधिकारी) जो अधिकारी के स्तर के थे।

राजराजा प्रथम (1001 सी.ई.) ने विस्तृत भू-राजस्व निर्धारण प्रणाली अपनाई तथा *वलनाडु* अस्तित्व में आए और यह तरीके दूसरे शासकों ने भी अपनाए। भू-राजस्व विभाग को *पुरवुवरी टिनईक्कलम* कहा जाता था। यह विभाग राजा की शासन-व्यवस्था के अंतर्गत एक प्रशासनिक खंड था और इसके निम्नलिखित कार्मिक थेः *पुरवुवरी, वारी पोट्टागन, मुगवेट्टी, वारी पोट्टागा, कनक्कु, वैरियिल इडु* एवं *पट्टोलई* आदि। राजेन्द्र द्वितीय के शासनकाल में प्रशासनिक कार्मिक अतिशयोक्तिपूर्ण उपाधियाँ धारत करते थे जैसे *पुरवु-वारी-टिनईक्कला, कनक्कर* आदि। कुलोट्टुंगा प्रथम को शासन काल में अधिकारियों की संख्या में कमी आईः

- *पुरवु-वारी-श्रीकरण*
- *नयागम*
- *मुगवेट्टी*

बाद में सामान्य शब्दों में राजस्व विभाग कर्मियों को *वारीयिलार* बुलाया जाता था। इन कर्मियों की उपाधियाँ थी : *उदायन, मुवेडंवेलन* आदि।

राजा के कर्मियों की उपाधियाँ थी : *उदईयान, किलान* एवं *किलावन* जो नियंत्रण या कब्ज़ा होने की तरफ संकेत करती हैं।

वेलन तथा *मुवेन्डवेलन* इनके द्वारा धारण की गई अन्य उपाधियाँ थी। *मुवेन्डवेलन* चोल उपाधि थी और यह परांटक के शासनकाल से प्रचलन में थी। इन उपाधियों से पता चलता है कि जो इन्हें धारण करते थे वे भूमि से जुड़े थे। *मुवेन्डेवलन* उपाधि चोल राजा देते थे तथा के- वेलुथट बताते हैं कि ''इस उच्च उपाधि को धारण करने वालों का संबंध महत्वपूर्ण पदों से था, इससे यह पता चलता है कि महत्वपूर्ण वेल्लाला भू-स्वामी राजा की सेवा में कार्यरत थे जिससे वे राज्य व्यवस्था के अभिन्न अंग के रूप में उभरे''। प्रमुखों एवं उनके परिवार द्वारा *अरियान* उपाधि धारण की जाती थी। यह उपाधि अन्य महत्वपूर्ण लोग भी धारण करते थे। राजराजा प्रथम के शासनकाल में प्रमुखों के प्रभुत्व में कमी आई परंतु *अरियान* उपाधि धारण करने वालों की संख्या बढ़ गई। यह *मुवेन्डवेलन* से अधिक प्रतिष्ठा वाली उपाधि थी। ऐसा माना जाता है कि प्रमुख राजराजा तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में भू-स्वामियों या खेतिहरों में परिवर्तित हो गए हालाँकि वे बाद में भी उपाधि धारण करते रहे थे।

पशुपालन समूह (*मनराडी*) मंदिरों में दिए जलाने के कार्य की देख-रेख करते थे। व्यापारी *सेट्टी, मेयलट्टी* एवं पलन उपाधियाँ धारण करते थे। वे महत्वपूर्ण पदों पर थे जैसे *सेनापति* तथा *लेखाकार*। *पेरुटच्चन* एवं *पेरुंकोल्लन* वे उपाधियाँ थीं जो शिल्पकार धारण करते थे परंतु उनमें से कुछ महत्वपूर्ण पदों पर थे जो शाही महल तथा मंदिर से संबंधित थे।

हमें मंत्रिपरिषद् के बारे में स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलते लेकिन अधिकारियों जैसे पुरोहित (*धर्मोपदेश्त),* राजागुरु, *तिरुमंदिर ओलाई,* अधिकारी, *वइलकेत्पर* (वे अधिकारी जो राजा के निर्देशों को संकलित करते थे) आदि के विषय में जानकारी मिलती है। एम.जी.एस. नारायणन बताते हैं कि *उडनकुट्टम* राजा के सम्मानित सहयोगियों के समान थे। इनका शायद प्रमुख होता था क्योंकि हमें *उडनकुट्टम* के अधिकारी का उल्लेख मिलता है। साहित्य में (*पेरियापुरानम*) दरबार के उल्लेख मिलते हैं। राजा के दरबार में निम्नलिखित लोग होते थे : ब्राह्मण सलाहकार, पुजारी, राजगुरु, अधिकारी, *तिरुमंदिराओलाई नायगम, वायिलकेतपर,* राजा के अंगरक्षकों का प्रमुख और सामंत (सामंती प्रमुख)। इस काल में लिए जाने वाले विभिन्न कर थेः *अंतरायम, इक्कोरु, कड़ामई* (उत्पादन शुल्क), *कुड़ीमई, मुट्टाम-अलवेट्टी* (श्रम कर) एवं *टट्टर-पट्टन* (नगद भुगतान)। कर उगाही अधिकतर वस्तुओं जैसे धान के रूप में की जाती थी।

चोलों ने अपने सैन्य अभियान राजराजा प्रथम के शासनकाल में श्रीलंका और राजेन्द्र प्रथम के शासनकाल में श्री विजय भेजे। इससे चोल राज्य की सैन्य शक्ति के बारे में पता चलता है। ऐसा लगता है कि घुड़सवार (*कुडिराईचीवगर*), *अनाईयत्कल* (जो हाथी पर सवार होकर लड़ते थे), धनुर्धर (*विल्लिगल, अनुक्कर*) सैन्य बल के विभिन्न घटक थे। *वलनगाई* (दाहिना हाथ) *वेलईक्करर* वे सैनिक थे जो किसानों में से नियुक्त किए जाते थे। दस्तकार समूहों (*इडनगई-बाएँ हाथ*) में से भी सैनिकों की भर्ती होती थी। मूलतः ये सब किराये के सैनिक होते थे। चोल मेयकीर्ति में *कनतलुर सलई* का उल्लेख मिलता है जो चेर राज्य में सैन्य

शिक्षा का संस्थान माना जाता है। इसमें ब्राह्मणों को शिक्षा एवं प्रशिक्षण दिया जाता था तथा मेयकीर्ति में इसको वह स्थान माना गया है जहाँ चेर नौसेना को चोल राजाओं ने ध्वस्त किया था। यह सिद्ध करता है कि चोल सैन्य व्यवस्था उत्कृष्ट एवं शक्तिशाली थी।

राज्य व्यवस्था में प्रमुख काफ़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। पांड्य राज्य में मुखियाओं की एक ही श्रेणी थीः *अय्स*। *संगम* साहित्य में अनेक मुखियाओं के बारे में जिक्र है जैस अय्स, *वेल, मुव, कोडुम्बलुर* और *अडिगमन*। पल्लव काल के साक्ष्यों से मुखियाओं जैसे गंगा और अदिगमन के बारे में पता चलता है। अन्य प्रमुख जिन्होंने पल्लवों के आधिपत्य को स्वीकार किया थाः बन, *वेट्टूवा - अदिअराईयन, मुट्टारियार* आदि।

चोल शासन काल के दौरान मुखिया थे : *पलुवेट्टारियार, वेल, मालव, गंगा, बान*। ऐसा लगता है कि मुखियाओं को भूमि दी जाती थी तथा क्षेत्र की रक्षा (*पडी कवल*) के बदले वे देय वसूलते थे। कुलोट्टुंगा के शासनकाल के बाद *नीलामईट्टिटट्टू* या कूटनीतिक समझौते का उल्लेख मिलता है जो दो या अधिक मुखियाओं के बीच होता था। इन मुखियाओं के अपने सैनिक व सेवक होते थे। चोल राजाओं द्वारा उनकी सेवाएँ ली जाती थीं।[1]

बोध प्रश्न 2

1) *उर* और *नाडु* की भूमिका और कार्यों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2) *ब्रह्मदेय* बस्तियों को परिभाषित कीजिए।

.....

.....

.....

3) *नगरम्* क्या थे?

.....

.....

.....

4) संक्षेप में चोलों की प्रशासनिक व्यवस्था की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

4.6 कल्याण के चालुक्य

कल्याण के चालुक्यों को बाद-के-चालुक्य के नाम से भी जाना जाता है। यह इसलिए क्योंकि वे बादामी चालुक्यों के उपरान्त आए। उन्हें कल्याणी चालुक्य के रूप में भी जाना जाता है, हालांकि कल्याण उनकी राजधानी 11वीं शताब्दी के मध्य से ही बना। वे बादामी

[1] चोल का पूरा भाग एम.एच.आई.–04, भारत में राजनैतिक संरचनाएं, इकाई 15, पृष्ठ संख्या 14–21, से लिया गया है।

चालुक्यों के वंश से अपने आप को संबंधित मानते थे। हालांकि साक्ष्य मजबूत नहीं है। परिवार की स्थापना तैल द्वितीय ने की जो राष्ट्रकूटों के अधीनस्थ था। तैल द्वितीय, जो बादामी के चालुक्यों के प्रत्यक्ष वंशज होने का दावा करते थे, 957 सी. ई. में मेलपति के क्षेत्र पर शासन कर रहे थे। यह पाया जाता है कि बाद में 965 सी.ई. में राष्ट्रकूट सम्राट कृष्णा III ने तैल द्वितीय (तैलापरसा) को तर्दावादी 1000 सौंप दिया। बीजापुर जिले में 965 सी.ई. के मुट्टागी अभिलेख में उन्हें *समाधिगत – पंचमहाशब्द, महासामंताधिपति, अहवामल्ला सत्यासराय, कुलाटिकल* के नाम से सुशोभित किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय तक वह एक उच्च और प्रभावशाली स्थिति में पहुंच गया था। अभिलेखों में संदर्भित तार्डेवाडी बीजापुर जिले की आधुनिक तार्डेवाडी है। कल्याण के चालुक्यों के विभिन्न अभिलेखों के साथ-साथ कन्नड़ साहित्यिक कृति *गदयुद्ध* जिसकी रचना कवि रन्ना ने की थी, तैल द्वितीय के वंश का संबंध भीम प्रथम, जो कीर्तीवर्मन द्वितीय (बादामी चालुक्यों का अंतिम शासक) का भाई था, से जोड़ते है। भीम प्रथम के वंश की पंक्ति में तैल द्वितीय आंठवा था। तेल द्वितीय के पिता, विक्रमादित्य ने त्रिपुरी की कलचुरी राजकुमारी बोंटादेवी से विवाह किया था।

राष्ट्रकूटों से साथ वैवाहिक गठजोड़ करने वाली गंगा, चालुक्यों की बढ़ती शक्ति के विरोधी थे। हालांकि चालुक्य 975 सी.ई. में गंगा वंश को हराने में सफल रहे। गंगा के राजा ने चालुक्यों का अधिपत्य स्वीकार कर लिया। 992 सी.ई. में राजराजा चोला जो नोलंबवाड़ी में हस्तक्षेप कर रहा था व वेंगी के चालुक्यों के उत्तराधिकार के संघर्ष में भी हस्तक्षेप कर रहा था, तैल द्वितीय से हार गया। तैल द्वितीय अपने सफल अभियानों के साथ आगे बढ़ता रहा और उसने दक्षिणी गुजरात के लता, उत्तरी गुजरात के गुर्जर और चेदी और मालवा के परामारों पर जीत हासिल की। बिल्लम, नाम के यादव (सेवुण) प्रमुख जो कि तैल द्वितीय के सामंत बन गए थे, ने अभियानों में तैल द्वितीय की परामारों के खिलाफ सहायता की। तैल द्वितीय की अपने पास सैन्य उपलब्धियाँ थी। उन्होंने *रणरंग-भीम, निज भुजा-चक्रवर्ती* (अपनी खुद की बाँहों द्वारा सम्राट) और *रट्ट-घट्ट* (रट्टों को पीसने वाला) की उपाधि ग्रहण की। नई चालुक्य शक्ति के समेकन और स्थिरीकरण के लिए लगातार युद्धों का सिलसिला चलता रहा। राष्ट्रकूट राजकुमारी जकब्बे ने दो पुत्रों को जन्म दिया : इरिवाबेडंग सतयास्राय और दशवर्मा उर्फ यशोवर्मा। इरिवाबेडंग सत्यास्राय ने अपने पिता तैल द्वितीय के बाद 997 सी.ई. में राजगद्दी संभाली।

चोलों ने गंगावाड़ी पर आक्रमण किया, तलकड़ पर कब्जा कर लिया और गंगा को अधीन कर लिया। चोल ने तब बीजापुर जिले के डोनूर तक चालुक्यों के क्षेत्र में गहरी चढ़ाई की। इरिवाबेडंग ने क्रमशः पूर्व, पश्चिम, और उत्तर में चालुक्यों की स्थिति को सुरक्षित करने के लिए वेंगी के चालुक्यों, कोंकण के सिलहारों और मालवा के परामारों के खिलाफ अभियान दल भेजें। अगला चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य V (1008-1014 सी.ई.) था। अय्यनवंश - चरित्र - काव्यम् नामक एक साहित्यिक कृति के अनुसार, विक्रमादित्य ट के एक छोटे भाई अयन्ना चालुक्य सिंहासन पर आसीन हुआ और थोड़े समय के लिए शासन किया। विक्रमादित्य V के एक और छोटे भाई जददेकामल्ला जयसिम्हा III, 1015-1044 सी.ई. तक सत्ता में था। कुछ स्रोतों से संकेत मिलता है कि परमार कलचुरी और वेंगी के चालुक्यों और चोलों के बीच कोई समझौता था जिसके तहत वे चालुक्य के राज्य को घेरने और मालखेड के चालुक्यों के खिलाफ उग्र कार्यवाई शुरू करने के लिए योजना बना रहे थे। परामार राजा ने चालुक्य साम्राज्य के उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों में प्रवेश किया और गोदावरी के तट पर एक गंभीर लड़ाई लड़ी जो जयसिम्हा की जीत में समाप्त हुई। परामार प्रमुख ने कोंकण के कुछ हिस्सों पर कब्जा कर लिया था जहां से उन्हें कड़ी लड़ाई के बाद उखाड़ दिया गया था। दक्षिण से, चोल बनवासी क्षेत्र और रायचूर दोआब से होते हुए वर्तमान तेलंगाना में कोल्लीपके (कुलपक) तक पहुंच गये, जो मान्यखेत के चालुक्यों की सहायक राजधानी थी। असाधारण रूप से चोल सेनाओं को वापस खदेड़ दिया गया

और चोल आक्रमण के खिलाफ उसकी सफलता को चिन्हित करने के लिए जयसिम्हा ने *चोलगरा - कालनाल* की उपाधि धारण की। उसके शासनकाल के दौरान ही कल्याण प्रमुख बन गया।

जससिम्हा द्वितीय के सबसे बड़े पुत्र सोमेश्रवरा प्रथम (1044-1068 सी.ई.) को 1044 सी.ई. में ताज पहनाया गया। लगभग 1048 सी.ई. में, कल्याण मान्याखेत के स्थान पर राज्य का महानगर बन गया। इस समय के दौरान, वेंगी का क्षेत्र चालुक्यों और चोलों के बीच विवाद का कारण बना। वेंगी के चालुक्यों ने, कल्याण के चालुक्यों की संप्रभुता स्वीकार नहीं की थी। सोमेश्वरा प्रथम ने वेंगी के खिलाफ एक अभियान शुरू किया। लेकिन चालों ने इस कार्य में बाधा डाली। एक अनिर्णायक लड़ाई हुई। अगले वर्ष 1045 सी.ई. में चालों ने हथियार समेत कोल्लीपके, जो चालुक्यों की सहायक राजधानी थी, में घुसपैठ की। लेकिन बहुत जल्द सोमेश्वरा प्रथम वेंगी पर चालुक्य की प्रधानता स्थापित करने में सफल हुए। 1047 सी.ई. के एक शिलालेख का दावा है कि उन्होंने वेंगी और कंलिग को वश में किया। उनके पुत्र भुवनिकामल्ला सोमेश्वरा II को 1049-1054 सी.ई. के अभिलेखों में वेंगीपुरवरेश्वर के नाम से जाना जाता है। वेंगी के चालुक्य राजा अपने शासनकाल के अंत तक कल्याण के चालुक्यों के अधीनस्थ रहे। यह देखा जाता है कि विख्यात विद्वान नारायण भट्ट, वेंगी में सोमेश्वरा प्रथम के प्रतिनिधि थे और उन्होंन तेलुगु *महाभारत* की रचना करने में वेंगी के दरबारी कवि की मदद की। उत्तर और पश्चिम में उन्होंने परामार, चेदि, सिंहरारा और यादवों के खिलाफ सफल अभियानों का नेतृत्व किया।

सोमेश्वरा प्रथम के सबसे बड़े पुत्र भुवनिकामल्ला सोमेश्वरा 1068 सी.ई. में अगले शासक बने। अपने शासनकाल के दौरान वह लगातार वेंगी चालुक्यों व सूदूर दक्षिण के चोलों की बढ़ती शक्ति को दबाने में लगे रहे। अगले शासक विक्रमादित्य VI ने अपने राज्याभिषेक (26 फरवरी, 1077 सी.ई.) से चालुक्य विक्रम-वर्ष के रूप में ज्ञात एक नए युग का उद्घाटन किया। उसने लता और मालवा में तीन बार सैन्य अभियानों का नेतृत्व किया ताकि उसके राज्य के उत्तरी मोर्चे को सुरक्षित किया जा सके। उसने श्रीलंका के शासक विजयबाहु के पास एक सौहार्दपूर्ण दूत भेजा। विजयबाहु कुलोटंग प्रथम का विरोधी था। उसने वेंगी क्षेत्र में अपना विस्तार किया। उन्होंने कांची के लिए एक अभियान का नेतृत्व किया और कुलोटंग प्रथम को भागने के लिए मजबूर किया। वेंगी के ऊपर चालुक्य अधिपत्य को बहाल किया। परिणामस्वरूप उनके कई शिलालेख वेंगीदेश में पाए गए हैं।

दक्षिण में डोरसमुद्र के होयसाल शक्तिशाली हो रहे थे और वे चोलों और चालुक्यों के खिलाफ सफल युद्ध कर रहे थे। हालांकि उन्हें 1122 सी.ई. में हलासुरू और होसाविडु में पराजित होने के बाद चालुक्यों का अधिपत्य स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ा। विक्रमादित्य VI विद विद्या और कला के महान संरक्षक थे। कश्मीर से पलायन कर चुके बिल्हण एक प्रख्यात विद्वान थे, जिन्होंने *विक्रमांकदेवचरित्र* और विग्ननेश्वरा ने *मिताक्षरा,* हिन्दू कानून पर एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। दोनों ने विक्रमादित्य VI और उनकी राजधानी, कल्याण की महिमा का गायन किया। उसके बाद उसका पुत्र सोमेश्वरा द्वितीय राजगद्दी पर 1127 सी.ई. में बैठा। उसके पास *सर्वज्ञ-भूप* और *भुलोकामल्ला* की उपाधियां थी। पूर्व उपाधि इंगित करती है कि वह अपार विद्या के व्यक्ति थे। *मनोसोल्लास* (जिसे *अभिलाषीतीर्थ-चिंतामणि* भी कहा जाता है) नामक एक मूल्यवान विश्वकोष साहित्यिक रचना के लिए उन्हें श्रेय दिया जाता है। वह एक शांतिप्रिय शासक था और राजधानी से बाहर नहीं जाता था।

सोमेश्वरा तृतीय के बाद उनका पुत्र जगदेकामल्ला द्वितीय राजगद्दी पर 1139 सी.ई. में आसीन हुआ। उन्हें *पेर्मा* और *त्रिभुवनमल्ला पेरमादिदेव* भी कहा जाता था, अपने उत्तरी अभियानों में उन्हें होयसाल द्वारा सहायता प्रदान की गयी थी। हालांकि उन्हें दक्षिण में होयसाल की बढ़ती शक्ति, पूर्व में काकतीय और उत्तर में सेवुणाओं से संघर्ष करना

पड़ा। गोवा के कदंब भी स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे थे। हालांकि चालुक्य सेनापतियों ने अधीनस्थ शासकों को सफलतापूर्वक वश में कर लिया और चालुक्यों की प्रतिष्ठा को बहाल किया।

जगदेकामल्ला द्वितीय का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई त्रिलोकवमल्ला तैल III था। इस समय तक चालुक्य शक्ति का पतन शुरू हो गया था। उनके सामंत शक्तिशाली बन कर उभर रहे थे। कलचुरी बिज्जला द्वितीय जो राजा सोमेश्वरा III के भतीजे और जगदेकामल्ला II के चचेरे भाई थे, इस समय *महामंडलेश्वर* के रूप में काम कर रहे थे। वह बहुत शक्तिशाली बन चुका था। उसने कई सामंतों को अपने पक्ष में किया और चालुक्यों की राजधानी पर एक मजबूत पकड़ स्थापित की। 1157 सी.ई. के चिक्कालिगे से प्राप्त बिज्जला द्वितीय का एक अभिलेख तैल द्वितीय का उल्लेख नहीं करता। हवेरी में खोजे गए उसी वर्ष के बिज्जला के एक अन्य शिलालेख में उन्हें *महाराजाधिराज भुजाबल चक्रवर्ती कलचुर्या बिज्जलादेव* के रूप में वर्णित किया गया है। और अंत में बिज्जला द्वितीय ने स्वयं को 1162 सी.ई. में पूरे चालुक्य साम्राज्य का सम्राट घोषित किया। कलचुरी अंतराल 22 साल (1162-1184 सी.ई.) तक चला। सोमेश्वरा IV जिन्हें उनके पिता तैल III द्वारा राजा घोषित किया गया था, लेकिन जिन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण भागना पड़ा, एक बार फिर सत्ता में आए और चालुक्य शक्ति को पुनः जीवित किया। बनवासी, चालुक्य सोमेश्वरा चतुर्थ का मुख्य क्षेत्र बना और वर्दा के कुछ हिस्से 1183-84 में उसके अधीन थे। 1200 सी.ई. के आस पास इस क्षेत्र में चालुक्य शक्ति कमजोर हो गई, और कर्नाटक मुख्य रूप से देवगिरी के सेवुण, दोरासमुद्र के होयसाल के बीच सत्ता के संघर्ष का एक क्षेत्र बन गया।

4.7 कल्याण के चालुक्यों के तहत् संस्कृति

चालुक्य साम्राज्य में कई श्रेणियों की व्यापार गतिविधियां फल-फूल रही थी। सबसे ध्यान देने योग्य अय्यावोल 500 की श्रेणी थी। इसकी उत्पत्ति बादामी के चालुक्यों की राजधानी एहोल में हुई थी। यह कल्याण के चालुक्यों के समय तक पूरे दक्षिण भारत में अपनी गतिविधियों का प्रसार कर रही थी। उन्होंने भूमि अनुदानों में भाग लिया और इनमें से कुछ अनुदानों में राजा दाताओं में से एक था। उनके शासक राजाओं के साथ घनिष्ठ संबंध थे और उन्होंने कई मंदिरों के निर्माण में मदद की। अन्य श्रेणियां नानादेसी और वीर बनंजु की थी।

बादामी के चालुक्यों द्वारा शरू की गई वास्तुकला कल्याण के चालुक्यों के अंतर्गत और तेजी से अग्रसर हुई। नारायणपुर, शिवपुर, जलसंगी और मैलारा (वर्तमान खानापुर) बीजापुर में कुछ ऐसे स्थान है जहाँ उनके मंदिर बचे हैं। इटगी, कुरवन्ती, लकुमदी, बल्लीगाँव, गडग, दमबल, बेगाली और चंदनपुर ऐसे उल्लेखनीय स्थान है जहाँ इस वंश के सुंदर मंदिर उपस्थित है। मंदिरों को कई मदनिके (पाख आकृतियाँ), महाकाव्यों और पंचतंत्र के दृश्यों से सजाया गया था। कई प्रतिमाएं शिव, वीरभद्र, भैरव, दुर्गा और काली की हैं। ध्यान मुद्रा में और नटराज के रूप में लौकिक नृत्य की मुद्रा में शिव की कुछ बहुत प्रभावशाली छवियां भी गढ़ी गई। कई *अग्रहार, ब्रह्मपुरी, घटिका* स्थल और मठ, कल्याण, भालुंके (भलकी) और गोर्टा में विद्या सीखने के स्थानों के रूप में उभरें, जो राजाओं, महानुभावों, व्यापारियों और व्यापारी-संघों द्वारा संरक्षित थे। उन्होंने विद्या की विभिन्न शाखाओं में शिक्षा प्रदान की और वे पुस्तकालयों, अन्न ग्रह और आवासीय सुविधाओं से लैस थे। कल्याण के चालुक्यों के राज्य काल के दौरान संस्कृत और कन्नड़ साहित्य पनपा। इस अवधि के दौरान कन्नड़ के साहित्यकारों में, पंपा रन्ना, दुर्गसिन्हा, नागवर्मा शामिल थे। संभवतः जयसिम्हा द्वितीय के मंडलीकों में से एक माचीराजा ने एक ब्राह्मण कवि, चन्नाराजा को संरक्षण प्रदान किया जिन्होंने *मदनतिलक* की रचना की। कन्नड़ लिपि को और परिष्कृत किया गया और

इसने सुंदर गोल आकार प्राप्त किया। बहुत से लोगों ने लिखना शुरू किया और इसके परिणामस्वरूप वाचन साहित्य के बड़े निकाय का उत्पादन किया गया, जिसे वाचन-शास्त्र के रूप में देखा जाने लगा। ये पेशेवर लेखक नहीं थे जो शाही संरक्षण प्राप्त कर रहे थे, लेकिन जीवन के सभी क्षेत्रों से थे और जिन्होंने समाज के पुनर्निर्माण में मदद करने के लिए लिखा।

इस अवधि के दौरान प्रचलित शैव धर्म के विभिन्न संप्रदाय जैसे कि पशुपति, लकुलिसा और कलमुख वीरशैववाद की मुख्य धारा में शामिल हो गए। यह कुछ नए मानवीय मूल्यों के आधार पर आमूल-चूल परिवर्तन लाने और समाज के पुनर्निर्माण के लिए एक जन-आंदोलन था। इस आंदोलन का नेतृत्व बसवन्ना (बसवा, बसवेश्वरा, बसवेश, बसवराज और बसवदेव) ने किया और संत अल्लमा प्रभु, सिद्धाराम, मडिवल मचैच्या जैसे अन्य प्रतिष्ठित लोगों ने इसमें भाग लिया। बसवन्ना और उनके साथियों ने समाज का जातियों और उपजातियों के रूप में विभेदिकरण के खिलाफ आवाज उठाई। उन्होंने इसकी विशेषताओं जैसे अस्पृश्यता की निंदा की। उन्होंने भाषा और क्षेत्रीय भाषा में उपदेशों के द्वारा सभी लोगों के लिए ज्ञान के खजाने के द्वार खोल दिए। उन्होंने उसी का पालन किया जिसकी वो शिक्षा दे रहे थे। उन्होंने शिव शब्द का उपयोग परम् शक्ति के लिए किया न कि त्रिमूर्ति या देवताओं के अर्थ में। उन्होंने उन लोगों का वर्णन किया जो केवल संसारिक मामलों में भाव (सांसारिक) के रूप में भक्तों (आध्यात्मिक प्रवृत्ति के) से अलग थे। वे पुजारियों, पाखंड, शोषण और असमानताओं के विरोधी थे और दृढ़ता से समतावाद का प्रचार करते थे। सनातन धर्म के व्यापक ढांचे में रहते हुए, प्रतिवादी आंदोलन की गति आगे बढ़ी। कई वीरशैव मठो ने समाज के कमजोर वर्गों के बीच शिक्षा को बढ़ावा दिया और सामाजिक और धार्मिक सुधारों के कार्यक्रमों को लागू करने में मदद की। के. ए. नीलकंठ शास्त्री के अनुसार इन सुधारवादी आंदोलनों ने विजयनगर साम्राज्य की नींव रखी। यह 13वीं शताब्दी के महाराष्ट्र के महानुभावियों, 14वीं शताब्दी के रामानन्द और कबीर और 15वीं शताब्दी के गुरू नानक के सुधारवादी आंदोलनों के अग्रदूत थे। विजयनगर काल के दौरान, आंदोलन ने गति पकड़ी और पुर्नजागरण हुआ।

बोध प्रश्न 3

1) चालुक्य राजाओं के सैन्य उपलब्धियों की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

2) कल्याण के चालुक्यों के तहत संस्कृति पर एक नोट लिखे।

.....

.....

.....

.....

4.8 सारांश

कावेरी डेल्टा में केन्द्रित, तमिल बृहत् क्षेत्र में चोल सबसे शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरे। भूमि अनुदान की प्रथा इस दौरान तेज हो गई। इस इकाई में हम कुछ ऐसे शब्दों

से परिचित हुए जो अभिलेखों में पाए जाते है जैसे *नट्टर, ब्रह्मदेय, पल्लीच्छंदम, देवदान* आदि। हमने कृषि अर्थव्यवस्था के संस्थागत ढांचे में उनके प्रभाव का भी अध्ययन किया। *नाडु, उर, नगरम* की मुख्य विशेषताओं पर भी ध्यान दिया गया। बाद में इकाई में हमने कल्याण के चालुक्यों के सैन्य कारनाओं का भी अध्ययन किया। उनके शासनकाल के दौरान और बाद में कलचुरियों के तहत, कई सांस्कृतिक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई। कलचुरी अंतराल के दौरान वीरशैव आंदोलन अस्तित्व में आया और इसने जाति व्यवस्था पर हमला किया और समानता को बढ़ावा दिया। इसने दूर-दूर से अनुयायियों को आकर्षित किया।

4.9 शब्दावली

उर : एक दक्षिण भारतीय गाँव

नाडु : प्रारंभिक मध्य युगीन भारत में कई बस्तियों को मिलाकर बना इलाका

नगरम : प्रारंभिक मध्य युगीन दक्षिण भारत में बाजार या वाणिज्यिक केन्द्र

नगरट्टर : *नगरम* का वाणिज्यिक संगठन

नट्टर : प्रारंभिक मध्य युगीन दक्षिण भारत में *नाडु* के प्रमुख पुरुष।

मडांपिका : विनिमय का स्थानीय स्थल, छोटे आवधिक बाजारों और बड़े व्यापार स्थलों के बीच।

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 4.2 को देखें।

2) उप-भाग 4.2.1 को देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 4.3 देखें।

2) भाग 4.4 देखें।

3) भाग 4.4 देखें।

4) भाग 4.5 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 4.6 देखें।

2) भाग 4.7 देखें।

4.11 संदर्भ ग्रन्थ

बिदर डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर 1977.

शास्त्री, नीलकंठ के. ऐ. (1958). *ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया फ्रॉम प्रिहिस्टोरिक टाईम्स द फॉल ऑफ विजयनगर.* ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रैस.

शास्त्री, नीलकंठ के. ऐ. (1975). *द चोलाज. मद्रास* : युनिवर्सिटी ऑफ मद्रास प्रैस.

इकाई 5 कला और वास्तुकला : उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत*

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 मंदिर स्थापत्य

- 5.2.1 प्रमुख शैलियां
- 5.2.2 प्रमुख देवी-देवता
- 5.2.3 मंदिरों के आकार, योजना और स्थापत्य भाषा शैली
- 5.2.4 पारिस्थितिकी, निर्माण सामग्री और क्षेत्रीयता
- 5.2.5 अलंकरण के स्वरूपों की भूमिका

5.3 भवन योजना और निर्माण

5.4 कालक्रमानुसार और भौगोलिक आधार पर मंदिरों का विस्तार

- 5.4.1 उत्तरी शैली
- 5.4.2 दक्षिणी शैली
- 5.4.3 वेसर शैली

5.5 मंदिर और भारतीय सांस्कृतिक लोकाचार

5.6 मूर्तिकला : पत्थर और धातु की मूर्तियां

5.7 चित्रकला, मिट्टी की मूर्तियां और ''मध्यकालीन प्रभाव''

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.11 संदर्भ ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे :

- स्थापत्य की शैलियों का विकास;
- विभिन्न मंदिरों को वर्गीकृत करने का आधार;
- स्थापत्य-संबंधी शब्दावली;
- पत्थर और धातु की मूर्तिकला में स्थानीय शैलियों का उदय;
- मध्ययुगीन घटक के बीच संबंध – सामंती लोकाचार और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का प्रसार।

* यह इकाई ई.एच.आई.– 03, खंड 2, इकाई 7 से ली गई है।

5.1 प्रस्तावना

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के निर्माण की दृष्टि से 8वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के बीच के समय का अपना अलग महत्व है। इस काल में सभी क्षेत्रों में प्रादेशिकता का जन्म हुआ। चाहे राजनीतिक शक्ति का निर्माण हो, चाहे कला के विकास का मामला हो, भाषा और साहित्य का क्षेत्र हो या धर्म का, प्रत्येक विषय में प्रादेशिकता का रंग मिल गया। समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि महत्वपूर्ण भौतिक परिवर्तनों के कारण आंध्र प्रदेश, असम, बंगाल, गुजरात, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, उडीशा, राजस्थान, तमिलनाडु आदि क्षेत्र सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में उभरे। कृषि और गैर-कृषि क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों से सामंती व्यवस्था का सामाजिक-आर्थिक आधार निर्मित हो रहा था। इन गतिविधियों से राजनीतिक ढांचा भी अप्रभावित नहीं रहा। इन परिवर्तनों के कारण सांस्कृतिक लोकाचार भी प्रभावित हुआ।

पांचवी शताब्दी में विशाखदत्त रचित संस्कृत नाटक *मुद्राराक्षस* में विभिन्न प्रदेशों के अलग रीति-रिवाज़ों, पहनावे और भाषा का उल्लेख मिलता है। चीनी तीर्थयात्री ह्वेन त्सांग सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत आया था, उसने कई उप-राष्ट्रीयताओं की चर्चा की है। आठवीं शताब्दी के जैन ग्रंथ *कुवलयमाला* में मुख्य रूप से पश्चिमी भारत की चर्चा की गई है। इसमें 18 प्रमुख राष्ट्रीयताओं और 16 तरह के लोगों की मानवीय विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इस क्रम में उनकी मनोवैज्ञानिक बनावट और भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। तेरहवीं शताब्दी बंगाल के *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में ''देशभेद'' का उल्लेख मिलता है। इसका अर्थ है – विभिन्न प्रदेशों/राज्यों की विभिन्नता। यह गुण कला और वास्तुकला में भी परिलक्षित होता है। विभिन्न क्षेत्रीय परंपराओं का उद्भव हुआ और इस समय के दौरान अलग-अलग स्थापत्य शैलियों, जैसे की *नागर, द्रविड़* और *वेसर* परिपक्व हुए। आइए हम विभिन्न प्रकार की स्थापत्य-शैलियों और कला-परंपराओं का अध्ययन कर अपना सर्वेक्षण शुरू करें।

5.2 मंदिर स्थापत्य

हज़ारों वर्षों से भारतीय मंदिर लोगों की जीवन शैली के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते आ रहे हैं। संपूर्ण भारत में भौगोलिक और विभिन्न कालों के भारतीय मंदिरों पर विचार करने से एक समग्र दृश्य उपस्थित होता है। पांचवी शताब्दी में सांची में एक साधारण-सा मंदिर निर्मित हुआ। उसके बाद मंदिर स्थापत्य तेजी से विकसित हुआ। कांची, तंजावुर और मदुरै में बने भव्य मंदिर इसके प्रमाण हैं। परन्तु यह विकास एकाएक नहीं हुआ, बल्कि यह हज़ारों वर्षों की विकास-यात्रा का परिणाम है।

मंदिर स्थापत्य से सम्बद्ध प्रमुख शिल्पशास्त्र निम्नलिखित हैं :

मयमतम, मनसार, शिल्परत्न, कमिकागम, कश्यपशिल्प और ईशानगुरूदेवपद्धति।

इन सभी ग्रंथों में तीन बातों का ध्यान रखा जाता था :

- भौगोलिक विभिन्नता
- आकार के आधार पर विभिन्नता
- उनके प्रमुख देवी-देवता और जाति

इन सभी शास्त्रों में उपर्युक्त सारे विषयों का उल्लेख नहीं हैं। कामिकागम और कश्यपशिल्प जैसे बाद के ग्रंथों में इस बात का उल्लेख भी मिलता है कि विभिन्नता का मुख्य आधार अलंकरण का स्वरूप, विभिन्न तल या मंजिलें और प्रासाद का आकार आदि होता था।

5.2.1 प्रमुख शैलियां

प्राचीन ग्रंथों में भारतीय मंदिर स्थापत्य को तीन कोटियों में विभाजित किया गया है। *नागर, द्रविड़* और *वेसर* जैसे नाम मंदिरों के आकार-प्रकार और भौगोलिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। *नागर* शैली के मंदिर चौकोर आकार के होते थे, *द्रविड़* शैली में मंदिर अष्टकोणीय होते थे और *वेसर* शैली के मंदिर अर्द्धगोलाकार होते थे। इनके तल रेखा चित्र संरचना के ऊर्ध्वाधर रूपरेखा को भी नियंत्रित करते है। *नागर* और *द्रविड़* शैली के मंदिर आमतौर पर उत्तरी और दक्षिण मंदिर शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पूरे उत्तर भारत में, हिमालय की तलहटी से लेकर दक्कन के मध्य पठार तक, उत्तर भारतीय शैली के मंदिर मिलते हैं। इसके बावजूद इनमें कुछ क्षेत्रीय विभिन्नता भी पाई जाती है। *अपराजितपृच्छ* नामक ग्रंथ में *नागरी* (*नागर*) शैली को मध्य देश (मोटे तौर पर गंगा-यमुना के मैदानी इलाका) की शैली कहा गया है; इसी प्रकार *लाटी* और *वैराटी* गुजरात और राजस्थान प्रदेशों की शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उडीशा के स्थानीय अभिलेखों में उडीशा मंदिर शैली के चार प्रमुख रूपों का उल्लेख मिलता है। ये हैं : *रेखा, भद्र, खाखर* और गौदिया।

द्रविड़ या दक्षिण शैली में अपेक्षाकृत एकरूपता होती है। कृष्णा नदी और कन्याकुमारी के बीच के इलाकों में इसी शैली का बाहुल्य है। *वेसर* शैली का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। कुछ ग्रंथ इस शैली का विस्तार विंध्य और कृष्णा नदी के बीच के इलाकों में मानते हैं, जबकि कुछ ग्रंथ इसका फैलाव विंध्य और अगस्त्य के बीच मानते हैं। अगस्त्य किस जगह स्थापित था इसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

वस्तुस्थिति यह है कि *नागर* शैली के मंदिर दक्षिण में धारवाड़ (कर्नाटक) में भी मिलते हैं और *द्रविड़* शैली के मंदिर उत्तर में एलोरा (महाराष्ट्र) में भी बने हैं। अतः इन शैलियों को भौगोलिक सीमा में बांधना बहुत संगत नहीं है। कुछ विशेष कालखंड में विभिन्न प्रदेशों की शैलियां एक-दूसरे में घुल-मिल गई हैं। मसलन, सातवीं-आठवीं शताब्दी में चालुक्य राज्य के मंदिर जो उपमहाद्वीप के बिल्कुल बीच में अवस्थित थे। खजुराहो का कंदरिया महादेव मंदिर विभिन्न शैलियों का सुंदर समुच्चय है। इसी प्रकार, केरल के मंदिरों में योजनागत कई विभिन्नताएं पाई जाती हैं। इनमें चौकोर, गोल और अर्द्धगोलाकार इमारतों का उपयोग किया गया है। केरल में मंदिरों का निर्माण बारहवीं शताब्दी में शुरू हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) ऐसे छः ग्रंथों का नाम बताएं जो मंदिर स्थापत्य से संबंधित हैं।

.....

.....

.....

.....

2) भौगोलिक विस्तार सहित तीन मंदिर-निर्माण शैलियों के बारे में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

5.2.2 प्रमुख देवी-देवता

मंदिरों में केवल ब्राह्मण धर्म के आराध्य शिव और विष्णु ही स्थापित नहीं हैं, बल्कि देवियों को भी मंदिरों में स्थापित किया गया। वस्तुतः मंदिरों में बड़े और छोटे देवी-देवताओं; परोपकारी तथा अपकारी, स्वर्गिक तथा पार्थिव, वातावरण और स्वर्ग के प्रतिनिधि देवी-देवता; देव और असुर तथा यक्ष, यक्षी, अप्सरा और किन्नर जैसे लोक देवी-देवताओं को आराध्य बनाकर भी मंदिर बने। यह एक रोचक तथ्य है कि इन देवी-देवताओं के वाहन जानवर और पक्षी भी अपनी साधारणता से ऊपर उठकर आराधना के प्रतीक बन गए। शिव का वाहन बैल (नंदी) ईश्वर की यौन शक्ति का प्रतीक बन गया; दुर्गा का वाहन शेर मज़बूत शक्ति और आक्रमण का प्रतीक बन गया। गंगा और यमुना जैसी नदी-देवियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः उनके वाहन घड़ियाल और कछुआ करने लगे। लक्ष्मी का अस्तित्व हाथी, कमल के फूल और पानी से जुड़ गया। इन प्रतीकों के माध्यम से लक्ष्मी न केवल भाग्य की देवी के रूप में अवतरित हुईं, बल्कि कृषीय उत्पादकता की जादुई शक्ति से भी इनका संबंध जोड़ दिया गया। यह धारणा ऋग्वेद काल से ही चली आ रही थी। ''हंस पर आरूढ़ सरस्वती'' सौम्यता और चारूता की देवी बन गईं; वह नीर-क्षीर-विवेक का प्रतिनिधित्व करने लगीं और उनका संबंध शिक्षा तथा अध्ययन से जुड़ गया। *कश्यप शिल्प* के एक अध्याय में इन देवियों को स्थापित करने की शैली का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अनुसार शांत मूर्तियों को *नागर* शैली में स्थापित किया जाना चाहिए; दम्पति देवी-देवताओं को *वेसर* शैली में और शौर्य, नृत्य तथा सुख में लिप्त देवी-देवताओं को *नागर* ढांचे में स्थापित किया जाना चाहिए। परन्तु व्यावहारिक रूप में इन सिद्धांतों का अक्षरशः पालन नहीं किया गया। इसी प्रकार, कुछ ग्रंथों में यह विवरण मिलता है कि *नागर, द्रविड़* और *वेसर* शैलियां क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के साथ सम्बद्ध थीं – इस उल्लेख को भी हूबहू स्वीकार नहीं करना चाहिए।

5.2.3 मदिरों के आकार, योजना और स्थापत्य शैली

प्रत्येक मंदिर शैली की अपनी एक खास तकनीकी शब्दावली थी; कुछ शब्द आम थे परन्तु प्रत्येक शैली में उनका प्रयोग अलग-अलग भागों के लिए किया जाता था। मुख्य उपासना स्थल को विमान कहते हैं जिसमें गर्भगृह स्थित रहता है। विमान के ऊपर के भाग को शिखर कहा जाता है। पूजा करने के लिए बने स्थान को मंडप कहते हैं। विमान, मंडप और प्रदक्षिणापथ को जोड़ने वाले गलियारे को अंतराल कहा जाता है। प्रदक्षिणापथ, गर्भगृह और मंडल के चारों ओर होता था। देवी-देवताओं को चमत्कार और महिमा से मंडित करने के लिए बाद में उडीशा में नटमंदिर (नृत्य का स्थान) और भोग मंदिर जोड़े गए। कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्य मंदिर इसका जीता-जागता उदाहरण है। *नागर* शैली के मंदिर का बाहरी भाग समतल रूप में कई स्तरों पर विभक्त होता था। भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर का जगमोहन (गर्भगृह के सामने का भाग) इसका अच्छा उदाहरण है। विमान ज़्यादातर गोलाकार होते थे। आधारभूत तौर पर उत्तर के ब्राह्मण और जैन मंदिरों में कोई स्थापत्यगत असमानता नहीं थी। जैन मंदिरों में क्रमशः देवी-देवताओं की जगह तीर्थंकरों को व्यापक रूप से स्थापित किया जाता था।

द्रविड़ शैली बहुकोणीय है। इसका शिखर आमतौर पर अष्टकोणीय होता था और ऊंचे विमान आयताकार होते थे। *द्रविड़* शैली के मंदिर अतिरिक्त मंडपों के ऊंचे गोपुरम अर्थात बड़े द्वार के लिए प्रसिद्ध थे। महाबलीपुरम (चेन्नई के निकट) स्थित पल्लव काल (सातवीं शताब्दी) के गणेश रथ से तंजावुर स्थित चोलों (985-1012 सी.ई.) के बृहदेश्वर मंदिर तक *द्रविड़* शैली का लगातार विकास हुआ।

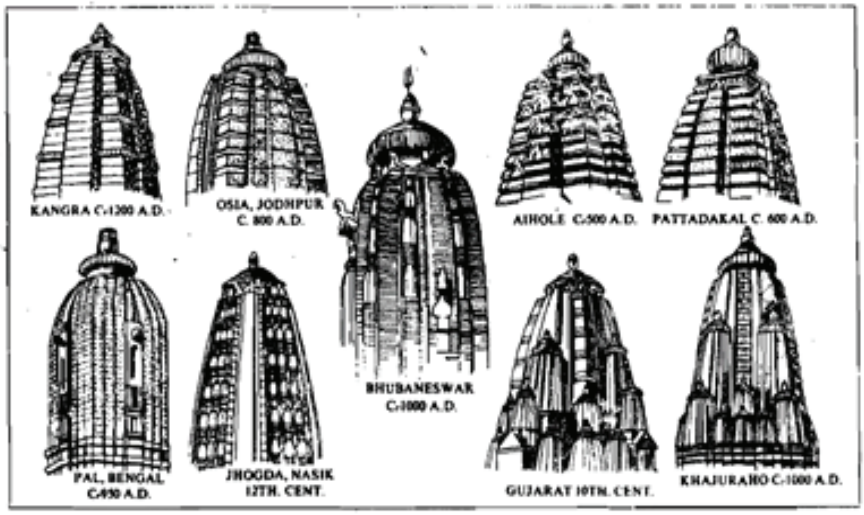

1. **Temple *Shikharas* (Northern Style).**

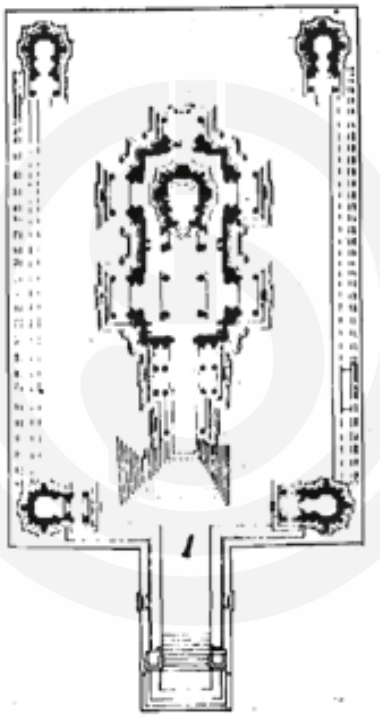

3. **Plan of Lakshmana Temple (Khajuraho, 10th century).**

2. **Shiva and Parvati seated on Nandi (Hinglajgarh 10th century).**

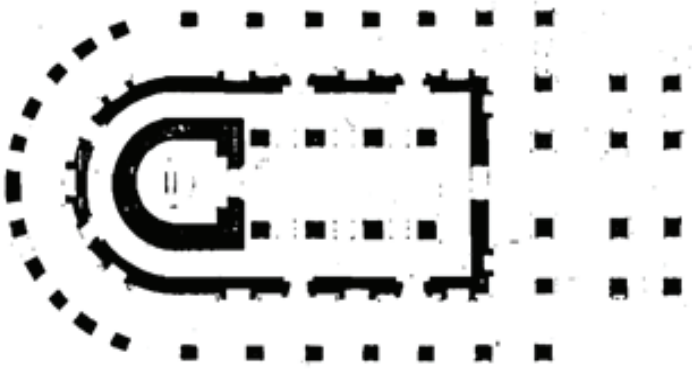

4. **Plan (semi-circular) of Durga Temple (Aihole, 8th century).**

5. Plan (octagonal) of Mundeshvari Temple (Ramgarh, 7th century).

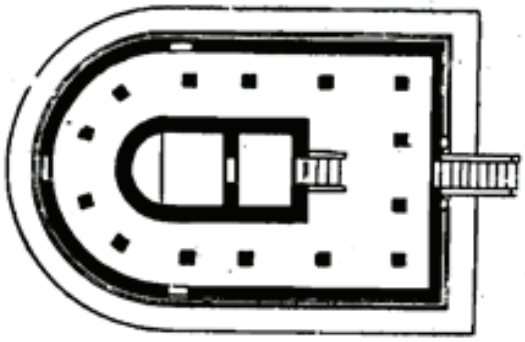

6. Plan (apsidal) of Vamana Temple (Kizhaveliur, 11th century).

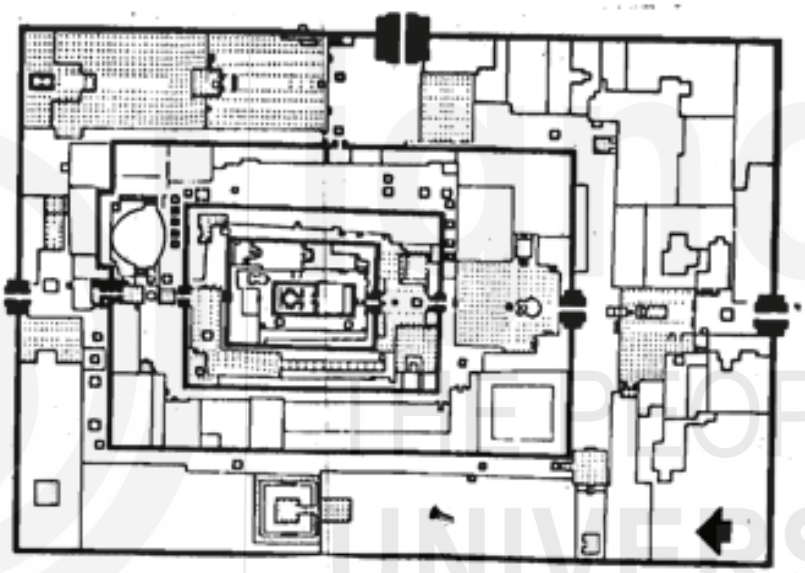

7. Plan of Vishnu Temple (Shirangam).

8. Plan of Lingaraja Temple.

5.2.4 पारिस्थितिकी, निर्माण सामग्री और क्षेत्रीयता

पारिस्थितिकी ने मंदिर स्थापत्य को काफ़ी प्रभावित किया और इसके कारण उसे प्रादेशिक पहचान मिली। भारत के पश्चिमी तट पर और बंगाल में अपेक्षाकृत अधिक वर्षा होती है, इसलिए यहां के मंदिरों की खपरेदार छतें ढलवां हैं जिन पर त्रिकोणिका बनी हुई है। हिमालय क्षेत्र में बर्फ और तूफ़ान से बचाव करने के लिए मंदिरों में लकड़ी की ढलवां छते बनाई गईं आमतौर पर गर्म और सूखे इलाके में छतें सपाट होती थीं; बरामदे खुले और छायादार होते थे। रोशनी के लिए झिल्लीदार पत्थर का उपयोग किया जाता था। ऐहोल (उत्तरी कर्नाटक) में बने चालुक्यों के प्रसिद्ध लाड खान मंदिर में इस प्रकार की कुछ विशेषताएं मिलती हैं। यह लकड़ी और खरपत के गाँवों और सामुदायिक कक्ष का प्रत्यक्ष रूपातंर है। ऊंची पहाड़ियों पर बने होने के कारण जैन मंदिरों का स्थापत्य अलग ढंग का होता था। इनके ढांचे में अकेलेपन और एकांत का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। इस प्रकार के कुछ मंदिरों के उदाहरण गुजरात की शत्रुंजय और पालीताना पहाड़ियों पर मिल जाएंगे। दक्षिण राजस्थान में माउंट अबू पर स्थित दिलवाड़ा मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है।

पारिस्थितिकी के अलावा भवन निर्माण के लिए उपलब्ध कच्चे-माल के कारण भी मंदिर शिल्प प्रभावित हुआ। तीसरी शताब्दी बी.सी.ई. में मौर्य काल के दौरान भवन के निर्माण के लिए लकड़ी के स्थान पर पत्थर का इस्तेमाल किया जाने लगा। भवन निर्माण के क्षेत्र में यह एक बड़ी उपलब्धि थी। परन्तु कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धि से क्षेत्रीय शैलियां काफ़ी प्रभावित हुईं, इससे मंदिर के निर्माण और नक्काशी पर भी प्रभाव पड़ा। पल्लव राजा महेंद्रवर्मन (सातवीं शताब्दी का आरंभ) को विचित्रचित्र (जिज्ञासु प्रवृत्ति का) कहा जाता था; उन्होंने ईंट, लकड़ी और गारा के स्थान पर पत्थर (कड़े स्फटिक पत्थर) का उपयोग करवाना शुरू किया। महाबलीपुरम में उनके द्वारा बनवाए गए मंदिर इसका प्रमाण हैं। कड़े पत्थरों पर नक्काशी कम हुई, जबकि मुलायम पत्थरों पर नक्काशी की मात्रा अधिक पाई जाती है। बेलूर और हलेबिड (कर्नाटक) स्थित बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के होयसल शिल्पियों और कारीगरों ने भुरभुरी और परतदार चट्टानों का उपयोग किया तथा नक्काशी को प्रोत्साहन दिया। जहाँ अच्छे पत्थर उपलब्ध नहीं थे वहां ईंटों का उपयोग भी होता रहा। ईंट की ढलाई और नक्काशी की तकनीक से इन इलाकों का मंदिर स्थापत्य भी प्रभावित हुआ। बंगाल में बिष्णुपुर स्थित मंदिर इसका प्रमाण है। उत्तर-पूर्वी राज्य असम में मंदिर स्थापत्य में लकड़ी और बांस की तकनीक का सुंदर उपयोग मिलता है। हिमालय की घाटी में कुल्लू, कांगड़ा और चंबा में पत्थर से बने मंदिर नहीं मिलते। यह स्पष्ट है कि इन इलाकों में मंदिर-निर्माण के लिए ईंट और लकड़ी का उपयोग होता था। कश्मीर के पत्थर से बने मंदिरों में ढलवां और तिकोनी छतें हैं। इस तरह के लकड़ी के बने मंदिर हिमालय की घाटी में पाए जाते हैं। कांगड़ा घाटी के मसरूर में हुई खुदाई में नवीं शताब्दी या उसके आसपास का बना एक बहुमंजिला मंदिर मिला है।

5.2.5 अलंकरण के स्वरूपों की भूमिका

विभिन्न शैलियों में सजावट, अलंकरण और अन्य सज्जा का समावेश स्वाभाविक प्रक्रिया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मंदिर के आधारभूत स्थापत्य पर इस अलंकरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। स्तंभों के उदाहरण के जरिए विशिष्ट सजावटी तत्वों के विकास को समझा जा सकता है। आरंभिक पल्लव काल के मंदिरों के आयताकार स्तंभों से होयसल मंदिरों में बारीक छेनी (लगभग खराद के काम की छाप) से काम किए हुए मंदिर के स्तंभों का विकास हुआ है।

मदुरै और रामेश्वरम में बने बाद के मंदिरों में लंबे गलियारे हैं, जिसके स्तंभों पर मदनिका पर जानवरों के चित्र उकेरे गए हैं। ताक, पैविलियन और घोड़े के नाल के आकार की खिड़कियां (कुडु) अलंकरण के प्रमुख प्रकार थे। इनसे अलंकरण के विकास के निर्धारण में सहायता मिली है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अलंकरण की प्रवृत्ति लगातार बढ़ती गई। उदाहरण स्वरूप, महाबलिपुरम के कुडु का शीर्ष सादा बेलचे के आकार का है, जबकि चोल मंदिर में शीर्ष पर शेर के सर की आकृति है। उत्तर.भारत में भी अलंकरण की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी। शिखर, अंदरूनी छतों और दीवारों पर विशेष रूप से नक्काशियां की गईं। माउंट अबू स्थित दिलवाड़ा जैन मंदिर की अंदरूनी छतों पर अति सुंदर नक्काशी की गई है। किंतु इस अलंकरण का स्थापत्य की दृष्टि से उपयोग नहीं है और यह विशुद्ध रूप से अलंकरण का उदाहरण है।

मालाबार, बंगाल और पूर्वी तथा पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के मंदिर बहुमंजिले हैं। एक के बाद एक छतों के निर्माण को अक्सर इन मंदिरों की विशेषता के रूप में देखा जाता है। पश्चिमी तट या मालाबार के मंदिर की दीवारें लकड़ी की पटरियों से बनाई जाती थीं। चौदहवीं शताब्दी के पत्थर के बने मंदिर भी मिले हैं। इस प्रकार के मंदिरों (मसलन, त्रिचर का वडकुनाथन मंदिर – 15वीं-16वीं शताब्दी) में या तो सामान्य प्रकार की छत होती थी, जिनमें एक के ऊपर एक पत्थर के टुकड़े लगाए जाते थे या एक के ऊपर एक छतों का सिलसिला होता था। चीन और नेपाल में भी इसी प्रकार की छतें देखने को मिलती हैं।

पश्चिमी हिमालय की कश्मीर घाटी में मंदिरों की दो-तीन छतें होती थीं जो लकड़ी की छतों की नकल है। लकड़ी की छतों के बीच का स्थान रोशनी और हवा के लिए खुला छोड़ दिया जाता था। पत्थर से बने मंदिरों में इस खुले स्थान को अलंकृत कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, छतों पर खिड़कियां होती थीं। इस प्रकार की खिड़कियों का उपयोग मध्यकालीन यूरोपीय स्थापत्य में भी किया जाता था। कश्मीर में इस प्रकार की छतें पंडरेथन के शिव मंदिर और मार्तण्ड के सूर्य मंदिर में मिलती हैं। बंगाल के मंदिर स्थानीय पत्रों से बने झोपड़ों के प्रतिरूप हैं। गुफाओं की तर्ज पर बने इन मंदिरों में एक के बाद एक छतें देखने को मिलती हैं। विष्णुवीर स्थित केशतराय/केश्टाराय मंदिर (17वीं शताब्दी) में चौकोर और आयताकार छतों की योजना की गई है। यहां तक कि समकालीन मुग़ल स्थापत्य में भी ''बंगाल छत'' का उपयोग संगमरमर या बलुआ पत्थर में किया जाता था।

5.3 भवन योजना और निर्माण

मंदिर का निर्माण सुसंगठित योजना के तहत होता था। ईंटें या तो निर्माण-स्थल पर ही पकाई जाती थीं या उसके बगल में यह कार्य सम्पन्न होता था। चट्टान और पत्थर आसपास के इलाकों से लाए जाते थे। मंदिरों में उत्कीर्ण चित्रों और एक भोज-पत्र पर लिखे आलेख से विश्व प्रसिद्ध कोणार्क के सूर्य मंदिर के भवन की निर्माण योजना का पता चला है। इसके अनुसार खान से पत्थर लकड़ी के पहियों पर लाद कर या नाव पर नदियों के जरिए लाए जाते थे, इन्हें हाथी खींचते थे। निर्माण-स्थान पर राज-मिस्त्री पत्थरों की कटाई-छंटाई करते थे, बाद में उन्हें रस्सियों के सहारे ढांचे में लगा दिया जाता था। ढांचे को खड़ा करने के लिए लकड़ी के बल्लों और चूने का उपयोग किया जाता था। तंजावुर के बृहदेश्वर मंदिर का विशाल शिखर इसका एक सुंदर नमूना है। इस शिखर का वज़न 80 टन है और आम धारणा यह है कि इसका निर्माण अपने वर्तमान निर्माण स्थल से सात किलोमीटर दूर सरपल्लम (इसका शाब्दिक अर्थ है गड्डे से उठान) में किया गया था; 200 फुट की ऊंचाई पर स्थित इस शिखर के पत्थर को एक उठान वाली सतह पर खिसकाया गया था। अक्सर गर्भगृह और कक्ष में लोहे की शहतीर/धरनी/कड़ी का उपयोग किया जाता था। कोणार्क के मंदिर इसके प्रमाण हैं। मंदिरों के निर्माण में लगे स्थापत्यकार,

शिल्पी और मजदूर श्रेणियों के रूप में संगठित थे। कोणार्क मंदिर के अभिलेख में मजदूर और उनकी मजदूरी, काम के नियमों और विभिन्न इमारतों के बनाए जाने की प्रक्रिया का उल्लेख मिला है। कहीं-कहीं पत्थर में की गई नक्काशी में भी उनका उल्लेख मिलता है, मसलन 11वीं शताब्दी में बने खजुराहो के प्रसिद्ध, भव्य मंदिरों की दीवारों पर पत्थर काटते, छेद करते, मजदूरों और मंदिर-निर्माण के लिए पत्थर ढोये जाने के दृश्य अंकित हैं।

5.4 कालक्रमानुसार और भौगोलिक आधार पर मंदिरों का विस्तार

इस भाग में हम कालक्रमानुसार और भौगोलिक स्थिति के अनुसार प्रमुख मंदिरों की चर्चा करेंगे।

5.4.1 उत्तरी शैली

उत्तरी, मध्य और पश्चिमी भारत में (पांचवी से सातवीं शताब्दी)

नचना (खजुराहो के दक्षिण-पूर्व, मध्य प्रदेश) का पार्वती मंदिर; देवगढ़ (झांसी जिला, उत्तर प्रदेश) का दशावतार मंदिर; भीतरगांव (कानपुर जिला, उत्तर प्रदेश) का ईंट मंदिर, गोप (गुजरात) का विष्णु मंदिर; रामगढ़ (बिहार) का मुंडेश्वरी मंदिर (यह अष्टकोणीय योजना का उदाहरण है); और जीगावा/जीगवा और सांची (मध्य प्रदेश) के मंदिर।

दक्कन और मध्य भारत (छठी से आठवीं शताब्दी)

एलोरा (महाराष्ट्र के औरंगाबाद के निकट), एलीफेंटा (मुंबई के निकट) और बादामी (उत्तरी कर्नाटक) के गुफा मंदिर; बादामी (उत्तरी कर्नाटक) आरंभिक चालुक्य मंदिर, ऐहोल (लाड खान मंदिर) और पत्तदकल (पापनाथ और गलगनाथ (ळंसंहदंजीं) मंदिर)।

पश्चिमी और मध्य भारत (आठवीं से तेहरवीं शताब्दी)

ओसियन/ओसियान (जोधपुर के उत्तर में, राजस्थान) हरिहर व अन्य मंदिर; जेलिका मंदिर (ग्वालियर), खजुराहो के चंदेल मंदिर (खासकर लक्ष्मण, कंदरिया महादेव और विश्वनाथ मंदिर), रोड़ा मंदिर (मोढेरा के दक्षिण, गुजरात), मोढेरा (गुजरात); का सूर्य मंदिर और माउंट अबू (राजस्थान) स्थित संगरमर के बने जैन मंदिर।

पूर्वी भारत (आठवीं से तेरहवीं शताब्दी)

परशुरामेश्वर वेताल/वैताल देवल, मुक्तेश्वर, लिंगराज और राजरानी मंदिर (सभी भुवनेश्वर स्थित); कोणार्क (उडीशा) का सूर्य मंदिर और पुरी (उडीशा) का जगन्नाथ मंदिर।

हिमालय क्षेत्र (आठवीं शताब्दी से आगे)

मार्तण्ड स्थित सूर्य मंदिर; पंडरेथन स्थित शिव मंदिर और अवेंतस्वामिन स्थित विष्णु मंदिर (सभी कश्मीर में); मसरूर (कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश) स्थित मंदिर; नेपाल के ब्राह्मण मंदिर (काठमांडु, पाटन और भदगांव।

5.4.2 दक्षिणी शैली

दक्कन और तमिलनाडु (छठी से दसवीं शताब्दी): महाबलिपुरम (चेन्नई के निकट) स्थित पल्लवों द्वारा निर्मित गुफा मंदिर; रथ और समुद-तट मंदिर, कांचीपुरम (चेन्नई के निकट) स्थित वैकुंठपेरूमल और कैलाशनाथ मंदिर; ऐहोल (मेगुती मंदिर), बादामी (मालगिट्टी/

मालेगिट्टी शिव मंदिर) और पत्तदकल (विरूपक्ष/वीरुपक्ष्ज्ञ मंदिर) चालुक्यों के मंदिर और राष्ट्रकूटों के संरक्षण में बना एलोरा स्थित कैलाश मंदिर।

कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल (दसवीं से सत्रहवीं शताब्दी)

तंजावुर और गंगैकोंडचोलपुरम स्थित चोलों के बृहदेश्वर मंदिर; बेलूर, हलेबीडु और सोमनाथुपरा (सभी कर्नाटक में) स्थित होयसलों के मंदिर; कर्नाटक (लक्कुंडी और गडग) स्थित बाद के चालुक्यों के मंदिर; विजयनगर में पांड्यों/पंपति का पंपती मंदिर, श्रीरंगम (त्रिचिनोपोली के निकट, तमिलनाडु) और मीनाक्षी मंदिर (मदुरै, तमिलनाडु); कट्टिलमडम (Kattilmadam) मंदिर (चालपुरम [Chalpuram] जिला पालघाट, केरल) और तिरूवल्लम (त्रिवेंद्रम के निकट) स्थित परशुराम मंदिर।

5.4.3 *वेसर* शैली

आधुनिक महाराष्ट्र के पश्चिमी घाट पर स्थित सामान्य युग की आरंभिक शताब्दियों में बने बौद्ध चैत्य कक्ष इस शैली के नमूने हैं। अर्द्धगोलाकार योजना इस शैली की सर्वप्रमुख विशेषता है। जैसा पहले बताया जा चुका है कि इसकी विशेषताएं सुस्पष्ट नहीं हैं और भौगोलिक विस्तार के बारे में कुछ ठीक से नहीं कहा जा सकता। सातवीं और दसवीं शताब्दी के बीच बनी इस प्रकार की इमारतों के नमूने चेजराला (Chejarla/Chejarla) (आंध्र प्रदेश), ऐहोल (दुर्गा मंदिर), महाबलिपुरम (सहदेव और द्रौपदी रथ) और केरल (त्रिक्कदियर और थिरूवंनुर के शिव मंदिर) में पाए गए है। दसवीं शताब्दी के बाद के मंदिरों में चिदंबरम (तमिलनाडु) का नटराज मंदिर और किज़वेलूर/किज़वेलुर (Kizhvelur) (जिला कोट्टायाम, केरल) का वामन मंदिर उल्लेखनीय हैं।

5.5 मंदिर और भारतीय सांस्कृतिक लोकाचार

भारतीय मंदिर मनुष्य की सांसारिक इच्छाओं को अभिव्यक्त करते हैं, इनमें पूरे समाज की विविध गतिविधियां सम्पन्न होती थीं। सर्वप्रथम, मंदिर विद्या का केन्द्र था। मंदिर को प्राप्त धन का कुछ हिस्सा महाविद्यालयों के लिए रख दिया जाता था, ये महाविद्यालय मंदिर परिसर में ही निर्मित होते थे। इनमें व्याकरण और ज्योतिष जैसे विषयों की शिक्षा दी जाती थी और *वेद, रामायण, महाभारत* और *पुराण* जैसे ग्रंथों का पाठ किया जाता था और इन्हें पढ़ाया भी जाता था। मंदिर में होने वाले अनुष्ठानों में नृत्य और संगीत का महत्वपूर्ण स्थान था, विशेष आयोजनों के अवसर पर इनका महत्व और भी बढ़ जाता था। बड़े मंदिरों में गीतकार और संगीतकार जो स्वर संगीत व वाद्य संगीत दोनों में निपुण होते थे, नर्तकियाँ, अभिनेता और कला शिक्षकों की नियुक्ति होती थी। दसवीं शताब्दी में बने खजुराहों में मंदिरों और कोणार्क के सूर्य मंदिर में ऐसे संगीतकारों की जीवनियाँ चित्रांकित की गई है। उडीशा में बने मंदिरों और अन्य मंदिरों में नट मंदिर (नृत्य कक्ष) का समावेश अनिवार्य हो गया। इन सब तथ्यों से मंदिर में गीत और संगीत की भूमिका का पता चलता है और निश्चित रूप से, चिदंबरम मंदिर में महादेव शिव के महान लौकिक नृत्य के प्रदर्शन को कौन भूल सकता है। इसके अतिरिक्त, देवदासी प्रथा मंदिर से जुड़ी हुई थी। मंदिरों की ये दासियां मंदिर के भगवान की सेवा के लिए रखी जाती थीं। वे गाकर और नृत्य कर भगवान को रिझाती थीं। चोल शासक राजराज प्रथम (985-1012 सी.ई.) ने बृहदेश्वर मंदिर (तंजावुर) में 400 देवदासियों के रहने के लिए दो लंबी गलियां निर्मित करवाई थीं। इससे यह पता चलता है कि वह मंदिर को काफ़ी दान दिया करता थे और उससे संबंधित कार्यकलापों पर काफ़ी ध्यान देते थे। कई मंदिरों में नित्य उत्सव होते रहते थे, इन उत्सवों में पौराणिक और लोकाचार संबंधी तत्वों का मिश्रण होता था पुरी के जगन्नाथ मंदिर से जुड़ी रथयात्रा का वार्षिक उत्सव इसका प्रमाण है। तीर्थ यात्राओं के माध्यम से भी

लोग मंदिर की गतिविधियों में हिस्सा लेते थे। मंदिर काफ़ी लोगों को काम और रोजगार दिया करता था। इस कारण से लोगों के आर्थिक जीवन पर मंदिर का काफ़ी प्रभाव था। छोटे मंदिरों में भी पुजारियों, माला बनाने वालों, दूध, मक्खन और तेल के व्यापारियों की जरूरत पड़ती थी। 1011 सी.ई. में बने तंजावुर मंदिर में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसमें मंदिर द्वारा लोगों को दी जाने वाली सहायता और मजदूरी का पूरा ब्यौरा दिया गया है। इस अभिलेख में रसोइयों, मालियों, नृत्य शिक्षकों, माला बनाने वालों, संगीतकारों, बढ़इयों, चित्रकारों, संस्कृत और तमिल श्लोकों को गाने के लिए गान-मंडलियों, लेखाकारों, चौकीदारों, अन्य अधिकारियों व मंदिर के सेवकों जैसे 600 कर्मचारियों का जिक्र किया गया है।

5.6 मूर्तिकला : पत्थर और धातु की मूर्तियां

मूर्तिकला भी क्षेत्रीय विशेषताओं से युक्त थी। पूर्वी, पश्चिमी, मध्य और उत्तरी भारत में वास्तुशिल्प से संबंधित कला-केंद्र विकसित हुए जिनके अंतर्गत मानव आकृतियों को एक विशेष कला रूप में ढाला गया। हिमालय क्षेत्र, दक्कन और सुदूर दक्षिण में भी वास्तुशिल्प के कला-केंद्र विकसित हुए। प्रत्येक प्रदेश में एक विशेष प्रकार की कला विकसित हुई। इस विकास को कला इतिहासकार और आलोचक नीहाररंजन राय ''मध्यकालीन प्रभावों'' का परिणाम मानते हैं। इस ''मध्यकालीन प्रभाव'' के कारण मूर्तियों में कृशता आने लगी और आरेखों तथा तीक्ष्ण कोणों पर विशेष बल दिया जाने लगा। मूर्तियों में गोलाई का अंश कम होने लगा और ये सपाट बनने लगीं। मूर्तियों की गोलाई की उत्त्लता समाप्त होने लगी और यह अवतल बनाई जाने लगी। दसवीं शताब्दी के बाद पश्चिमी और मध्य-भारतीय वास्तुशिल्प, पूर्वी-भारत और हिमालय क्षेत्र की धातु प्रतिमाएं, गुजराती और राजस्थानी पुस्तकों और कपड़ों पर की गई चित्रकारी, बंगाल में बनी मिट्टी की मूर्तियां और लकड़ी पर की गई कारीगरी और दक्कन तथा उडीशा के कुछ चित्र इस नई अवधारणा को प्रतिबिंबित करते हैं। आरंभिक मध्यकालीन मूर्तिकला में मनुष्य रूप में देवी-देवताओं और उनके सेवकों की मूर्तियों का वर्चस्व रहा। इस प्रकार की प्रतिमाओं की आधारभूत संरचना बनी-बनाई होती थी, अतः संपूर्ण भारत में एक प्रकार की मूर्तियां ही मिलती है। एक बात ध्यान देने की है कि भारत के सभी भागों में यह कला एक ही समय में अपने उत्कर्ष पर नहीं पहुंची। बिहार और बंगाल में यह नवीं और दसवीं शताब्दी में शीर्ष पर पहुंची, उडीशा में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में, मध्य-भारत में दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में, राजस्थान में दसवीं शताब्दी में, गुजरात में ग्यारहवीं, और सुदूर दक्षिण में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में। केवल दक्कन में भावशून्यता और अनगढ़पन देखने को मिलता है और इसकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती ही गई, वस्तुतः आठवीं शताब्दी तक दक्कन में मूर्तिकला का अंत हो चुका था।

धार्मिक मूर्तियों के अलावा धातु (लोहे को छोड़कर) से बनी मूर्तियों का रूप क्षेत्रीय स्तर पर एक होता था। कहने का तात्पर्य यह है कि एक क्षेत्र की मूर्तियां एक-सी दिखती थीं, उनमें कलाकार की व्यक्तिगत विशेषता नहीं झलकती थी। विभिन्न विषयों को आधार बनाकर प्रतिमाएं बनाई जाती थीं। इनमें वर्णनात्मक कथाएं, ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक दृश्य, संगीत और नृत्य के दृश्य, यौन क्रीड़ा में लिप्त दम्पत्ति (विभिन्न मुद्राओं में), योद्धाओं की सारणियाँ, जानवर तथा शालभंजिकाएं (पेड़ से संबंधित स्त्रियाँ) उल्लेखनीय हैं।

पूर्वी-भारत (बिहार, बंगाल, असम), हिमालय क्षेत्र के राज्यों (खासकर नेपाल और कश्मीर) और खासकर दक्षिण में पीतल, तांबे, कांसे और अष्टधातु से बनी मूर्तियां प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। उत्तरी-भारत की प्रतिमाओं में ब्राह्मणवादी और बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं की

धातु मूर्तियां मिलती हैं। इनमें शिव, खासकर नटराज, पार्वती, शैव संत जैसे अप्पार, संबदांर (Sanbadar) ओर सुंदरार (Sundarar), वैष्णव संतों और दान देने वाले राजा की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं।

गुप्तकाल के बाद के युग के मूर्तिशास्त्र में एक पदानुक्रम मिलता है जो सामंती समाज के विभिन्न स्तरों का ही प्रतिबिंबिन है। विष्णु, शिव और दुर्गा बड़े देवी-देवता प्रतीत होते हैं क्योंकि उनकी मूर्तियां विशाल हैं और उनके साथ छोटी-छोटी मूर्तियां हैं, जो उनके अनुचरों, आश्रितों और सेवक का प्रतिनिधित्व करते हैं। समकालीन मूर्तिशास्त्र में यह स्पष्ट होता है कि इस काल से मातृ देवी का स्थान सर्वोच्च हो गया था और इस काल की मूर्तियों में मातृ देवी का कद अन्य मूर्तियों की अपेक्षा बड़ा हो गया। मातृ देवी के प्रभाव से विशुद्धि वादी-संबंधी जैन धर्म भी न बच सका, इसका प्रमाण राजस्थान के माउंट अबू में स्थित दिलवाड़ा मंदिर है। ये देवी-देवता समन्वयता दर्शाते हैं और बलात्कृत ज़्यादा प्रतीत नहीं होते हैं। एलोरा में कई स्थानों पर देवी-देवताओं को अपने दुश्मनों के विरुद्ध आक्रामक मुद्रा में अंकित किया गया है। शैव, जैन और बौद्ध मठों के संगठन में ऊंच-नीच का भेदभाव स्पष्ट था। आचार्य के अभिषेक के लिए एक अनुष्ठान का प्रावधान था, यह मठ का सर्वोच्च पद होता था। यह अभिषेक राज्याभिषेक की तरह ही होता था।

5.7 चित्रकला, मिट्टी की मूर्तियां और ''मध्यकालीन प्रभाव''

मध्यकालीन चित्रकला की विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

- तीक्ष्ण, तनावपूर्ण और नुकीले कोण। उदाहरण के लिए, भौंहें और कंधे बनाने में।
- भावपूर्ण चेहरे – तीक्ष्ण और उठी नाक, बड़ी फूली हुई नुकीली आंखें और अर्ध-चन्द्राकार होंठ।
- विभिन्न, आकृतियों की प्रधानता तथा तीक्ष्ण वृत्त पर बनी मूर्तियां।
- साज-सज्जा में ज्यामिति और भाव का सामंजस्य

इन विशेषताओं का प्रतिबिंबन एलोरा के कैलाश मंदिर (आठवीं शताब्दी) की दीवारों पर की गई चित्रकारी, सित्तान्नावासल (तमिलनाडु) स्थित जैन मंदिर (नवीं शताब्दी) और तंजावुर स्थित बृहदेश्वर मंदिर (ग्यारहवीं शताब्दी) में मिला है। दसवीं शताब्दी के बाद बिहार, बंगाल, नेपाल और तिब्बत में जो पांडुलिपियां तैयार की गईं उनमें चित्रकारी भी की गई। यह चित्रकारी ऊपर दी गई विशेषताओं से युक्त है। इस परम्परा के तहत कपड़ों पर भी खूब चित्रकारी की गई। तेरहवीं शताब्दी के बाद पश्चिम-भारतीय कपड़ों और बाद में दक्कन, दक्षिण, उडीशा और बंगाल में बने कपड़ों की रूपरेखा पर इनका प्रभाव मिलता है। इस काल की मिट्टी की मूर्ति-संबंधी कला में सामंती छाप स्पष्ट होने लगी। गुप्त काल के बाद अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में सामंती तत्वों का प्रभाव तेजी से बढ़ा। कला के संरक्षक भी बदल गए और कला का विषय भी बदल गया। संपूर्ण-कला संबंधी गतिविधियों का सामंतीकरण हो गया। गुप्त काल के पूर्व कला के संरक्षक व्यापारी वर्ग, शिल्पी और कारीगर श्रेणियां तथा राज परिवार थे। इस प्रकार की कला के नमूने भरहुत, सांची, कार्ले, अमरावती, नागार्जुनकोंडा आदि में देखे जा सकते हैं। गुप्त काल (चौथी-छठी शताब्दी) में सामंती प्रवृति की अभी-अभी शुरूआत हुई थी, इसमें ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध मंदिर का निर्माण स्थाई रूप में पत्थर से हुआ। इनमें नये सिरे से पुनर्जीवित ब्राह्मणवादी तत्वों की झलक मिलती है। गुप्त काल के बाद (650 से 1300 सी.ई.) के समय में विभिन्न राजाओं, सामंतों, सेनाधिकारियों आदि ने कला को संरक्षण प्रदान किया, जिनके पास कला-संबंधी

गतिविधियों को संरक्षण प्रदान करने का सामर्थ्य था। मिट्टी की मूर्तियां पहले आम आदमी का प्रतिनिधित्व करती थीं, अब यह कला बहुत समृद्ध व्यक्तियों के हाथ का खिलौना बन गई। गुप्त काल के बाद के समय में मिट्टी की लघु-सुवाह्य मूर्तियों की खपत करने वाले शहरी बाज़ार समाप्त होने लगे। हालांकि कुछ पुराने शहर जैसे वाराणसी, अहिच्छत्र और कन्नौज अस्तित्व में बने रहे और तट्टनंदपुर (Tattanadapur) (बुलंदशहर के निकट, उत्तर प्रदेश) जैसे नए शहर आरंभिक मध्यकालीन युग में पनपे, पर इनमें से किसी शहर में मिट्टी की मूर्तियों के उत्पादन को बढ़ावा नहीं मिला। अब मिट्टी की मूर्तियों के निर्माता बाज़ार के लिए उत्पादन नहीं करते थे, बल्कि बड़े भूमिपतियों, ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण मंदिरों और मठों की मांगों पूरी करने लगे। अब चिकनी मिट्टी से मूर्तियों का निर्माता (*पुस्टकारक*) शिल्पी का मातहत मात्र रह गया। मिट्टी की मूर्तियां समृद्ध वर्ग की कला का प्रतिनिधित्व करने लगीं और इनका जमाव पहाड़पुर, राजबड़िदंगा (बंगाल), विक्रमशिला (बिहार), अखनूर और उश्कर (कश्मीर) जैसे सामंती मुख्यालयों और धार्मिक केंद्रों में होने लगा। गुप्तकाल के बाद के वर्षों में मिट्टी की मूर्तियों का उपयोग भूमिपतियों और राजाओं ने धार्मिक स्थलों और अपने प्रासादों को सजाने के लिए किया। *हर्षचरित* के लेखक बाणभट्ट के अनुसार शादी जैसे विशेष आयोजनों पर इन मूर्तियों से महल सजाए जाते थे।

बोध प्रश्न 2

1) विभिन्न शैलियों के मंदिरों में रखे गए मुख्य देवताओं की सूची बनाएं।

.....

.....

.....

.....

.....

2) मंदिर की योजना में मुख्य भाग क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) उत्तरी शैली के तहत सूचीबद्ध पांच श्रेणियों में से प्रत्येक से दो मुख्य मंदिरों की सूची दें।

.....

.....

.....

.....

.....

4) दक्षिणी और *वेसर* शैली के चार मंदिरों की सूची बनाएं।

.....

.....

.....

.....

.....

5) कला इतिहासकारों द्वारा 'मध्ययुगीन कारक' के रूप में वर्णित मूर्तियों की विशेषताएं बताएं।

.....

.....

.....

.....

.....

5.8 सारांश

यह इकाई 8वीं-13वीं शताब्दी के बीच कला और वास्तुकला के विशेष संदर्भ में भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं में क्षेत्रीयवाद की धारणा की पड़ताल करती है। *नागर, द्रविड़* और *वेसर* जैसी स्थापत्य शैलियां व्यापक क्षेत्रीय विशिष्टताओं के साथ विकसित हुईं। भौगोलिक वितरण, ज़मीनी योजनाओं में विभेद और प्रतिनिधिक देवी-देवताओं के आधार पर शैलियों का विभाजन करने का आधार प्रस्तुत किया गया है। इस काल में स्थापत्यगत विशेषताओं के वर्णन के लिए विशेष तकनीकी शब्दावली का निर्माण हुआ। वास्तुशिल्प, मिट्टी की मूर्तियां और चित्रकला में 'मध्यकालीन प्रभाव' की भूमिका की जाँच भी की गई है।

5.9 शब्दावली

अंतराल : ड्योढ़ी, बाहर का कमरा।

भद्र : शिखर के फलक का सपाट रुख।

भट्टारक : जैन धार्मिक शिक्षक/उपदेशक।

भद्र देवल : ''पवित्र मंदिर'', देवल के आगे का जगमोहन।

भोग मंडप : मंदिर का चिंतन कक्ष।

पुत्रलिका : नारी/पशु की मूर्तियां, इनका उपयोग खंभे के रूप में किया जाता था।

देवल : मंदिर का एक नाम।

कंगूरा : मंदिर का ऊपरी भाग (शिखर)।

गर्भगृह : देवस्थान, यह मंदिर का सबसे पवित्र स्थल होता है।

गोपुरम : मंदिर का अलंकृत प्रवेश द्वार।

जगमोहन : गर्भगृह के सामने का कक्ष।

कलश : पानी का बर्तन, मंदिर के कंगूरे में बना घड़े का आकार।

कुडु/ कुडू : द्रविड़ मंदिर का मेहराब (तबीए अंनसज); बौद्ध चैत्य मेहराब से प्रभावित अलंकरण।

मंडप : खुला बड़ा कक्ष।

नट मंदिर : जगमोहन के सामने नृत्य/उत्सव कक्ष।

प्रासाद/प्रसाद : महल/मंदिर, भगवान की अनुकंपा

पुस्टकारक : मिट्टी की मूर्तियां बनाने वाला

रथ : यह महाबलिपुरम की पल्लव स्थापत्य संरचना में प्रयुक्त हुआ है।

रेखा-देवल : अर्द्ध चंद्राकार शिखर से युक्त मंदिर।

भिाखर : मीनार।

शिल्पशास्त्र : इमारत और उससे सम्बद्ध कलाओं का शास्त्र ।

विमान : देव-स्थल/गर्भगृह की उभरी छत।

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 5.2 देखें।

2) उप-भाग 5.2.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 5.2.2 देखें।

2) उप-भाग 5.2.3 देखें।

3) उप-भाग 5.4.1 देखें।

4) उप-भाग 5.4.2 और 5.4.3 देखें।

5) भाग 5.6 देखें।

5.11 संदर्भ ग्रन्थ

झा, डी. एन (संपादित) (1987). *फ़्यूडल सोशल फॉर्मेशन इन अर्ली इंडिया.* नई दिल्ली : मनोहर.

शर्मा, आर. एस. (1983). *पर्सपेक्टिव्स इन सोशल एंड इकॉनोमिक हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इंडिया.* नई दिल्ली : मुंशीराम मनोहरलाल.

शर्मा, आर. एस (1987). *अर्बन डिके इन इंडिया.* नई दिल्ली : मुंशीराम मनोहरलाल.

शर्मा, आर. एस. (1980). *इंडियन फ़्यूडलिज्म.* दूसरा संस्करण. नई दिल्ली : मैकमिलन.

शर्मा, आर. एस. (1983). *मटीरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशन्स इन ऐशियट इंडिया.* नई दिल्ली : मैकमिलन.

इकाई 6 अरबों की सिंध पर विजय, तुर्की आक्रमण, महमूद ग़ज़नी और मोहम्मद ग़ौरी*

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 7वीं-8वीं शताब्दी में इस्लाम का उदय और प्रसार

6.3 *चचनामा*

6.3.1 *चचनामा* का वर्णन / वृतांत

6.4 सिंध पर विजय

6.4.1 मोहम्मद बिन कासिम : एक विजेता और उसके अभियान

6.5 अरब प्रशासन

6.6 अरबों की सिंध पर विजय : बग़ैर परिणामों की जीत?

6.7 पश्चिम और मध्य एशिया में निरंतर परिवर्तन की स्थिति

6.8 पश्चिमोत्तर भारत में ग़ज़नी की घुसपैठ

6.8.1 11वीं शताब्दी की शुरूआत में उत्तर भारत का राजनीतिक भूगोल

6.9 भारत और मध्य एशिया में ग़ज़नवियों का पतन और ग़ौरी वंश का उदय

6.9.1 12वीं शताब्दी की शुरुआत में उत्तर भारत का राजनीतिक परिदृश्य

6.9.2 तराइन युद्ध (1191 और 1192 सी.ई.)

6.9.3 ऊपरी गंगा घाटी अभियान

6.10 तुर्कों की विजय और राजपूतों की हार के कारण

6.11 ग़ज़नवी वंश और ग़ौरी वंश की तुलना

6.12 सारांश

6.13 शब्दावली

6.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.15 संदर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगे :

- प्रारंभिक मध्यकालीन युग में अरब से विदेशी हमलों को समझने की पृष्ठभूमि;
- अरबियों की सिंध पर विजय के स्रोत;
- अरबियों द्वारा सिंध पर विजय के कारण;
- महमूद ग़ज़नी के आक्रमण का स्वरूप;
- ग़ौरी शक्ति के उदय के कारण;

* यह इकाई बी.एच.आई.सी.–132, इकाई 11 एवं 12 से ली गई है।

- मोहम्मद ग़ौरी द्वारा उत्तर भारत की विजय के विभिन्न चरण;
- राजपूतों की हार के कारण;
- मोहम्मद ग़ौरी की सफलता के कारण; और
- गजनवी वंश और ग़ौरी वंश में अंतर।

6.1 प्रस्तावना

अभी तक की इकाइयों में हमने प्राचीन भारत के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक पहलुओं के विषय में पढ़ा है। उस काल की विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर इतिहासकार इसे प्राचीनकालीन इतिहास कहते हैं। इसी प्रकार, इसके बाद आने वाले काल की अपनी विशिष्ट विशेषताएँ थीं, जिनके कारण उसे मध्यकाल कहते हैं। पश्चिम एशिया में इस्लाम का उदय और विश्वभर में मुस्लिम विजय प्रारंभिक मध्यकाल की विशेषता है। इस इकाई में हम भारतीय उपमहाद्वीप में एक ऐसे ही परस्पर संबंधित विकास का अध्ययन करेंगे। यह भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में अरबों की सिंध पर विजय है।

भारतीय इतिहास में प्रारंभिक मध्यकाल

प्रारंभिक मध्यकाल प्राचीन से मध्यकालीन युग में संक्रमण का चरण है। उत्तर भारत के संबंध में, सल्तनत चरण से पहले का काल प्रारंभिक मध्यकाल कहलाता है। अनेक इतिहासकार इसे उत्तर-गुप्तकाल भी कहते हैं। यह भारतीय इतिहास में भिन्न कालक्रम रचना को बताता है जिसकी अपनी विशेषताएँ थीं जो इसके पहले अथवा बाद के चरणों में नहीं पाई जाती थीं।

अकादमिक क्षेत्रों में ऐसे शब्दों के उपयोग की उत्पत्ति अपेक्षाकृत नई है। इसके उपयोग से पहले, मध्यकाल को अधिकतर भारत पर विदेशी अथवा मुस्लिम हमलों और शासन के संदर्भ में समझा जाता था। लेकिन मध्यकालीन भारतीय इतिहास में गहराई से सूक्ष्म अध्ययनों द्वारा यह पता चला कि इस क्षेत्र में पाई जाने वाली विभिन्न सांस्कृतिक विशेषताओं को एक शब्द ''मध्यकाल'' के अंतर्गत एक साथ इकट्ठा नहीं रखा जा सकता है। आरंभ में, निहाररंजन रे ने मध्यकाल का एक बहु-आयामी चरित्र-चित्रण करने का प्रयास किया था। उन्होंने मध्यकाल में तीन उप-कालों पर विचार किया था, जो हैं –

i) 7वीं से 12वीं शताब्दी

ii) 12वीं से 16वीं शताब्दी के आरंभिक 25 वर्ष तक

iii) 16वीं शताब्दी के प्रथम एक-चौथाई भाग से 18वीं शताब्दी के अंत तक।

बी.डी. चट्टोपाध्याय जैसे इतिहासकारों के अनुसार, इतिहास में समय-काल सांस्कृतिक रूप से विविध है, जिन्हें आसानी से वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, 7वीं से 10वीं और 10वीं से 12वीं शताब्दियों को भिन्न आधारों पर विभेदित किया जा सकता है। इसलिए, उन उप-कालों को भी भिन्न कालों में विभाजित किया जा सकता है, जिनकी अपनी विशिष्ट विशेषताएँ हैं। इस तर्क के अनुसार यह कहा जा सकता है कि उत्तर-गुप्तकाल या प्रारंभिक मध्यकाल में भी अपनी विलक्षणताऐं थी। एक ऐसा आधार 8वीं शताब्दी में अरबों की सिंध पर विजय अथवा 10वीं से 12वीं शताब्दियों के बीच उत्तर भारत में तुर्कों के हमलों का बढ़ना था।

6.2 7वीं-8वीं शताब्दी में इस्लाम का उदय और प्रसार

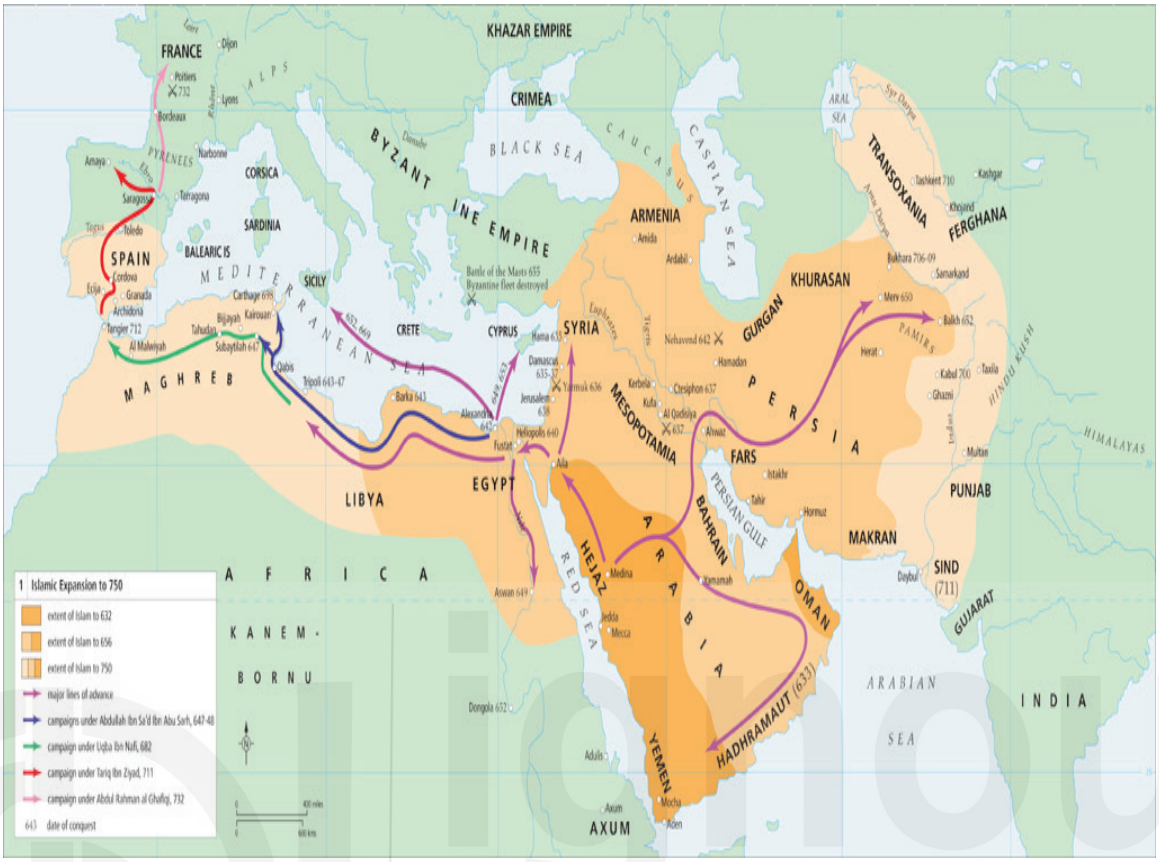

इस्लाम का प्रसार

स्रोतः http://www.oxfordislamicstudies.com/article/full/opr/t253/e17/images/0195334012.spread-of-islam-the.1.jpg |

इस्लाम धर्म की स्थापना 7वीं शताब्दी में पैगंबर मोहम्मद द्वारा की गई, जो मक्का का एक अरबी व्यापारी था। उस समय, अरब के क्षेत्र पर अनेक लड़ाकू बेडुइन (Bedouin) जनजातियों का निवास था जो प्रतिमा पूजक धर्मों को मानते थे और अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। वे निरंतर एक-दूसरे के साथ आर्थिक अथवा धार्मिक मुद्दों पर युद्ध करते रहते थे। लेकिन पैगंबर मोहम्मद ने इन अरबी जनजातियों को अपनी एक ईश्वरवादी शिक्षाओं से एकीकृत किया। संभवतः यह पैगंबर मोहम्मद का अरब में सबसे बड़ा योगदान है। एकता लाने के साथ ही, उनके नए धर्म ने भावी मुस्लिम राज्यों की राजनीतिक और आर्थिक नीतियों को भी अत्यधिक प्रभावित किया।

उनकी मृत्यु के पश्चात्, अरबी प्रायद्वीप के भीतर और उसके बाहर मुस्लिम राज्य व्यवस्था का तीव्र विस्तार रशुद्दीन और उमय्यद खलीफाओं के अंतर्गत हुआ। विस्तृत साम्राज्य मध्य एशिया से लेकर मध्य-पूर्व और उत्तर अफ्रीका से लेकर अटलांटिक महासागर तक फैल गया। कुछ विद्वानों का मत है कि अरबी प्रायद्वीप में एक राज्य का राजनीतिक गठन और धार्मिक एकता तथा सैन्य संगठन पूर्व-आधुनिक काल में सबसे बड़े साम्राज्य की स्थापना के सबसे महत्त्वपूर्ण कारण थे। इस साम्राज्य का गठन इस्लामिक खलीफा द्वारा लगभग 1.3 करोड़ वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में किया गया था। धर्म के रूप में इस्लाम और अपने लूट के रूप में नए साम्राज्य के साथ अरबी विविध प्रकार के व्यक्तियों के बीच रहे जो भिन्न-भिन्न नस्लों के थे। उनके बीच उन्होंने विजेताओं के रूप में एक अल्पसंख्यक शासन का गठन किया। लेकिन युद्धों के क्रमिक रूप से अंत और आर्थिक जीवन के विकास ने प्रशासकों

और व्यापारियों के एक नए शासक वर्ग को उत्पन्न किया जो भिन्न नस्लों, भाषाओं और जातीयता के थे। इस तरीके से मुस्लिम जनसंख्या अरबी प्रायद्वीप में और उसके आस-पास फैलती रही। भारतीय उपमहाद्वीप में सिंध पर विजय मुस्लिम जगत द्वारा इस उद्यम का एक विस्तार था।

6.3 *चचनामा*

जहां तक सिंध पर अरब विजय के ऐतिहासिक स्रोतों का सरोकार है, तो इनका अत्यधिक अभाव है। यहां तक कि अरब स्रोत भी इस घटना के बारे में आरंभिक इस्लाम के उदय और विस्तार की चर्चा करते समय सिर्फ संक्षिप्त, अस्पष्ट विवरण अथवा संदर्भ प्रदान करते हैं। इस विजय का विवरण अल-बालाधुरी के *फतह्-अल बुलदैन* के कुछ पृष्ठों तक ही सीमित है। अल-मदैनी ट्रांसोक्सानिया पर अरब विजय के बारे में भरपूर जानकारी देते है। लेकिन उनके वर्णन में सिंध का बहुत कम उल्लेख है। लेकिन, इस विषय पर अरब स्रोतों के इस अभाव की क्षतिपूर्ति काफ़ी हद तक एक फ़ारसी ग्रंथ *चचनामा* द्वारा कर दी गई है, जिसे अली कूफ़ी ने 1226 सी.ई. में लिखा था। यह एक विश्वसनीय ऐतिहासिक ग्रंथ है जिसके लिए यह दावा किया जाता है कि यह इस विजय से संबंधित इतिहास के लुप्त अरबी विवरण का अनुवाद है। *चचनामा* एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसे सिंध पर अरब विजय की विस्तृत जानकारी प्रदान करने का श्रेय दिया जा सकता है।

चचनामा में 680-718 सी.ई. तक का सिंध के इतिहास का विवरण है। व्युत्पत्ति के रूप से *चचनामा* का अर्थ है ''चच की कहानी''। चच सिंध के एक हिंदू ब्राह्मण शासक थे। यह पुस्तक एक फ़ारसी ग्रंथ है जिसे उच्च शहर में लिखा गया था, जो उस काल में सिंध की राजनीतिक राजधानी था। वर्तमान में, यह पाकिस्तान के करांची के बंदरगाह शहर से लगभग 70 किलोमीटर उत्तर में स्थित देखा जा सकता है।

मुस्लिम भारत के एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत के रूप में *चचनामा* को उतना महत्त्व नहीं मिला जितना मिलना चाहिए था। इसके कुछ भाग का अंग्रेज़ी में 'इलियट और डॉसन' द्वारा अनुवाद किया गया था और फ़ारसी से अंग्रेज़ी में पूर्ण अनुवाद 1900 में मिर्ज़ा कालिशबेग द्वारा किया गया था जो पहले सिंधी उपन्यासकार थे। इस फ़ारसी पुस्तक का पहला और एकमात्र संस्करण 1939 में आया।

चचनामा को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया क्योंकि अधिकांश इतिहासकारों, जैसे कि औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी इतिहासकारों, ने इसे भारतीय उपमहाद्वीप में आरंभिक रूप से इस्लाम के आने के सिर्फ एक वृत्तांत के रूप में देखा है। लेकिन अली कूफ़ी का यह दावा है कि *चचनामा* 8वीं शताब्दी की एक अरबी पुस्तक का अनुवाद है जो यह दर्शाता है कि इस्लाम के आने के अतिरिक्त यह अन्य प्रकार की जानकारी का भी भंडार हो सकता है। वास्तव में, यह पुस्तक वाकई अधिक जानकारी प्रदान करती है। योहानन फ्राइडमेन, मनन अहमद आसिफ़ इत्यादि जैसे विद्वान जिन्होंने इसे पढ़ा और इसका विश्लेशण किया है, तर्क करते हैं कि इसमें विविध प्रकार की व्यापक जानकारी है और समस्त उपलब्ध आंकड़ों को वर्गीकृत और विष्लेशित करने के लिए कोई क्रमबद्ध प्रयास नहीं किए गए हैं। इसके विस्तृत परीक्षण के बाद उन्होंने प्रमाणित किया कि इसमें सिंध के इतिहास, उसकी सरकार और राजनीति की प्रासंगिक जानकारी है। इसलिए, जिन विद्वानों ने यह पुस्तक पढ़ी है वे इस मध्यकालीन स्रोत को समग्रता से पढ़ने और समझने की आवश्यकता को समझते हैं और इसे सिर्फ आरंभिक इस्लाम के आने और सिंध पर उसकी विजय पर एक पुस्तक के रूप में नहीं देखते हैं।

6.3.1 *चचनामा* का वर्णन/वृत्तांत

जैसा कि पहले कहा गया है, फ्राइडमैन और अहमद आसिफ़ जैसे इतिहासकारों ने इसे सिर्फ सिंध विजय के इतिहास के रूप में देखे जाने के मत का खंडन किया है। उनका विस्तृत अध्ययन अन्य पहलुओं पर भी प्रकाश डालता है। फ्राइडमैन का मत है कि पुस्तक को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है जिसमें पैगंबर मोहम्मद की तारीफ़ में विविध वर्णन से आरंभ करते हुए अरब योद्धाओं और अरबी पांडुलिपि जिसमें मोहम्मद बिन कासिम के सिंध में सैन्य कारनामों का वर्णन है। साथ ही, इसमें अरबों के सिंध पर हमले का भी वर्णन है।

राजा चच से आरंभ करते हुए, इसमें उनके उत्तराधिकारियों के गूढ़ वर्णन दिए गए हैं। इसमें चच बिन सिलाइज नामक एक ब्राह्मण की सिंध के राजा के मुख्यमंत्री होने से लेकर राजा की मृत्यु के पश्चात् रानी की सहायता से अपने सत्ता में आने की यात्रा के वर्णन हैं। एक राजा के रूप में, चच ने किलों पर कब्ज़ा करके, संधियों पर हस्ताक्षर करके और हिंदू तथा बौद्ध जनता दोनों के दिल जीतकर सिंध में एक सफल राज्य की स्थापना की थी। यह उनकी आक्रामक, रक्षात्मक और उदार नीतियों का मिश्रण था जिसके कारण उनके लिए लंबे समय तक सिंध पर राज्य करना संभव हो पाया था। लेकिन एक अच्छे शासक के रूप में उनकी सफलता उनके दो पुत्रों दहर और दहरसिया के बीच उत्तराधिकार के युद्ध के कारण खत्म हो गई। जैसा कि पुस्तक में वर्णन है, दहर सत्ता में आ गया और वही था जिसने अरब बागियों, समुद्री डाकुओं और युद्ध सरदारों का स्वागत किया। इसने 8वीं शताब्दी में ईराक के मुस्लिम राज्य के क्रोध को भड़का दिया।

अहमद आसिफ के अनुसार, यह पुस्तक तीन भागों में विभाजित है। पहले भाग में तीन परस्पर जुड़े विषयों राजा के लिए वैधता की आवश्यकता, सलाहकारों की अच्छी परिषद और न्यायोचित रूप से शासित राज्य व्यवस्था के गठन की आवश्यकता की चर्चा की गई है। दूसरे भाग में, खलीफाओं से वालिद तक के इतिहास का वर्णन है। इसमें खलीफा उमर के काल की बात की गई है (लगभग 634-644 सी.ई.) जब मुस्लिम सैन्य अभियान सिंध और हिंद की ओर बढ़ रहे थे। इसमें मकरान, जबूलिस्तान और कंधार जैसे क्षेत्रों में भेजे गए राज्यपालों के साथ ही विद्रोही मुस्लिम समूहों का भी विवरण है जो सीमांत क्षेत्रों की ओर बढ़ रहे थे। डमस्कस में राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करने वाली विद्रोही सेनाओं की भी चर्चा की गई है। यहां यह उल्लेख किया गया है कि ऐसे समूहों के साथ युद्ध करने और क्षेत्र पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए इराक के शासक/नियंत्रक ने एक युवा सेनापति मोहम्मद बिन कासिम को 711 सी.ई. में सिंध भेजा था। यह तब था जब मकरान, दाबोल अथवा देवुल, नेरुन के क्षेत्रों पर हमला करके उन पर कब्ज़ा कर लिया गया था। राजा दहर की सेनाएं सिंधु नदी के तटों पर हुए युद्ध में हार गई थीं। सिंध के राजा को हराने के बाद, कासिम ने आरोर, ब्राह्मणाबाद और मुलतान के क्षेत्रों पर भी कब्ज़ा कर लिया। इस प्रकार, दहर से अरब विद्रोहियों और समुद्री डाकुओं का समर्थन करने का बदला लिया गया।

अंतिम वृत्तांत में कासिम के पतन पर विस्तार से चर्चा की गई है। जैसा कि इसमें बताया गया है, कासिम को बगदाद के खलीफा के आदेश पर दहर की बेटियों द्वारा यौन हिंसा का आरोप लगाए जाने पर मरवा दिया गया था। पुस्तक के अंतिम भाग में, अच्छे शासन, अच्छे सलाहकार मंडल और एक सफल राज्य-व्यवस्था के निर्माण के लिए आवश्यक राजनीतिक सिद्धांत की बात की गई है। इस भाग में चच और कासिम दोनों के सैन्य अभियानों की चर्चा की गई है। अहमद आसिफ़ के अनुसार, पुस्तक में नीति और कराधान, सेनाध्यक्षों के बीच निजी बातचीत और उनके उपदेशों और सपनों पर भाषण सम्मिलित हैं। इसमें राजनीतिक सिद्धांत और शासन पर महत्त्वपूर्ण जनों के वक्तव्यों की भी चर्चा की गई है।

6.4 सिंध पर विजय

स्रोत : Wikimedia Commons (https://en.wikipedia.org/wiki/Muhammad_bin_ Qasim).

सिंध का क्षेत्र आज के पाकिस्तान के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में स्थित है। भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमी तट के इस क्षेत्र का लंबा इतिहास रहा है। प्राचीन काल से ही यह वाणिज्य और व्यापार का केंद्र रहा है। अरब व्यापारियों के अपने भारतीय और दक्षिण-पूर्वी एशियाई प्रतिपक्षियों के साथ सक्रिय व्यापार संबंध थे। उन्हें भारत के पश्चिमी तट के सागर मार्ग की जानकारी थी। वास्तव में, ये व्यापारी फ़ारस की खाड़ी में सिराफ़ और होरमूज़ से सिंध के मुख तक और फ़िर सपेरा और कैम्बे से होते हुए आगे कालीकट तक मालाबार तट के अन्य बंदरगाहों पर आते थे। अपने साथ भारतीय संपदा की खबरें और विलासिता की वस्तुएँ जैसे सोना, हीरा, रत्नजड़ित मूर्तियाँ आदि अरब ले जाते थे। क्योंकि भारत लंबे समय से अपनी संपदा के लिए प्रसिद्ध था, अतः अरब उस पर विजय पाना चाहते थे। अपने 'इस्लामीकरण' के बाद, उनके अंदर धर्म प्रचार की भावना थी जिसके कारण वे मध्य-पूर्व, यूरोप अफ्रीका और एशिया के अनेक क्षेत्रों में फैल गए।

अरबों की भारतीय महाद्वीप में सिंध के तटीय शहरों में घुसपैठ 636 सी.ई. से ही खलीफा उमर के शासनकाल में आरंभ हो गई थी, जो पैगंबर के दूसरे उत्तराधिकारी थे। लूट के अभियान, जैसा कि एक 637 सी.ई. में थाणे (मुंबई के निकट) में हुआ था, लंबे समय तक जारी रहे। लेकिन ये अभियान सिर्फ लूटपाट के लिए आक्रमण थे, विजय नहीं। क्रमबद्ध अरब विजय 712 सी.ई. में उमैय्यद-खलीफा अल-वालिद के शासन काल में ही हुई थी। तभी सिंध को मुस्लिम साम्राज्य में सम्मिलित किया गया था।

जैसा कि हमने बताया है, भारतीय दौलत को पाने की कामना के साथ ही सिंध की विजय का कारण अरबों की इस्लाम के प्रसार की इच्छा भी थी। लेकिन तात्कालिक कारण समुद्री डाकू थे जिन्होंने दाबोल/देबुल अथवा कराची के तट के निकट कुछ अरब जहाजों को लूट लिया था। ऐतिहासिक प्रमाण दर्शाते हैं कि इन जहाजों में लंका के राजा द्वारा बगदाद के खलीफा और इराक के नियंत्रक/शासक अल-हज्जाज के लिए भी उपहार ले जाए जा रहे थे। लेकिन जहाज को समुद्री डाकुओं द्वारा सिंधु नदी के मुहाने पर लूट लिया गया और अरबों को दाबोल के बंदरगाह पर नज़रबंद कर लिया गया। सिंध के राजा दहर से इस अपमान की क्षतिपूर्ति के लिए प्रत्यर्पण और अपराधियों को दंडित करने की माँग की गई। लेकिन उन्होंने ऐसा करने से इंकार कर दिया। उन्होंने अपने इंकार का कारण समुद्री डाकुओं को नियंत्रित करने में अपनी अक्षमता बताया। लेकिन, उनका भरोसा नहीं किया

गया बल्कि बगदाद ने उन पर समुद्री डाकुओं को संरक्षण देने का आरोप लगाया। अतः हज्जाज ने खलीफा वालिद से सिंध पर हमला करने की अनुमति ले ली। इसके बाद, राजा के विरुद्ध एक के बाद एक तीन सैन्य हमले किए गए। देबाल में मोहम्मद बिन कासिम द्वारा तीसरे हमले में दहर की हार हुई और वह मारा गया। इसके बाद, निरून, रेवाड़, ब्राह्मणाबाद, अलोर और मुलतान के सभी पड़ोसी शहरों पर कब्ज़ा कर लिया गया। इस प्रकार, सिंध राज्य पर अरबों द्वारा 712 सी.ई. में अंततः विजय प्राप्त कर ली गई।

6.4.1 मोहम्मद बिन कासिम : एक विजेता और उसके अभियान

कासिम एक 17 वर्ष का उमैय्यद सेनापति था जिसने सिंध की विजय का नेतृत्व किया था। यह किशोर विजेता सिकंदर के पदचिन्हों पर चलते हुए सिंधु घाटी में एक नए धर्म और एक नई संस्कृति को लेकर आया। *चचनामा* में वर्ष 209-711 सी.ई. के बीच इनका उल्लेख है, जब इराक के राज्यपाल हज्जाज ने सिंध के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व इसे सौंपा था। कासिम हज्जाज का भतीजा था और एक कुशल सेनापति होने के कारण इसके चाचा द्वारा इसे मकरान के सीमांत जिले का सरदार बनाया गया था। उसे सिंध की दिशा में विजय करने का अभियान सौंपा गया था। सिंध के विरुद्ध कासिम के अभियान को बहुत सावधानी से तैयार किया गया था। इसकी सेना का आधार सीरिया के गुंड के 6000 सैनिक और विभिन्न अन्य सैन्य दल भी थे। पूर्व की ओर के अभियान की योजना का आधार शीराज़ था। हज्जाज के आदेश से, कासिम वहां महीनों तक अपने सैन्य दलों पर केंद्रित करते हुए रहा। यहां से, वह मोहम्मद इब्न-हरून के साथ (जो इस कूच के दौरान मर गया था और जो सीमांत जिले के नेतृत्व में उसका पूर्ववर्ती था) पूरब की ओर बढ़ा। जैसा कि अरब स्रोत बताते हैं, 8वीं शताब्दी में सिंधु घाटी पर दहर नामक राजा का शासन था। वह राजा चच का पुत्र और उत्तराधिकारी था। अरब सेनाएं इस घाटी पर विजय पाना चाहती थीं। *चचनामा* के अनुसार, चच का विशाल साम्राज्य था जो मकरान, कश्मीर आदि तक विस्तारित था। लेकिन उनके पुत्र द्वारा शासित राज्य इतना विशाल नहीं था और इसमें सिर्फ सिंधु का निचला क्षेत्र था जिसमें ब्राह्मणाबाद, आरोर, देबाल इत्यादि जैसे शहर सम्मिलित थे। इसलिए, चच द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य सिर्फ उनके जीवनकाल तक ही रहा था। उनके बाद, यह राजा दहर के अधीन, विशेष रूप से अरब हमलों के बाद, एक छोटे राज्य तक ही सीमित रह गया था।

एक जनरल के रूप में, कासिम सिंधु घाटी तक देबाल शहर के थलीय क्षेत्र को घेरकर पहुंच गया था। अतिरिक्त युद्ध सामग्री उस तक समुद्र के रास्ते से पहुंची थी। देबाल सिंधु नदी के मुहाने पर एक बड़ा शहर था जिस पर राजा दहर के लेफ्टिनेंट का शासन था। इसके बाद, सेनाएं ऊपरी सिंधु घाटी की ओर बढ़ गईं। वे नीरून (पाकिस्तान में आज के हैदराबाद के निकट) पहुंच गईं और उसने शांतिपूर्ण तरीके से आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद अनेक अन्य क्षेत्रों जैसे सडुसन, सावन्ड्री, बस्मद आदि पर कब्ज़ा कर लिया गया था। अंत में, कासिम सिंधु नदी को पार करके स्वयं दहर से निपटना चाहता था। अपनी तरफ से दहर और उसकी सशक्त सेना ने कई दिनों तक वीरतापूर्वक हमलावरों से युद्ध किया। लेकिन उसे अरब सेनाओं द्वारा बुरी तरह हराया और मार दिया गया। इसके बाद राजधानी ब्राह्मणाबाद और अलोर पर भी कब्ज़ा कर लिया गया। आगे उत्तर में सिंधु के पूर्वीतट की ओर बढ़ते हुए कासिम का लक्ष्य मुलतान पर विजय पाना था। *चचनामा* में उल्लेख है कि हज्जाज ने कासिम को अंतिम लक्ष्य के रूप में मुलतान पर कब्ज़ा करने का निर्देश दिया था।

सिद्धांत और नीति के अनुसार, सिंध में एक के बाद एक शृंखलाबद्ध विजय प्राप्त करने के बाद कासिम की इस विजय से आम जनता का इस्लाम में सामूहिक रूप से धर्म परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि अरबों की देबाल और मुल्तान की विजयों के बाद जनसंहार

हुआ था लेकिन अलोर, नीरून, सुराष्ट, सावन्द्री इत्यादि के उदाहरण थे जहाँ विजेता और पराजितों के बीच बातचीत और समझौते हुए थे। अलोर में कासिम द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले उदारता और धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धांतों ने विजयी इस्लाम के भारत के धर्म और संस्कृति के साथ सह-अस्तित्व के लिए राह बनाई। जैसा कि *चचनामा* में कहा गया है, कासिम ने पराजित जनता के प्रति उदारता की नीति अपनायी। उसने ब्राह्मणों और बौद्ध जनों, दोनों को, धार्मिक स्वतंत्रता की अनुमति दी। उसने दोनों धर्मों के पुरोहितों के विशेषाधिकारों को संरक्षित रखा। यह कासिम द्वारा ब्राह्मणों को विशेषाधिकार देने की भारतीय सामाजिक परंपरा के समर्थन को दर्शाता है। वास्तव में, *चचनामा* में उल्लेख है कि वह ब्राह्मणों को 'भले और भरोसेमंद' जन कहता था और ब्राह्मणाबाद की घेराबंदी के बाद उन्हें उन्हीं पदों पर पुनः नियुक्त कर दिया गया जिनपर वे हिंदू राजवंश में थे। यहीं नहीं, इन पदों को उसके द्वारा वंशागत बना दिया गया। आम जनता को भी अपनी मर्ज़ी से पूजापाठ करने की अनुमति थी, पर उन्हें अरबों को वही कर देने होते थे जो वे राजा दहर को दिया करते थे। संक्षेप में, उसने सिंध की सामाजिक व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप नहीं किया और उनके क्षेत्रों में शांति बनाए रखने के लिए सहमत हो गया था। ये नीति कासिम द्वारा हज्जाज के निर्देशों के तहत अपनायी गई थी, जो जनता को धार्मिक स्वतंत्रता देने का पक्षधर था। इसलिए, जैसा कि *चचनामा* में कहा गया है, कासिम ने ब्राह्मणाबाद को व्यवस्थित और शांतिपूर्ण स्थिति में छोड़ा था और उत्तर की ओर अलोर चला गया था। लचीलेपन और उदारता की यह नीति विजय के आरंभिक काल में इस्लाम की विशेषता थी और उसके समर्थक इसे अपनाते थे।

6.5 अरब प्रशासन

सिंध के क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अरबी प्रशासन लागू किया गया। यह अरब विजेताओं द्वारा जीते गए अन्य क्षेत्रों में उनके द्वारा अपनाए जाने वाले प्रतिरूपों के जैसा ही था। विद्वानों का मत है कि प्रशासन का यह प्रतिरूप उदार था। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए था क्योंकि आरंभिक शताब्दियों में इस्लामी कानून की विचारधारा सख़्त नहीं थी।

प्रारंभिक मध्यकाल में अरब शासन उदार और लचीला था। अरब विजेताओं ने स्थानीय प्रथाओं में हस्तक्षेप न करने की सामान्य नीति अपनायी थी। अरब प्रशासन तंत्र के निर्माताओं में से एक खलीफ़ा उमर ने अरबों को स्थानीय प्रशासन में हस्तक्षेप करने अथवा अधीनता वाले क्षेत्रों में भू-संपत्ति अर्जित करने की अनुमति नहीं दी थी। यद्यपि जीते गए क्षेत्र के मुख्य सैन्य जनरल को वहां का राज्यपाल बनाया जाता था लेकिन वह वहां के नागरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यह मुख्य रूप से स्थानीय मुखियाओं के हाथ में रहता था जो अधिकतर गैर-मुस्लिम थे। कासिम की दहर पर विजय के बाद बनाई गई ऐसी व्यवस्था को 'ब्राह्मणाबाद व्यवस्था' कहा जाता था। इसमें मुख्य रूप से हिंदूओं के साथ व्यवहार को दर्शाया गया है जिन्हें ''पीपल ऑफ़ द बुक'' अथवा जिम्मियों (संरक्षित जन) के रूप में जाना जाता था। यह व्यवस्था मुख्य रूप से हज्जाज ने खलीफ़ा के निर्देशों के तहत बनाई थी। यह कहा गया था कि क्योंकि हिंदू जन खलीफा को कर चुकाने पर सहमत थे, अतः उन्हें खलीफा के संरक्षण में लिया गया था। उनको अपने धर्म को अपनाने और अपने देवी-देवताओं की पूजा करने की अनुमति दी गई थी। साथ ही, अरब शासकों अथवा प्रशासकों को उनकी संपत्ति छीनने की अनुमति नहीं थी। इस प्रकार की उद्घोशणा मुख्य रूप से ब्राह्मणाबाद की जनता की अपने मंदिर की मरम्मत और अपने धर्म को मानने की याचिका के परिणामस्वरूप की गई थी। कासिम से किए गए इस आग्रह को हज्जाज के पास भेजा गया और हज्जाज ने फ़िर इस प्रकार खलीफा से परामर्श किया। खलीफा ने उदारता की नीति को अपनाया जिसे फ़िर हज्जाज और कासिम द्वारा सप्रयास आगे बढ़ाया

गया। कासिम की ब्राह्मणों और मूल स्थानीय परंपरा के प्रति उदारता की नीति के ऊपर बताए गए उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए समझा जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

1) अली कूफी कौन था? भारतीय इतिहास के अध्ययन में वह महत्वपूर्ण क्यों हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) *चचनामा* क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित का मिलान कीजिए –

	व्यक्ति	जाना जाता था
i)	पलमलदेवी	उमैय्यद जनरल
ii)	मोहम्मद बिन कासिम	बगदाद का राज्यपाल
iii)	अल-हज्जाज	वालिद का भाई
iv)	सुलेमान	राजकुमारी

6.6 अरबों की सिंध पर विजय : बग़ैर परिणामों की जीत?

सिंध पर अरब विजय को स्टेनली लेन पूल, एल्फिंसटन इत्यादि जैसे विद्वानों ने 'बग़ैर परिणामों की जीत' कहा है क्योंकि इसमें मुस्लिम, अरबों और भारतीय शासकों में से किसी की भी कोई बड़ी विजय नहीं हुई थी। उनका मत है कि अरब की जीत का भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास पर कोई प्रभाव अथवा परिणाम नहीं हुआ था। वह शेष भारत की राजनीतिक अथवा सैन्य स्थितियों को प्रभावित नहीं कर सकी थी। अरब शासन सिर्फ सिंध क्षेत्र में सीमित था और भारतीय शासक अरबों को अपने सीमांत क्षेत्रों से बाहर निकाले अथवा उनसे डरे बग़ैर अपने राज्यों पर शासन करते थे। अरबों का प्रभाव उपमहाद्वीप के एक छोटे भाग तक सीमित था। वे तुर्कों के विपरीत भारतीय उपमहाद्वीप में अपने पैर नहीं जमा पाए थे, तुर्कों ने कुछ शताब्दियों बाद ही अपनी पूर्ण सल्तनत (अर्थात् 12वीं शताब्दी से शुरू दिल्ली सल्तनत) स्थापित कर ली थी।

इस मत की आलोचना करने वाले विद्वानों ने इसके खंडन के लिए अनेक तर्क दिए हैं। उनका मानना है कि भले ही विजय का भारत के राजनीतिक भूगोल पर खास प्रभाव नहीं पड़ा था, लेकिन इसका दोनों पक्षों पर निश्चित रूप से राजनीतिक असर हुआ था। जैसा

कि स्रोतों से पता चलता है, मुहम्मद बिन कासिम उतना ही कुशल प्रशासक था जितना कुशल योद्धा था। अपनी विजयों के बाद उसने क्षेत्र की कानून व्यवस्था को बनाए रखा था और वह मुस्लिम शासन के तहत् अच्छा प्रशासन देने में यकीन रखता था। गैर-मुस्लिमों के साथ उसके द्वारा की गई व्यवस्थाओं ने उपमहाद्वीप में बाद में मुस्लिम राज्य नीति का आधार बनाया गया। अपने चाचा हज्जाज के कुशल मार्गदर्शन में उसने पराजित जनता को सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक स्वतंत्रता दी थी। उसने मूल देसी रीति-रिवाजों और परंपराओं को अक्षुण्ण रखने के लिए राजनीतिक कुशाग्रता का प्रदर्शन किया। न ही उसने गैर-मुस्लिमों को बलात मुसलमान बनाया और न ही सामाजिक व्यवस्थाओं जैसे जाति प्रथा को खत्म किया। इस प्रकार जाति प्रथा अप्रभावित रही और पहले के समान ही अपनायी जाती रही।

इस प्रकार की प्रथाओं के पाए जाने से अरब और मुस्लिम जगत को भारतीय सामाजिक और राजनीतिक तंत्रों की कमज़ोरियों का पता चला। इसलिए, सामाजिक ताने-बाने में इन दरारों का उपयोग उनके द्वारा अपने लाभ के लिए किया गया। जैसे कि पहले चर्चा की गई है, संभवतः ब्राह्मणाबाद के ब्राह्मणों को उनके द्वारा भरोसेमंद व्यक्ति माना गया जिससे अरबी राज्य-व्यवस्था और प्रशासन को चलाने में उनका पूर्ण सहयोग मिलता रहे। निःसंदेह, अरब हमले ने भारत की राजनीतिक व्यवस्था को तब तक प्रभावित नहीं किया था, लेकिन इसने निश्चित रूप से क्षेत्र की सामाजिक कमज़ोरियों को उजागर किया। इनका उपयोग हमलावरों द्वारा कुछ शताब्दियों बाद किया गया।

साथ ही, भारतीय और अरब संस्कृतियों के बीच सांस्कृतिक मेल का प्रभाव विभिन्न अन्य क्षेत्रों जैसे साहित्य, चिकित्सा, गणित, खगोल विज्ञान इत्यादि पर भी दिखाई दिया। बौद्धिक स्तर पर ऐसे संपर्कों से दोनों संस्कृतियों का परस्पर वृद्धि और विकास हुआ। पहला अभिलेखित हिंद-अरब बौद्धिक संपर्क 771 सी.ई. में हुआ था जब एक हिंदू खगोल विज्ञानी और गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त की *ब्रह्म सिद्धांत* नामक संस्कृत पुस्तक के साथ बगदाद पहुंचा। इस पुस्तक का एक अरब गणितज्ञ के द्वारा अरबी में अनुवाद किया गया था जिसे *सिंध हिंद* नाम दिया गया। इसका अरब खगोल विज्ञान के विकास पर अत्यधिक प्रभाव हुआ यद्यपि गणित की तीन अन्य पुस्तकों का भी अरबी में अनुवाद किया गया था। गणित में भारतीय संस्कृति का अरब विद्वता पर सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान अरबी अंकों का था।

इसी प्रकार, अरबों द्वारा भारतीय चिकित्सा शास्त्र पर और भी अधिक ध्यान दिया गया था। कम से कम 15 संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद किया गया जिसमें चरक और सुश्रुत की भी थीं। भारतीय चिकित्सकों को बगदाद में अत्यधिक आदर और सम्मान दिया जाता था और इसलिए काफ़ी संख्या में भारतीय चिकित्सक वहां पाए जाते थे। मनका एक ऐसे ही चिकित्सक थे जिन्होंने बीमार खलीफा हारून-अल-राशिद का उपचार करके यश और धन कमाया था।

इसके साथ ही, ज्योतिष और हस्त रेखाशास्त्र ने भी अरबों का ध्यान आकर्शित किया और इन क्षेत्रों की अनेक पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया गया। इन्हें भी अरब इतिहास लेखनों में संरक्षित रखा गया है। अन्य अनुवाद शासन कला, युद्ध कौशल, तर्क शास्त्र, नीति शास्त्र, जादू इत्यादि के क्षेत्रों से थे। इसी प्रकार, *पंचतंत्र* की प्रसिद्ध पुस्तक का अरबी में अनुवाद हुआ और अरबी में उसे कलीला और दिमना की कहानी के रूप में जाना गया।

भारतीय संगीत का अरबी संगीत पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। यद्यपि इसकी किसी पुस्तक का अनुवाद नहीं पाया गया है। जाहिज़ नामक अरबी लेखक ने अपनी पुस्तक में बगदाद में भारतीय संगीत को मिले सम्मान के विषय में लिखा है। उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप की जनता के संगीत को आनंददायक कहा है। भारतीय संगीत पर एक अन्य ऐसा संदर्भ एक अन्य अरब लेखक का है जिसने लय/धुनों और तरंगों पर भारतीय पुस्तक की बात

की है। कुछ विद्वानों द्वारा यह सुझाया गया है कि अरबी संगीत के अनेक तकनीकी शब्द, फ़ारस और भारत से लिए गए हैं। इसी प्रकार, भारतीय संगीत में अनेक फ़ारसी-अरबी लय/तान हैं जैसे येमन और हिज्ज।

अरबी पुस्तकों में भारतीय और अरबी संस्कृतियों के बीच के रिश्तों पर इतनी जानकारी उपलब्ध होने के कारण यह कहना अतार्किक होगा कि सिंध पर अरब की विजय बग़ैर परिणामों की जीत थी। दूसरे शब्दों में, सिर्फ राजनीतिक परिणामों को ही महत्त्व देना और सामाजिक-सांस्कृतिक अथवा अन्य प्रभावों या परिणामों की अनदेखी करना गलत होगा।

6.7 पश्चिम और मध्य एशिया में निरंतर परिवर्तन की स्थिति

क्रमशः 11वीं और 12वीं शताब्दी में महमूद ग़ज़नी और मोहम्मद ग़ौरी जैसे मुस्लिम तुर्कों द्वारा भारत पर किए गए सफल आक्रमण को 8वीं शताब्दी में सिंध की विजय द्वारा तैयार की गई पृष्ठभूमि के चरमोत्कर्ष के रूप में देखा जा सकता है।

मध्य एशिया में तुर्कों के उदय और भारत में उनके बाद के आक्रमणों के साथ 11वीं और 12वीं शताब्दी में वे उत्तर-पश्चिमी सीमा पर पैर जमाने में सफल रहे। महमूद ग़ज़नी और मुइज़ुद्दीन मोहम्मद ग़ौरी द्वारा की गई लूट की घटनाओं के कारण इस्लाम भारत में प्रवेश कर सका। 11वीं शताब्दी की शुरुआत में मुस्लिम तुर्कों द्वारा आक्रमण महमूद ग़ज़नी की लूट से शुरू हुआ। 12वीं शताब्दी के अंत में मुइज़ुद्दीन मोहम्मद ग़ौरी द्वारा भारत में प्रथम मुस्लिम राज्य की स्थापना में इसका चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। हम यहां मुस्लिम आक्रमण विजय के विभिन्न चरणों और मुस्लिम शासन के विस्तार के बारे में चर्चा करेंगे, साथ ही उन कारकों की भी जाँच करेंगे जिन्होंने इन घटनाओं को अंजाम दिया।

जैसा कि पहले बताया गया है, 5वीं शताब्दी सी.ई. से ही अब्बासिद पश्चिम एशिया का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था।

हालांकि, 9वीं शताब्दी के अंत से यह स्थिति बदलने लगी। इन्होंने अपनी ऊर्जा और संसाधन का अधिकांश भाग मध्य एशिया के बुतपरस्त तुर्कों से लड़ने में खर्च कर दिया था। साम्राज्य कई आक्रामक राज्यों में बँट गया। इन राज्यों पर गैर-तुर्क शासकों और तुर्की राजाओं अथवा सुल्तानों ने शासन किया। इन सभी राज्यों ने खलीफा[1] के आधिपत्य को स्वीकार किया। खलीफा को इसकी औपचारिक वैधता मंशूर (औपचारिक पत्र) अनुदान पत्र से मिली थी।

इनमें से अधिकांश मुस्लिम शासकों ने स्वयं को सुल्तान कहलाना शुरू किया। दूसरी ओर, 8वीं शताब्दी में तुर्की खानाबदोश मध्य और पूर्व एशिया के बीच के क्षेत्र ट्रांसऑक्सियाना (इसे अरबी स्रोतों में मवारुन नहर और फ़ारसी में फरारूद के रूप में जाना जाता है) में घुसपैठ कर रहे थे। उनके पास अच्छी सैन्य कुशलता थी। इसलिए अब्बासिद खलीफा और ईरानी शासकों ने उन्हें इस्लाम धर्म में परिवर्तित कर किराए के सैनिकों, महल के रक्षकों और दासों के रूप में भर्ती कर लिया। धीरे-धीरे, इन इस्लामी तुर्की कमांडरों को भाषा, शिष्टाचार, प्रशासनिक नीतियों आदि में ''फ़ारसीकृत'' किया गया। इसका मतलब है कि इस तुर्की शासक वर्ग ने फ़ारसी संस्कृति को आत्मसात कर लिया था और इन्हें अपने

[1] खलीफा वह होता है जिसमें मुख्य मुस्लिम नागरिक और धार्मिक अधिकार निहित होता है और वह पैगंबर मुहम्मद के उत्तराधिकारी और पूरे उम्माह (समुदाय) के एक नेता के रूप में माना जाता है। खलीफा ने बगदाद में 1258 तक और मिस्र में 1517 में हुए ओटोमन के आक्रमण और विजय तक शासन किया; यह शीर्षक ओटोमन सुल्तानों के पास था, जब तक कि इसे 1924 में अतातुर्क द्वारा समाप्त नहीं कर दिया गया। इस्लाम के केंद्रीय धार्मिक पाठ कुरान शरीफ़ में भी दो बार 'खलीफा' शब्द आया है। इसमें उल्लेख है कि, ईश्वर ने सबसे पहले पृथ्वी पर मानवता का निर्माण खलीफा के रूप में किया। दूसरे, इसमें राजा डेविड को ईश्वर के खलीफा के रूप में संबोधित किया गया है। इसमें उन्हें जिम्मेदारी और कर्तव्यनिष्ठा और न्याय के साथ शासन करने की सीख दी गई है।

नस्लीय मूल पर गर्व था। वे दो भाषाएँ बोलते थे। अंततः, उन्होंने पश्चिम एशिया और भारतीय उपमहाद्वीप दोनों में अपनी शक्ति का विस्तार किया।

8वीं शताब्दी में ट्रॉन्सोक्सियाना के क्षेत्र और प्रधान इलाकों का नक्शा। स्रोत : गाय ली स्ट्रेंज (1905), *द लैंड्स ऑफ द ईस्टर्न कैलिफेट : मेसोपोटामिया, पार्विया और सेंट्रल एशिया, फ्रॉम मॉस्लेम कॉन्क्वेस्ट टू टाइम ऑफ तैमूर.* न्यूयार्क : बार्न्स एंड नोबल। श्रेय : सिप्लाकिदास, चित्र सौजन्य : विकिमीडिया कॉमन्स : (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Transoxiana_8th_century.svg).

अब्बासिद साम्राज्य के पतन के बाद इस क्षेत्र की स्थिति गुप्तोत्तर कालीन उत्तर भारत जैसी हो गई थी। यह कई शासकों द्वारा शासित था; प्रत्येक शासक अपने क्षेत्र और सत्ता के विस्तार के लिए एक-दूसरे से लड़ रहे थे। इसके अलावा, इन राज्यों में कुछ महत्वाकांक्षी अधिकारियों ने सत्ता पाने के लिए राजा को सिंहासन से हटाने का प्रयास किया। इसमें न जाने कितने राजवंशों का उदय और पतन हुआ। पश्चिम और मध्य एशिया में इस तरह के राजनीतिक प्रवाह के बीच किसी भी राजवंश की ताकत और अस्तित्व के पीछे मुख्य कारक इसकी सैन्य शक्ति और दक्षता थी। इसलिए, हम कई राजवंशों को एक के बाद एक सत्ता में आते देखते हैं। इस तरह समानिद वंश ने 874 से 999 सी.ई. तक शासन किया।

समानिद वंश। साभार: अरब लीग. स्रोत: विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Samanid_dynasty_(819%E2%80%93999).GIF).

इसे बल्ख के एक ईरानी सरदार ने स्थापित किया, जो धर्मान्तरित था। उसने मध्य एशिया और अफ़ग़ानिस्तान में समरकंद, हेरात आदि क्षेत्रों पर नियंत्रण किया। इस राजवंश के बाद ग़ज़नवी वंश ने 962 से 1186 सी.ई. तक शासन किया।

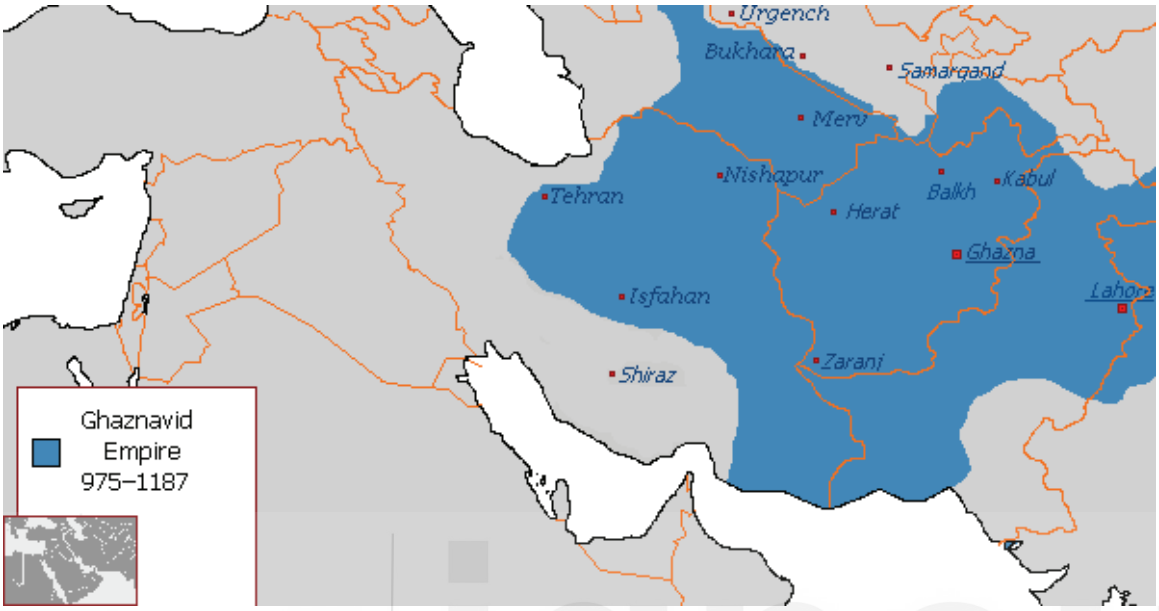

गजनवी साम्राज्य अपने महानतम विस्तार पर, लगभग 1300 सी.ई. श्रेय : अरब लीग. स्रोत : विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:GhaznavidEmpire 975-1187 (AD).PNG).

यह अल्प-टिगिन/अल्प-तेगिन नामक समानिद साम्राज्य के एक तुर्की दास द्वारा स्थापित किया गया था। बाद में ग़ज़नवियों को सेल्जुकिड और ख्वारिज़्मि राजवंशों ने भी हराया था। असल में ख्वारिज़्मि राजवंश ने आगे चलकर एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया जिसे चंगेज़ खान/जेंगिज़ खान के निर्मम मंगोल हमलों ने चकनाचूर कर दिया।

जैसा कि ऊपर देखा गया है, अपने क्षेत्रों का विस्तार करने के लिए इस्लामी तुर्कों के विभिन्न समूहों के बीच लगातार युद्ध हुए थे। उन सभी ने युद्ध के मैदान में अच्छे सैन्य कौशल का प्रदर्शन किया और सत्ता के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा की। इतिहासकार सतीश चंद्र मध्य एशिया के तुर्की योद्धाओं की सैन्य दक्षता के बढ़ने के कुछ कारकों के बारे में बताते हैं। इन कारकों को जानना ज़रूरी है, क्योंकि इनके द्वारा भारतीय राजशाही के खिलाफ उनकी सफलता के पीछे के कारणों का पता चलता है।

क) पहला महत्वपूर्ण कारण यह था कि मध्य एशिया में घोड़ों की बेहतरीन नस्लें पाई जाती थीं। पूरी दुनिया में यहाँ घोड़ों की सबसे अच्छी किस्में थीं और उन्हें मज़बूत, अनुशासित योद्धाओं द्वारा पाला जाता था। ये घोड़े अरब और भारत में आयात किए जाते थे क्योंकि यहाँ के घोड़ों की देशी नस्लें मध्य एशियाई घोड़ों की तरह अच्छी नहीं थीं। घुर के लोग घोड़े-पालक के रूप में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हुए।

ख) दूसरा कारण यह था कि युद्ध उपकरण आसानी से उपलब्ध थे। घुर का क्षेत्र (इसे घौर या घोर भी कहा जाता है) अफ़ग़ानिस्तान के 34 प्रांतों में से एक था। इसके पड़ोसी क्षेत्र धातुओं, विशेष रूप से लोहे की धातुओं में समृद्ध थे। इस स्थलाकृतिक क्षेत्र की पर्वत श्रृंखलाओं में धातुएँ बहुतायत में पाई जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लोहा भारी मात्रा में उपलब्ध था। घुर के लोग बड़ी संख्या में हथियारों और युद्ध-उपकरणों का उत्पादन करते थे। उन्होंने पड़ोसी देशों में इन वस्तुओं का निर्यात

किया। *हुदुदुल आलम*[2] के अनाम लेखक के शब्दों में, ''इस प्रांत से दास, कवच (ज़िरह), कोट (जौशन) और अच्छे अस्त्र-शस्त्र लाए जाते थे''। उस समय के एक अन्य लेखक के अनुसार घुर और काबुल से लेकर कुरलुक/कर्कलुक/कर्लुक/कार्लुक तक का पूरा इलाका मध्य एशिया में अल्ताई पहाड़ों के एक प्रमुख तुर्किक आदिवासी संघ का क्षेत्र था, पश्चिम में धातु के काम में व्यस्त था। इसलिए, युद्ध के औज़ार और सामग्री तुर्की योद्धाओं के लिए आसानी से उपलब्ध थे। जब महमूद ग़ज़नी ने 1020 सी.ई. में घुर पर हमला किया तो उसके प्रमुख अबुल हसन खलफ ने उसे ढाल और कुइरास के साथ कई अस्त्र-शस्त्र दिए। महमूद ने घुरिद हथियारों के मूल्यों को पहचाना और उसकी प्रशंसा की। उसने घुरिद अधिकारियों को घेराबंदी-युद्ध के विशेषज्ञों के रूप में नियुक्त किया। इस तरह अच्छी गुणवत्ता वाले घोड़ों और युद्ध सामग्री की आपूर्ति ने हर जगह तुर्कों को उनकी सैन्य गतिविधियों में मदद की। घुर ने हाल ही में मुस्लिम सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए अपने दरवाज़े खोले थे। मध्ययुगीन युद्ध में दो सबसे महत्वपूर्ण ज़रूरतें थीं– घोड़े और लोहा।

घुर के साथ अफगानिस्तान का नक्शा। श्रेय : टी यू बी एस। स्रोत : विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Ghor_in_ Afghanistan.svg).

ग) तुर्की योद्धाओं की सफलता के लिए ज़िम्मेदार एक और कारक उनकी ग़ाज़ी[1] भावना थी। यह पहली बार पश्चिम एशिया में देखा गया था कि तुर्की योद्धाओं को तुर्कमेन या तुर्कोमान नामक गैर-तुर्की खानाबदोश योद्धाओं के खिलाफ लगातार लड़ना पड़ा था। इस समय ट्रांसओक्सियाना का क्षेत्र ईरानी शासन के अधीन था। इसके आसपास के क्षेत्रों में तुर्क और गैर-मुस्लिम खानाबदोश तुर्कमानों का निवास था। तुर्क और गुज़ या ओगुज़ जैसे तुर्कोमानों के बीच लगातार झगड़े होते थे। वे कारा-खितई (मध्य एशियाई मैदान) में रहते थे। इस अवधि के दौरान तुर्की सम्राटों ने गुलामों को पकड़ने के लिए तुर्कमेन क्षेत्रों में निरंतर घुसपैठ की। वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान के हेरात, वर्तमान ईरान के सिस्तान, वर्तमान उज़बेकिस्तान के समरकंद और बुखारा के गुलाम-बाजारों में इन गुलामों की बहुत मांग थी। घुर इन बाजारों में दासों की आपूर्ति किया करते थे। इस तरह के अभियानों में शामिल योद्धा लूट से कमाने के लिए स्वतंत्र

2 (अरबी में इसका अर्थ है ''विश्व की सीमाएँ''। यह 10वीं शताब्दी में अज्ञात लेखक द्वारा फारसी में लिखी गई भूगोल पर एक रचना है। लेखक जोजियन/जौज्जान/जोजियान का वासी था, जो अफगानिस्तान के 34 प्रांतों में से एक था)।

3 एक योद्धा के लिए इस्लामी शब्द। यह एक उपाधी था जो मुस्लिम योद्धाओं या चैंपियन को दिया गया था और कई ओटोमन सुल्तानों द्वारा इस्तेमाल किया गया था।

थे। हालाँकि, इस तरह की लूट और लूट के पीछे मुस्लिम तुर्की योद्धाओं का एक अन्य उद्देश्य था। इस्लाम को गैर-मुस्लिम आबादी के बीच फैलाना था और इसलिए, उन्हें गज़ियों के रूप में जाना जाता था। इसलिए, हम देखते हैं कि ग़ाज़ी की भावना को पहले मध्य एशियाई खानाबदोश जनजातियों से लड़ने के लिए सुयोजित किया गया। बाद में इसे भारत में ''अविश्वासियों'' के खिलाफ अपनाया गया था। महमूद ग़ज़नी अफ़ग़ानिस्तान का एक लुटेरा था। उसने भारत पर आक्रमण के समय उसी ग़ाज़ी की भावना को अपनाया और प्रदर्शित किया। कुछ इतिहासकार भारतीय उपमहाद्वीप में उसके आक्रमण और विजय को एक पवित्र युद्ध के रूप में देखते हैं। इसमें सहायता करने वाले स्वयंसेवकों की कोई कमी नहीं थी। उनकी विजय पूरे पूरब में प्रसिद्ध थी। कुछ 20,000 योद्धा ऑक्सस[4] के आगे से आए थे। वे प्रार्थना करते थे कि उन्हें इस्लाम के लिए युद्ध करने का अधिकार मिले और संभवतः वे इस महान कार्य के लिए शहादत का ताज पहनने के लिए आतुर थे। इस तरह के जोश ने एक विशाल सेना को मज़बूत किया और उसने 1018 सी.ई. में भारत में अपना सबसे बड़ा अभियान चलाया और अपने मकसद में बहुत दूर तक पहुँचा।

6.8 पश्चिमोत्तर भारत में ग़ज़नी की घुसपैठ

जैसा कि अब तक समझा गया कि मध्य एशिया के तुर्की और गैर-तुर्की गुट लगातार अपने आसपास के क्षेत्रों में अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने के लिए एक-दूसरे के साथ संघर्ष करते थे। इस तरह के प्रयासों में उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान में कई क्षेत्रों पर भी विजय प्राप्त की। इसी तरह से खुरासान में समानिद शासकों के एक सेनाध्यक्ष अल्प-तेगिन ने 963 सी.ई. में दक्षिण जबुलिस्तान में ग़ज़नी की ओर कूच किया और खुद को एक स्वतंत्र शासक के रूप में घोषित किया।

अफ़ग़ानिस्तान के हिंदूशाही राजाओं ने ग़ज़नी के पूर्व समानिद नियंत्रक, मुल्तान के पास भट्टी सम्राटों के साथ-साथ मुल्तान के मुस्लिम अमीर से अपनी सीमाओं और क्षेत्रों की रक्षा के लिए गठबंधन किया।

उन्होंने जयपाल नामक हिंदूशाही शासक की मदद की थी। क्योंकि वे लगातार ग़ज़नी के आक्रमणकारी अभियानों से परेशान थे। सबुक्तगीन/सबुक्तगिन/सेबुक्तिगिन अल्प-तिगिन का उत्तराधिकारी – 977 सी.ई. के बाद से हिंदूशाही क्षेत्रों में एक ही तरह का इरादा रखता था। नतीजतन, 10वीं शताब्दी के अंत तक जबुलिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान को पहले ही जीत लिया गया था। इन क्षेत्रों की विजय ने भारत में तुर्कों के अतिक्रमण की नींव रखी।

इसके अलावा, महमूद ग़ज़नी ने (जिसे सुल्तान महमूद बिन सबुक्तिगिन के नाम से भी जाना जाता है) – सबुक्तिगिन के उत्तराधिकारी के रूप में 999 सी.ई. से आक्रमण जारी रखे। दिलचस्प बात यह है उसके सिक्कों पर ''महमूद ग़ज़नी'' शीर्षक न होकर आमिर महमूद का नाम मिलता है और न ही इस शीर्षक को खलीफा द्वारा दिया गया था। उसने फ़ारस और ट्रांसओक्सियाना में अपनी विजय के आधार पर अमीर महमूद की उपाधि को प्राप्त किया। उसने 1001 सी.ई. में जयपाल के खिलाफ एक उग्र लड़ाई लड़ी। यह घुड़सवार सेना और कुशल सैन्य रणनीति की लड़ाई थी। जयपाल को महमूद की सेनाओं ने बुरी तरह हरा दिया और उसकी राजधानी वैहिंद/पेशावर तबाह हो गई। फ़िर भी, शायद महमूद ने जयपाल के साथ शांति बनाई और सिंधु के पश्चिम पर ही विजय प्राप्त की।

[4] ऑक्सस मध्य एशिया की एक प्रमुख नदी का लैटिन नाम है, जिसे अमू दरिया के नाम से जाना जाता है, जिसे अमू या अमो नदी भी कहा जाता है। प्राचीन काल में यह आधुनिक ईरान और तूरान के बीच सीमा का सूचक थी।

हालांकि, इस हार ने जयपाल को गंभीर झटका दिया और कुछ समय बाद उनकी मृत्यु हो गई। सूत्रों के अनुसार उन्होंने अपनी हार के अपमान के परिणामस्वरूप अंतिम संस्कार की चिता में आत्मदाह कर लिया क्योंकि उन्होंने सोचा कि वे शाही राजवंश के लिए अपमान और आपदा लाए थे।

उनके बाद उनका बेटा आनंदपाल/अनंतपाल सिंहासन पर बैठा। वह अपने क्षेत्र में तुर्की छापों को चुनौती देता रहा। पंजाब में प्रवेश करने से पहले, महमूद को अभी भी सिंधु के पास आनंदपाल की सेना के साथ संघर्ष करना पड़ा था। एक कठिन चुनौती के बाद सेना ने 1006 सी.ई. में ऊपरी सिंधु पर विजय प्राप्त की। पंजाब प्रांत आखिरकार तीन साल बाद सिंधु के पूर्वी क्षेत्र के छाछ/चच मैदानों में जीता गया। शाहियों ने वैहिंद में अपनी पिछली हार के बाद वर्तमान पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में साल्ट रेंज में नंदाना/नंदना में अपनी राजधानी स्थानांतरित कर ली थी। महमूद की सेना ने आनंदपाल की सेना और संसाधनों को भारी क्षति पहुँचाई। आनंदपाल लड़ाई हार गया। उसे बहुत वित्तीय और क्षेत्रीय नुकसान उठाना पड़ा। महमूद के प्रति आनंदपाल का यह अंतिम प्रतिरोध था। 1010 सी.ई. में ग़ज़नवी के साथ उन्हें एक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया गया और कुछ ही साल बाद उनकी प्राकृतिक कारणों से मृत्यु हो गई।

भीमगढ़ किले को रियासी के पास स्थित होने के कारण रियासी किला भी कहा जाता है। रियासी वर्तमान जम्मू के उत्तर-पश्चिम में चिनाब नदी के किनारे एक शहर है। उस भीमगढ़ किले पर भी कब्ज़ा कर लिया गया था। लेकिन आनंदपाल को महमूद के सामंती के रूप में पंजाब पर शासन करने की अनुमति दी गई थी। हालाँकि, 1015 सी.ई. में महमूद ने लाहौर को जीतकर झेलम नदी तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। मुल्तान, जिस पर एक मुस्लिम सुल्तान का शासन था, आनंदपाल के साथ गठबंधन के बावजूद हार गया। हालाँकि, कश्मीर पर विजय प्राप्त करने की महमूद की इच्छा प्रतिकूल मौसमी परिस्थितियों के कारण 1015 सी.ई. में अपनी सेनाओं की हार के कारण अधूरी रह गई। भारत में यह उसकी पहली हार थी।

इसी तरह महमूद ने पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान, पंजाब और मुल्तान को जीतकर भारत की ओर अपना रास्ता बनाया। अगले पड़ाव में गंगा के मैदानों में आक्रमण के माध्यम से धन अर्जित करना उसका उद्देश्य था। इस क्षेत्र में महमूद के विजयी आक्रमणों का अध्ययन करने से पहले इस अवधि के दौरान उत्तर भारतीय राज्यों के बारे में विचार कर आवश्यक है।

6.8.1 11वीं शताब्दी की शुरुआत में उत्तर भारत का राजनीतिक भूगोल

गुप्तोत्तर काल से दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक उत्तर भारत का क्षेत्र कई राजपूत राज्यों में विभाजित था। लगभग यही स्थिति दक्षिण भारत की भी थी। वास्तव में, इस अवधि में उत्तर भारत में गुप्तों की तरह एक विशाल साम्राज्य का अभाव था। इस समय के राजनीतिक परिदृश्य में गुर्जर-प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों के बीच त्रिपक्षीय संघर्ष अहम् था।

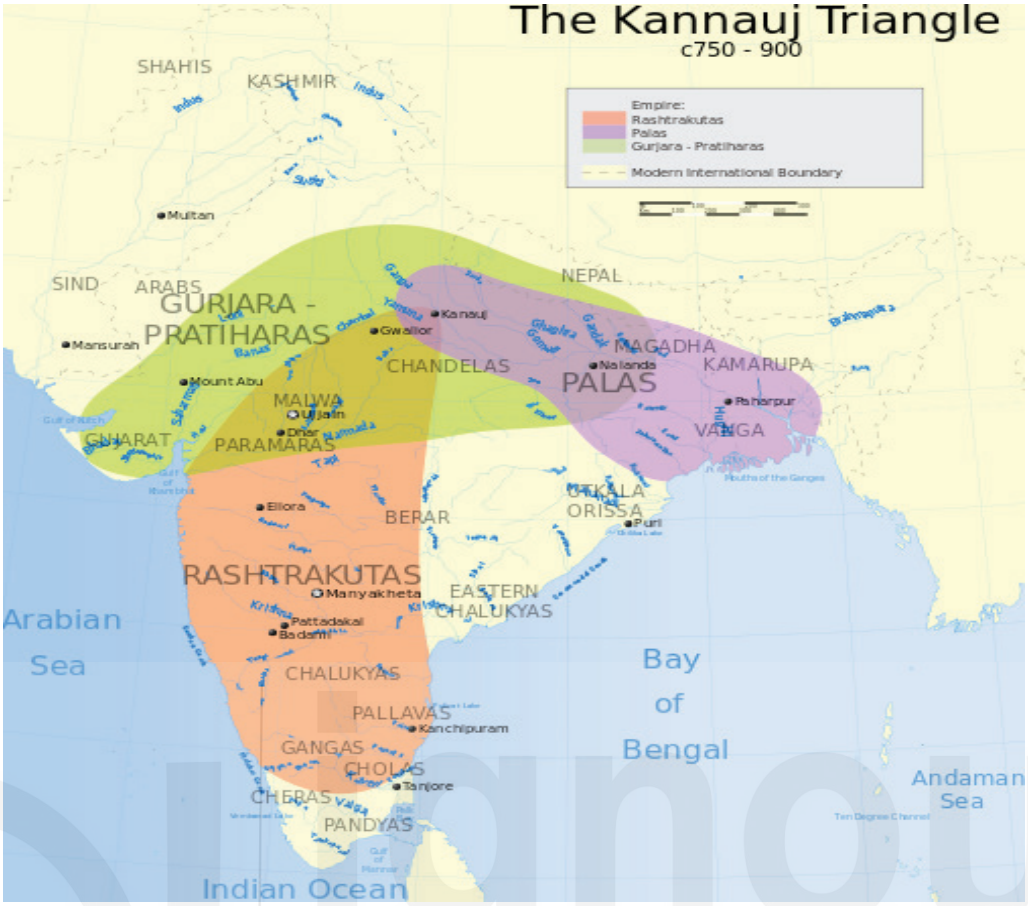

साभारः डब्ल्यूः यूज़रः प्लेनमैड. स्रोतः जॉन केय, हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया 2000, ग्रोव प्रकाशन, न्यूयॉर्क, पृ. 198. चित्र सौजन्यः विकिमीडिया कॉमन्स (https://en.wikipedia.org/wiki/File:Indian_Kanauj_ triangle_map.svg).

गुर्जर-प्रतिहार और राष्ट्रकूट उस समय भारत के दो सबसे शक्तिशाली राजघराने थे। हालांकि, 10वीं शताब्दी के मध्य तक दोनों का पतन होने लगा। गुर्जर-प्रतिहारों का आधिपत्य उत्तर में हिमालय की तलहटी से लेकर दक्षिण में उज्जैन तक और पूर्व में मोंगीर से पश्चिम में गुजरात तक फैला हुआ था। लेकिन 10वीं शताब्दी की दूसरी तिमाही तक वह सिर्फ वर्तमान उत्तर प्रदेश तक ही सीमित हो गया था। इस बीच, उत्तर और मध्य भारत में कई राज्य-समूहों का उदय हुआ। उनमें सबसे प्रमुख थेः

- आधुनिक राज्य मध्य प्रदेश में कालिंजर और महोबा के चंदेल,
- राजस्थान में शकंभरी या सांभर के चौहान/चहमान,
- गुजरात के चालुक्य (जिन्हें स्थानीय साहित्य में सोलंकी वंश के रूप में भी जाना जाता है), अपनी राजधानी अन्हिलवाड़ा (आधुनिक पाटन) के साथ, और
- मालवा के परमार, पश्चिमी मध्य प्रदेश में स्थित अपनी राजधानी धारा (अब धार) जो बाद में लगभग 35 किमी दूर मंडप-दुर्गा (अब मांडू) में स्थानांतरित कर दी गई थी। वर्तमान धार अथवा तत्कालीन धारा कई बार दुश्मनों द्वारा नष्ट की गई।

कश्मीर पर रानी दिद्दा का शासन था। उन्होंने 26 साल[5] तक शासन किया। हिंदू शाही वंश के साथ पुरानी प्रतिद्वंद्विता के कारण उन्होंने ग़ज़नवी के आक्रमण के खिलाफ उनकी मदद

[5] वह 958 से 1003 सी.ई. तक कश्मीर की शासक थी। पहले अपने बेटे और पोतों के लिए राज-प्रतिनिधि के रूप में और 980 सी.ई. से एकमात्र सम्राट के रूप में उसने शासन किया। हमें उसके और उसके शासनकाल के बारे में जानकारी 12वीं शताब्दी के कल्हण के *राजतरंगिणी* से मिली : उत्तर पश्चिमी भारतीय उपमहाद्वीप, विशेषकर कश्मीर के राजाओं के बारे में संस्कृत में एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक इतिवृत्त।

नहीं की। इसलिए, हम देख सकते हैं कि उत्तर भारत विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ पूरी तरह से असंगठित था। इस कारण से, महमूद के लिए इस क्षेत्र में आक्रमण करना आसान था। पंजाब के बाद उसने धन प्राप्ति के लिए गंगा के मैदानों में तीन अभियान किए। 1015 सी.ई. के अंत तक उसने कुछ सामंती शासकों की मदद से हिमालय की तलहटी के साथ-साथ बारां या बुलंदशहर के एक स्थानीय राजपूत शासक को हराया। इसके बाद उसने मथुरा और वृंदावन दोनों के मंदिरों को लूटा।

महमूद द्वारा मथुरा की लूटपाट

पवित्र शहर मथुरा, हिंदू धर्म का एक प्राचीन स्थल, उन दिनों मंदिरों से भरा था। इसे देखकर महमूद ने सोचा था कि ''यह आदमी द्वारा नहीं बल्कि जिन्न द्वारा बनाया गया है''; जहां गहनों के साथ चमकती हुई स्वर्ण और चांदी की मूर्तियाँ इतने विशाल रूप में खड़ी थीं कि उन्हें तोलने के लिए तोड़ना पड़ा। उसे शहर की दीवार, जो एक मज़बूत पत्थर से निर्मित उत्कृष्ट संरचना थी और बाढ़ से बचाने के लिए यमुना नदी पर दो द्वार थे जो ऊँचे और बड़े चबूतरे पर खड़े थे, उनका सामना किया। शहर के दो किनारों पर मंदिरों के साथ हजारों घर थे, जिनके साथ मंदिर जुड़े थे। सभी की पक्की इमारतों के साथ लोहे की मज़बूत सलाखें थीं। इसके दूसरी ओर अन्य इमारतें लकड़ी के खंभों पर टिकी थीं। शहर के बीच में एक मंदिर था, जिसकी बारीकी और विशालता की गणना न तो कोई चित्र और न ही कोई विवरण कर सकता था। उसने इस मंदिर आश्चर्यपूर्ण विवरण दिया है।

''अगर कोई भी इसके बराबर एक इमारत का निर्माण करना चाहता है, तो वह 1 करोड़ दीनार को खर्च किए बिना ऐसा करने में सक्षम नहीं होगा और काम में 200 साल लगेंगे, भले ही सबसे सक्षम और अनुभवी कामगार इसे बनाने में लगे हों।''

सभी मंदिरों को मिट्टी के तेल/किरोसीन तेल और आग से जलाकर नष्ट कर दिया गया और ज़मीन तक समतल कर दिया गया। मथुरा शहर में 20 दिनों तक तोड़फोड़ और लूटपाट की गई। कहा जाता है कि शुद्ध सोने की पांच महान मूर्तियों, जिनमें माणिक की आंखें और अन्य कीमती पत्थरों के अलंकरण थे, साथ में बड़ी संख्या में चांदी की छोटी मूर्तियों को लूटा गया। उनका कुल वज़न सौ से अधिक ऊंटों के लिए भार के बराबर था। लूट का कुल मूल्य तीन लाख रुपये आंका गया था जबकि कैद में रखे गए हिंदुओं की संख्या 5000 से अधिक थी। कई मंदिर मूल्यवान सामग्रियों की लूट के बाद छोड़ दिए गये क्योंकि वो इतने विशाल थे कि उन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि महमूद ने उन मंदिरों की सुंदरता, भव्यता के कारण उन्हें नष्ट नहीं किया। यह उसके ग़ज़नी के राज्यपाल को भेजे गए पत्र में उनके गौरव और विलक्षणता के बयान पर आधारित है।

इस शानदार जीत के बाद उसने गुर्जर-प्रतिहारों की प्रतिष्ठित राजधानी कन्नौज पर हमला किया। इसे हिंदुस्तान का प्रमुख शहर माना जाता था। गंगा घाटी में यह उसके लिए सबसे आश्चर्यजनक पड़ाव था। राजा को मात्र इतना ही पता चला कि सुल्तान ने आक्रमण किया और वह भाग गया। इस महान गंगा शहर के सात किलों को एक ही दिन में गिरा दिया गया। कन्नौज के सभी भव्य मंदिरों में से एक को भी नहीं छोड़ा गया। न ही पड़ोसी राजा अधिक भाग्यशाली थे जैसे असी के शासक चंदल भोर और शारवा के हिंदू राजा चंद राय जिनका राज्य शिवालिक पहाड़ियों में फैला था। उन्होंने अपने खज़ाने को इकट्ठा किया और पहाड़ियों की ओर जाने लगे, लेकिन उनके दुश्मन महमूद ने उन्हें जंगल के रास्ते पर ही पकड़ लिया। कैदियों व लूट का सामान इतनी तादाद में वह घर ले आया कि उनसे फ़ारस

के दास-बाजार भर दिया। अब वहाँ कुछ चन्द पैसों में एक दास को खरीदा जा सकता था। भारत में धन की लूट से उसे मध्य एशिया में अपने दुश्मनों के खिलाफ मदद मिली। उसने ईरान में भी अपना साम्राज्य बढ़ाया और बग़दाद के खलीफा ने उसे मान्यता दी।

महमूद ग़ज़नी ने 1019 और 1021 सी.ई. में गंगा घाटी में दो और छापे मारे। लेकिन उसे इनसे उतना लाभ नहीं मिला। सबसे पहले गंगा की घाटी में एक राजपूत गठबंधन को तोड़ना था। ग्वालियर के राजपूत राजा ने महमूद के खिलाफ हिंदूशाही सम्राट की मदद की थी। महमूद ने हिंदूशाही और चंदेल शासकों दोनों को हराया। इसके बाद, वह चंदेल सम्राट विद्याधर को हराने के लिए आगे बढ़ा। लेकिन दोनों के बीच कुछ भी निर्णायक नहीं हुआ। महमूद ने विद्याधर से एक मामूली रकम स्वीकार कर ली।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि उत्तर भारत में महमूद के इस तरह के अभियानों का उद्देश्य पंजाब के आगे साम्राज्य का विस्तार करना नहीं था। वह केवल एक तरफ राज्यों की संपत्ति को लूटता था और दूसरी ओर ऊपरी गंगा दोआब में बिना किसी शक्तिशाली स्थानीय केन्द्र के एक तटस्थ क्षेत्र बनाना चाहता था। वास्तव में, महमूद ग़ज़नी के इन हमलों ने शक्तिशाली शाही और चंदेल क्षेत्रों को भी पूरी तरह से तबाह कर दिया। महमूद ग़ज़नी का आखिरी बड़ा आक्रमण गुजरात के पश्चिमी तट पर 1025 सी.ई. में सौराष्ट्र के सोमनाथ मंदिर पर हुआ था। इसके लिए राजस्थान के थार रेगिस्तान तक पहुँच गया था जिस पर अभी तक किसी आक्रमणकारी ने हमला नहीं किया था।

महमूद द्वारा सोमनाथ की लूट

1025.26 सी.ई. की सर्दियों में महमूद ने अपने अंतिम पड़ाव में गुजरात पर आक्रमण किया। उसने समृद्ध और अलौकिक सोमनाथ मंदिर को लूटा और अपनी विजय यात्रा के लिए खूब धन लूटा। ऐसा कहा जाता है कि किसी भी समय एक सौ हजार तीर्थयात्री वहाँ इकट्ठे होते थे। एक हजार ब्राह्मण मंदिर की सेवा और इसके खज़ाने की रक्षा करते। इसके द्वार पर सैकड़ों नर्तकियाँ और गायक प्रदर्शन करते थे। मंदिर गर्भगृह में प्रसिद्ध लिंग जगमगाते हुए रत्नों से अलंकृत था। यह आभूशणों से सजाए गए विशालकाय पत्थरों से अलंकृत और आभूषणों से झूलती हुई दीपवृक्षों की रोशनी से सजा था। जब तक यह प्राचीन महान और भव्य पूजनीय प्रतीक अपनी प्राचीन महिमा में अनतिक्रान्त था तब तक महमूद अपनी मूर्ति भंजन परंपरा को छोड़ नहीं सकता था और न ही उसका खज़ाना भारत के बेहतरीन रत्नों से भरा हो सकता था। इसलिए, उसका अभियान मुल्तान से लेकर अन्हलवाड़ तक और समुद्र तट पर जारी रहा। वह लगातार लड़ता रहा और कत्लेआम करता रहा, जब तक कि वह अरब सागर की लहरों से धोए गए मंदिर के परिसर में नहीं पहुँच गया। मंदिर की सुरक्षा और सेवा में लगे पुरुषों के बावजूद अपने बल के साथ लगभग 50,000 हिंदुओं को मारते हुए, दीवारों को तोड़ दिया। महान पत्थर को नीचे गिरा दिया गया और इसके टुकड़ों को विजेता के महल को सुशोभित करने के लिए ले जाया गया। लूटे हुए मंदिर-द्वार ग़ज़नी में लगाए गए। दस लाख पाउंड का खज़ाना उन आक्रमणकारी-लुटेरों के लिए इनाम था, जो भारत और उससे आगे के कुख्यात अभियानों में उसके साथ शामिल हुए थे।

सोमनाथ की तबाही ने ग़ज़नी के महमूद को चौंपियन और इस्लामिक आस्था का पथ-प्रदर्शक तथा हिंदू विश्वास का विरोधी बना दिया। लगभग नौ शताब्दियों तक हर मुस्लिम की नज़र में उसके करतब शानदार किंवदंतियों के साथ जुड़े और सुशोभित हुए, जिनमें उनकी और उसकी सेना का गुणगान किया गया।

सोमनाथ मंदिर का खंडहर। लगभग 1869 में डी. एच. साइक्स द्वारा लिया गया फोटो, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, स्रोत : डी. एच. साइक्स चित्र : विकिमीडिया कॉमन्स फोटो सौजन्य : (https://commons.wikimedia.org/wiki/ File:Somnath_ temple_ruins_(1869).jpg)

महमूद के सफल सैन्य अभियानों की ताकत और पैमाने से उसके और उसके सैनिकों के सामने आने वाली कठिनाइयाँ को कम नहीं आंका जा सकता और लौटते समय और अधिक हो गईं। उन्हें भ्रष्ट पथ प्रदर्शकों ने गुमराह किया और पानी की कमी के कारण उसकी सेना अधिक संख्या में मारी गई और रेगिस्तान में भटक गई। जो लोग बच गए वे साल्ट रेंज के उग्र जाटों के हाथों में पड़ गए। उन्होंने लूट की वस्तुओं से लदे हुए थके सैनिकों को परेशान किया। साल खत्म होने से पहले महमूद ने अपने सैनिकों को आखिरी बार भारत में धर्म-विरोधी और प्रदर्शनकारी ताकतों को दंडित करने के लिए प्रेरित किया। सूत्रों के अनुसार, उसने मुल्तान में एक बेड़ा बनाया और इसे भालो और दिवार गिराने की मशीन से लैस किया। उसने अपनी 1400 नावों में से प्रत्येक पर नेफ्था बम के साथ 20 तीरंदाजों को रखा और 4000 जाटों की विरोधी सेना का सामना किया। नेफ्था को बरसा कर उसने उनके जहाजों को जला दिया। हालांकि, इन विवरणों को गढ़ा हुआ अथवा अतिरंजित कहा जा सकता है। क्योंकि ऊपरी सिंधु पर कई नावें कभी नहीं हो सकतीं और दूसरी बात, पहाड़ी जनजातियाँ आमतौर पर नौसैनिक युद्ध में माहिर नहीं थीं। उसके द्वारा जाटों से भूमि या पानी के माध्यम से बदला लेना आश्वासन के साथ नहीं कहा जा सकता। वह ग़ज़नी में लौट आया और चार साल बाद 1030 सी.ई. में उसकी मृत्यु हो गई।

महमूद ग़ज़नी एक साहसी योद्धा था। उसके पास महान सैन्य क्षमताएं और राजनीतिक उपलब्धियां थीं। उसने ग़ज़ना/ग़ज़नी/ग़ज़नीह के एक छोटे से राज्य को एक विशाल और समृद्ध साम्राज्य में बदल दिया था, जिसमें वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान, पूर्वी ईरान और भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भागों के अधिकांश हिस्से शामिल थे। अपने जंगी कौशल के अलावा वह ग़ज़नवी साम्राज्य में फ़ारसी साहित्य का संरक्षक भी था। समानिद बुखारा और खुरासन के सांस्कृतिक केंद्रों से प्रभावित हो कर उसने ग़ज़नी को फ़ारसी विद्वता का केंद्र बनाया। वहाँ उसने कई कवियों और लेखकों को आमंत्रित किया:

- फ़िरदौसी
- *अल-बेरूनी*
- युज़ारी
- उनसुरी आदि।

उसके द्वारा ग़ज़नी राज्य में धूमधाम, प्रदर्शन और भव्यता ज़्यादातर भारत से लूट के धन के कारण संभव बन सकी।

बोध प्रश्न 2

1) किन कारकों ने तुर्की योद्धाओं की सैन्य दक्षता को बढ़ाया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 11वीं शताब्दी में उत्तर भारत में राजपूतों में एकता के अभाव पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

6.9 भारत और मध्य एशिया में ग़ज़नवियों का पतन और ग़ौरी वंश का उदय

यह देखा गया कि भारत में धन की लूट के बावजूद महमूद एक अच्छा और सक्षम शासक नहीं बन सका। उसने अपने राज्य में कोई स्थायी संस्थान नहीं बनाया और ग़ज़नी के बाहर उसका शासन अत्याचारी था। शायद यही कारण था कि ग़ज़नवी इतिहासकार उतबी[6] ने खुरसान/खोरासन[7], जब वो महमूद के शासन के तहत था, के संदर्भ में कहा है:

''मामलों में कर वसूलने के अलावा कुछ भी नहीं था, जिसके परिणामस्वरूप बिना किसी रचनात्मक उपाय के राजस्व के नए स्रोतों को ईजाद करने का प्रयास किया जाता था। अतेव, कुछ समय में खुरसान अत्यंत गरीब हो गया''।

ग़ज़नवी और सेलजुकिड साम्राज्य के बीच स्थित एक छोटे और अलग प्रांत ''घुर'' में स्थित गौरियों का अप्रत्याशित उदय 12वीं शताब्दी की एक असामान्य घटना थी। यह वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान के सबसे कम विकसित क्षेत्रों में से एक था। यह पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान में हेरात/हरि नदी की उपजाऊ घाटी में ग़ज़नी के पश्चिम और हेरात प्रांत के पूर्व में स्थित था। चूंकि यह एक पहाड़ी क्षेत्र था, इसलिए इसका मुख्य व्यवसाय अधिकतर पशु-पालन या कृषि था। यह मुस्लिम रियासतों से घिरा एक बुतपरस्त (pagan) क्षेत्र था। परन्तु, 10वीं शताब्दी के अंत और 11वीं शताब्दी की शुरुआत में ग़ज़नवियों द्वारा इसका ''इस्लामीकरण'' किया गया।

---

[6] पूरा नाम : अबू नस्र मुहम्मद इब्न मुहम्मद अल जब्बारू-एल' उतबी (या अल-उतबी)

[7] महान ईरान के उत्तर-पूर्व का क्षेत्र जिसमें मध्य एशिया और अफगानिस्तान के कुछ हिस्से शामिल है। यह शब्द केवल पूर्व (शब्दिक रूप से ''सूर्योदय'') का दर्शाता है।

ग़ौरी शासक या शंसबनिद (Shansabanids) छोटे स्तर के पशुपालक मुखिया (chieftains) थे। उन्होंने 12वीं शताब्दी के मध्य में हेरात में हस्तक्षेप करके खुद को सर्वोच्च बनाने की कोशिश की, जब इसके नियंत्रण/शासक ने संजर नाम के सैलजुकिड राजा के खिलाफ़ विद्रोह किया। ग़ज़नवियों ने गौरियों के इस कृत्य से खतरा महसूस करते हुए ग़ौरी सम्राट अलाऊद्दीन हुसैन शाह के भाई को कैद करके उसे ज़हर दे दिया। इससे क्रोधित होकर हुसैन शाह ने ग़ज़नवी शासक बहराम शाह को हराकर ग़ज़नी पर कब्ज़ा कर लिया। ग़ज़नी शहर को लूटा गया और तहस-नहस कर दिया गया। इसी कारण से अलाउद्दीन को *जहान् सोज़* (दुनिया को जलाने वाला) की उपाधि दी गई। इस घटनाक्रम ने ग़ज़नवियों के पतन और गौरियों के उदय को चिह्नित किया।

अब ग़ौरी लोग सेलजुकिडों से मुक्त होना चाहते थे और खुरासान व मर्व के समृद्ध क्षेत्रों पर अपने नियंत्रण के लिए लड़ना चाहते थे। ग़ज़नवियों की तरह वे भी सामान्य जन पर बोझल करों के कारण अलोकप्रिय थे। इससे उनके लिए इस क्षेत्र में अपने अधिकार और व्यवस्था को बनाए रखना मुश्किल हो गया। इसके अलावा, वे लगातार ऑक्सस नदी के पार की अन्य तुर्की जनजतियों से भिड़ते रहते थे। 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में उनके अंतर्ग्रहण के पीछे ये व्यापक कारण थे। 1163 सी.ई. में घुर के शासक बने गियासुद्दीन मुहम्मद ने अपने छोटे भाई मुइज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद को ग़ज़ना का राजा बनाया। दूसरी तरफ उसने स्वयं को मध्य और पश्चिम एशियाई मामलों पर केंद्रित किया।

6.9.1 12वीं शताब्दी की शुरुआत में उत्तर भारत का राजनीतिक परिदृश्य

12वीं शताब्दी के उत्तर भारत में अलग-अलग राजपूत राज्यों के बीच वही एकता का अभाव देखा गया जो 11वीं शताब्दी में ग़ज़नवी आक्रमणों के दौरान सामने आया था। इस काल के शक्तिशाली राज्यों में से एक राज्य चाहमानों या चौहानों का था। इन्होंने दिल्ली, मथुरा, गुजरात, राजपूताना आदि की ओर अपने अधिकार क्षेत्र का विस्तार करने का प्रयास किया। चौहान राजा विग्रहराज ने चित्तौड़ पर विजय प्राप्त की और 1151 सी.ई. में दिल्ली को तोमर राजाओं से भी जीता। उसने दिल्ली और हाँसी के बीच के क्षेत्र पर भी कब्ज़ा करने की कोशिश की जो तोमर और ग़ज़नवी शासकों के बीच एक विवादित क्षेत्र था। चौहानों को ग़ज़नवी आक्रमणों का सामना करना पड़ा।

पृथ्वीराज III, जिसे लोक कथाओं में पृथ्वीराज चौहान या राय पिथौरा के नाम से जाना जाता है, इस राजवंश का सबसे प्रमुख और प्रतिष्ठित सम्राट था। उन्होंने संभवतः 16 साल की उम्र में सिंहासन संभाला और राजपूताना[8] में तेजी से अपने साम्राज्य का विस्तार किया। कई राजपूत राज्यों पर विजय प्राप्त की। उन्होंने खजुराहो और महोबा के चन्देलों की ओर अभियान का नेतृत्व भी किया। जैसा कि 11वीं शताब्दी में देखा गया था कि चंदेलों ने भारत के उत्तर और मध्य क्षेत्रों में सबसे शक्तिशाली राज्य का गठन किया था। यहाँ तक कि ग़ज़नवियों को कड़ी टक्कर देने का गौरवशाली इतिहास भी उनसे संबंद्ध था। महोबा को चौहानों से बचाने के लिए लड़ने वाले एवं वीरगति को प्राप्त हुए प्रसिद्ध योद्धाओं आल्हा और उदल का उल्लेख *पृथ्वीराज-रासो* और *आल्हा-खंड* नामक साहित्यिक कृतियों में किया गया है। हालाँकि, चूंकि ये रचनाएं बहुत बाद में लिखी गईं, इसलिए इनके आख्यानों पर इतिहासकारों को संदेह है। फ़िर भी, जो विश्वास करने लायक है वह यह है कि वास्तव में चौहानों ने चंदेलों को पूरी तरह से नेस्तनाबूत किया। चौहान अपने पुराने प्रतिद्वंदी – गुजरात के चालुक्यों – को हराने के भी आकांक्षी थे, परन्तु वे ऐसा कर न सके। इसके

[8] इसका शाब्दिक अर्थ है ''राजपूतों की भूमि''। इस क्षेत्र में मुख्य रूप से वर्तमान भारतीय राज्यों – राजस्थान, मध्य प्रदेश और गुजरात के कुछ हिस्से तथा आधुनिक दक्षिणी पाकिस्तान में सिंध के आसपास के कुछ क्षेत्र शामिल थे।

बाद उन्होंने गंगा घाटी और पंजाब में उसी महत्वाकांक्षा को पूरा करने की कोशिश की।

इस समय गहढ़वाल कन्नौज को अपनी राजधानी बनाकर उत्तरी मैदानों पर शासन कर रहे थे। मौखिक आख्यानों के अनुसार, जो ऐतिहासिक रूप से अविश्वसनीय और अप्रामाणिक हैं, दोनों राजनीतिक शक्तियों के बीच प्रतिद्वंद्विता का मुख्य कारण गहढ़वाल सम्राट जय चन्द की बेटी का अपहरण था। कहानी के अनुसार उनकी बेटी संयोगिता का उसके स्वयंवर में पृथ्वीराज चौहान ने अपहरण कर लिया, जिसने जय चंद के गुस्से को भढ़का दिया। परन्तु इस कथा की अन्य ऐतिहासिक स्रोतों, जैसे साहित्यिक कृतियों, शिलालेखों आदि द्वारा पुष्टि नहीं की गई है, इसलिए यह विश्वसनीय नहीं है। प्रतिद्वंदविता का मुख्य कारण पृथ्वीराज की गंगा के मैदानी क्षेत्र को जीतने की तीव्र इच्छा हो सकता है।

संक्षेप में, यह तर्क दिया जाता है कि भारत के उत्तरी और मध्य राज्य विदेशी आक्रमणकारी मुइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद ग़ौरी के खिलाफ़ एकजुट नहीं हो सकें क्योंकि वे एक दूसरे के बीच विभाजित थे। नतीजन, 1192 सी.ई. में गौरियों के लिए चौहानों को हराना इतना मुश्किल नहीं था। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, ग़ौरी को उसके बड़े भाई गियासुद्दीन द्वारा 1173 सी.ई. में ग़ज़ना के सिहांसन पर बैठाया गया था। उसने भारत में लगभग ग़ज़नवियों द्वारा प्रशस्त मार्ग का ही अनुसरण किया। दूसरे शब्दों में, मुइज़्ज़ुद्दीन भी उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र से भारत की ओर बढ़ने लगा। सबसे पहले उसने 1175 सी.ई. में मुल्तान को करमाथियनों (Carmathians) या कारमातियों (Karamatis) से जीत लिया, जिनके राज्य की सीमाएँ भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम हिस्से से और पश्चिम में ईरान तक फैली थीं। अगले कुछ वर्शों में उसने उच्च (Uchch) पर कब्ज़ा किया और फ़िर गुजरात में नेहरवाला की ओर प्रस्थान किया।

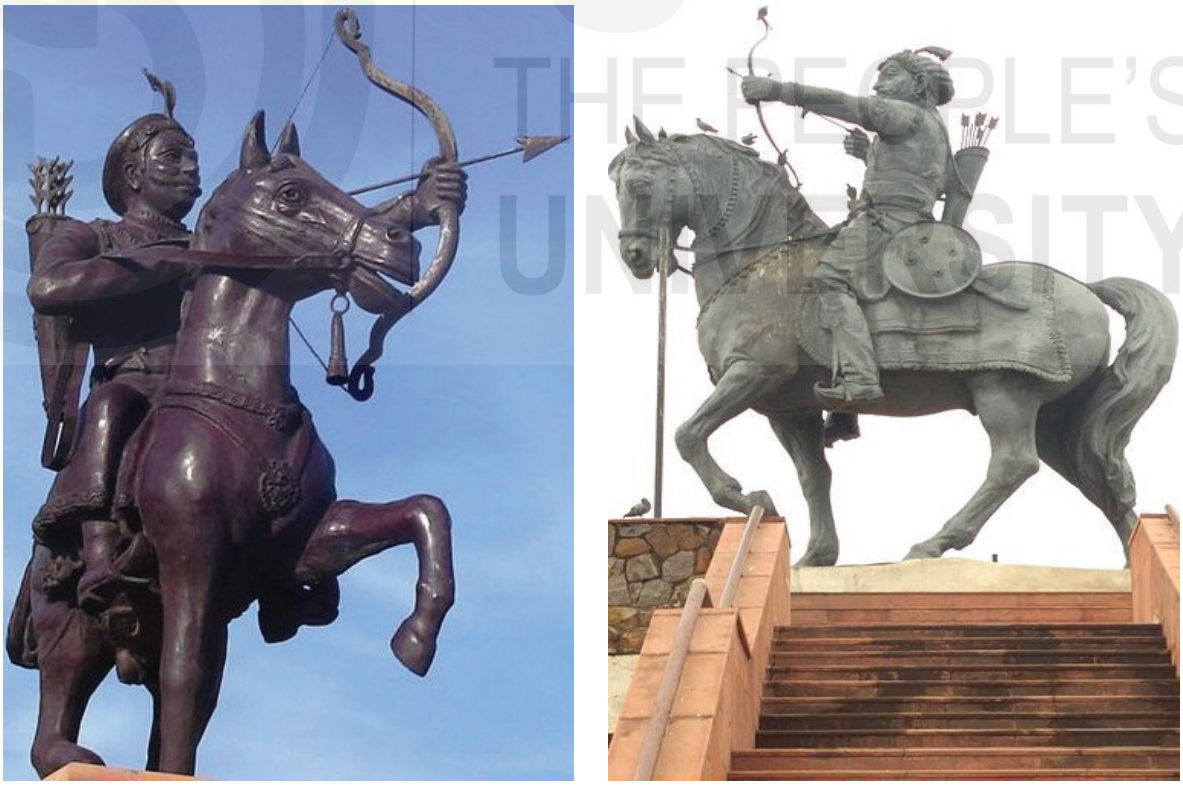

बाएं : अजमेर (राजस्थान) स्थित पृथ्वीराज चौहान की मूर्ति। स्रोत : Prithviraj chauhan. JPG। चित्र सौजन्यः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Prithvi_Raj_Chauhan_(Edited).jpg)।

दाएं : किला राय पिथौरा, दिल्ली में पृथ्वीराज चौहान की मूर्ति। श्रेयः आशीष भटनागर। स्रोतः विकिमीडिया कॉमन्स (https://commons. wikimedia.org/wiki/File:Prithviraj_Chauhan_III_statue_at_Qila_ Rai_Pithora,_Delhi.jpg)।

जैसा कि हमें पहले से पता है कि इस अवधि के दौरान गुजरात में चालुक्यों का शासन था और उन्होंने माउंट अबू के पास ग़ौरी वंश के लोगों को बुरी तरह से हराया। चालुक्यों ने चौहानों से गौरियों के खिलाफ मदद के लिए अनुरोध किया था लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। पृथ्वीराज ने मदद करने से इनकार कर दिया क्योंकि उन्होंने गौरियों की तरह ही चालुक्यों को एक कट्टर प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखा। गुजरात में तबाही का अनुभव होने के बाद ग़ौरी ने अपनी कार्य-योजना बदल दी। उसने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर सबसे पहले ग़ज़नवियों को अपने अधीन करने का प्रयास किया। 1179-80 सी.ई. में पेशावर में उन्हें हराने के बाद उसने लाहौर के ग़ज़नवी शासक खुसरु मलिक को 1181 सी.ई. में हराया। इसके बाद, मलिक को कुछ समय के लिए लाहौर पर शासन करने की अनुमति दी गई क्योंकि ग़ौरी पंजाब और सिंध के कुछ हिस्सों पर अपना नियंत्रण बढ़ानें में व्यस्त था। हालाँकि, बहुत जल्द मलिक को भी गौरियों ने मौत के घाट उतार दिया।

6.9.2 तराइन युद्ध (1191 और 1192 सी.ई.)

उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में इन विजयों के बाद ग़ौरी ने पंजाब में तबरहिन्द के किले पर कब्ज़ा कर लिया। तबरहिन्द रणनीतिक रूप से दिल्ली की सुरक्षा और संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण था। शायद इसी वजह से, बिना समय बर्बाद किए पृथ्वीराज चौहान स्थिति को पलटने के लिए तबरहिन्द पहुँचे। 1191 सी.ई. में दोनों सेनाओं के बीच लड़े गए युद्ध को तराइन के प्रथम युद्ध के रूप में जाना जाता है। केवल पृथ्वीराज ने ग़ौरी को जीता ही नहीं, बल्कि उसे बुरी तरह से घायल कर दिया। हालांकि, ग़ौरी को एक ख़िलजी घुड़सवार ने बचाया और उसकी सुरक्षा की। इस जीत के साथ पृथ्वीराज ने ग़ौरी को हलके में लिया और यह सोचा कि ग़ज़नवियों की तरह ग़ौरी भी भारत के बाहर केवल सीमावर्ती क्षेत्रों पर ही शासन करेगा। तबरहिन्द पर हुए ग़ौरी के हमले को उसके द्वारा किया गया केवल एक सीमांत हमला माना गया। पृथ्वीराज ने गौरियों को बाहरी क्षेत्रों से बाहर न करने में चुप्पी साधे रखी, जो कुछ समय बाद उसे महंगा पड़ गया।

1192 सी.ई. में तुर्की सेना ने दूसरी बार हमला किया जिसे तराइन के द्वितीय युद्ध के रूप में जाना जाता है। इस बार ग़ौरी अच्छी तैयारी के साथ आया था। चौहानों को हराने के लिए उसने सावधानीपूर्वक अपनी चाल चली थी। उसकी सेना में 120,000 सैनिक शामिल थे जो पूरी तरह से बख्तरबंद और लैस थे। फरिश्ता नामक 17वीं शताब्दी के इतिहासकार ने बताया कि पृथ्वीराज की सेनाओं में 300,000 घुड़सवार, 3000 हाथी आदि शामिल थे। इस तरह के आंकड़े पृथ्वीराज पर ग़ौरी की जीत की चुनौती और पैमाना दिखाने के लिए अतिशयोक्ति हो सकते हैं। फरिश्ता ने यह भी दावा किया कि पृथ्वीराज ने दूसरे ''हिंद के रायसों'' से मदद मांगी जो ग़ौरी के खिलाफ उसके साथ जुड़ गये। इस तथ्य को देखते हुए कि पृथ्वीराज की विस्तारवादी प्रवृत्ति ने उनके अधिकांश पड़ोसी राज्यों को नाराज़ कर दिया था, इतिहासकारों के लिए फरिश्ता के दावे को स्वीकार करना मुश्किल है। इसके अलावा, चूंकि एक भी अनुकूल रायसों का नाम उनके द्वारा नहीं लिया गया है, इसलिए उनका यह कहना संदिग्ध है। शायद पृथ्वीराज की सेना में उनके सामंत शामिल थे, जिन्होंने अपनी जंगी सेना से आपूर्ति की थी। उनकी विकेंद्रीकृत सेना मुइज़्ज़ुद्दीन की अनुशासित और केंद्रीयकृत सेना से कम थी।

सतीश चंद्र का मानना है कि तराइन का दूसरा युद्ध ''स्थिति की तुलना में आंदोलन का युद्ध'' था। वे बताते हैं कि मुइज़्ज़ुद्दीन के ''सशस्त्र हल्के घुड़सवार'' पृथ्वीराज की ''धीमी

गति से आगे बढ़ने वाली सेना'' को परेशान करते रहे और हर तरफ से हमला करके भ्रम पैदा करते रहे। इस युद्ध में चौहान शासक बुरी तरह से पराजित हुआ। उसे हरियाणा के वर्तमान हिसार जिले में सरसुती या सिरसा के पास तुर्की सेना ने पकड़ लिया। मिन्हाज़ सिराज़ का उल्लेख है कि उनकी हार के बाद उन्हें पकड़ लिया गया और उन्हें मार दिया गया। हालांकि, उपलब्ध सिक्कों के प्रमाणों के आधार पर हसन निज़ामी नाम के एक आधुनिक विद्वान ने सिराज़ के इस दावे का खंडन किया और कहा कि पृथ्वीराज को अपनी हार के बाद भी अजमेर में शासन करने की अनुमति थी। पृथ्वीराज के सिक्कों के आधार पर, जो इन शब्दों को प्रकट करते हैं ''श्री मुहम्मद सैम'', निज़ामी ने इसका विरोध किया है। उसके अनुसार, पृथ्वीराज को उसके विद्रोह के कुछ समय बाद ही मार दिया गया था। इसलिए, उनके निष्पादन की सभी कथाएँ जो ऐतिहासिक स्रोतों पर आधारित नहीं हैं, वे संदिग्ध हैं।

6.9.3 ऊपरी गंगा घाटी अभियान

लड़ाई के बाद मुइज़्ज़ुद्दीन ने एक सतर्क नीति अपनाई। उसने कई स्थानों पर अभी भी स्वदेशी शासन को जारी रखा। उसने गोविंदराज के बेटे को दिल्ली में एक जागीरदार के रूप में रखा। अगर फरिश्ता की मानें तो गोविंदराज दिल्ली के तोमर प्रमुख थे और उन्होंने तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की मदद की थी। इस लड़ाई में उनकी मौत हो गई थी। इसके अलावा, पृथ्वीराज को एक जागीरदार के रूप में अजमेर में बहाल किया गया था। दूसरी ओर, महत्वपूर्ण स्थानों को तुर्कों के नियंत्रण में रखा गया था। मुइज़्ज़ुद्दीन ने शिवालिक क्षेत्र, अजमेर, हिसार और सिरसा के बीच के क्षेत्र पर कब्जा किया था। उसने हिसार और सिरसा को कुतुबुद्दीन ऐबक नामक अपने एक वफ़ादार गुलाम को दे रखा था। ऊपरी गंगा घाटी की ओर बढ़ने की योजना के बाद, तुर्कों को दिल्ली के सामरिक स्थान के महत्व का एहसास हुआ था। इसलिए, वे इसे तुर्कों के हाथों में रखना चाहते थे। इसके बाद, पृथ्वीराज के बेटे द्वारा अजमेर और दिल्ली में विद्रोह को तुरंत दबा दिया गया। तत्पश्चात, दिल्ली को प्रत्यक्ष तुर्की नियंत्रण में रखा गया। 1193 सी.ई. में राजद्रोह में शामिल होने के कारण तोमर को हटा दिया गया। दिल्ली के साथ अब अजमेर को भी पृथ्वीराज के भाई हरि सिंह को हराने के बाद ले लिया गया था। वे तुर्कों के खिलाफ राजपूत प्रतिरोध का नेतृत्व कर रहे थे। इसके अलावा, अजमेर को भी एक तुर्की नियंत्रक के अधीन रखा गया और पृथ्वीराज के पुत्र गोविंद को रणथंभौर में स्थानांतरित करने के लिए मजबूर किया गया।

दिल्ली और अजमेर को तुर्कों के नियंत्रण में रखने के बाद गौरियों ने भारत के सबसे शक्तिशाली राज्य गहड़वालों के कन्नौज पर हमला करने की योजना बनाई। 1194 सी.ई. में भारत लौटने के साथ, मुइज़्ज़ुद्दीन ने ऊपरी दोआब में दिल्ली के पड़ोसी क्षेत्रों को अर्थात् मेरठ, बारां या बुलंदशहर और कोइल या अलीगढ़ पर कब्ज़ा कर लिया। इस ऊपरी दोआब क्षेत्र पर डोर राजपूतों का शासन था और इस क्षेत्र पर तराइन के द्वितीय युद्ध के कुछ समय बाद हमला किया गया था। यद्यपि गहड़वाल राजा जय चंद अपने पड़ोसी राज्यों की मदद कर सकता था, लेकिन फ़िर एक बार उसने दूर रहने का फैसला किया। उसके जैसे शासक, जो चौहान और पराजितों के प्रति उदासीन थे, भूल गए कि यदि तुर्कों को रोका नहीं गया तो उन पर भी हमला हो सकता है। विभिन्न राजपूत राज्यों के बीच इस तरह की एकता का अभाव भारत को भारी पड़ा। इसके कारण अधिकांश राज्यों को मुइज़्ज़ुद्दीन ने बिना किसी कठिन प्रयास के जीत लिया।

इसके अलावा, यहां तक कि गहड़वालों पर भी हमला किया गया। 1194 सी.ई. में मुज़्ज़ी सेनाओं ने कन्नौज और बनारस की ओर अभियान किया। आधुनिक इटावा जिले के चंदावर में एक लड़ाई लड़ी गई। जय चंद की सेना पर समकालीन साहित्यिक रचनाओं

में अतिरंजित आंकड़े बताते हैं कि इसमें 80,000 कवच, 30,000 घुड़सवार, 300,000 पैदल सेना, 200,000 धनुर्धारी आदि शामिल थे, फ़िर भी गहड़वाल बुरी तरह से हार गए। 1198 सी.ई. में कन्नौज की भी घेराबंदी की गई थी। इस हार के बाद, विशेषकर फतेहपुर जिले के असनी के किले को लूट लिया गया, जहाँ गहड़वालों का खज़ाना था। यहां तक कि बनारस को लूट लिया गया और इसके मंदिरों को लूट लिया गया और नष्ट कर दिया गया।

तराइन के द्वितीय युद्ध में चौहानों और गहड़वालों की हार और चंदावर की लड़ाई क्रमशः तुर्कों के लिए सबसे बड़ी जीत थी, क्योंकि ये उनके लिए सबसे शक्तिशाली दुश्मन थे। तुर्कों ने इन विजयों के साथ गंगा घाटी में भी तुर्की शासन की नींव रखी। दो युद्धों के बाद भी गंगा घाटी में तुर्कों के आक्रमणों का विरोध किया गया था लेकिन इन छोटे विद्रोहों को आसानी से दबा दिया गया।

ऊपरी गंगा घाटी के अपने गढ़ को मज़बूत और संरक्षित करने के लिए तुर्कों ने इसके पश्चिमी और दक्षिणी क्षेत्रों पर हमला किया। उन्होंने दिल्ली और मालवा के बीच रणनीतिक किलों को जीतने की कोशिश की। इसलिए, बयाना की 1195-96 सी.ई. में घेराबंदी की गई और ग्वालियर किले को भी कुछ वर्षों के भीतर घेर लिया गया। इसी तरह, बुंदेलखंड, खजुराहो, महोबा और कालिंजर को चंदेल शासकों से जीत लिया गया था। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, चंदेल राज्य भी शक्तिशाली था लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। तुर्की सेनाओं ने गंगा घाटी के ऊपरी हिस्से के पूर्व और पश्चिम की ओर विस्तार करना शुरू कर दिया। मुइज़्ज़ुद्दीन की सेनाओं ने राय जिन्होंने पहले एक राजपूत विद्रोह में सहायता की थी, को प्रतिशोध में गुजरात में अन्हिलवाड़ा की घेराबंदी की पूर्व की ओर बिहार और बंगाल को मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी ने जीत लिया था।

सभी दिशाओं में इस तरह के विस्तार के बावजूद तुर्क ज़्यादातर उन विजित क्षेत्रों को नियंत्रित करने में असमर्थ थे जो दिल्ली और ऊपरी गंगा घाटी के गढ़ से बहुत दूर थे। 1204 सी.ई. में ताज़ा मध्य एशियाई घटनाक्रमों के कारण इस समस्या ने उन्हें बहुत भारी नुकसान पहुँचाया। इस वर्ष ऑक्सस नदी के पास अंदखुई के युद्ध में समरकंद के बुतपरस्त (pagan) कारा खानिद तुर्कों ने ग़ौरी तुर्क को बुरी तरह से हरा दिया। इस लड़ाई में मुइज़्ज़ुद्दीन की मौत की अफवाहों के कारण पंजाब में खोखरों का विद्रोह हुआ और उसे दबाने के लिए उसे वापस आने के लिए विवश किया गया। उसने विद्रोह को सफलतापूर्वक समाप्त कर दिया लेकिन पंजाब से मध्य एशिया वापस जाते समय करमातियों ने उसे मार डाला। हालांकि, उसकी मृत्यु ने भारत में तुर्की शासन के विस्तार को नहीं रोका, जैसा कि ग़ज़नवियों के मामले में देखा गया था। वास्तव में, उसके वफ़ादार गुलामों ने भारत में अपने शासन का विस्तार करने के लिए भारत में अधिक क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की, जिससे भारत में पहले मुस्लिम राज्य दिल्ली सल्तनत की स्थापना की गई।

बोध प्रश्न 3

1) सुमेलित करें।

i)	राजवंश	शासक
	चौहान	जयपाल
	हिंदूशाही	विग्रहराज
	चंदेल	जय चंद
	गहड़वाल	पृथ्वीराज

ii)

राजवंश	क्षेत्र
चौहान	दिल्ली
तोमर	बुंदेलखंड
चंदेल	अजमेर
चालुक्य	कन्नौज
गहड़वाल	गुजरात

2) उन कारकों पर चर्चा करें जिनके कारण भारत और अन्य जगहों पर तुर्की सेना को सफलता मिली।

.....

.....

.....

.....

.....

6.10 तुर्कों की विजय और राजपूतों की हार के कारण

भारत में राजपूतों की हार और तुर्कों की सफलता के लिए कई कारण बताए गए हैं। प्रारंभ में, यह बहस ब्रिटिश इतिहासकारों के साथ शुरू हुई जो भारतीय इतिहास को गहराई से समझने की कोशिश कर रहे थे। मुख्य रूप से, वे राजपूत शासकों पर तुर्कों की जीत के दो कारण आवश्यक मानते हैं। इन कारणों में वे राजपूत शासकों की शांतिवादी प्रकृति व तुर्कों की सैन्य शक्ति व निपुणता को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने कहा है कि ग़ौरी सेनाओं में वे पुरुष शामिल थे जो मध्य एशिया में सिंधु और ऑक्सस नदियों के बीच पहाड़ी इलाकों में रहने वाले जंगी जनजातियों से आये थे। इसके अलावा, उन्होंने मध्य और पश्चिम एशिया की उग्र जनजातियों के विरूद्ध लड़कर सैन्य प्रशिक्षण और विशेषज्ञता प्राप्त की थी। तुर्कों और भारतीयों के बीच तुलना करके ब्रिटिश इतिहासकारों ने माना कि राजपूतों में इस तरह के प्रशिक्षण का अभाव था क्योंकि वे प्रकृति में शांतिवादी थे। वैकल्पिक रूप से भारतीय तुर्कों की तरह युद्ध लड़ने के आदी नहीं थे इसलिए राजपूतों को हार का सामना करना पड़ा। इसके अलावा, आक्रमणकारियों को इस बात का भी लाभ मिला कि राजपूतों में एकता की कमी थी।

हालांकि, अन्य इतिहासकारों ने इस स्पष्टीकरण को खारिज कर दिया है क्योंकि 8वीं से 12वीं शताब्दी की प्रारंभिक मध्ययुगीन अवधि भारत के भीतर विभिन्न राज्यों के बीच युद्ध और हिंसक आंतरिक संघर्षों की थी। यह अपने आप में साबित करता है कि राजपूत शांतिवादी या शालीन स्वभाव के नहीं थे और उनमें जंगी भावना या बहादुरी की कमी नहीं थी।

जादुनाथ सरकार और मोहम्मद हबीब जैसे कुछ अन्य इतिहासकारों ने भारतीय सामाजिक संरचना व भारत में इस्लाम द्वारा बनायी गई नई संरचना को तुर्कों की सफलता का कारण बताया है। सरकार ने अरब, पठानों, तुर्कों आदि मुस्लिम समूहों को इस्लाम द्वारा प्रदान की जाने वाली विशेषताओं पर ज़ोर दिया है, जिन्होंने भारत में उनकी जीत की नींव तैयार की। उन्होंने तर्क दिया कि भारत के जाति-विभाजित समाज के विपरीत इस्लामी सामाजिक

व्यवस्था कानूनी और धार्मिक क्षेत्रों में समानता और सामाजिक एकजुटता पर आधारित थी। उन्होंने यह भी कहा कि इस्लामी व्यवस्था में ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास ने मुसलमानों को एक अभियान और मिशन की भावना दी। इसने लोगों के विभिन्न समूहों के बीच एकता का एक मज़बूत बंधन प्रदान किया और उन्हें युद्ध की मज़बूत भावना से प्रेरित किया। कुछ इसी तरह की राय मोहम्मद हबीब ने 11वीं शताब्दी के अरब लेखक अल-बिरूनी के भारतीय जाति व्यवस्था के अवलोकन के आधार पर दिया है। हबीब ने तर्क दिया कि हिंदू शासकों द्वारा गौरियों के आक्रमणों का प्रतिरोध दो कारकों से क्षीण हुआः

1) चूंकि जाति व्यवस्था ने केवल योद्धा क्षत्रियों को युद्धों में भाग लेने की अनुमति दी थी, इसलिए यह हिन्दू राज्यों के सैन्य प्रभाव को गंभीर रूप से प्रभावित करती थी।

2) जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज की सामाजिक एकता को क्षति पहुंचाई। इसके विपरीत मुस्लिम समानता में विश्वास करते थे। इसलिए मुस्लिम समाज के शहरी लोगों के एक वर्ग ने बेहतर सामाजिक स्थिति के लिए इस्लाम को स्वीकार किया। इस तरह के विचारों को भी खारिज कर दिया गया है क्योंकि ऐतिहासिक स्रोत बताते है कि जाट, मीना और कुवर्ण (निम्न जातियां) जैसे समूह भी राजपूत सेनाओं में शामिल थे। इसके अलावा, 12वीं शताब्दी के आसपास इस्लाम में वैश्य और शूद्रों का बड़े पैमाने पर धर्मांतरण का समर्थन करने वाले स्रोत मौजूद नहीं है। इसके अतिरिक्त वे बातें हैं कि हिन्दू शासकों की तरह मुस्लिम विजेता भी निम्न जातियों की अपमानजनक स्थिति के प्रति उदासीन थे।

इसके अलावा, तुर्की सैन्य रणनीति और प्रौद्योगिकी को तुर्कों की जीत के पीछे एक और कारण के रूप में देखा गया है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, घुर जैसे मध्य एशियाई क्षेत्र अपने धातु भंडार और हथियारों के निर्माण और युद्ध के अन्य सामानों के लिए प्रसिद्ध थे। घोड़े से गिरे बिना भाले को फेंकने की कला को लोहे के रकाब ने आसान बना दिया था। रकाब का उपयोग तुर्कों को आता था। भारत में लौह-रकाब या क्रॉसबो जैसे हथियारों का उपयोग शायद व्यापक रूप से ज्ञात नहीं था। जैसा कि पहले कहा गया है, भारतीय घोड़ों की तुलना में अच्छी नस्ल के मध्य एशियाई घोड़े तुर्कों की सैन्य दक्षता का कारण बने। कई विद्वानों ने युद्ध के मैदान पर युद्ध की अनूठी तुर्की रणनीति को भी उनकी सफलता का एक कारण बताया है। हालांकि, पीटर जैक्सन जैसे विद्वानों ने तुर्की सैन्य रणनीति और प्रौद्योगिकी को अत्यधिक महत्व देने से इंकार कर दिया है।

राजपूतों की हार और तुर्कों की जीत के कारणों को अपनी सोच का दायरा विस्तृत करके समझा जा सकता है। हमें स्वयं को केवल एक कारण या तराइन के दूसरे युद्ध के बाद होने वाली घटनाओं तक सीमित नहीं रखना चाहिए। 11वीं शताब्दी की शुरुआत से ही भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में होने वाली घटनाओं को समझना होगा। महमूद ग़ज़नी द्वारा किये गए आक्रमण और लूटपाट भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र की बाहरी सुरक्षा अर्थात् अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब के भंजन के बाद ही भारत में हुए थे। इन क्षेत्रों पर पकड़ होने से महमूद भारत में अपने आगे के अतिक्रमण की योजना बना सकता था। यहाँ विभिन्न राजपूत राज्यों में एकता के अभाव को महमूद की जीत के पीछे एक प्रमुख कारक के रूप में देखा जा सकता है। जैसा कि पहले देखा गया है, आंतरिक प्रतिद्वंद्विता इतनी मज़बूत थी कि क्षेत्रिय राज्य महमूद की मृत्यु के बाद भी एक साथ नहीं हुए। ऊपरी गंगा घाटी में राजस्थान के अजमेर, कन्नौज, बनारस आदि में भी महमूद के उत्तराधिकारियों ने धावे बोले परंतु फूट जारी रही। राजपूतों के लिए राहत का एकमात्र विकल्प यह था कि पहले के समय के विपरीत वे महमूद के वारिसों को बाहर करने में सफल रहे।

राजपूतों की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए सतीश चन्द्र ने राजपूतों की हार के स्वीकार्य कारण बताए हैं। वह कहते हैं कि संख्याओं में हीन न होने और घोड़ों व हथियारों की गुणवत्ता के बावजूद राजपूतों के पास उचित संगठन और नेतृत्व का अभाव था। उनकी सेनाओं के पास एकीकृत कमान नहीं थी क्योंकि शासक को सामंती सरदारों द्वारा सेना की आपूर्ति की जाती थी। इसके विपरीत, तुर्की सुल्तान बड़ी स्थाई सेनाओं को बनाए रखने में रुचि लेते थे। इन्हें नकद या इक्ता प्रणाली के माध्यम से भुगतान किया जाता था। उन्होंने युद्ध के लिए दास खरीदे और प्रशिक्षित किए जो अपने सुल्तानों के प्रति वफ़ादार और समर्पित थे।

चन्द्र द्वारा उल्लेखित राजपूत हार का एक अन्य कारण राजपूतों में रणनीतिक दृश्टिकोण की कमी है। जैसा कि वे कहते है, अल-बिरूनी ने अपने लेखन में उल्लेख किया था, ''हिन्दू मानते हैं कि उनके जैसा कोई देश नहीं, उनके जैसा कोई राष्ट्र नहीं, उनके जैसा कोई राजा नहीं, उनके जैसा कोई विज्ञान नहीं। वे घृणित, मूर्ख, व्यर्थ, आत्म-अभिमानी और हठी हैं। उनका अहंकार ऐसा है कि अगर आप उन्हें खुरासान या फ़ारस के किसी विज्ञान या विद्वान के बारे में बताते हैं तो वे आपको अज्ञानी और झूठ बोलने वाला मानते हैं''। चन्द्र का मानना है कि इस संकीर्णता के आभास ने भारतीयों को पश्चिम या मध्य एशिया में जाने से रोक दिया और वैज्ञानिक व सामाजिक ज्ञान को वापस लाने में असमर्थ कर दिया। उनका कलि-वर्ज्य के कारण ऐसा रवैया थाः हिन्दुओं पर नमक के समुद्र पार करने या उन देशों की यात्रा करने पर प्रतिबंध था जहां मुंजा घास नहीं उगती थी। इसलिए, बाहर की दुनिया की अपेक्षा और अज्ञानता और रणनीतिक परिप्रेक्ष्य की कमी ने ''दीर्घकालिक नतीजों को अंजाम दिया, जिसका पहला परिणाम तुर्कों की विजय था पर यह अंतिम परिणाम नहीं था''।

इस प्रकार तुर्कों द्वारा राजपूतों की हार को दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में देखने की ज़रूरत है। राजपूतों में एकता का अभाव, कमज़ोर सैन्य संगठन और इसके विपरीत तुर्कों की नेतृत्व क्षमता व राजपूतों की हीन सैन्य रणनीति भी उनकी हार का एकमात्र कारण नहीं थी। यह दोषपूर्ण सामाजिक संगठन में भी विहित था जिसने तुर्की के राज्यों की तुलना में संरचनात्मक रूप से कमजोर राज्यों का विकास किया था। भारतीय सांस्कृतिक लोकाचार में निहित उपरोक्त संकीर्णता एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के विकास को रोकती थी। इसलिए, विदेशी आक्रमणकारियों को सैन्य या कूटनीतिक माध्यम से भारतीय ज़मीन से दूर नहीं रखा जा सका।

6.11 ग़ज़नवी वंश और ग़ौरी वंश की तुलना

प्रारंभिक मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की व्याख्या में भारत के उत्तरी और पश्चिमी सीमाओं से तुर्की आक्रमण को व्यापक रूप से जाना जाता है। महमूद ग़ज़नी और मुइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद ग़ौरी के लगातार हमलों की बड़े पैमाने पर चर्चा हुई है। हालांकि इन दोनों के बीच अंतर पर आमतौर पर चर्चा नहीं की जाती है। बहरहाल, सतीश चंद्र जैसे कुछ विद्वान, जिन्होंने संक्षेप में इसे छुआ है, कम से कम उनके बीच के अंतर को स्वीकार करते हैं। मौटे तौर पर उन्होंने भारत पर इनके आक्रमणों और अन्य गतिविधियों के संदर्भ में इन मतभेदों पर चर्चा की है। उन्होंने महमूद को मुइज़्ज़ुद्दीन से बेहतर सेनाध्यक्ष माना है क्योंकि उसने भारत में कभी हार का सामना नहीं किया। लेकिन वह एक कठिन सेनानी होने के लिए मुइज़्ज़ुद्दीन की प्रशंसा करते हैं जिसने पराजय के बावजूद हार नहीं मानी। उनका तर्क है, ''मुइज़्ज़ुद्दीन ने अपनी हार से सबक लिया और अपने पूरे दृष्टिकोण को बदल दिया, जिससे उसकी उद्देश्यपूर्ण और राजनीतिक यथार्थवाद की गंभीर भावना स्पष्ट होती है''। चन्द्र ने मुइज़्ज़ुद्दीन की अन्हिलवाड़ा में हार के द्वारा अपने तर्क को स्पष्ट किया है।

इस हार के बाद मुइज़्ज़ुद्दीन ने राजस्थान से पंजाब की ओर ध्यान केन्द्रित करके अपना संपूर्ण दृष्टिकोण बदल दिया था। तराइन के प्रथम युद्ध में उसकी हार के बाद उसी तप, दृष्टिकोट और तैयारियों के बल पर तराइन की दूसरी लड़ाई में शानदार जीत हासिल की। इसके अलावा, चंद्र ने महमूद को उस नीवं रखने का श्रेय दिया, जिसके आधार पर मुईज़्ज़ुद्दीन ने भारत में अपने अभियान का निर्माण किया। उनके अनुसार अफ़ग़ानिस्तान में हिंदू शाहियों को हराकर, पंजाब को जीतकर व भारत के बाहरी गढ़ को तोड़कर, महमूद ने तुर्की विस्तार की जड़ें मज़बूत कीं। चंद्र के करीबी अध्ययन से महमूद और मुइज़्ज़ुद्दीन के बीच अंतर करने में मदद मिलती है। इससे पता चलता है कि वे भारत में समान उद्देश्य और गतिविधियों के साथ सिर्फ आक्रमणकारी ही नहीं थे।

हालांकि, भारत के बाहर दो आक्रमणकारियों, उनकी प्रक्रियाओं, विधियों और अंतर्निहित मनसूबों के बीच गहन अंतर करने का प्रयास शायद ही अब तक अधिकांश इतिहासकारों के दायरे में आया हो। उन पर होने वाली चर्चाएँ ज़्यादातर भारत के उत्तर और पश्चिमी क्षेत्रों में उनकी लूट व हमलों के आसपास केन्द्रित होती हैं, व उनकी सैन्य रणनीति के संदर्भ में भी। इसलिए, उत्तर-पश्चिमी भारत के पूर्व-सल्तनत इतिहास और अफ़ग़ानिस्तान, पश्चिम और मध्य एशिया के क्षेत्रों में विकसन के साथ गहन जुड़ाव को समझने में एक रिक्त स्थान बना हुआ है।

शुक्र है कि हाल के दिनों में इस अंतर को पीटर जैक्सन और सुनील कुमार जैसे विद्वानों द्वारा गहन विश्लेषण द्वारा भरा गया है। वास्तव में, कुमार ने पूर्व-सल्तनत भारत और उसके उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों का विशद अध्ययन किया है ताकि उनकी अंतर्निहित, परस्पर राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं को समझा जा सके। उनके अति सूक्ष्म दृष्टिकोण ने ग़ज़नवियों और ग़ौरी प्रणालियों की विशिष्ट विशेषताओं को सामने लाया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

1) भले ही उनकी सैन्य और राजनीतिक प्रणालियाँ अफ़ग़ानिस्तान में आधारित थीं और दोनों के पास आंतरिक संसाधनों की कमी थी, फ़िर भी उनकी राजनीतिक प्रणालियाँ काफ़ी भिन्न थीं। ग़ज़नवियों के शासक परिवार में तुर्की सैन्य-दास थे, जो बुखारा के सामाविद राजधानी से पूर्वी अफगानिस्तान आए थे। उन्होंने एक सत्तावादी राजनीतिक शासन का निर्माण किया जिसने अपने स्थानीय संबंधों को अनदेखा किया और बल्कि ईरान या फ़ारस में खुरासान के साथ अपने संबंधों को मज़बूत किया। राजनीतिक ताकत हासिल करने के बाद उन्होंने फ़ारसी संस्कृति व विद्वता की भव्यता का अनुसरण करना शुरू किया। कुमार कहते है कि इस अवधि के ऐतिहासिक स्रोतों से पता चलता है कि महमूद ने घुर में अपने अभियानों के दौरान अपने दुभाषियों को भी अपने साथ रखा। इसके विपरीत, शंसबनिड या ग़ौरी अधिक विनम्र मूल के थे। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, वे घुर के पशुपालक सरदार थेः अफ़ग़ानिस्तान का एक गरीब और बिखरा हुआ क्षेत्र। यह ग़ज़नी और हेरात के बीच का एक क्षेत्र था जो ग़जनवियों ने इस्लामी बनाया था। बहरहाल, गौरियों के पास फ़ारसी संस्कृति और गौरव की ग़ज़नवियों की तरह नकल करने के लिए न तो ज़रूरी संसाधन थे और न प्रयोजन।

2) उनके शासन के रूपों के बीच लगभग समान स्तर का अंतर देखा जा सकता है। जबकि ग़ज़नवियों ने शासन के एक केन्द्रीकृत रूप को बनाए रखने की पूरी कोशिश की, 12वीं शताब्दी में भी गौरियों ने अपनी शक्ति के चरम पर प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए केवल सैन्य अधिपति नियुक्त किये थे। ग़ज़नवियों की तुलना में, गौरियों ने शासन के विकेन्द्रीकृत रूप का पालन किया, जिसमे अपनी ताकत और शक्ति के चरम पर उन्होंने शासक परिवार के सभी पुरुशों को शासन दिया। ये सैन्य गर्वनर

वास्तव में अपने प्रांतों में स्वायत्त सुलतानों या राजाओं के रूप में कार्य करते थे और उन्हें शाही प्रशासनिक पदों और उपाधियों को सम्मान के रूप में दिया जाता था।

3) भारत पर आक्रमण करने के उनके कारण भी अलग-अलग पाए गए हैं। ग़ज़नवियों का उद्देश्य केवल भारत से धन लूटना था। प्रादेशिक लाभ पाने की उनकी महत्वाकांक्षा सिर्फ उत्तर-पश्चिमी सीमा में सिंधु, मुल्तान, लाहौर तक सीमित थी और पूर्व की ओर भारतीय हृदय स्थल की ओर नहीं थी। यह स्पष्ट रूप से 1040 सी.ई. में डंडानकन में सेल्जुकों के हाथों अपनी हार के बाद अपनी राजधानी को लाहौर में स्थानांतरित करने से देखा गया है।

6.12 सारांश

आरंभिक मध्यकाल में इस्लाम के उदय के विश्वभर में दूरगामी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिणाम हुए। भारतीय उपमहाद्वीप के साथ 8वीं शताब्दी में इसके पहले संपर्क को अधिकतर फारसी पुस्तक चचनामा से जाना जाता है। यह एक ऐसा स्रोत है जिसमें सामान्य रूप से सिंध के इतिहास को बताया गया है। विजय के वर्णनात्मक विवरण में युवा जनरल मुहम्मद बिन कासिम की चर्चा है, जिसने बहादुरी से सिंध क्षेत्र पर विजय प्राप्त की। पुस्तक में पराजित हिंदू जनता के प्रति इस मुस्लिम विजेता की उदार और सहिष्णु सोच का वर्णन है। हालांकि इसका उदय और पतन खलीफा के साथ इसके संबंधों पर निर्भर था तथा खलीफा के बदलने पर इसका और अन्य कुशल और भरोसेमंद अरब विजेताओं का पतन हो गया। खलीफा के दरबार में इस प्रकार की राजनीति ने भारतीय उपमहाद्वीप में और समूचे विश्व में अरब विजय की नियति को प्रभावित किया। अरब साम्राज्य के भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में ही सीमित रहने को इसके परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए।

इस इकाई में हमने 9वीं शताब्दी में अब्बासिद साम्राज्य के पतन के बाद पश्चिम और मध्य एशिया में लगातार राजनीतिक प्रवाह की स्थिति पर चर्चा की। यह अवधि विभिन्न तुर्की और गैर-तुर्की जनजातियों के बीच निरंतर उथल-पुथल की रही है। इन सबके बीच ग़ज़नवी राजवंश ग़ज़नी से सत्ता में आ गया और उसने भारत सहित पड़ोसी क्षेत्रों को लूट लिया। ग़ज़नवी राजाओं में एक महमूद ग़ज़नी ने भारत पर 17 बार आक्रमण किया ताकि उसकी संपत्ति को लूटा जा सके। भारत में उसकी कोई क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा नहीं थी। हालांकि, भारत में अगले तुर्की आक्रमणकारी-मुइज़्ज़ुद्दीन मोहम्मद ग़ौरी का लक्ष्य भारत को जीतना था। 1192 सी.ई. में पृथ्वीराज चौहान को हराने के बाद उसने दिल्ली की प्राप्ति की। दिल्ली को अपने अभियानों के केंद्र के रूप में रखते हुए, एक दशक के भीतर उसने पूर्वी, मध्य और पश्चिमी भारत के कई क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की। इस तरह उसने भारत के पहले मुस्लिम राज्य की नींव रखी – दिल्ली सल्तनत।

भारतीय इतिहास में इस अवधि में विभिन्न राजपूत राज्यों के बीच एकता का अभाव था। चाहे वह अरब हों, ग़ज़नवी या ग़ौरी, उन्हें एकता के अभाव ने सहायता प्रदान की। इतिहासकारों का मानना है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों की सफलता के पीछे भारतीय पक्ष में एकीकृत प्रतिरोध का अभाव सबसे बड़ा कारण था। मध्य एशिया में हथियारों, गोला-बारूद, उपकरणों और घोड़ों की अच्छी उपलब्धता को तुर्कों की सफलता के पीछे एक अन्य कारक के रूप में गिना जा सकता है। इसके अलावा, उनकी रणनीति और युद्ध की तकनीक ज़्यादातर भारतीय शासकों से बेहतर थी। हालांकि इन सभी कारणों से ऊपर था सामाजिक परिपेक्ष्य और सामाजिक एकजुटता की कमी जिसने भारतीय, ज़्यादातर हिन्दू समाज, को बाहरी दुनिया के अच्छे या बुरे पक्ष से दूर रखा।

6.13 शब्दावली

परिरोधन : किसी के विस्तार को रोकने की क्रिया।

व्युत्पति विज्ञान : स्रोतो और विकास का अध्ययन

सापेक्ष : तुलना में।

पूर्वोक्त : जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है।

चरमोत्कर्ष : किसी चीज़ का सबसे महत्वपूर्ण बिदु, परिणति।

घुर : अफ़ग़ानिस्तान में स्थित।

ग़ज़नी : अफ़ग़ानिस्तान का एक कस्बा जहाँ से महमूद ने शुरुआत की और ग़ज़नविड वंश की नींव डाली।

6.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 6.3 देखें

2) भाग 6.3 और उपभाग 6.3.1 देखें

3) पलमलदेवी – राजकुमारी

मुहम्मद बिन कासिम – उमैय्यद जनरल

उल-हज्जाज – बगदाद का राज्यपाल

सुलेमान – वालिद का भाई

बोध प्रश्न 2

1) भाग 6.7 देखें।

2) भाग 6.8 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) i) चौहान पृथ्वीराज, विग्रहराज

हिन्दू शाही जयपाल

गहड़वाल जय चंद

ii) चौहान अजमेर

तोमर दिल्ली

चंदेल बुंदेलखंड

चालुक्य गुजरात

गहड़वाल कन्नौज

2) भाग 6.9 एवं 6.9.1 को देखें।

6.15 संदर्भ ग्रन्थ

आसिफ, मनन अहमद (2016). *ए बुक ऑफ कंकस्ट : द चचनामा एंड मुस्लिम ओरिजिन्स इन साउथ एशिया.* केब्रिज : हावर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1994). *द मेंकिग ऑफ द अर्ली मेडिवल इंडिया.* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

फ्राइडमैन, योहानन. *द ओरिजिन्स एंड सिग्निफिकेस ऑफ द चचनाम,* अकेडमिया एडु. http://www.columbia.edu/itc/mealac/pritchett/00islamlinks/ikram/part1_01.html

चंद्र, सतीश (2004). *मेडिवल इंडिया : फ्रॉम सल्तनत टू द मुगल्स. भाग 1 : दिल्ली सल्तनत (1206-1526).* संशोधित संस्करण. नई दिल्ली.

कुमार, सुनील (2007). *द इमर्जेंस ऑफ़ द डेल्ही सल्तनत, 1192-1286.* पर्मानेंट ब्लैक.

जैक्सन, पीटर (1999). *द दिल्ली सल्तनत : ए पॉलिटिकल एंड मिलिट्री हिस्ट्री.* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस.

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 7 अरब और तुर्की आक्रमणों का सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव*

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सिंध पर अरब आक्रमणों के सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव

7.3 तुर्कों का आगमन

7.4 तुर्की आक्रमणों के सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव

7.5 सारांश

7.6 शब्दावली

7.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.8 संदर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपक जानेंगे :

- अरब और तुर्की आक्रमणों को समझने के लिए पृष्ठभूमि;
- भारत में इस्लाम के आगमन के पश्चात विकसित नया परिप्रेक्ष्य; और
- अरब और तुर्की आक्रमणों का सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव।

7.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में, हमने क्रमशः प्रारम्भिक मध्ययुगीन और मध्ययुगीन काल में अरब और मध्य एशियाई क्षेत्रों के मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा भारत पर आक्रमणों के बारे में पढ़ा था। इन हमलों को एक मोनोक्रोमैटिक (एकरंगी) प्रकाश में देखा गया है जो बिना किसी सार्थक परिणाम के किया गया था। इस इकाई में सिंध पर अरब आक्रमणों का सामाजिक, सांस्कृतिक व तकनीकी प्रभावों का विश्लेषण किया जाएगा। इन्हें मोटे तौर पर सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभावों या परिणामों में वर्गीकृत किया गया है।

7.2 सिंध पर अरब आक्रमणों के सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव

सिंध पर अरब विजय को स्टैनली लेन पूल, एल्फिंस्टन आदि विद्वानों द्वारा "परिणाम के बिना विजय" के रूप में देखा गया है क्योंकि मुस्लिम अरब या भारतीय शासकों के लिए यह कोई बड़ी जीत नहीं थी। वे मानते हैं कि अरबों की जीत का भारतीय उपमहाद्वीप के

* डॉ. जया प्रियदर्शनी, इतिहास अध्ययन केन्द्र से पी.एच.डी., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली;
डॉ. खुशबु कुमारी, शैक्षिक सलाहकार, नॉन कॉलिज्येट वुमेन्स एडुकेशन बोर्ड (भारती कॉलेज), दिल्ली विश्वविद्यालय

इतिहास पर कोई प्रभाव या परिणाम नहीं हुआ। इस तरह की समझ इस तथ्य से उत्पन्न हुई कि उनकी जीत शेष भारत की राजनीतिक या सैन्य स्थितियों को प्रभावित नहीं कर सकी थी। अरब शासन केवल सिंध क्षेत्र तक ही सीमित रह गया, और भारतीय शासकों ने बिना डरे या अरबों को अपनी सीमाओं से बाहर किए बिना अपने राज्यों पर शासन किया। अरबों का प्रभाव उपमहाद्वीप के केवल एक छोटे हिस्से तक ही सीमित था। वे भारतीय उपमहाद्वीप के अंदर अपने पैर नहीं जमा सके। इसके विपरीत तुर्कों ने कुछ शताब्दियों बाद (यानी, 12वीं शताब्दी के अंत में) दिल्ली में पूर्ण राज्य अथवा दिल्ली सल्तनत की स्थापना की थी।

हालांकि, कुछ अन्य विद्वानों ने इस दृष्टिकोण का खंडन किया है, और वे कहते हैं कि वास्तव में इस क्षेत्र के जीवन और समय पर विविध प्रभाव थे। उन्होंने इस दृष्टिकोण के समर्थन में विभिन्न तर्क दिए हैं। यह माना जाता है कि भले ही उनकी विजय का भारत के राजनीतिक भूगोल पर कोई खासा प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन इसका अन्य क्षेत्रों में काफी प्रभाव था।

अरब आक्रमणों का सांस्कृतिक प्रभाव

चचनामा, 1226 सी.ई. में फारसी में अली कुफी द्वारा लिखित सिंध के इतिहास का एक प्रमुख ऐतिहासिक लेख है। इसमें सरकार, राजनीति आदि के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई है। हालाँकि, भारतीय उपमहाद्वीप में इस्लाम के आगमन पर दिए गए विवरणों को औपनिवेशिक और राष्ट्रीय सोच में इस हद तक अधिक महत्व दिया गया था कि *चचनामा* को उपमहाद्वीप में केवल सिंध पर विजय और इस्लाम के आगमन के एक महत्वपूर्ण लेख के रूप में देखा गया। इससे इस मध्ययुगीन स्रोत के बारे में विषम समझ बनी। फिर भी, योहानन फ्रेडमैन, मनन अहमद आसिफ आदि जैसे विद्वानों ने इसे पढ़ा और इसका विश्लेषण किया है और इस नतीजे पर पहुंचे कि *चचनामा* सिंध पर विजय की जानकारी के अलावा, सिंध के इतिहास पर अन्य प्रकार की सूचनाओं का भंडार भी है। इसे तथा अरब प्रायद्वीप के अन्य ग्रंथों के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि सिंध पर अरब विजय से भारतीय और अरब दोनों देशों पर व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा। इस संबंध में इक्तेदार हुसैन सिद्दीकी ने कहा है कि अरबों ने 8वीं शताब्दी के प्रारम्भ (812 से 813 सी.ई. तक) में सिंध और दक्षिण पंजाब (मुल्तान क्षेत्र) के क्षेत्रों को जीत लिया था। मुहम्मद बिन कासिम अल-साक़फी की कमान के तहत शासन की एक अलग प्रणाली लागू करने, नई कानूनी प्रणाली की शुरूआत (जो जाति और पंथ के बावजूद निष्पक्ष न्याय सुनिश्चित करती थी) और पुराने जातिय कस्बों में विदेशी सेटलर्स (उपनिवेशो) के लिए अलग से व्यवस्था करने की वजह से इस क्षेत्र में काफी तेजी से सामाजिक-आर्थिक और जनसांख्यिकीय परिवर्तन हुआ। इन उपनिवेशों में अधिकारियों और सेना के लोगों के अलावा पूर्व में चीन और पश्चिम में अफ्रीका के क्षेत्रों में विभिन्न देशों के बीच थलचर और समुद्रपार व्यापार में लगे हुए व्यापारियों को भी बसाया गया था। इस प्रकार विदेशी व्यापार ने न केवल इस क्षेत्र में व्यापार और वाणिज्य को बढ़ावा दिया, बल्कि स्वदेशी शिल्प को संशोधित करने और नए लोगों को इसमें शामिल करने का मार्ग भी प्रशस्त किया।

जैसा कि *चचनामा* से पता चलता है, मुहम्मद बिन कासिम ने जाति व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं किया था। योहनान फ्रैडमैन, जो एक विद्वान हैं, उन्होंने *चचनामा* का गहराई से अध्ययन और विश्लेषण किया। अपने विश्लेषण में उसने बताया कि, कासिम ने अपने राज्य की सामाजिक परम्पराओं का बिना शर्त समर्थन किया तथा उसने उच्च जाति के लोगों के विशेषाधिकार को बनाए रखने तथा निम्न जाति के मान/गरिमा को घटाने की मंजूरी दी। उसने ब्राह्मणों को विशेषाधिकार देने की भारतीय सामाजिक परंपरा को बरकरार रखा। वह ब्राह्मणों को "अच्छे और वफादार लोगों" के रूप में बुलाता था, और ब्राह्मणवाद

के प्रभावहीन होने पर उन्हें उसी स्थिति में फिर से नियुक्त किया गया था जिस पद पर वो हिंदू राजवंश के समय तैनात थे। इसके अलावा, इन पदों को उसके द्वारा वंशानुगत भी बनाया गया था। समाज के कुलीन लोगों को उसने *राणा* की उपाधि दी। आम लोगों को भी उनकी इच्छा के अनुसार पूजा करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया था, बशर्ते वे अरबों को वैसा ही कर देते रहे जैसा कि उन्होंने राजा दहर को चुकाया था। उसने उन्हें मंदिर बनाने, अपने त्योहारों और समारोहों को मनाने और ब्राह्मणों के साथ पहले जैसा संवेदनापूर्ण व्यवहार करने की अनुमति दी।

इसी प्रकार, जाटों के साथ उसका व्यवहार सिंध के हिंदू शासकों की तरह ही बुरा था। जैसा कि फ्रैडमैन कहते हैं – वे मोटे कपड़े पहनने और नंगे पांव चलने के लिए बाध्य थे। उनके बढ़िया कपड़े पहने पाए जाने पर जुर्माना लगाया जाता था। जब वे बाहर जाते तो उन्हें अपने कुत्तों को अपने साथ ले जाना पड़ता था। ऐसा इसलिए किया जाता था ताकि उन्हें आसानी से पहचाना जा सके। चोरी करते पकड़े जाने पर उन्हें उनके परिवार के साथ जिंदा जला दिया जाता था। उन्हें घोड़े की सवारी करने की अनुमति नहीं थी; और यदि वे करते तो उन्हें बिना जीन (काठी) और बागडोर के सवार होना पड़ता था। वे राजमार्ग में डकैती करने के लिए बदनाम थे। इन्हीं कारणों से, मुहम्मद कासिम ने उन्हें दुष्ट लोगों की श्रेणी में रखा और समाज में उनकी निम्न स्थिति कायम रही।

संक्षेप में, उसने सिंध की सामाजिक प्रणालियों के साथ ज्यादा छेड़-छाड़ नहीं की , और कई क्षेत्रों में शांति बनाए रखने में कामयाब हुआ। कासिम ने इन नीतियों का पालन इराक के गवर्नर, हजाज के निर्देशों पर किया, जो लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता देने में विश्वास करता था। इसलिए, जैसा कि *चचनामा* से स्पष्ट होता है, कासिम ब्राह्मणाबाद को व्यवस्थित और शांतिपूर्ण स्थिति में छोड़कर उत्तर में स्थित अलोर की ओर बढ़ गया। इस्लाम के आरंभिक विजय काल में लचीलापन और और सहिश्णुता की ऐसी नीति इस्लाम के लिए अनुठी थी।

इस्लामी धर्मांतरण की घटना की जांच करके अरब विजेताओं की सहिश्णुता की नीति को समझा जा सकता है। सूत्रों के अनुसार, धर्म परिवर्तन से सिंध के लोगों में सामाजिक परिवर्तन आया। इस संबंध में इक्तेदार हुसैन सिद्दीकी कहते हैं – 'मौला-ए-इस्लाम" इस्लाम में परिवर्तित उच्च हैसियत वाले व्यक्ति के लिए इस्तेमाल किया गया था। इससे यह पता चलता है कि न केवल दलित समुदाय जातिगत प्रतिबंधों से निजात पाने के लिए नए धर्म की ओर उन्मुख हुए बल्कि कुछ स्थानीय प्रमुखों ने भी इस्लाम में धर्म परिवर्तन किया था'।

सिद्दीकी ने उल्लेख किया है कि ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच धार्मिक तनाव के कारण, सिंध में रहने वाले कई बौद्धों ने अरबों के संपर्क में आकर इस्लाम में धर्म परिवर्तन किया था। वास्तव में, उन्होंने सिंध विजय के दौरान या पहले से भी अरबों से मित्रता साध रखी थी। यहाँ मुहम्मद इलफी, मुहम्मद बिन कासिम का लेफ्टिनेंट विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसने बौद्ध प्रमुखों और अरब गवर्नरों के बीच संपर्क स्थापित किया था। उसकी वाकपटुता से प्रभावित होकर कई बौद्ध प्रमुखों ने खलीफा की अधीनता स्वीकार की थी। मुख्य रूप से कुलीन वर्गीय ब्राह्मण शासक बौद्धों पर अत्याचार करते थे। जैसा कि सिद्दीकी कहते हैं, सद्भावना और दोस्ती के इस माहौल ने बाद में विजित क्षेत्रों में इस्लाम में धर्मांतरण की वजह से मुस्लिम शासन को मजबूत करने में मदद की। सिंध क्षेत्र में अरबों और भारतीयों के बीच इस तरह के शांतिपूर्ण पारस्परिक विचार-विमर्श (इंटरफ़ेस) से भारत और इस्लामी दुनिया के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। वे आगे कहते हैं कि अरब आबादकारों (सेटलर्स) ने अपने उपनिवेशों में जिन शहरी लोकाचारों को प्रश्रय दिया उसे पुराने शहरों में लागू कर सिंध और मुल्तान के पूरे क्षेत्र में संस्कृति-संक्रमण की प्रक्रिया की महत्वपूर्ण शुरुआत हुआ। इस्लाम धर्म में मौजूद समतावादी माहौल ने हिंदू समाज के निम्न जाति के

लोगों को मोहित कर दिया था। इससे निम्न जाति के लोग इस्लाम में धर्मांतरण की ओर उन्मुख हुए। अरबों का अपने सभी अनुयायियों के साथ समान व्यवहार था जिस वजह से वे धर्मांतरण का सफल नेतृत्व कर सके। इन स्थानीय धर्मान्तरित और अरब से आए समुदायों ने इस क्षेत्र में शहरी संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए मिलकर काम किया।

हालाँकि, इस्लाम का प्रभाव ग्रामीण इलाकों में नहीं था, और यह शहरों तक ही सीमित रहा। दूसरी ओर, ग्रामीण इलाकों में लोग अपने पैतृक धर्म का पालन करते रहे। दसवीं शताब्दी में मुस्लिम मिशनरियों ने ग्रामीण क्षेत्र में अपनी पैठ बढ़ायी तथा शहरी और ग्रामीण लोगों के बीच काम करके उन्हें इस्लाम में धर्मांतरण के लिए उनका विश्वास जीता। भले ही लोगों का धर्मांतरण आंशिक था, फिर भी धर्मान्तरित लोगों ने 1025 सी.ई. में ग़ज़नवी सल्तनत द्वारा कब्ज़े के पूर्व तक अपने क्षेत्र पर शासन किया।

अरब आक्रमण के सामाजिक-धार्मिक प्रभावों के अलावा, बौद्धिक प्रभाव भी बहुत थे। बड़े स्तर पर, भारतीय और अरब संस्कृतियों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने दोनों क्षेत्रों की बौद्धिक संस्कृतियों को प्रोत्साहित किया। कहा जाता है कि साहित्य, चिकित्सा, गणित, खगोल विज्ञान आदि जैसे विभिन्न क्षेत्रों में इसका प्रभाव दिखा। बौद्धिक स्तर पर इस तरह के संपर्कों से दोनों संस्कृतियों का पारस्परिक संवृद्धि और विकास हुआ। भारत-अरब बौद्धिक संपर्क के बारे में लिखित दस्तावेज़ सन 771 सी.ई. का है जब एक हिंदू खगोलशास्त्री और गणितज्ञ संस्कृत में ब्रह्मगुप्त रचित *ब्रह्म सिद्धान्त*, को लेकर बगदाद पहुंचे। एक अरब गणितज्ञ की मदद से इस पाठ का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया और इसका नाम सिंधहिंद रखा गया। अरब खगोल विज्ञान के विकास पर इसका सबसे बड़ा प्रभाव पड़ा। हालांकि गणित के तीन अन्य कार्यों का भी अरबी में अनुवाद किया गया था। गणित के क्षेत्र में, अरबी विद्वता में भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान अरबी अंकों का था।

इसी प्रकार, अरबों ने भारतीय चिकित्सा पर भी अधिक ध्यान दिया। कम से कम पंद्रह संस्कृत कृतियों का अनुवाद किया गया, जिनमें चरक और सुश्रुत शामिल हैं। भारतीय डॉक्टरों को बगदाद में बहुत प्रतिष्ठा और सम्मान दिया गया था, और इसलिए वे वहां अच्छी संख्या में पाए गए। मन्का एक ऐसा डॉक्टर था जिसने बीमार खलीफा हरुन-अल-रशीद का इलाज करके प्रतिष्ठा और पैसा कमाया था।

इसके अलावा, ज्योतिश और हस्तरेखा विज्ञान ने भी अरब का ध्यान आकर्षित किया और इन क्षेत्रों की कई पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया गया। वे भी अरब इतिहास में संरक्षित किए गए हैं। शासन करने की कला, युद्ध की कला, तर्क, नैतिकता, जादू, आदि अनुवाद के अन्य क्षेत्र थे। इसके अलावा, प्रसिद्ध *पंचतंत्र* का अनुवाद किया गया जो कई अरबी और फारसी परंपराओं में कालिमा और डिमना की कहानी के रूप में प्रसिद्ध था। भारतीय खेल चौसर और शतरंज को अरब तथा दुनिया के अन्य क्षेत्रों में भी पहुंचाने का काम किया गया था।

सिंध ने भी सूफीवाद को लोकप्रिय बनाने में योगदान दिया। बिस्टाम का बायजीद सबसे पहला महान सूफी था जिसका आध्यात्मिक शिक्षक एक सिंधी था। वे कहते थे– मैंने सिंध के अबू अली से विज्ञान अथवा इल्म-ए-फना या विनाश और तौहिद या एकता का पाठ सीखा एवं अबू अली ने मुझसे इस्लामी एकता का पाठ सीखा। सूफीवाद और सिंध के बीच का संबंध सर्वविदित है, और बाद के साहित्यिक और धार्मिक जीवन में भी इसका प्रभाव दिखता है।

भारतीय संगीत का भी अरबी संगीत पर काफी प्रभाव पड़ा, भले ही इस विषय से संबन्धित कोई अनुवादित कार्य उपलब्ध नहीं है। जाहिज नाम के एक अरब लेखक ने बताया कि

बगदाद में भारतीय संगीत को काफी सराहना मिली। उसने भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों के संगीत को मनभावन कहा। भारतीय संगीत पर ऐसा ही एक और उदाहरण एक अरब लेखक का है जिसने राग और धुनों से संबन्धित भारतीय पुस्तक के बारे में उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों द्वारा यह सुझाव दिया गया है कि अरब संगीत के लिए कई तकनीकी पहलू / विधाएँ फारस और भारत से ली गई थीं। यहां तक कि भारतीय संगीत में येमन हिज्ज एवं जंगला जैसे कई फारसी - अरबी धुन को शामिल किया।

मुहम्मद बिन कासिम को वापस बुलाए जाने के बाद के सिंध और मुल्तान के इतिहास को जोड़ने वाले स्रोतों का अभाव है। हालांकि, अरब यात्रियों और भूगोलविदों के काम कुछ जानकारी प्रदान करते हैं। दसवीं शताब्दी की पहली तिमाही में पश्चिमी पाकिस्तान का दौरा करने वाले मसुदी और इब्नहकुल जैसे यात्री मंसुरा, मुल्तान, देयबुल, निरुन आदि में अरब उपनिवेशों की उपस्थिति से इत्तेफाक रखते हैं। कहा जाता है कि देयबुल और अलोर में गैर मुसलमानों की अच्छी संख्या थी और अरबों के साथ उनके बहुत अच्छे संबंध थे। दिल्ली सल्तनत के इतिहासकारों के विपरीत, अरब यात्रियों ने गैर-मुसलमानों को ज़िम्मी कहा न कि काफिर या नास्तिक। सूत्रों से पता चलता है कि सिंध और मुल्तान पर विजय के बाद गोहत्या पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। इसके पीछे का कारण पशु संपदा को संरक्षित करना, या यहां तक कि हिंदू भावनाओं के प्रति सम्मान दिखाना भी हो सकता है। कुछ हिंदू प्रमुखों ने इस्लाम में भी दिलचस्पी दिखाई। उदाहरण के लिए, सन् 886 में, एक हिंदू राजा ने स्थानीय भाषा में *कुरान* का अनुवाद करने के लिए मंसूरा के एक अरब भाशाविद् को नियुक्त किया था। जहां तक स्थानीय संस्कृतियों को अपनाने का सवाल है तो यह कहा जा सकता है कि अरब शासकों ने लाहौर या बाद में दिल्ली में तुर्कों और अफगानियों की तुलना में स्थानीय प्रथाओं को काफी हद तक अपनाया। सिंध के हिंदू शासकों की तरह, मंसूरा के अरब शासक ने युद्ध में हाथियों का इस्तेमाल किया तथा हाथियों द्वारा खींची जाने वाली रथों में सवारी की। मंसूरा के अरबों के कपड़े इराक के लोगों की तरह थे; लेकिन वे हिंदू राजाओं के कपड़ों की ही तरह थे। वह भी हिन्दू राजाओं की तरह कर्णफूल पहनते थे और उनके बाल लंबे होते थे।

इसके अलावा, मुहम्मद कासिम के बाद, बड़े पैमाने पर अरब आव्रजन नहीं हुआ तथा अरबों का या पारस्परिक प्रभाव धीरे-धीरे फीका पड़ गया। हालांकि सिंध और मुल्तान अरब जगत के संपर्क में रहे, खासकर लंबी दूरी के व्यापार और इस्लाम के सहारे। सिंध और मुस्लिम दुनिया के अन्य हिस्सों के बीच जीवंत व्यापार हुआ। कारवां खुरसान जाते रहे, विशेष रूप से काबुल और बामियान मार्ग के माध्यम से। इस व्यापार में उत्कृष्ट व्यापारियों के रूप में सिंधी हिंदुओं की अच्छी हिस्सेदारी थी। सिंध में अलोर को एक महान वाणिज्यिक केंद्र के रूप में वर्णित किया गया है। मुस्लिम क्षेत्र के एक हिस्से के रूप में सिंध और मुल्तान ने काबुल की तुलना में अब्बासिद के खजाने में लगभग पांच बार योगदान दिया। इसके अलावा, अरबों का सक्रिय व्यापार संबंध बहुत अधिक व्यापक और दूरगामी था। इस्लाम के उदय के बाद भारत के पश्चिमी तट पर स्थित कैंबे, चौल और होनावर के प्रमुख बंदरगाहों में मुस्लिम अरब व्यापारियों की कई कॉलोनियां थीं। सिंध अभियान का नेतृत्व करने वाले बगदाद के गवर्नर हज्जाज दक्षिण भारत में मुस्लिम व्यापारियों की एक बड़ी कॉलोनी बनाए रखने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार थे। बगदाद की सरकार संभालने के बाद उसके कई राजनीतिक दुश्मन भारतीय उपमहाद्वीप के दक्षिणी तट पर बस गए थे, ताकि उनसे शरण ली जा सके । मुंबई के कोंकण एवं तमिलनाडू के तिरुनेलवेली तट पर बसे नवायत समुदाय के लोग इसी समुदाय का हिस्सा हैं। अन्य मुस्लिम समूह जो बंगाल की खाड़ी क्षेत्र में बस गए थे, अपनी जड़े 8वीं शताब्दी तक खोज सकते थे।

भारतीय तट पर सबसे बड़ा अरब उपनिवेश मालाबार क्षेत्र में था; इस क्षेत्र में इसकी उपस्थिति आज भी देखने को मिलती है। यहाँ मुस्लिम अरब आबादी की विशिष्ट उपस्थिति

एक स्थानीय शासक के धर्मांतरण का परिणाम था। विभिन्न तटों पर ऐसे सभी मुस्लिम उपनिवेशिक बस्तियां एक महत्वपूर्ण आधार बनी जहां से व्यापारी, नाविक और मिशनरी सुदूर पूर्व में गए एवं मलय प्रायद्वीप और इंडोनेशिया जैसे दक्षिण पूर्व एशियाई क्षेत्रों में इस्लाम का प्रसार किए। मध्य पूर्व या दक्षिण एशियाई क्षेत्रों से पूरब की ओर संचलन (मूवमेंट) प्राचीन काल से लोकप्रिय था, और मसाला व्यापार और धर्म दोनों से जुड़ा हुआ था। इस तरह ब्राह्मणवाद या बौद्ध धर्म जैसे भारतीय धर्मों को यहां जगह मिली। इसी तरह अरब व्यापार के माध्यम से इस्लाम के उदय को लोगों में इस्लाम के प्रति झुकाव से जोड़कर देखा जा सकता है जिसने आठवीं शताब्दी से ब्राह्मणवाद और बौद्ध धर्म दोनों का प्रतिस्थापन देखा। बाली में आज भी ज्यादा हिंदू हैं, मलेशिया और इंडोनेशिया में ज्यादातर मुस्लिम हैं तथा उनकी वर्तमान धार्मिक और साहित्यिक परंपरा मुख्य रूप से उपमहाद्वीप के समुद्र तट पर स्थित मुस्लिम उपनिवेशों की देन है। अरब, फारस, गुजरात के तटीय क्षेत्र, मालाबार, कोरोमंडल और बंगाल के व्यापारियों, नाविकों और धार्मिक नेताओं/पुरुषों जैसे मुस्लिम प्रवासी इस विकास में विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

तकनीकी प्रभाव

अरबों के आने का एक और असर तकनीक के क्षेत्र में हुआ। चूंकि वे आक्रमणकारियों के रूप में आए थे, इसलिए उनकी तकनीकी जानकारी को मुख्य रूप से हथियार और युद्ध के क्षेत्र में देखा जा सकता है। जैसा कि पहले की इकाइयों में देखा गया है, भारतीय सेनाओं की तकनीक आक्रमणकारियों की तरह बेहतर नहीं थी, और यही उनकी हार का प्रमुख कारण था।

712 सी.ई. में अरबों ने अपने आक्रमण में दो अलग-अलग प्रकार के हथियार का इस्तेमाल किया। पहला नाफ्था या ग्रीक आग थी जिसे अशोधित पेट्रोलियम से आसवन द्वारा प्राप्त किया गया था। उन्होंने 671 से 678 सी.ई. में कॉन्स्टेंटिनोपल पर अपने असफल हमलों में इसका उपयोग देखा था। बाद में उन्होंने इसका इस्तेमाल करना सीख लिया। जैसा कि *चचनामा* में सिंध हमले के बारे में लिखा है, अरब सेना में नौ सौ नाफ्था फेंक या नाफ्ता- अंदाजन थे जिन्होंने सिंध सैनिकों पर हमले के दौरान तीर की नोक पर नाफ्ता को प्रदीप्त कर आग के शोले वाले तीर की तरह इस्तेमाल किया था।

मंजानिक या मैंगोनेल/ट्रेबुशेच ऐसा ही एक और हथियार था। *चचनामा* में सिंध के देयबुल बंदरगाह पर हुए हमले में इसके उपयोग का उल्लेख मिलता है। मंदिर के शिखर पर पत्थर फेंकने के लिए मंजानिक का इस्तेमाल किया गया था। इसमें लकड़ी के स्टैंड पर लकड़ी की ही एक बीम (शहतीर) को पिवट (कील से स्थिर कर) पर बीम के छोटे भाग पर वजनी पत्थर बांध दिया जाता था। बीम के बड़े भाग के अंत में एक स्लिंग/गोफन (गलपट्टी) को लटकाया गया था जिसमें मिसाइल या पत्थर का बड़ा गोल टुकड़ा रखा जाता था। बीम के लंबे छोर को मैन्युअली (हाथ से) नीचे खींचने पर छोटे वाले भाग पर स्थित वजन ऊपर उठता है। जैसे ही रस्सी छोड़ी जाती है तो बीम का छोटा भाग गिर जाता है जिससे बीम का बड़ा वाला भाग मिसाइल अथवा पत्थर को तेजी से दूर फेंक देता है। अरबों को कॉन्स्टेंटिनोपल युद्ध से इस हथियार के सरल संस्करण के बारे में जानकारी मिली थी। इसे बेहतर और अधिक कुशल उपयोग के लिए संशोधित किया गया था। इसका इस्तेमाल तेरहवीं शताब्दी में चीनी और मंगोलों ने भी किया था। चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली सल्तनत द्वारा कम श्रम-बल का उपयोग करके ऐसे ही एक हथियार का संशोधित संस्करण भी इस्तेमाल किया गया था। उनके द्वारा उपयोग किए जाने वाले विभिन्न प्रकार के मंगोनेल्स (जुगाड़ से बनाए गए अस्त्र) को मंजानिक, मघरिबी और अर्रादा कहा जाता था।

अरबों के सिंध पर जीत के पीछे इस तरह के हथियार एक मुख्य कारण थे। भारतीयों द्वारा युद्ध में कमजोर रणनीति और घटिया तकनीक वाले हथियारों के इस्तेमाल ही उनके अरबों से हार की मुख्य वजह बनी ।

भारतीय और अरबी संस्कृतियों के बीच के जीवंत संबंधों पर अरब की कृतियों से उपलब्ध इस तरह की जानकारी के आधार पर, सिंध पर अरब विजय के परिणाम को अकारण बुलाना अनुचित होगा। दूसरे शब्दों में, केवल राजनीतिक परिणामों को महत्व देना और सामाजिक-सांस्कृतिक या अन्य प्रभावों या परिणामों को नकारना गलत होगा।

बोध प्रश्न 1

1) क्या सिंध के अरब आक्रमण का कोई सामाजिक प्रभाव था?

.....

.....

.....

.....

.....

2) आक्रमण के बाद सिंध में अरब उपस्थिति के सांस्कृतिक प्रभावों पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

7.3 तुर्कों का आगमन

आठवीं शताब्दी में भारत में अरब की घुसपैठ के पश्चात 1192 सी.ई. तक तुर्कों ने भी घुसपैठ की। 10वीं से 12वीं शताब्दी तक की प्रारंभिक मध्ययुगीन अवधि भारतीय इतिहास के पन्नों में एक महत्वपूर्ण अवधि है क्योंकि इसके आधार पर सन 1206 सी.ई. में दिल्ली सल्तनत की स्थापना की गई । तुर्की और भारतीय संस्कृतियों के बीच का टकराव/मुठभेड़ दो चरणों में हुआ। पहला ग्यारहवीं शताब्दी की शुरुआत में महमूद ग़ज़नी द्वारा छापामार हमला करने के रूप में था। थोड़े ही अंतराल में कई बार किया गया यह आक्रमण गुजरात तट पर स्थित सोमनाथ मंदिर में रखे गए सोने जवाहरातों की लूट के लिए ही किया गया था। इस लूट का मुख्य उद्देश्य अफगानिस्तान में महमूद ग़ज़नी के राज्य ग़ज़नी को समृद्ध करना था। भले ही इन आक्रमणों से मंदिर को भारी नुकसान हुआ हो, लेकिन उसका इरादा भारत में इस्लाम को फैलाने या पूर्ण मुस्लिम राज्य की स्थापना करना नहीं था। उस अवधि के ऐतिहासिक स्रोत ऐसे किसी भी इरादे को निर्दिष्ट नहीं करते हैं। गजनवी का यह आक्रमण संक्षिप्त था किन्तु इसका प्रभाव जबरदस्त था। जैसा कि सतीश चंद्रा ने तर्क दिया, भारत के उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में ग़ज़नी के लगातार आक्रमणों ने मुहम्मद गौरी जैसे बाद के तुर्की आक्रमणकारियों को भारत पर हमला करने में एक मशाल वाहक के रूप में काम किया। दूसरा, इसने भारत और मध्य के साथ-साथ पश्चिम एशिया के बीच थलचर व्यापार (ओवरलैंड कॉमर्स) का मार्ग खोलने में मदद की। इससे भारत के शहरों के विकास में तेजी आई, खासकर मुहम्मद गौरी के मुस्लिम राज्य की स्थापना के पश्चात।

भारत में तुर्कों के आक्रमणों का प्रभाव कई गुना था, लेकिन इन पर प्रकाश नहीं डाला गया है। इसके पीछे मुख्य कारण विभाजनकारी दृष्टिकोण और भारतीय इतिहास के औपनिवेशिक इतिहासकार की मंशा थी। जेम्स मिल जैसे ब्रिटिश विद्वानों या प्रशासकों ने भारत पर ब्रिटिश शासन को लंबा करने के उद्देश्य से भारतीय इतिहास की व्याख्या की। हिंदू और मुसलमानों के बीच दरार पैदा करके यह काम आसानी से किया गया। साथ में, उन्होंने यह भी दर्शाने की कोशिश की कि अंग्रेज भारत के लोगों को सभ्य बनाने के एकमात्र इरादे से आए थे। इसलिए, दोनों तर्कों को मान्य करने के लिए, भारतीय इतिहास को तीन चरणों में वर्गीकृत किया गया था, अर्थात् प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक। उन्होंने प्राचीन का नाम हिंदू, मध्ययुगीन को मुस्लिम और आधुनिक को ब्रिटिश का इतिहास कहा था। मध्ययुगीन काल को एक अंधकार युग के रूप में दिखाया गया था, जहां मुस्लिम आक्रमणकारियों ने केवल इस्लाम फैलाने के लिए भारत में प्रवेश किया था। उन्होंने हिंदू मंदिरों को नष्ट करने, हिंदू आबादी का धर्मांतरण, बलात्कार तथा महिलाओं और बच्चों की हत्या आदि जैसा घृणित कृत्य किया। ऐसा, दोनों धर्मों और उनके अनुयायियों के बीच विरोधाभास पैदा करने के लिए लिखा गया था। सांप्रदायिक विवेचना के तहत अरबों एवं तुर्कों को धर्मांतरण और विनाशकारी आक्रमणकारियों के रूप में दिखाया गया है।

हालांकि सतीश चंद्रा जैसे विद्वानों ने ऐतिहासिक आख्यानों के माध्यम से भारतीय आबादी के ध्रुवीकरण की योजना को समझा। बी. डी. चट्टोपाध्याय, रिचर्ड ईटन, फिनबैर बैरी फ्लड आदि समकालीन इतिहासकारों द्वारा किए गए नए शोध में भारत में तुर्की के आक्रमण के विभिन्न प्रभावों का अध्ययन करने की कोशिश की गई। इकाई का अगला खंड ऐसे प्रभावों पर केंद्रित है।

7.4 तुर्की आक्रमणों के सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव

रिचर्ड ईटन के शब्दों में, मुस्लिम तुर्कों का पंजाब एवं गंगा के मैदानी क्षेत्र में रहने वाले गैर-मुस्लिमों के साथ हुई लड़ाई को एक "रचनात्मक संघर्श" के सबूत के रूप में देखा जाता है। साफ जाहीर है कि उपरोक्त अभियानो का उद्देश्य हमेशा धन की लूट-पाट, जनता का नरसंहार, लोगों का धर्मांतरण, पूजा स्थलों को अपवित्र करना आदि नहीं था बल्कि इसने विभिन्न प्रकार के प्रभावों के लिए पर्याप्त पृष्ठभूमि और अवसर भी प्रदान किए। आपसी टकराव पर ध्यान केन्द्रित करने के बजाय विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे आदान-प्रदान के स्तर को देखना अधिक फलदायी होगा। सतीश चंद्रा के अनुसार, "इस्लाम" और "हिंदू धर्म" के बीच बातचीत की प्रक्रियाओं को तीन अलग-अलग स्तरों पर प्रस्तुत किया जा सकता हैः

1. राज्य गठन सहित राजनीतिक स्तर पर।
2. आम जनता के स्तर पर, धार्मिक आंदोलनों और आर्थिक विकास को शामिल कर।
3. बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर पर, मध्य वर्गों और पेशेवरों को शामिल कर।

यहां अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग तरह के प्रभाव का अध्ययन करने का प्रयास किया जाएगा। इन श्रेणियों के बीच एक पतली सीमा रेखा मौजूद है जो परस्पर जुड़े हुए हैं और कभी-कभार ओवरलैप होती हैं। इसलिए, कई बार विभिन्न स्तरों पर प्रभाव ओवरलैपिंग और परस्पर जुड़े हुए देखे गए है।

सांस्कृतिक प्रभाव

आक्रमणों को दो अलग-अलग संस्कृतियों के बीच मुठभेड़ की प्रक्रिया के रूप में भी देखा जा सकता है। यह प्रक्रिया हमेशा दो तरीकों से होती है; एक टकराव का और दूसरा स्वस्थ

संपर्क का। पंजाब पर ग़ज़नी के आक्रमण के संदर्भ में सतीश चंद्रा कहते हैं कि इस विजय के कारण मुसलमानों और हिंदुओं के बीच संबंधों के दो अलग-अलग स्वरूप (पैटर्न) स्थापित हुए। एक तो लूट का लालच था और दूसरा व्यापार के रूप में। सैन्य कार्रवाई खत्म होते ही खुरासान और भारत के बीच कारवां मार्ग फिर से खुल गए। मुस्लिम व्यापारियों ने मध्य और पश्चिम एशियाई देशों के साथ भारत के व्यापार को बढ़ाया जिसके कारण उत्तर भारत के शहरों का विकास हुआ। इस प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप पंजाब के क्षेत्र में सूफी धर्म प्रचारकों का आगमन हुआ। धर्म प्रचार/धर्मोपदेश मुख्य रूप से उपनिवेशिक (आकर बसने वाले) मुस्लिमों पर केन्द्रित था किन्तु इस प्रक्रिया में उन्होंने कुछ हिंदुओं को भी प्रभावित किया, जिससे समाज के इस्लाम और हिंदू धर्म के बीच बातचीत का चैनल/रास्ता खोलने का मार्ग प्रशस्त हुआ ।

इस तरह से पारस्परिक विचार-विमर्श के फलस्वरूप, लाहौर भी अरबी और फारसी भाषाओं और साहित्य के विकास के लिए एक प्रभावशाली केंद्र के रूप में उभरा। बाद में फारसी भाषा को गजनवी काल के दौरान दरबार की भाषा के रूप में अपनाया गया था, और यह पूरे मुस्लिम शासन में एक समान लागू रहा।

इसके अलावा धार्मिक भावनाओं ने कई इलाकों में ग़ज़नवियों के लिए कोई बाधा उपस्थित नहीं की। यह गैर मुस्लिम सैनिकों को ग़ज़नवी सेनाओं में भर्ती करने में देखा गया था। दरअसल, सैन्य भर्ती में कई हिंदू सैनिकों की भर्ती की गई थी और इसका कमान तिलक जैसे कई हिंदू जनरलों ने संभाली थी जो जाति के नाई थे। वह सुल्तान महमूद के प्रभावशाली वजीर ख्वाजा अहमद हसनमाईमंडी के विश्वासपात्र बन गए।

11वीं और 12वीं शताब्दी के दौरान लाहौर के मुस्लिम शासकों ने हिंदू शाही राजवंशों के नाम के सिक्के जारी किए। इन सिक्कों में एक तरफ शिव का बैल जिसे नंदी कहा जाता है, और दूसरी तरफ देवनागरी लिपि में मुहम्मद गौरी के नाम के पहले संस्कृत में श्री सामंत देव अंकित किया गया था। रिचर्ड ईटन के अनुसार, इस तरह के उपायों से पता चला कि गौरी शासक उत्तर भारतीय राज्यों के साथ सांस्कृतिक और मौद्रिक निरंतरता स्थापित करना चाहते थे। इस प्रकार, शब्दों और तस्वीरों वाले इन सिक्कों के संचलन/ प्रचलन से समाज में राजनीतिक विचारधारा का प्रचार-प्रसार भी हुआ। दूसरे, पुराने सिक्कों को जारी रखने के पीछे एक और कारण यह था कि नए शासक वाणिज्य में कोई व्यवधान नहीं चाहते थे। चूंकि सिक्का, व्यापार और वाणिज्य से जुड़ा हुआ था, इसलिए नए धर्म वाले नए शासकों द्वारा भी मौजूदा व्यापार प्रणाली/पैटर्न को जारी रखा गया।

इसके अलावा हिंदू और तुर्की संस्कृतियों के बीच सांस्कृतिक आत्मसात ने साहित्यिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। महमूद ग़ज़नी ने अपनी महान सैन्य क्षमताओं और राजनीतिक उपलब्धियों के साथ ग़ज़नी जैसे छोटे राज्य को एक विशाल और धनी साम्राज्य में बदल दिया था जिसमें आधुनिक अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान और भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर हिस्सों के अधिकांश हिस्से शामिल थे। एक सक्षम शासक के रूप में उसने ग़ज़नी को फारसी शिक्षा के केंद्र में बदल दिया था। उसने समानिद बुखारा और खुरासान के सांस्कृतिक केंद्रों से प्रेरित होकर ग़ज़नी में फिरदौसी, अल-बिरूनी, उजारी, अनसूरी आदि कवियों और लेखकों को आमंत्रित किया था। महमूद ग़ज़नी ने अपने वैभव का धूमधाम से प्रदर्शन किया जो भारत से मदद पर निर्भर थी। दूसरे शब्दों में, उनके राज्य गजनी में रखे गए स्वर्णाभूषण व वैभव की सामग्री महमूद ने भारत से लूटी थी। समानिद और गजनवी के बीच की अवधि में शासन संचालन का फारसीकरण हुआ और इसका प्रभाव भारत में भी देखा गया। इस संदर्भ में इस काल का दैविक उत्कृष्ट और राजतंत्रीय शासन संचालन, सत्ता का केंद्रीकरण, नौकरशाही और सेना के व्यवसायीकरण आदि उल्लेखनीय है। महमूद के उत्तराधिकारियों ने उत्तर भारत में फारसी संस्कृति के प्रसार की शुरुआत

की। रिचर्ड ईटन के शब्दों में, "बुखारा के समानिद शासकों से विरासत में मिली समस्त फारसी संस्थाओं और प्रथाओं को पंजाब क्षेत्र में लाया गया जिसमें राज्य के भूमि राजस्व और सैन्य प्रणालियों से बंधे एक रैंक और वेतनभोगी नौकरशाही का विस्तार; अभिजात वर्ग, सेना, गुलामी; 'सुल्तान' के कार्यालय का विस्तार; फारसी कला को दरबार द्वारा संरक्षण, शिल्प और साहित्य का दरबारी संरक्षण; तथा आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली धार्मिक व्यक्तियों या सूफियों, जिनका शाही सत्ता के साथ उभयभावी (दो विरोधी गुणों को धारण करने वाला) संबंध थे, की परंपरा भी शामिल थी''।

गजनवियों द्वारा पंजाब पर कब्जे के पश्चात लाहौर की भारत-इस्लामी संस्कृति को फारसी प्रभाव मिला जिसे आज तक आत्मसात किया गया है। गजनवी के उत्तराधिकारियों ने अपने वंशवादी इतिहास को न सिर्फ इस्लामी धार्मिक परंपरा के साथ बल्कि फारसी पूर्व इस्लामी अतीत के साथ भी जोड़ने के लिए ठोस प्रयास किए जैसा कि आंद्रे विंक ने तर्क दिया है। यहां तक कि गौरी अधिनायकों ने भी अपनी प्रांतीय पहचान से अलग एक महानगरीय छवि अपनाई थी, जो फारसी नौकरशाही और केंद्रीकृत राज्य की विशेषताओं को गले लगाते थे। इसमें शुक्रवार की प्रार्थना में अपनी संप्रभुता की घोषणा करना और शाही छतरी (छत्र) और नौबत का उपयोग करना शामिल था। दोनों फारसी राजनीतिक अधिकार के प्रतीक थे। उन्होंने मलिक अल-जबल, 'पहाड़ों के राजा' जैसे मामूली शीर्षक को भी खारिज कर दिया। मुहम्मद गौरी ने खुद को 'द ग्रेट सुल्तान' (सुल्तान अल-मुअज्ज़म) के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार, सल्तनत काल के दौरान एक परिपक्व अवस्था प्राप्त करने वाली फारसी परंपराओं व फारसी -इस्लामी बादशाहत परंपरा को पहले महमूद ग़ज़नी और बाद में मुहम्मद ग़ौरी द्वारा किए गए आक्रमणों ने प्रभावित किया।

बौद्धिक प्रभाव

महमूद गजनी के आक्रमणों के कारण हमारे पास दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के दौरान भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों की जानकारी है। फिरदौसी, अल-बिरूनी आदि लेखकों ने इस युग के दौरान भारत की मौजूदा परिस्थितियों के बारे में बड़े पैमाने पर लिखा है । अबू रेहान मोहम्मद बिन अहमद जो अल-बरूनी के नाम से लोकप्रिय है, एक प्रसिद्ध व्यक्तित्व, एक प्रसिद्ध दार्शनिक, गणितज्ञ और एक इतिहासकार के रूप में जाना जाता है, जो भारत में आक्रमणों के दौरान महमूद गजनी के साथ थे । शासक के साथ उनका जुड़ाव कम था, लेकिन भारतीय रीति-रिवाजों और परंपराओं के बारे में उसके लेख तथा इस्लामी विजय के बारे में उसकी टिप्पणी भी उल्लेखनीय है। *क़ानुम-ए-मसुदी*, प्राचीन राष्ट्रों के कालक्रम जैसे उनके कई कार्यों/कृतियों में सबसे महत्वपूर्ण है *किताब-उल-हिंद* जो हिंदुओं के धर्म, विज्ञान, सामाजिक रीति-रिवाजों, संस्कृति, कला, ज्योतिश आदि पर प्रकाश डालती है। साथ ही उनके लेखों में हिन्दुओं, खासकर ब्राह्मणों के रवैये और व्यवहार का भी जिक्र है। यह महमूद के भारतीय आक्रमण के विनाशकारी प्रभावों के बारे में भी पर्याप्त जानकारी प्रदान करता है।

तुर्की आक्रमण का एक और प्रभाव 1040 सी.ई. में नेपाल में बहुत ही प्राचीन *वेद* पांडुलिपि के संकलन के रूप में देखा जा सकता है। इस बात का पता चलता है कि तुर्कों के आक्रमणों के कारण भारतीय सत्तारूढ़ समूहों के विस्थापन के बाद नेपाल, ब्राह्मणों के प्रवास के लिए एक महत्वपूर्ण गंतव्य के रूप में उभरा।

सामाजिक प्रभाव

तेरहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में तुर्की आक्रमण के उपलब्ध साक्ष्य, इसके सामाजिक प्रभाव के बारे में न्यूनतम या नगण्य जानकारी प्रदान करते हैं। फिर भी, जो तस्वीर उभर कर सामने आती है वह महत्वपूर्ण घटनाओं का आंशिक रूप से संकेत देती है।

विभिन्न भारतीय धर्मों पर मुस्लिम आक्रमण का प्रभाव एक बहस का मुद्दा है। इसकी औपनिवेशिक व्याख्या मंदिर विनाश, मूर्ति भंग करने और मूल आबादी के धर्मांतरण पर अधिक केंद्रित है। हालांकि इस तरह के नजरिये को मोहम्मद हबीब और अन्य विद्वानों ने नकार दिया है। उनका तर्क है कि महमूदी एजेंडे में धर्मांतरण कभी शामिल नहीं था क्योंकि इस बात का कोई सबूत नहीं है कि लोगों को एक नए धर्म के पालन के लिए मजबूर किया गया हो। उनका मानना है कि धर्मांतरण का कारण धार्मिक से ज्यादा आर्थिक था। इसी तरह, रिचर्ड ईटन का कहना है कि धर्मांतरण के लिए किसी एक कारण को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। बल्कि यह एक क्रमिक और दीर्घकालिक सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम था। जैसा कि छठी शताब्दी बी.सी.ई. में हुआ था, निम्न जातियों को नए धर्म में समानता का अधिकार देकर प्रसन्न करने का प्रयास किया गया था। इसलिए उन्होंने एक नए धर्म में अपने भाइयों की तरह इज्जत व सम्मान पाने के लिए धर्मांतरण किया।

तुर्की आक्रमण का एक और महत्वपूर्ण प्रभाव बारहवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म के अपने मूल भूमि से वास्तविक रूप से गायब होने के रूप में देखा जा सकता है। आर. एस. शर्मा की मानें तो 11वीं और 12वीं सदी के दौरान कुछ बौद्ध केंद्रों और मठों को उनकी अपार धन दौलत के लिए जाना जाता था, जिस कारण तुर्कों ने उनपर हमला किया था। साथ ही बिहार में बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षुओं को तुर्कों ने खासतौर पर बख्तियार ख़िलजी ने बंगाल पर आक्रमण के दौरान मार डाला था।

इसके अलावा जहां तक जाति व्यवस्था का सवाल है तो समाज में यह अक्षुण्ण रही। हालांकि अल-बिरूनी के लेखों से पता चलता है कि सत्ताधारी सदनों से जुड़े ब्राह्मणों की शक्ति और स्थिति में गिरावट आई। इसका कारण यह था कि तुर्कों के आने के साथ कई शक्तिशाली सत्तारूढ़ घरों को ध्वस्त कर दिया गया था। उनकी संप्रभु शक्ति को क्षीण कर उनको अधीनस्थ बना लिया गया था। इसलिए इन दरबारों से जुड़े ब्राह्मणों की शक्ति और पदों में भी गिरावट आई। फिर भी, जैसा कि अल-बिरूनी ने उल्लेख किया है, धार्मिक संस्थाओं में नियोजित पुजारी की स्थिति समान रही, और इसका उसपर कोई असर नहीं हुआ।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, महमूद ग़ज़नी और मुहम्मद ग़ौरी अपने साथ फारसी परंपराओं को भारत में लाए थे, इनमें इक्ता व्यवस्था विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रणाली के तहत, साम्राज्य को भूमि के कई बड़े और छोटे इलाकों में विभाजित किया गया था जो सैनिकों, अधिकारियों, संभ्रांत लोगों को सौंपा गया था। यह व्यवस्था दिल्ली सल्तनत के समय में भी देखने को मिली। यह वेतन के एवज में दिया जाता था, लेकिन समय के साथ यह वंशानुगत प्रकृति में बन गया, जैसा कि फिरोज़ शाह तुगलक के शासन काल में था। इसने किसानों को नकदी फसलें उगाने के लिए प्रोत्साहित किया जिसके कारण कस्बों में कारीगरों और शिल्पकारों का उद्भव हुआ। परिणामस्वरूप व्यापार और वाणिज्य का उत्कर्ष हुआ। वस्तु के नियमित प्रवाह के कारण व्यापारी समूहों जैसे बंजारों, कारवां, दलालों आदि का उदय हुआ। तुर्कों के आने के साथ ही घोड़ा एक महत्वपूर्ण जानवर के रूप में उभरा। इसका इस्तेमाल लड़ाई लड़ने में किया जाता था। इसलिए, घोड़े से जुड़े कई रोजगार प्रमुखता में आए जिसमें मूल रूप से काठी, घोड़े का नाल (घोड़े का जूता जो लोहे से बना होता था) आदि का निर्माण शामिल है।

तकनीकी प्रभाव

तुर्क अपने साथ कई तकनीकी नवाचार लाए। लेकिन उन सबका दक्षता पूर्वक उपयोग तेरहवीं शताब्दी के बाद ही देखा गया। उदाहरण के लिए, शिल्प उत्पादन जिसमें कताई पहिया और सुई का काम, रेशम पालन का ज्ञान, कालीन बुनाई, कागज की खोज, आसवन विधि, निर्माण सामग्री और तकनीक, सैन्य प्रौद्योगिकी आदि तुर्कों के आगमन के बाद आए।

तुर्की शासन की स्थापना के कारण ईरान, इराक, तुर्किस्तान, खुरासान आदि क्षेत्रों के लोगों का आव्रजन हुआ जो अपने साथ न केवल अनुष्ठान, रीति-रिवाज और धर्म लेकर आए, बल्कि कौशल और कपड़े भी अपने साथ लाए। तुर्कों के आने से पहले, सिले हुए कपड़ों की कला से यहाँ के लोग अपरिचित थे जिसे मार्को पोलो के लेखों से सत्यापित किया जा सकता है। जिसमें उन्होंने बताया कि ''मालाबार प्रांत में कोट की सिलाई के लिए कोई दर्जी नहीं मिलता था''। तुर्कों के आने से भारत में सलवार कमीज आदि के इस्तेमाल को लोकप्रिय बनाया गया। मोतीचंद्र ने निष्कर्ष निकाला कि अरबों और फारसियों के साथ अधिक संपर्क के कारण बारहवीं शताब्दी में जैकेट, ट्यूनिक्स और पतलून अधिक प्रचलित हुए। इसके अलावा, कताई व्हील (चरखा) की खोज वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी कदम था। इस्लामी *फ़ुतूह-अस-सलातीन* के लेख से इस मेकैनिकल उपकरण के इस्तेमाल के बारे में पता चलता है। सल्तनत काल के दौरान इस उपकरण ने सूती कपड़े के उत्पादन के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

सैन्य तकनीकी के तहत, लोहे और इस्पात के बने घोड़े का जूता (नाल) का उल्लेख किया जा सकता है जिसका उल्लेख ग़जनवी कवि मसूद साद सलमान और फारसी कवि निजामी गंजवी के छंदों में किया गया है।

इस काल में वास्तुकला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण तकनीकी रूपांतर देखा गया जिसमें शामिल है चूने और गारे के उपयोग से मजबूत संरचना/ भवन का निर्माण। वास्तुकला शैली विधि के रूप में मेहराब और गुंबद का निर्माण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सैन्य जीत के उपलक्ष्य में मीनारों के निर्माण की प्रथा थी। इसके अलावा, गौरी सुल्तानों के शासन के दौरान एक प्रमुख वास्तुशिल्प स्मारक के रूप में एक ऊंचा मीनार बनाया गया था जो मध्य अफगानिस्तान के जाम में स्थित है। जाम मीनार को दिल्ली के कुतुबमिनार के निर्माण का प्रेरणास्त्रोत माना जाता है। मीनार की प्रेरणा सिस्तान के ख़्वाजासिया पॉश की गौरी मीनार से मिली। इसका जीत का एक स्मारक और प्रार्थना के लिए वफ़ादारों को आवाज देने के मजीनाह (मस्जिद) के रूप में उल्लेख किया गया है।

जैसा कि अरब आक्रमण के मामले में पाया गया है, ठीक वैसे ही तुर्की आक्रमण का दूरगामी सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव पड़ा था। दोनों के कई महत्वपूर्ण अंतरों में से एक अंतर यह था कि 13वीं सदी के अंत तक तुर्कों ने अपना स्थायी साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

बोध प्रश्न 2

1) आप इस विचार से कहां तक सहमत हैं कि तुर्की आक्रमण ने हमेशा टकराव और संघर्ष को जन्म दिया?

.....

.....

.....

.....

2) भारतीय क्षेत्र पर तुर्की आक्रमण के विभिन्न प्रभावों की चर्चा करें?

.....

.....

.....

.....

7.5 सारांश

अपनी बात समाप्त करने के लिए यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन मुस्लिम आक्रमणकारियों और शासकों को मूर्तिभंजक या लुटेरा के रूप में अलंकृत करना सही और न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है। वास्तव में, किसी भी आक्रमण में टकराव और बातचीत दोनों तत्व होते हैं। एक को उभारना (हाइलाइट करना) और दूसरे को हटाना अनावश्यक होता है। इस संदर्भ में यह सुझाव दिया जा सकता है कि सिंध के विलय के कई प्रभावों में से एक के रूप में दूरगामी वाणिज्यिक परिणाम थे। इसी तरह तुर्की के आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत में लंबे समय से चले आ रहे राज्य की स्थापना हुई जिसे दिल्ली सल्तनत कहा जाता है।

7.6 शब्दावली

घुमंतु : ऐसे लोगों का समूह जिनके पास स्थाई बस्ती नहीं हैं।

यूरोपियन स्टेप्स : यूरोप और एशिया की सीमाओं पर एक भौगोलिक क्षेत्र।

शाहनामा : फारसी में फिरदौसी द्वारा लिखित दसवीं शताब्दी की काव्यकृति।

फारसी पहिया (Persian wheel) : एक पानी उठाने वाला उपकरण जिसका उपयोग कुछ गहराई से पानी उठाने के लिए किया जाता है।

चरखा : सूत कताई के लिए एक उपकरण। इसे क्रेंक-हैंडल की मदद से स्थानांतरित किया जाता है और इसमें छह स्पिंडल होते हैं।

प्रतिभा भंजक (iconoclast) : धार्मिक पूजा में उपयोग की जाने वाली मूर्तियों का विध्वंसक।

ममलूक : गुलाम

7.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 7.2 देखें।

2) भाग 7.2 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 7.4 देखें।

2) भाग 7.4 देखें।

7.8 संदर्भ ग्रन्थ

आसिफ, मनन अहमद (2016). *ए बुक ऑफ कॉक्वेस्ट : द चचनामा एंड मुस्लिम ओरिजिन्स इन साउथ एशिया.* लंदन : हार्वड यूनिवर्सिटी प्रेस.

चंद्रा, सतीश (1997). *मेडिवल इंडिया फ्रॉम सुल्तनत टू द मुगल्स.* नई दिल्ली : हर-आनंद पब्लीकेशन्स प्र. लि.

चंद्रा, सतीश (2007). *हिस्ट्री ऑफ मेडिवल इंडिया.* नई दिल्ली : ओरिएंट ब्लैकस्वैन प्र. लि.।

चंद्रा, सतीश (2008). *सोशियल चेंज एंड डवलपमैंट इन मेडिवल इंडियन हिस्ट्री.* नई दिल्लीः हर-आनंद पब्लीकेशन्स प्र. लि.

चट्टोपाध्याय, बी. डी. (1998). *रिप्रेसेंटिंग द अदर. संस्कृत सोर्सेज़ एंड द मुस्लिम्स.* दिल्लीः मनोहर.

ईटन, रिचर्ड एम. (एड.) (2003). *इंडियाज इस्लामिक ट्रडीशन्स. 711-1750.* नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

फ़्लड, फिन्नबार्र बैरी (2007). लॉस्ट इन ट्रांसलेशन : आर्किटेक्चर, टैक्सोनोमी, एंड द ईस्टर्न "टकर्स. *मुकरनाज़.* वॉल्यूम 24, *हिस्ट्री एंड आईडियोलोजी : आर्किटेक्चरल हैरिटेज़ ऑफ द लैंड्स ऑफ एम'*.

हबीब, इरफान (2001). *द इकनोमिक हिस्ट्री ऑफ मेडिवल इंडिया : ए सर्वे.* नई दिल्लीः तूलिका.

हबीब, इरफान (2008). *टेक्नोलोजी इन मेडिवल इंडिया, लगभग 650-1750.* नई दिल्लीः तूलिका बुक्स.

जैक्सन, पीटर (1999). *द देल्ही सल्तनत : ए पोलिटिकल एंड मिलीट्री हिस्ट्री.* कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस.

कुमार, सुनील (2007). *द इमर्जेंस ऑफ देल्ही सल्तनत 1192-1286.* रानीखेत : पर्मानेट ब्लैक.

सिद्दीकी, इक़्तीदार हुसैन (2012). *कम्पोसिट कल्चर अंडर द सल्तनत ऑफ दिल्ली.* दिल्ली : प्राईमस बुक्स.

थापर, रोमिला (2004). *सोमनाथ : द मैनी वॉइसेस ऑफ ए हिस्ट्री.* वाईकिंग : पेन्गुईन बुक्स.

विंक, आंद्रे (1990). *अल-हिंद द मेकिंग ऑफ द इंडो-इस्लामिक वर्ल्ड,* वॉल्यूम 1, दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

विंक, आंद्रे (1997). *अल-हिंद द मेकिंग ऑफ इंडो-इस्लामिक वर्ल्ड,* वॉल्यूम 2. लाईडेन : ब्रिल.

इकाई 8 समाज, अर्थव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और संस्कृति : पूर्व और उत्तर-पूर्व भारत*

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 राज्य व्यवस्था

8.3 अर्थव्यवस्था

8.4 समाज

8.5 संस्कृति

8.6 सारांश

8.7 शब्दावली

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.9 संदर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित के बारे में जानेंगे :

- प्रारंभिक मध्यकाल में शासन कर रही राज्यव्यवस्थायें;
- बंगाल के पालों के तहत और प्रारंभिक मध्यकाल में असम में अर्थव्यवस्था, समाज और राज्यव्यवस्था की प्रकृति; और
- प्रारंभिक मध्यकाल में सांस्कृतिक उपलब्धियाँ।

8.1 प्रस्तावना

भारतीय उपमहाद्वीप के अन्य भागों की तरह प्रारंभिक मध्यकाल को पूर्व और उत्तर-पूर्व में छोटे राज्यों के उदय से चिन्हित किया जा सकता है जिनमें से कुछ ने उत्तर भारत की राजनीति में सक्रिय भाग लिया था। बंगाल के पाल मुख्य राजनैतिक शक्ति थे। उनका राज्य मौटे तौर पर बिहार और बंगाल के क्षेत्रों में था और कभी-कभी उनका असम पर भी नियन्त्रण रहा। इस राजवंश के कुछ शासक कन्नौज के लिए कुख्यात त्रिपक्षीय संघर्ष में शामिल थे। इस प्रकार कभी-कभी उनका नियन्त्रण उत्तर भारत तक फैला हुआ था। उनका शासन 750 से 1156 सी.ई. तक बना रहा जिसके बाद सेनों द्वारा उन्हें प्रतिस्थापित कर दिया गया। एक संक्षिप्त अवधि के लिए नौवीं शताब्दी में उन्होंने सत्ता गँवा दी जिसे उन्होंने दसवीं शताब्दी में फिर से हासिल किया। इस राजवंश को नालन्दा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी और उनके शासनकाल में पनप रहे अन्य विश्वविद्यालयों के साथ कला और शिक्षा के संरक्षण के लिए जाना जाता है। चित्रकला और मूर्तिकला के रूप में उनकी कलाकृतियों ने तिब्बत, नेपाल और दक्षिण-पूर्व एशिया में कला को काफ़ी प्रभावित किया।

* डॉ. अवन्तिका शर्मा, सहायक आचार्य, इतिहास विभाग, इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

उत्तर-पूर्वी भारत के लिए हमारे पास असम के बारे में अधिक तथ्य हैं। इसका प्राचीन नाम कामरूप या प्राग्ज्योतिष था। इसके इतिहास के पुनर्निर्माण के मुख्य स्रोत विभिन्न राजाओं द्वारा जारी किये गये शिलालेख और दसवीं शताब्दी सी.ई. के लगभग दिनाँकित एक ग्रन्थ *कलिका पुराण* हैं। इस अवधि की शुरूआत में ऐसा लगता है कि यह क्षेत्र पालों के नियंत्रण में था। हालाँकि उनका शासन नौवीं शताब्दी में किसी समय समाप्त हो गया और इस क्षेत्र में दो राजवंशों - सलंबों (Salambas) और असम के पालों का पदारोहण देखा गया।

8.2 राज्य व्यवस्था

पाल राज्यव्यवस्था के तत्वों का पुनर्निर्माण करने के लिए हम आमतौर पर इस राजवंश के विभिन्न शासकों द्वारा जारी किये गये अनेक शिलालेखों पर भरोसा करते हैं। इनका संबंध आमतौर पर धार्मिक संस्थाओं और व्यक्तियों को दिये गये अनूदानों से है – जैसे ब्राह्मणों, शैव मन्दिरों और बौद्ध मठों को दिये गये भूमि दान। हालांकि केवल कुछ शिलालेखों में उनके प्रशासनिक तंत्र को समझने के लिए प्रासंगिक जानकारी है। कुछ महत्वपूर्ण शिलालेख हैं : कन्नौज में उनकी जीत के बाद अपने शासनकाल के 32वें वर्श में धर्मपाल (775-810 सी.ई.) द्वारा जारी खलिमपुर/खालिमपुर ताम्रपत्र शिलालेख; राजा नारायणपाल (861-917 सी.ई.) के शासनकाल के दौरान जारी किया गया बदल/बडल (Badal) स्तंभ शिलालेख और कुमारपाल (1126-1128 सी.ई.) के शासनकाल के दौरान जारी किया गया कमौली/कामौली ताम्रपत्र शिलालेख।

जबकि उनका शासन प्रकृति में राजतन्त्रात्मक था लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इस राजवंश के पहले शासक गोपाल (750-775 सी.ई.) को लोगों द्वारा चुना गया था। खालिमपुर शिलालेख के अनुसार कन्नौज के यशोवर्मन, कश्मीर के ललितादित्य और कामरूप के हर्ष द्वारा हमलों के बाद यह क्षेत्र अराजकता में डूब गया था। *मत्स्य न्याय* अर्थात जंगल के कानून को समाप्त करने के लिए लोगों ने गोपाल को अपने शासक के रूप में चुना था। हालांकि उसके उत्तराधिकारियों ने आमतौर पर वंशानुगत उत्तराधिकार के सिद्धान्त का पालन किया। शासकों ने *महाराजाधिराज, परमेश्वर, परम-भट्टारक* जैसे उच्च लगने वाली उपाधियों को धारण किया। राजा को शायद मन्त्रियों और सचिवों द्वारा मदद की जाती थी। बदल/बडल स्तम्भ शिलालेख बताता है कि मन्त्रियों की स्थिति वंशानुगत थी। शिलालेखों में सीमित संदर्भों से हम समझते है कि उनका प्रशासनिक तंत्र अनेक तरीकों से गुप्तों से मिलता-जुलता था। राज्य को *भुक्ति* नाम के प्रान्तों में विभाजित किया गया था जिनके प्रशासन का संचालन *उपरिक/उपारिक* करते थे। *भुक्तियों* के अन्तर्गत *विषय* (जिले) और *ग्रामिक* (ग्राम) थे जो क्रमशः *विषयपति* और *ग्रामिक* द्वारा शासित थे (मजूमदार, 1980)। एक अन्य अधिकारी जो *विषयों* के स्तर पर काम करते थे वह *अधिकरण* थे जिनका संबंध भूमि अनुदानों से था। यह संभव है कि प्रांत और गाँव के बीच दस गाँवों की एक मध्यवर्ती इकाई मौजूद थी जो *दस-ग्रामिक* द्वारा प्रबन्धित की जाती थी। शिलालेखों में *राजपुत्र, राजन्, राजन्यक, राजंक* और *रणक/राणक* जैसे अधिकारियों का उल्लेख है जो पराजित शासक या राज्य के जागीरदार रहे होंगे। राज्य-व्यवस्था की एक विशेशता एक निश्चित राजधानी का ना होना था। इस प्रकार गंगा नदी के तट पर कई स्थानों जैसे पाटलिपुत्र, मुग्दगिरि, रामवती, वतपवरतक, विलासपुर या हरधमा (Haradhama), सहसगन्ध, कंचनपुरा और कपिलावस्क (Kapilavaska) ने उनकी राजधानी के रूप में कार्य किया (शर्मा, 2009)।

दूसरी ओर असम जबकि शुरू में पालों के शासन के तहत था, संलब राजवंश के हरजवर्मन के तहत स्वतंत्र हो गया। इस राजवंश ने 800 से 1000 सी.ई. तक इस क्षेत्र में शासन किया। राजवंश के तीन शासकों हरजवर्मन, वनमल वर्मदेव (Vanmala Varmadeva) और बलवर्मन तृतीय द्वारा जारी किये गये ताम्रपत्र और पाषाण शिलालेखों से उनकी

राज्यव्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। इन शिलाललेखों से हम जानते हैं कि शासकों ने *परमेश्वर, परम-भट्टारक* और *महाराजाधिराज* जैसे शाही शीर्षक धारण किये।

हरजवर्मन के हयुन्थल (Hayunthal) ताम्रपत्र अभिलेख में व्यापारियों और राजकुमारियों द्वारा उनके राज्याभिषेक के दौरान अनाभिषेक (पानी का छिड़काव) अनुष्ठान का वर्णन है। अभिलेख में कुछ उच्च अधिकारियों जैसे *महाप्रतिहार, महासेनापति, ब्राह्मणाधिकार* आदि का उल्लेख मिलता है। बलवर्मन तृतीय के दो ताम्रपत्र अभिलेखों – परबतिया और नौगाँव ताम्रपत्र से कुछ और अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई है। इन अभिलेखों से हमें पता चलता है कि राज्य को *विषयों* और *मंडलों* में उपविभाजित किया गया था। *विषय* के स्तर पर एक अधिकारी *विषय-कर्णिक* का उल्लेख नौगाँव ताम्रपत्र में किया गया है। उसी ताम्रपत्र में *रजणि* (*Rajani*), *राजपुत्र, रणक* और अन्य लोगों का भी उल्लेख है जो संभवतः जागीरदार रहे होगें। राजवंश के अंतिम शासक त्यागसिंम्ह/त्यागसिंह का बिना वारिस के निधन हो गया और इससे राजवंश का अंत हो गया। इसके बाद असम के पालों का एक नया राजवंश सत्ता में आया। उनके अभिलेखों में यह दावा किया गया है कि राजवंश के प्रथम शासक ब्रह्मपाल-I को लोगों द्वारा चुना गया था। यह दावा गोपाल के चयन की याद दिलाता है। उन्होंने दुर्जय को अपनी नयी राजधानी बनाया। इसकी पहचान गुवाहाटी से की गई है। इस राजवंश का सबसे प्रसिद्ध शासक रत्नपाल/रतनपाल था जिसने 26 से अधिक वर्षों तक शासन किया। शायद राजवंश तेरहवीं शताब्दी की शुरूआत तक सत्ता में बना रहे।

पूर्वी भारतीय राज्य की प्रकृति के बारे में विद्वानों ने उनका विश्लेषण करने के लिए विभिन्न प्रतिमानों की वकालत की है। उदाहरण के लिए, असम के मामले में जे. बी. भट्टाचार्य जैसे विद्वानों ने तर्क दिया है कि चौथी शताब्दी सी.ई. के बाद से राज्य अपने तन्त्र में थोड़े बहुत बदलाव के साथ एक स्थायी निकाय था (शर्मा, 2014)। असम एक राजतन्त्रीय राज्य था जो गंगा के मैदानों की समकालीन राज्यव्यवस्थाओं के समान था और प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान अपरिवर्तित रहा।

पाल अभिलेखों के अध्ययन के आधार पर आर. एस. शर्मा ने तर्क दिया है कि पाल राज्य राज्यव्यवस्था के सामन्तीकरण का प्रतिनिधित्व करता है जो धर्मपाल के समय से दिए गए भूमि-अनुदानों में परिलक्षित होता है। ज़्यादातर ब्राह्मणों, शैव मन्दिरों और बौद्ध मठों को दिये गये इन अनुदानों की ने शर्तों राज्य की सत्ता को काफ़ी हद तक खत्म कर दिया। उन्होंने अनुदानभोगियों को कर एकत्र करने और निवासियों पर जुर्माना लगाने का भी अधिकार दिया। इन अनुदानों ने उन्हें राजकीय हस्तक्षेप से स्वतंत्र भी रखा (आर. एस. शर्मा, 2009)। नौवीं और दसवीं शताब्दी में सत्ता का और अधिक सामन्तीकरण हो गया क्योंकि अधिकारियों को भी ऐसे अनुदान दिये गये थे। शासकों ने *परम्-भट्टारक, परमेश्वर* और *महाराजाधिराज* जैसी उपाधियाँ धारण कीं। उनके तहत जागीरदारों ने स्वयं को *राजा, राजपुत्र, रणक, महासामंत* और अन्य शीर्षकों से अलंकृत किया। शायद असम के लिए भी ऐसा ही तर्क दिया जा सकता है जहाँ ब्राह्मणों को चौथी शताब्दी सी.ई. से भूमि-अनुदान मिल रहे थे। हालांकि बी. डी. चट्टोपाध्याय ने भूमि-अनुदानों को सामन्तीकरण के बजाए एकीकरण की प्रक्रिया के भाग के रूप में देखा है। भूमि अनुदान वे साधन थे जिनके द्वारा राज्यव्यवस्था का विस्तार पहले के आदिवासी/जन-जातीय क्षेत्रों में हुआ था। उनके अनुसार उत्तर-गुप्तकाल पहाड़ी क्षेत्रों में राज्य पूर्व समाज से राजतन्त्र तक के संक्रमण को दर्शाता है। इसका अर्थ यह था कि यह संक्रमण उन ब्राह्मणों के माध्यम से पूरा किया गया था जिन्होंने नये राजतंत्रों को वैधता प्रदान की और इस तरह स्थानीय शासक परिवार द्वारा उन्हें संरक्षण दिया गया। वे नये क्षेत्रों में बसे और उन्होंने एक लोकप्रिय स्थानीय जन-जातीय पंथ या इष्ट को अपनाया और उसकी पहचान एक ब्राह्मणवादी देवता के रूप

में की। यह प्रक्रिया असम में नारक/नरक (Naraka) की कथा में दिखाई देती है जिसे असम के सभी राजवंश अपने वंश के उद्भव के रूप में देखते हैं। नारक को *अर्थशास्त्र* और महाकाव्यों जैसे प्रारंभिक संस्कृत ग्रंथों में एक अनिष्टकारी व्यक्ति, एक दानव के रूप में देखा गया था। लेकिन नौवीं और दसवीं शताब्दी तक आते-आते यह दन्तकथा *कालिका पुराण* और अभिलेखों में पूरी तरह रूपान्तरित हो जाती है जो इसकी एक आदर्श शासक के रूप में घोषणा करते हैं जिसकी वंश परंपरा इक्ष्वाकुओं से मानी जाती है (चट्टोपाध्याय, 2018)।

8.3 अर्थव्यवस्था

इस अवधि में भूमि-अनुदानों को महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के उपकरण के रूप में देखा गया है। अर्थव्यवस्था में यह सोचा गया है कि इन अनुदानों से कृषि का महत्वपूर्ण विस्तार हुआ। पाल पूर्वी-गंगा के उपजाऊ मैदानों के नियन्त्रण में थे जो चावल की खेती के लिए काफ़ी उपयुक्त थे। कृषि के महत्व को *कृषि पराशर* जैसे ग्रन्थों की रचना से देखा जा सकता है जिनमें कृषि कार्यों का विवरण दिया गया है। ग्रामीण जीवन में और अधिक अन्तर्दृष्टि अभिलेखों से मिलती है जो विभिन्न प्रकार के पेड़ों की मौजूदगी की बाते करते हैं – जैसे नारियल, कटहल, आम, सुपारी इत्यादि। इसी तरह असम के लिए हम जानते हैं कि ब्रह्मपुत्र घाटी चावल की खेती का केन्द्रबिन्दु थी। नौवीं शताब्दी में राजा हरजवर्मन ने कृषि को प्रोत्साहित करने के लिए तटबन्धों का निर्माण किया था (थापर, 2004)।

इन दो राज्यों के लिए व्यापार भी महत्वपूर्ण था। असम, तिब्बत और चीन के साथ व्यापार मार्गों के माध्यम से जुड़ा हुआ था। इसी तरह पालों का दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन तक पहुँच रखने वाले बंगाल की खाड़ी के बन्दरगहों पर नियन्त्रण था। ये बन्दरगाह गंगा और ब्रह्मपुत्र के आन्तरिक नदी-मार्गों से भी जुड़े हुए थे। पाल राजवंश से व्यापार की जाने वाली वस्तुओं के बारे में अरबी ग्रन्थ कपड़ों और तलवारों की प्रशंसा करते हैं (चक्रवर्ती, 2020)। दूसरी ओर, असम राज्य अच्छी काली मुसब्बर लकड़ी के लिए जाना जाता था। इसके अन्य महत्वपूर्ण उत्पाद – बाँस, बेंत, रेशम सुति (Silk cotton) के पेड़ आदि थे जिनका उपयोग रेशम के कीड़ों के आहार के लिए किया जाता था। ब्रह्मपुत्र के तट पर सोने की भी प्रचुर मात्रा थी। यह संभवतः तिब्बत से घोड़ों का आयात भी करता था (घोष, 2010)।

8.4 समाज

इस काल में बंगाल के समाज को समझने के स्रोत *ब्रह्मवैवर्त पुराण* और *बृहद्धर्म पुराण* हैं। आर. एस. शर्मा के अनुसार यहाँ के *वर्ण* समाज में केवल दो जातियां थीं : ब्राह्मण और शूद्र। क्षत्रियों और वैश्यों का अस्तित्व ग्रन्थों में नहीं दिखता है। शूद्र संख्या में अधिक थे और उन्होंने किसान और कारीगर वर्ग के मुख्य पदों का गठन किया। उनमें काफ़ी संख्या में आदिवासी थे। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* ने शूद्रों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया – उत्तम या उच्च में *अम्बष्ठ* (चिकित्सक), *गंधिक* (इत्र बेचने वाला), *वणिक* अर्थात व्यापारी, *मोदक* (हलवाई), *मालाकार* (माला बनाने वाला) सम्मिलित थे। इन्हें *सतशूद्र* के नाम से जाना जाता था या वे जो ब्राह्मणों को जल दे सकते थे। मध्यम शूद्र या मध्य श्रेणी में *स्वर्णकार* (सुनार), *अभिर* (आदिवासी), *जैलक* (Jailka) (मछुआरे), *रजक* (धोबी) और अन्य शामिल थे और निम्न-जन्मे (*अन्त्यज*) में *चांडाल* और *चर्मकार* जैसे समूह शामिल थे। भूमि अनुदानों का एक अध्ययन ब्राह्मण उपजातियों के उद्भव के साथ बढ़ती जटिलता को इंगित करता है। इन अनुदानों में ब्राह्मणों की पहचान उनकी वैदिक शिक्षा की शाखा, उनके

गोत्र और वे जिस गाँव से थे, उसके द्वारा की जाती थी। बंगाल में ब्राह्मणों की लगभग 56 उपजातियों का उल्लेख किया गया है। ब्राह्मणों के पदों में न केवल उत्तर-भारत के पुजारी शामिल थे, बल्कि गैर आर्य जन-जातियों के पुजारी भी थे जिन्हें आर्य गोत्र दिए गए थे (आर. एस. शर्मा, 2003)।

असम के समाज की प्रकृति के बारे में महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि असम के अभिलेखीय आंकड़ों से प्राप्त की जा सकती है। नयनजोत लाहिरी (1990) के अनुसार अन्य राज्यों के विपरीत ब्राह्मणों को उन क्षेत्रों में भूमि अनुदान में दी गई जहाँ कृषि व्यवहार की एक लम्बी परंपरा थी। इन भूमियों पर मिकिर, खासी, कुकी (Kukis) और कचरी/कचारी जैसी जनजातियों द्वारा खेती की जाती थी। ब्राह्मणों के सम्पर्क से इन समूहों को पारम्परिक हिन्दू समाज में आत्मसात् किया गया। किसानों के पदों में नाविकों, बुनकरों और कुम्हारों जैसे अन्य व्यवसायों के समावेश से इज़ाफ़ा हुआ जो अब कृषि में सलंग्न हुए क्योंकि उनके व्यवसाय की पर्याप्त माँग नहीं थी। इसके अलावा, अभिलेखों में *कायस्थ, लेखक, दैवज्ञ* और *वैद्य* जैसे अन्य मध्यम जाति समूहों की उपस्थिति का भी उल्लेख है। ये बरुआ (2016) के अनुसार व्यवसायिक और अधिकारी रहे होगें जो बाद की अवधि में जातियां बन गईं।

8.5 संस्कृति

पूर्व के सांस्कृतिक जीवन में एक महान योगदान पाल वंश द्वारा किया गया था। यह राजवंश कला और साहित्य के महान संरक्षक के रूप में प्रसिद्ध है जिसने कुछ हद तक दक्षिण-पूर्व एशिया, नेपाल और तिब्बत में कलाकृतियों को प्रभावित किया। उनकी सबसे महत्वपूर्ण विरासत मूर्तिकला है जिसमें धातु और पत्थर में हिन्दू और बौद्ध विषय-वस्तुओं को चित्रित किया गया है। पत्थर की मूर्तिकला अधिकांशत : पर्त्तदार चट्टान (Schist) या फ़िलेट (Phyllite) पत्थर से बनी हुई थी जिसमें रंग भूरा से काला-भूरा था। बौद्ध छवियों में अधिकांश चित्र बुद्ध और उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को दर्शाते हैं। दर्शाया गया सबसे आम दृश्य प्रबोधन से ठीक पहले मारा (Mara) पर उनकी विजय का है। पहले की परंपरा से हटकर बुद्ध की छवि का अलंकरण होने लेगे। बुद्ध को अब एक मुकुट और हार पहने दर्शाया गया है जो उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों को इंगित करता है (हटिंगटन व हटिंगटन, 1989)। 11वीं शताब्दी सी.ई. तक हिन्दू मूर्तियाँ अधिक सामान्य हो गईं। काफ़ी संख्या में संत (ऋषि) अगस्त्य को चित्रित किया गया जिनकी पूजा नेपाल और दक्षिण-पूर्व एशिया में भी लोकप्रिय हुई थी। अगस्त्य के अलावा पाल मूर्तियां सूर्य देव को भी चित्रित करती हैं। धातु में मूर्तियाँ ज़्यादातर तांबे या इसकी मिश्र धातु से बनी हैं। हालांकि कुछ सोने और चांदी की मूर्तियां भी मौजूद हैं। वे बोधिसत्वों या विष्णु जैसे हिन्दू देवताओं को चित्रित करती हैं। ये मूर्तियाँ अपने जटिल अलंकरण के कारण विशिश्ट हैं जो एक महान तकनीकी उपलब्धि थी।

पाल काल अपनी चित्रकला के लिए भी जाना जाता था। हालांकि केवल उनके कुछ नमूने ही हमें प्राप्त हुए हैं। कुछ भित्तिचित्र नालन्दा में स्थित हैं लेकिन इनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म से सम्बन्धित ताड़ के पत्तों की पांडुलिपियों के रूप में जीवित हैं। मूर्तिकला की तरह चित्रकला मुख्य रूप से बुद्ध के जीवन के दृश्यों को चित्रित करती है। इन लघुचित्रों को हस्तलिखित ग्रन्थ में शुरूआत, मध्यम या अन्त कहीं भी रखा जा सकता था। उपयोग किये जाने वाले अधिकांश सामान्य रंग लाला, पीला, नीला, हरा, काले और सफेद थे। काले रंग से रूपरेखा बनाई जाती थी। चित्रों की आभा मूर्तिकला के विपरीत अधिक सजीव थी (हंटिंगरन व हंटिंगटन, 1989)। उनकी चित्रकला शैली की बहुत नकल हुई और उनके नमूने कश्मीर और लद्दाख और भारत के बाहर म्यांमार, नेपाल और तिब्बत में खोजे गये हैं।

कला के अलावा पाल शिक्षा के संरक्षक भी थे। महान नालंदा विश्वविद्यालय उनके शासन काल में फला-फूला और भाषा विज्ञान, व्याकरण और मठ के नियमों के अध्ययन के लिए विदेशी भिक्षुओं के बीच लोकप्रिय था (टी. सेन, 2003)। कई विदेशी शासकों ने भी भिक्षुओं के ठहरने की सुविधा के लिए नालन्दा में मठों का निर्माण किया था। इस प्रकार, राजा देवपाल द्वारा जारी एक ताम्रपत्र जावा, सुमात्रा और मलेशिया के शासक राजा श्री विजयन द्वारा पांच गांवों के दान को दर्ज करता है जो उनके द्वारा बनाये गये मठ के रखरखाव के लिए था। इसी तरह एक चीनी बौद्ध भिक्षु जिए (Jiye) नालन्दा में कई चीनी मठों (हंसी) की उपस्थिति की सूचना भी देते हैं, जिन्हें मुख्य रूप से विदेशी छात्रों को किराए पर दिया गया था। पाल शासकों को कई अन्य विश्वविद्यालयों और मठों को शुरू करने का श्रेय भी दिया जाता है जैसे कि ओदंतपुरी/उदंतपुरी विक्रमशिला, सोमपुर और अन्य।

संस्कृत राजदरबार की परिष्कृत भाषा रही और उनके शासन के दौरान कई महत्वपूर्ण साहित्यिक और तकनीकी रचनाएँ लिखी गई। विधि में जीमूतवाहन ने *दया भाग* नामक एक ग्रन्थ की रचना की जो अब भी बंगाल और असम में प्रभावशाली है। चिकित्सा के क्षेत्र में माधव द्वारा बीमारियों पर एक ग्रन्थ *रुगविनिश्चय* लिखा गया। सुरपाल (Surpal) ने *शब्दप्रदीप* में औषधीय पौधों को सूचीबद्ध किया और चक्रपाणि दत्त ने चरक और सुश्रुत पर टीकाएँ लिखीं (एस. एन. सेन, 1999)। काव्य में राजदरबारी कवि संध्याकार नंदी ने *रामचरित* की रचना की जो राम की कहानी के साथ-साथ उनके संरक्षक रामपाल का अद्वितीय दोहरा वृतांत है। दूसरी ओर, महान विश्वविद्यालयों ने तांत्रिक बौद्ध धर्म पर ग्रन्थों का उत्पादन किया। इस अवधि में एक महत्वपूर्ण विकास आद्य-बंगाली (Proto-Bengali) में रचनाओं की शुरूआत थी। हमारे पास *चार्यपदों* (*Charyyapadas*) की रचना की जानकारी है जो बौद्धों द्वारा रचित कविताएं हैं।

पड़ोसी असम में पालों के राज्य से मुक्ति के बाद, सलंब वंश के शासक हरजवर्मन ने हरप्पेश्वर (Haruppeshwar) में एक नई राजधानी का निर्माण किया। वह शैव धर्म के अनुयायी थे और उन्होंने कई शिव मन्दिरों का निर्माण किया जिनके खंडहर आज भी तेजपुर में दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि यहाँ के शासकों ने संस्कृत का संरक्षण किया, इस अवधि में हम असमी भाषा में कविताओं का एक समुच्चय *बिहु गीत* और बुद्धिमानों की वाणियों का संग्रह *डकबनित/दकबनित* (*Dakabanita*) भी देखते हैं (दीक्षित व दीक्षित, 2013, पृष्ठ 26-27)।

बोध प्रश्न 1

1) प्रारंभिक मध्यकाल में असम और बंगाल की राज्यव्यवस्था, अर्थव्यवस्था और समाज पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रारंभिक मध्यकाल में पाल और असम राजाओं की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.6 सारांश

इस इकाई में हमने आपको असम और बंगाल में प्रारंभिक मध्यकाल से परिचित कराया। बंगाल में इस काल में पाल सबसे महत्वपूर्ण राज्य था। असम में भी कई छोटे राज्य एक के बाद एक उभरे। दोनों क्षेत्रों को भूमि अनुदानों के कारण कृषि के विस्तार से चिन्हित किया जा सकता है। अभिलेखों और ताम्रपत्रों के घोषणा पत्रों में उल्लिखित अधिकारियों की उपाधियों से स्पष्ट है कि उपसामन्तीकरण यहाँ प्रचलित था। पालों को संस्कृति में उनके योगदान के लिए जाना जाता है। उनके संरक्षण में धातु और पत्थर पर अनेक चित्र तराशे गये और उनके द्वारा शिक्षा और विद्वता के केन्द्र भी स्थापित किये गये। असम भी बहुत पीछे नहीं था। इस अवधि में असम के शासकों ने असमी जैसी देसी भाषाओं के उत्थान को प्रोत्साहन दिया और क्षेत्रीय भाषाओं में कुछ उल्लेखनीय साहित्य की रचना की गई।

8.7 शब्दावली

अगस्त्य : हिन्दू धर्म के एक वैदिक ऋषि। उन्हें कई ग्रन्थों के लेखन का श्रेय दिया जाता है जो विभिन्न *पुराणों* में शामिल हैं।

तांत्रिक : *तंत्र, संहिता* और *आगम* नाम के संस्कृत ग्रन्थों पर आधारित धर्म। इसमें योग और शक्तिवाद जैसे ''जादुई विश्वासों और व्यवहारों'' की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है।

कामरूप : असम का प्राचीन नाम।

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 8.2, 8.3 और 8.4 देखें।

2) भाग 8.5 देखें।

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

बागची, जे. (1993). *द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ़ द पालाज़ ऑफ़ बंगाल एंड बिहार, सिरका 750 ए.डी.-1200 ए.डी.* अभिनव प्रकाशन.

बरुवा, एस. (2016). द नेचर ऑफ़ द मिडिल कास्ट इन प्राग्ज्योतिष–कामरूप (आसाम) फ्रोम 600 टु 1300 सी.ई. *प्रोसीडिंग्स ऑफ़ द इन्डियन हिस्ट्री कॉग्रेस*, 77, पृष्ठ 109-144.

दीक्षित, के. आर. व दीक्षित, जे. के. (2013). *नॉर्थ ईस्ट इंडिया : लैंड, पीपल एन्ड इकोनौमी.* स्प्रिंगर साइंस एण्ड बिज़नस मीडिया.

घोश, एस. (2010). कामरुप एण्ड अर्ली बेंगॉल : अन्डरस्टैंडिंग देअर पोलिटिकल रिलेशनशिप. *प्रोसिडिंग्स ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री कॉग्रेस*, 71, पृष्ठ 110-118.

लाहिी, एन. (1990), लैंडहोल्डिंग एंड पेजेन्टरी इन द ब्रह्मपुत्रा वैली, सिरका 5वीं-13वीं सेन्चुरीज़. *जर्नल ऑफ़ द इक्नोमिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द ओरियन्ट*, 33 (2), पृष्ठ 157-167.

लाहिरी, एन. (2013), *प्री-अहोम आसाम : स्टडीज इन द इन्सक्रिप्शन्स ऑफ़ आसाम बिटवीन द फ़िफ़्थ एंड द थर्टीथ सेन्चुरी ए.डी.* मुंशीराम मनोहरलाल प्राइवेट लिमिटेड.

शर्मा, आर. एस. (2009), *इन्डियन फ़्यूडिलिज़्म, सिरका. ए.डी., 300-1200.* मैक्मिलन.

सिंह, उपिन्दर (2008), *ए हिस्ट्री ऑफ़ एन्शियेन्ट एण्ड अर्ली मेडिवल इंडिया.* पियरर्सन एजुकेशन इंडिया.

थापर, रोमिला (2004). *अर्ली इंडिया : फ्रोम द ओरिजिन्स टू ए.डी. 1300.* यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस.

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 9 दक्षिण-पूर्व एशिया में राजनैतिक और सांस्कृतिक विस्तार*

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 भारतीय परंपरा का प्रसार

9.3 दक्षिण-पूर्व एशिया में राज्य का गठन्

9.4 चोल नौ-सेना अभियान और श्री विजय पर आक्रमण

9.5 कला और वास्तुकला

9.6 साहित्य और नाटक

9.7 सारांश

9.8 शब्दावली

9.9 बौध प्रश्नों के उत्तर

9.10 संदर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इनके बारे में जानेगें :

- दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय विस्तार के पीछे की प्रेरणाएँ;
- भारतीय विचार और व्यवहार कैसे पहुंचे और उन्हें दक्षिण-पूर्व एशिया के ऐतिहासिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवेश में कैसे शामिल किया गया;
- दक्षिण-पूर्व एशियाई वातावरण में प्रवेश करके भारतीय परंपरायें किस हद तक बदली और इन परिवर्तनों में योगदान करने वाले कारक; और
- इस पारस्परिक क्रिया से संबंधित विभिन्न पहलुओं के प्रवचन क्या हैं?

9.1 प्रस्तावना

प्रारंभिक मध्य काल के दौरान, भारत, फारस की खाड़ी और दक्षिण चीन सागर क्षेत्र में समुद्री व्यापार में सक्रिय रूप से शामिल था और भारत इन दो छोरों के बीच में स्थित था। अरबों का एशियाई व्यापार पर एकाधिकार था और भारत को व्यापार के लिए एक लोकप्रिय गन्तव्य देखा जाता था। प्राचीन मसाला और रेशम व्यापार मार्गों ने भारत को बाहरी दुनियाँ से जोड़ा। शिलालेखों, देशी स्त्रोत, पुरातात्विक स्रोत और यात्रियों के वृत्तांत भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच व्यापार और वाणिज्यिक संबंधों के प्रमाण देते हैं। सातवीं शताब्दी का तेलगाबाटु शिलालेख (इंडोनेशिया) एक जहाज के कप्तान और लम्बी दूरी के समुद्री व्यापार का उल्लेख करता है। दसवीं शताब्दी के कलादि शिलालेख (जावा के शिलालेखों का संग्रह) में इस क्षेत्र में आने वाले द्रविड़, कलिंग निवासी और लंका

* डॉ. रिचा सिंह, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से पीएचडी, नई दिल्ली।

निवासी आदि का उल्लेख विदेशियों के रूप में है। बनियागा और व्यापार श्रेणियों के रूप में बनीग्रामा का जावा और पुराने बाली के शिलालेखों में विदेशी व्यापारियों के रूप में वर्णन है। पांचवी से तेरहवीं शताब्दी के बीच दक्षिण-पूर्व एशिया में शक्तिशाली राज्य उभरने शुरू होते हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म को अपनाया और कुछ ने संस्कृत को अपनी शासकीय भाषा के रूप में अपनाया। लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय प्रभाव दक्षिण-पूर्व एशिया में ऊपर से थोपा गया था। भारत से प्रसार के विभिन्न केन्द्र थे और दक्षिण-पूर्व एशिया में आत्मसात् करने के विभिन्न केन्द्र थे। मलयद्वीप समूह इस कड़ी को स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण था।

प्राचीन भारतीय साहित्यिक कृतियों में जैसे कि कौटिल्य के *अर्थशास्त्र, पुराण, रामायण, सुत्तपीटक* के *खुद्दक निकाय* में *निदेशा* (थेरवाद बौद्ध धर्म में पाली का एक धम्र वैधानिक ग्रन्थ), मिलिन्दपन्हा, श्री लंका के इतिवृत, *महावंश* और तिब्बती स्रोतों में दक्षिण पूर्व एशिया के कुछ क्षेत्रों को ऐसे शब्दों मे निरूपित किया गया जैसे : सुवर्ण भूमि (सोने की भूमि), सुवर्ण द्वीप[1] (सोने का द्वीप), यवद्वीप आदि। प्राचीन यूनानी लेखन, *द पेरीप्लस ऑफ द एरीथीरियन सी* और टॉलेमी की *ज्योग्राफी* में क्रमशः इस क्षेत्र का उल्लेख क्रिसे (सोने की भूमि) और क्रिसोन्सस औरिया के रूप में किया गया है। सातवीं शताब्दी के एक चीनी यात्री आई-सिंग ने सुमात्रा के श्री विजय साम्राज्य का दौरा किया। इस प्रकार दक्षिण-पूर्व एशिया (विशेषरूप से मलय प्रायद्वीप और इंडोनेशिया) अपनी सामरिक भौगोलिक स्थिति के कारण प्राचीन काल से ही बाहरी दुनियां में जाना जाता था। *अल-बेरूनी*, हराकि, याकूत जैसे अरब लेखकों ने भी सुवर्ण भूमि और सुवर्ण द्वीप का उल्लेख किया है।

निम्नलिखित भागों में आप महसूस करेंगे कि भारतीय व्यापारियों और पुजारियों के दक्षिण-पूर्व एशिया में जाने और वहां बसने के बावजूद, इस अवधि के दौरान हमें जो प्रमुख भारतीय प्रभाव देखने को मिलता है, वह निश्चित रूप से भारतीय औपनिवेशीकरण के कारण नहीं था जैसे कि प्रारंभिक इतिहासकार मानते थे। दक्षिण-पूर्व एशिया में कुल मिलाकर कोई भारतीय उपनिवेश नहीं थे, भारतीय तत्वों को एकीकृत करने के लिए लोगों पर बल का उपयोग नहीं किया गया था। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि दक्षिण-पूर्व एशिया में सभ्यता के उदय में भारतीय परपंराओं का महत्वपूर्ण योगदान था। दक्षिण-पूर्व एशिया के स्थानीय प्रमुखों ने भारतीय पुजारियों और विद्वानों की सहायता से राजत्व की भारतीय अवधारणाओं को सावधानीपूर्वक चुना और अपनाया। इसलिए, दक्षिण-पूर्व एशियाई समाज के शासक और कुलीन जन एक ऐसे प्रभावी माध्यम बन गये जिनके माध्यम से भारतीय परंपराओं को प्रसारित किया गया। जैसे-जैसे परंपराऐं स्थानीय स्तर पर पहुंचती गई, उससे आगे और स्थानीयकरण हुआ। आइये अब हम दक्षिण-पूर्व में भारतीय विस्तार से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों को समझते हैं।

9.2 भारतीय परंपरा के प्रसार

भारतीय परंपराओं के प्रसार का सटीक स्रोत एक बहुत विवादित विषय है। इतिहासकारों में इस बात पर कोई एकमतता नही है कि दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय परंपराओं का प्रसार दक्षिण भारत से ही था जैसा कि जार्ज कोएडस, स्टारगार्ट आदि द्वारा प्रतिपादित किया गया था या यह इसके पश्चिमी भाग या पूर्वी तट से होकर आया था। कुछ विद्व ान इस पर बल देते हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप के किसी भी एक विशेष क्षेत्र को भारतीय

[1] सुवर्ण भूमि और सुवर्ण द्वीप की स्टीक अवस्थिति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धांत है लेकिन आमतौर पर यह माना जाता है कि सुवर्ण भूमि म्यांमार और मलय प्रायद्वीप का क्षेत्र था जबकि सुवर्ण द्वीप में मलय प्रायद्वीप और सुमात्रा, जावा, बोर्नियों और इंडोनेशिया के बाली द्वीप शामिल थे।

प्रभाव के प्रसार के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है क्योंकि इस क्षेत्र में कई अलग-अलग राज्यों का शासन था। पूरे उपमहाद्वीप में एक ही संस्कृति का प्रचलन नहीं था। प्रारम्भिक मध्यकाल तक हिन्दु धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म जैसे विभिन्न धर्मों का विकास हुआ जो वैष्णववाद, शैववाद, भक्ति, तांत्रिकवाद जैसी अनेक धाम्रिक परंपराओं के साथ फल-फूल रहे थे। उदाहरण के लिए, इन्डोनेशियाई राज्यों में 5वीं शताब्दी में दक्षिण भारत से और 7वीं शताब्दी में उत्तर भारत और पूर्व में बंगाल से भारतीय परपंराओं को आत्मसात् किया था। भारत के पूर्वी तट में कई बन्दरगाह थे जो समुद्री मार्गों से व्यापार की सुविधा देते थे। उड़ीशा ने दक्षिण-पूर्व एशिया में महायान और वज्रयान बौद्ध धम्र को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योंकि यह महत्वपूर्ण व्यापार केन्द्रों में से एक था। संभवतः कलिंग के सूती वस्त्र इंडोनेशिया को निर्यात की मुख्य वस्तुओं में से एक थे। इस प्रकार कुछ इतिहासकारों के अनुसार दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय प्रभाव की उत्पत्ति को निरंतर बदलाव के संदर्भ में समझा जा सकता है।

एक अन्य प्रश्न अर्थात् क्या दक्षिण-पूर्व एशियाई संस्कृति पूरी तरह से भारतीय संस्कृति से प्रभावित थी या इसमें देशी तत्व भी थे, यह भी चर्चा का विषय है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में राष्ट्रवादी भारतीय इतिहासकारों और कुछ पश्चिमी विद्वानों ने 'भारतीयकरण' के सिद्धांत के अनुसार दक्षिण-पूर्व एशिया को 'विस्तृत भारत' या 'बृहद् भारत' माना। 1926 में 'ग्रेटर इंडियन सोसाइटी' की स्थापना हुई और दक्षिण-पूर्व एशिया को भारतीय उपनिवेश माना गया। उनका मानना था कि दक्षिण-पूर्व एशिया पूरी तरह से भारतीय परंपराओं के प्रभाव में था। और यह माना जाता था कि भारतीयकरण की प्रक्रिया भारतीय पहल के कारण थी। इस सोसाइटी के सदस्यों और क्वारित्च वेल्स जैसे इतिहासकारों ने तर्क दिया कि समुद्री मार्गों से भारतीय शासक या दुस्साहसी लोग दक्षिण-पूर्व एशिया तक पहुंचे और राज्यों की स्थापना की और इस प्रकार 'भारतीयकरण' की प्रक्रिया शुरू की। इसके विपरीत, जार्ज कोएडस ने पारस्परिक प्रभाव की प्रक्रिया शुरू करने के लिए भारत के ब्राह्मणों या अन्य उच्च जातियों को श्रेय दिया। भारतीयों ने स्थानीय प्रमुखों की सत्ता को मजबूत किया या कभी-कभी स्थानीय आबादी पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया। स्थानीय कुलीन जनों की पुत्रियों के साथ अर्न्तविवाह की प्रक्रिया के माध्यम से उन्होंने 'हिन्दुकृत' शासकों को राजनैतिक वैधता प्रदान की। लेकिन 'भारतीयकरण' सिद्धान्त के साथ समस्या यह है कि यह देशी आबादी को भारतीय संस्कृति और परंपराओं के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता के रूप में पेश करता है। इसके अलावा, भारतीय दक्षिण-पूर्व एशिया में बड़ी संख्या में नहीं पहुंचे। अगर ऐसा हुआ होता तो यह एक बड़ा जनसांख्यिकीय परिवर्तन होता। राजनैतिक रूप से, दक्षिण-पूर्व एशिया के राज्यों में से किसी ने भी मध्यकालीन भारत के किसी भी शासक के प्रति कोई राजनैतिक निष्ठा नहीं दिखाई और कोई आर्थिक शोषण नहीं हुआ। भारतीय समाज की मूल विशेषता यानि जाति व्यवस्था भी दक्षिण-पूर्व एशिया में अनुपस्थित थी। बाद में आई. डबल्यू. मैबेट, जे. जी. डी. केसपेरिस और अन्य लोगों ने इस सिद्धान्त पर सवाल उठाया, हालांकि वे पूर्व आधुनिक दक्षिण-पूर्व एशियाई समाज और संस्कृति में भारतीय प्रभाव के प्रवेश को स्पष्ट करने में नाकायब रहे। 1960 के दशक तक 'भारतीयकरण' की परिकल्पना को अस्वीकार कर दिया गया था। ओलिवर वॉल्टर्स भारतीय प्रभाव को एक प्रक्रिया के परिणाम के रूप में देखते हैं जिसमें पारस्परिक सहभाजन शामिल है। दक्षिण-पूर्व ऐशियाई व्यापारियों ने भारतीय परंपराओं की जानकारी पहुँचाई। दक्षिण-पूर्व एशियाई शासकों ने इस पारस्परिक आदान-प्रदान को प्रशासनिक और तकनीकी कारणों से और अपने प्रतिद्वन्द्वियों के खिलाफ लाभदायक के रूप में देखा। इस प्रकार दक्षिण-पूर्व एशियाई पहल ने सांस्कृतिक समामेलन की एक धीमी प्रक्रिया का उद्घाटन किया। हाल के लेखन का प्रस्ताव है कि न तो यह एक स्पष्ट विनियोग था ना ही भारतीय परम्पराओं का आरोपण बल्कि देशी और भारतीय तत्वों का संश्लेषण था। भारतीय प्रभावों को दक्षिण-पूर्व एशियाई

समाजों में चुनिन्दा रूप से आत्मसात् किया गया और ऐसा सुझाव दिया गया है कि इसे सांस्कृतिक औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। भारतीय पारस्परिक विचार-विमर्श ने दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति के स्थानीयकरण को जन्म दिया।

एक और तरीका है जिसके माध्यम से दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय विस्तार को एक परिकल्पना के माध्यम से स्पष्ट किया गया है जो क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मणों की भूमिका की जांच-पड़ताल करती है। क्षत्रिय, योद्धा वर्ग ने युद्ध, विजय, सशस्त्र औपनिवेशिकरण और भारतीय राजकुमारों और स्थानीय प्रमुखों की पुत्रियों के बीच अर्न्तविवाहों के माध्यम से इस क्षेत्र को भारतीय प्रभाव के अन्तर्गत लाया। हालांकि संस्कृति के बल-पूर्वक प्रसार के इस सिद्धान्त को काफी पहले खारिज किया जा चुका है। दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारतीय पारस्परिक आदान-प्रदान को अब एक शान्तिप्रद प्रवेश के रूप में देखा जा रहा है और श्री विजय के खिलाफ चोलों की नौ-सेना की जीत एक अपवाद थी। एन. जे. क्रोम आदि के अनुसार वैश्य या व्यापार वर्ग स्थानीय महिलाओं से विवाह करते थे और इसलिए भारतीय संस्कृति को प्रसारित करने के लिए जिम्मेदार थे। लेकिन यह सिद्धान्त यह समझने में विफल है कि निम्न जाति के व्यापारी अपने सीमित ज्ञान के साथ भारतीय विचार और दर्शन की जटिल अवधारणाओं को कैसे प्रसारित कर पाये होगें। यह स्पष्ट करने में असमर्थ है कि कैसे वैश्यों द्वारा तटीय और बन्दरगाह क्षेत्रों से जावा में केडू और प्राणबाना जैसे दूर-दराज के क्षेत्रों में भारतीय प्रभाव का प्रसार किया गया था। इस परिकल्पना पर जे. सी. वानलियर जैसे इतिहासकारों ने आपत्ति जताई है। एक अन्य सिद्धान्त यह है कि ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं ने दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार किया जो व्यापार मार्गों का अनुसरण करते हुए वहां तक पहुंचे थे, वे साक्षर थे। ब्राह्मण उच्च जाति से संबंधित थे और संस्कृत में कुशल थे और वह दक्षिण-पूर्व ऐशियाई भाषाओं में अनेक संस्कृत शब्दों के होने को स्पष्ट करता है। ब्राह्मण धर्म प्रचारक भारतीय व्यापारियों के साथ इस क्षेत्र की यात्रा करते हैं।

मौटे तौर पर, विद्वान अब यह विश्वास करते हैं कि भारतीय परम्पराओं का प्रवेश व्यापारियों और कुछ क्षत्रिय दुस्साहसी लोगों के आने के साथ शुरू हुआ। धीरे-धीरे ब्राह्मण भी उनके साथ आने लगे। दक्षिण-पूर्व एशियाई लोगों के साथ मुख्य रूप से ब्राह्मणों और वैश्यों के सामूहिक पारस्परिक आदान-प्रदान ने सांस्कृतिक अनुकूलन को जन्म दिया। अब अगले भाग में आप दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान राज्य के गठन में भारतीय व्यापारियों और पुजारियों की भूमिका देखेंगे।

9.3 दक्षिण-पूर्व एशिया में राज्य का गठन

जैसे-जैसे भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच व्यापार संबंध स्थापित हुए, दक्षिण-पूर्व एशिया में राज्य गठन की प्रक्रिया की गतिशीलता अधिक बहुमुखी हो गई। पुरातात्विक स्त्रोत राजनैतिक विकास को प्रोत्साहित करने में फलते-फूलते व्यापार की प्रासंगिकता की पुष्टि करते है। बदलते हुए व्यापार के प्रारूप के अध्ययन के माध्यम से, क्षेत्र में राजनैतिक एकीकरण की प्रक्रिया को अधिक सुसंगत रूप से समझा जा सकता है। लेकिन हाल के लेखन से पता चलता है कि यद्यपि व्यापार एक महत्वपूर्ण कारक था लेकिन समुद्री यात्राओं के उपक्रम के पीछे यह एकमात्र उद्देश्य नहीं था। आदान-प्रदान की प्रकृति विविधतापूर्ण थी जिसमें न केवल व्यापारी बल्कि मल्लाहों के समुदाय, धार्मिक समूह, विद्वान और तीर्थयात्री भी शामिल थे। समुद्रीय गतिविधि के प्रसार में धर्मों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। संचार के विभिन्न माध्यमों ने दक्षिण-पूर्व एशिया में मुखिया तंत्र के नवजात राज्यों में संक्रमण होने में सहायता की।

केनेथ आर. हॉल पहली शताब्दी सी. ई. में फूनान के साम्राज्य के उद्‌य (वर्तमान दक्षिण कम्बोड़िया और दक्षिण वियतनाम) का कारण इसके विकसित व्यापार और बन्दरगाह सुविधाओं को मानते हैं। यह एक परिष्कृत राजनैतिक आधार और भारतीय शब्दावली और तकनीकी ज्ञान के उपयोग करने वाला पहला दक्षिण-पूर्व एशियाई राज्य था। यह हिन्दु धर्म को राज्य धर्म के रूप में अपनाने वाला दक्षिण-पूर्व एशिया में पहला राजवंश भी था। छठी शताब्दी के अन्त में एक गृहयुद्ध के कारण इसका पतन हुआ और चेन-ला नामक एक हिन्दु खमैर राज्य इसका उत्तराधिकारी बना। बाद में इन दो राज्यों में से अंगकौर या खमैर साम्राज्य (नौवीं से तेरहवीं शताब्दी) का विकास हुआ जो जयवर्मन सप्तम् (1181-1218) के शासन में अपनी महिमा के चर्म तक पहुंचा। उनके समय तक, राज्य में एक विशाल क्षेत्र शामिल था जिसमें अधिकांश आधुनिक थाइलैंड, लाओस, म्यंमार और वियतनाम शामिल थे। उनके पास सिंचाई प्रणाली का एक जटिल संजाल था जो उन्होंने भारत से सीखी थी।

श्री विजय, सुमात्रा में सबसे महत्वपूर्ण हिन्दु राज्य 670 सी. ई. में स्थापित किया गया था। यह अपनी विकसित समुद्री राज्य-व्यवस्था के साथ व्यापार और संस्कृति के एक महान केन्द्र के रूप में उभरा। बाद में राज्य शैलेन्द्र साम्राज्य में विकसित हुआ जो एक महान समुद्रिक और वाणिज्यिक शक्ति थी। आई-सिंग हमें सूचित करते है कि श्री विजय ने सातवीं शताब्दी के अन्त में सुमात्रा में मल्लयू राज्य को हटाकर अपना अधिकार जमाया और बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन दिया। वाट सेमा मूरोंग शिलालेख (775 सी ई दिनांकित) श्री विजय के पड़ोसी क्षेत्रों के अधिपति के रूप में और एक महत्वपूर्ण नौ-सैनिक और वाणिज्यिक शक्ति के रूप में तेजी से विकास पर जोर देता है।

नौवीं शताब्दी तक मध्य जावा में मातराम राज्य (श्री विजय का एक महत्वपूर्ण राजनैतिक सहयोगी) के साथ-साथ जावा और बाली में अन्य राज्यों ने क्षेत्रीय और लंबी दूरी के व्यापार संजालों के कारण जटिल आर्थिक आधारभूत ढ़ांचे का विकास किया। जावा में ज्वालामुखीय ढ़लानों पर धान की विशाल वेदीकाएँ थी और उनके आद्र चावल की खेती ने कृषि अधिशेष को बड़ा प्रोत्साहन दिया, जो निर्यात किया जाता था और इस प्रकार व्यापार को सुविधाजनक बनाता था। मातराम वंश बौद्ध था। संस्कृत के शिलालेख अभिलेखों में गुजरात और गौड़ (बंगाल) से कई धर्म-गुरूओं के आगमन को दिखाया गया है। इस तरह के आदान-प्रदान ने मातराम को पहला मानकीकृत देशी सिक्का प्रणाली बनाने में मदद की, जिसमें स्थानीय और भारतीय पहलुओं का समावेश था। कई प्रमुख भारतीय बौद्ध थे जिन्होंने दक्षिण एशिया का दौरा किया। एक दक्षिण भारतीय बौद्ध भिक्षु वज्रबोधि आठवीं शताब्दी की शुरुआत में चीन जाते हुए पांच महीने के लिए श्री विजय में रूका था। तिब्बती स्रोतों के अनुसार, पाल राज्य (750-900 सी. ई.) का एक बौद्ध अतिस दिपांकर बारह वर्श तक श्री विजय में रहा और 1025 सी. ई. में बंगाल और बिहार में स्थित राज्य में लौट आया। महायान बौद्ध धर्म का संरक्षण करने वाले पालों के श्री विजय के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे।

दक्षिण-पूर्व एशिया पर भारतीय प्रभाव और दक्षिण-पूर्व राजाओं की उत्पत्ति के बारे में लोकप्रिय साहित्य में लोककथाओं के माध्यम से बताया गया है। एक कौडिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण और एक स्थानीय नागा राजकुमारी सोमा का विवाह हुआ था। इस तरह से इस क्षेत्र में हिन्दू राज्य अस्तित्व में आए[2]। पॉल व्हीटले, केनेथ आर. हॉल जैसे इतिहासकारों का तर्क है कि प्रारम्भिक दक्षिण-पूर्व एशियाई समाज जन-जातीय था और प्रमुखों द्वारा शासित था। जी. कोएडस दक्षिण-पूर्व एशियाई राज्यों की भारत पर सांस्कृतिक

[2] कम्बोड़िया और वियतनाम के शाही परिवारों में आज तक सोमा और कौडिन्य को अपना वंशज माना जाता है।

निर्भरता पर जोर देते हैं जो क्षेत्र में हिन्दू और बौद्ध धर्म की शुरुआत के कारण था। आई. डबल्यू. मैबेट ने इस प्रस्तावना को आगे बढ़ाया कि दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रथम राज्यों की स्थापना भारतीय नेतृत्व, विचारधारा और कृषि प्रौद्योगिकी की भारतीय अवधारणाओं के ऋणादान के कारण संभव हुई। ओ. वॉल्सटर का तर्क है कि इन जन-जातिय समाजों ने अपनी स्थानीय मान्यताओं और रीति-रिवाजों के साथ कुछ सरदारों को दूसरों से श्रेष्ठ माना और उनकी व्यक्तिगत उपलब्धियों ने उनकी सत्ता की स्थापना और उसे बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत की धार्मिक परंपराएं उन सरदारों की राजनैतिक आकांक्षाओं के अनुकूल थी जिन्होंने स्वयं को धर्म-निरपेक्ष और आध्यात्मिक रूप से श्रेष्ठ बताया। इस संदर्भ में ब्राह्मणवाद और बौद्ध धर्म एक राजनैतिक उपकरण के रूप में कार्य करते थे और इन जन-जातीय समाजों में सरदारों (प्रमुखों) की पवित्रता को वैधता प्रदान करते थे। इसने विभिन्न धार्मिक पथों को जन्म दिया।

शाही अनुष्ठानों में ब्राह्मण पुजारियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्राह्मणों ने भारतीय दरबारों के रीति-रिवाजों अनुष्ठानों और राजत्व की अवधारणाओं को पुनः स्थापित किया। चूंकि वे संस्कृत में निपुण थे इसलिए उन्होंने ब्राह्मणवादी अनुष्ठानों और बलियों के माध्यम से शासकों को पवित्र बनाया और उनके दैव्य स्थिति को स्थापित करने के लिए उनकी मनगढ़त वंशावलियों का निर्माण किया जिससे उनकी प्रजा की नजर में उनकी प्रतिष्ठा और शक्ति बढ़ी। उन्होंने उनके प्रशासन को व्यवस्थित करने में शासक वर्ग की मदद की जो भारतीय प्रतिमान पर आधारित था। उन्होंने *मनुस्मृति* (कानून की मनु संहिता) को शुरू किया। इसलिए वे एक माध्यम बन गये जिससे राजनैतिक वैधता प्राप्त की गई। दक्षिण-पूर्व एशियाई शासकों ने अपनी दिव्य स्थिति को बनाए रखने के लिए और लौकिक सत्ता को मजबूत बनाने के लिए स्वयं को हिन्दू या बौद्ध देवताओं से सम्बन्धित बताया। हिन्दू देवताओं की मूर्तियों के उत्पादन ने उन्हें राजनैतिक विचारधारा को लागू करने में सक्षम बनाया। मन्दिरों का निर्माण किया गया जिनमें हिन्दू देवताओं की और कभी-कभी राजा या शाही परिवार के सदस्यों (चाहे मृत या जीवित) की मूर्तियां स्थापित की गई। उदाहरण के लिए, नौवीं शताब्दी में अंगकौर या खमैर राजा, इंद्र वर्मन प्रथम ने प्रीहको मन्दिर की छः मीनारों का निर्माण किया जिसमें शाही परिवार की छवियां थी। उनके पूर्ववर्ती जयवर्मन द्वितीय (802-825 सी. ई.) की छवि शिव की छवि के सादृश्य थी। उन्होंने शिव मन्दिर का निर्माण किया, जो अन्तेष्टि स्थल के रूप में भी काम करता था। उनकी मृत्यु के बाद उनकी छवि को शिव की छवि के अनुसार बनाया गया और वह शिव के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। इसी तरह बेयॉन की मीनारों में बौधिसत्व लौकेश्वरा के 216 विशाल चेहरे हैं जो एक विश्वास के अनुसार जयवर्मन सप्तम् से मिलते-जुलते हैं। शिव और विष्णु की पूजा को पूर्वजों की पूजा के साथ मिला दिया गया था जिससे खमैर, जावा और चम्पा के शासकों को ईश्वरीय दिव्य प्राणियों की स्थिति का दावा करने में मदद मिली। जावा में भगवान के अवतार के रूप में शासकों को कभी-कभी विष्णु या शिव के प्रतीक के साथ दर्शाया गया था। सामान्य तौर पर दक्षिण-पूर्व एशियाई शासकों ने किसी विशेष देवता को कोई विशेष संरक्षण नहीं दिया। राजाओं को शिव, विष्णु या बौधिसत्व के अवतार के रूप में चित्रित किया गया था क्योंकि राजसी सत्ता की हिन्दू अवधारणा के अनुसार एक राजा अपनी सत्ता सीधे ईश्वर से प्राप्त करता है और वह एक देवराज (दिव्य राजा) था। जयवर्मन द्वितीय ने देवराज पंथ को पुर्नजीवित किया था जिसकी उत्पत्ति भारतीय थी। उन्होंने हिरण्यदामा, एक भारतीय ब्राह्मम्ण द्वारा विस्तृत अनुष्ठान करवाये थे जिसने उन्हें एक शिव की अभिव्यक्ति के रूप में चित्रित किया था।

चूंकि शासकों ने संस्कृत और ब्राह्मण पुरोहितों को अपना संरक्षण दिया था इसलिए संस्कृत शब्दों का उपयोग राजत्व को परिभाषित करने के लिए किया जाने लगा। प्रत्यय 'वर्मन' जिसका उपयोग आमतौर पर दक्षिण भारतीय शासकों जैसे पल्लवों द्वारा किया जाता था

वह बाद में दक्षिण-पूर्व एशिया में भी उपयोग में लाया जाने लगा। संस्कृत में 'वर्मन' शब्द का अर्थ एक ढाल या सुरक्षा है। खमैर शासकों ने अक्सर इस प्रत्यय का इस्तेमाल एक हिन्दू देवता के नाम वाले उपसर्ग के साथ किया था। उदाहरण के लिए, इन्द्रवर्मन द्वितीय का अर्थ है, जो इन्द्र द्वारा संरक्षित है और सूर्यवर्मन का अर्थ है जो सूर्य द्वारा संरक्षित है। म्यंमार के कला गांगौ गाँव के पास खिन्नबा-गौन में एक स्तूप को पियू में लिखे एक शिलालेख के पास पाया गया, जिसके निचले हिस्से के चारों ओर श्री क्षेत्र के पियू राज्य (तीसरी से नौवीं शताब्दी सी. ई.) के श्री प्रभुवर्मन का नाम लिखा गया था।

हिन्दू और बौद्ध देवी-देवताओं की मूत्तियों के निर्माण, भव्य धार्मिक ढ़ांचे, राजाओं की भारतीय धारणाओं को अपनाने के अलावा शासकों द्वारा जारी किये गये मन्दिर शिलालेख भी उनकी आकांक्षाओं को दर्शाते हैं। पैगन (म्यंमार) में श्वेगुयी पगोड़ा शिलालेख पैगन साम्राज्य (849-1300 सी. ई.) के शासक अलौंग्सिधु (1113-1167 सी. ई.) द्वारा जारी किया गया था। शिलालेख बौद्ध सिद्धान्तों के वर्णन के माध्यम से शासक और बौद्ध धर्म के बीच एक कड़ी स्थापित करता है। यह अपनी प्रजा को बुद्ध की शिक्षाओं का उल्लघंन न करने का निर्देश भी देता है। इस तरह के शिक्षाप्रद शिलालेखों के माध्यम से शासन करने वाले शासक ने स्वयं को एक आदर्श राजनैतिक व्यक्ति के रूप में स्थापित किया जिसकी अपनी प्रजाजनों पर सत्ता थी।

अब तब आपने पढ़ा कि दक्षिण-पूर्व एशिया पर कोई बलपूर्वक आरोपण नहीं किया गया था और पारस्परिक आदान-प्रदान शांतिपूर्वक था। हालांकि, प्रारंभिक मध्यकाल ने इसका अपवाद देखा जब चोलों ने जो एक अच्छी तरह से स्थापित नौ-सैनिक शक्ति थे, एक अन्य नौ-सैनिक शक्ति श्री विजय पर आक्रमण किया और उनके शहरों को नष्ट कर दिया। इस घटना को दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय विस्तार और प्रभाव को समझने के लिए नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि यह कुछ दिलचस्प पहलुओं को प्रस्तुत करता है जिनका अब हम अध्ययन करेगें।

बोध प्रश्न 1

1) 'भारतीयकरण' सिद्धांन क्या था? और इसे अस्वीकार क्यों किया गया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दक्षिण-पूर्व एशिया में राज्य के गठन की प्रक्रिया के लिए भारतीय प्रभाव कैसे सहायक सिद्ध हुए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.4 चोल नौ-सेना अभियान और श्री विजय पर आक्रमण

चोलों ने *संगम* युग में 300 सी.ई. से 600 सी.ई. तक शासन किया। प्रारम्भिक मध्यकाल में वे शक्तिशाली पल्लवों के एक मातहत राजा की स्थिति में आ गये थे। 850 सी. ई. में जब पल्लवों की राजनैतिक सत्ता कमजोर हो गई तब चोलों का फिर से उदय हुआ और शाही चोल साम्राज्य का व्यापक विस्तार विशेष रूप से राजराजा चोल और उनके पुत्र राजेन्द्र चोल के शासन काल में हुआ। अपने पिता की तरह राजेन्द्र चोल ने विस्तारवादी नीति का अनुकरण किया। पूरे श्री लंका पर विजय प्राप्त करने के बाद (जिसे राजराजा चोल ने आरंभ किया), उसने मालदीव, अंडमान और निकोबार द्वीप समूह पर विजय पाने के बाद अपना ध्यान मलयद्वीप समूह की ओर लगाया। भारत समुद्री रेशम मार्ग के केन्द्र में स्थित था। समुद्री रेशम मार्ग पर नियन्त्रण उनके प्रभुत्व को स्थापित करने में महत्वपूर्ण था। वे अपने आर्थिक तन्त्र को जिसमें व्यापार श्रेणियाँ शामिल थी (जो नौवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के मध्य अधिक प्रमुख हो गई थी) अर्न्तराष्ट्रीय बाजारों में अधिक अनुकूल रूप से स्थापित करना चाहते थे। ये व्यापार श्रेणियों जैसे मणिग्रामम्, नाना देसी, वालानजीयर, अय्यवोल, ऐन्नूरुवन आदि बहुत शक्तिशाली और साधन सम्पन्न थी। उन्होंने चोल शासकों को पैसे उधार भी दिये। इसलिए राजा व्यापार श्रेणियों को व्यापक आर्थिक क्षेत्र प्रदान करने के लिए कृतसंकल्प था।

श्री विजय राज्य मलयद्वीप समूह में चोलों के वाणिज्यिक हितों को चोट पहुंचा रहा था। बगदाद में अब्बासिद खलीफा के पतन के साथ समुद्री रेशम मार्ग महत्वपूर्ण परिवर्तनों से गुजर रहा था। अब्बासिद के जहाजों की जगह अब फातिमी जहाजों ने ले ली थी। ये लाल सागर, ऐड़न की खाड़ी से होकर हिन्द महासागर से गुजरते हुए व्यापार के लिए भारतीय तटों तक पहुंचते थे और फिर दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन तक जाते थे (जहां सुंग वंश की सत्ता थी)। लेकिन श्री विजय शासकों ने अपने क्षेत्र में समुद्री दस्युओं को श्री विजय बन्दरगाहों पर लंगर डालने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने तमिल व्यापारियों को परेशान किया। इसलिए, शैव अंगकोर राजा के साथ गठबन्धन में हिन्दू शैव चोल शासकों ने बौद्ध श्री विजय शासक और उसके बौद्ध सहयोगी ताम्ब्रालिंग के खिलाफ लड़ाई लड़ी। अंगकोर ने ताम्ब्रालिंगा के खिलाफ चोलो से मदद माँगी। चोलों ने ताम्ब्रालिंग पर हमला किया। श्री विजय अपने सहयोगी की मदद करने के लिए आया। चोल नौ सेना तकनीकी रूप से अधिक उन्नत थी। 1025 में राजेन्द्र चोल ने श्री विजय के खिलाफ एक नौ सैनिक बेड़ा भेजा और चोलों ने एक निर्णायक जीत हासिल की। श्री विजय शासक को बन्दी बना लिया गया। चोल आक्रमण और श्री विजय शहर के साथ मलयप्रायद्वीप, सुमात्रा और निकोबार द्वीप पर बारह अन्य बन्दरगाह शहरों पर छापों का उल्लेख तंजावूर में एक मन्दिर शिलालेख में किया गया है। यह घटना सबसे महत्वपूर्ण मलय साहित्यिक रचनाओं में से एक *शेजराह मल्लयु* में भी दर्ज है।

राजेन्द्र चोल द्वारा सुमात्रा के आक्रमण का यह उदाहरण दिलचस्प है। श्री विजय के राजराजा प्रथम के शासन काल के दौरान चोलों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। ताँबे की प्लेटें जिन्हें सामूहिक रूप से लाईडेन कॉपरप्लेट्स कहा जाता है क्योंकि वे अब लाईडेन यूनिवर्सिटी (नीदरलैंड) में हैं दिखाती हैं कि राजराजा चोल प्रथम ने नागापट्टिनम् स्थित एक अन्य श्री विजय राजा, श्री विजयामारा विजयाटुंगवर्मन द्वारा निर्मित चुड़ामनि विहार के रखरखाव के लिए एक शाही आदेश जारी किया। अनाइमंगलम् गाँव का उपहार बौद्ध विहार को दिया गया था। इसलिए राजराजा प्रथम के शाही पुत्र द्वारा श्री विजय पर आक्रमण के पीछे सटीक औचित्य क्या था यह अभी समझा नहीं जा सका है। नीलकंठ शास्त्री ने चोलों पर अपनी रचना में यह माना कि संभवतः यह श्री विजय द्वारा चोलों के पूर्व के साथ व्यापार में बाधा डालने के प्रयास के कारण था। वैकल्पिक रूप से यह चोलों

की दिगविजय (विस्तारवादी नीति) के कारण हो सकता था। मीरा अब्राहम व्यापार श्रेणियों और चोल राज्य व्यवस्था के बीच एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाती हैं। प्रारंभिक मध्यकाल में संगठित व्यापार संघों का उदय हुआ जिन्हें कुछ हद तक स्वायत्ता प्राप्त थी। ये श्रेणियाँ सक्रिय रूप से व्यापार और वाणिज्यिक गतिविधियों के संगठन में संलग्न थी। म्यंमार, थाईलैंड और इंडोनेशिया के तमिल शिलालेख और जावा के शिलालेख यहां भारतीय मूल की व्यापार श्रेणियों की मजबूत उपस्थिति का संकेत देते हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया से इस अवधि के दौरान जिन वस्तुओं का विनिमय किया गया उनमें बहुमूल्य पत्थर, परवाल, मुसब्बर की लकड़ी, लौंग, तांबा, टिन और कपूर शामिल थे और भारत से उनमें रेशम, मसालें, वस्त्र, मोती, मूंगा और औषधिय जड़ी-बूटियाँ आदि शामिल थी। प्रारंभिक वाणिज्यिक आदान प्रदान के विपरीत, मध्यकालीन वाणिज्यिक संबंध राजनैतिक वातावरण और सरकार की नीतियों से जुड़े थे क्योंकि व्यापार के सामान पर लगाए गये कर राज्य के राजस्व के एक बड़े स्त्रोत को गठित करते थे। आक्रमण के परिणामस्वरूप, चोलों ने भारतीय वाणिज्यिक हितों को बढ़ाने के लिए श्री विजय और अंगकोर राज्यों में स्थाई सेना नियुक्त की। दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रमुख व्यापार केन्द्रों में तमिल व्यापार श्रेणियों का अन्तःप्रवेश और प्रभुत्व था। इससे चोलों और श्री विजय के बीच एक वैवाहिक गठबंधन भी हुआ और राजेन्द्र चोल ने विजयोतुंगवर्मन की पुत्री ओनागंक्यू से विवाह किया[3]। तमिल व्यापार संघों की बढ़ती उपस्थिति और वैवाहिक गठबन्धन ने श्री विजय और चोलों के बीच सम्बन्धों को मजबूती प्रदान की। राजनैयिक मिशन भेजे गये। 1067 में दीपाकंर या देवकला, एक चोल राजकुमार और राजेन्द्र चोल के भतीजे श्री विजय के राजदूत के रूप में चीन के शाही दरबार पहुंचा। बाद में इस राजकुमार ने चोल राजगद्दी संभाली। 1068 में केड़ाह विद्रोह के दौरान वीर राजेन्द्र चोल ने श्री विजय को नौसेना का बेड़ा भेजकर केड़ाह को वापस प्राप्त करने में मदद की।

शाही चोलों के चीन के तांग और सुंग राजवंशों, सुमात्रा के श्री विजय, बगदाद के अब्बासिद खलीफाओं और मिश्र के फातिमिद खलीफा के साथ फलते-फूलते अर्न्तमहाद्वीपीय व्यापार सम्बन्ध थे। राजेन्द्र चोल ने मलय द्वीप समूह में समुद्री दस्युता को सफलतापूर्वक समाप्त कर दिया। उनकी नौसेना सर्वोच्च कमांडर के रूप में राजा के साथ एक पदानुक्रमित श्रेणीबद्ध संरचना के साथ बहुत अच्छी तरह से संगठित थी। हालांकि इसके बावजूद, चोलों को आधिकारिक चीनी अभिलेखों में गलत तरीके से श्री विजय के मातहत राज्य के रूप में नामित किया गया था। श्री विजय के दरबार के गुटों में बटने के कारण भ्रम की स्थिति जानबूझकर श्री विजय के चीन के राजदूतों के कारण हुई होगी। यह इंगित करता है कि इस अवधि तक दक्षिण-पूर्व एशियाई राज्य मुखिया तंत्र नहीं परन्तु इस क्षेत्र में प्रमुख समुद्री राजनैतिक शक्तियों के रूप में विकसित हो गये थे। वे समुद्री व्यापार के समृद्ध संजाल के माध्यम से वैश्विक स्तर पर जुड़े हुए थे। और श्री विजय अपने वाणिज्यिक हितों की रक्षा करने के लिए उत्सुक था।

दूसरी ओर, चोल के सफल नौ सेना अभियान ने व्यापार श्रेणियों के लिए अधिक व्यापार अवसर उत्पन्न किये। उनकी गतिविधियों का क्षेत्र में और विस्तार हुआ। राजनैतिक विवाह किसी शांतिपूर्ण संवाद का परिणाम नहीं था बल्कि चोल के सफल आक्रमण का प्रत्यक्ष परिण ाम था जिसने बाद में चोलों को उस समय श्री विजय की राजनीति में हस्तक्षेप करने में सक्षम बनाया जब वह केड़ाह विद्रोह के दौरान एक ग्रहयुद्ध में उलझा हुआ था और चोलों ने श्री विजय राजा को इसे प्रभावी ढ़ग से दबाने में मदद की। हालांकि यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि सफल आक्रमण के बावजूद चोलों ने राज्यों पर कोई सीधा नियन्त्रण स्थापित नहीं किया लेकिन उन्होंने श्री विजय की संचित सम्पदा को लूटा जिससे उसकी शक्ति कमजोर हो गई।

[3] मलेशिया में आज तक राजकुमारों के नाम चोलन् या चुलान के साथ समाप्त होते हैं।

9.5 कला और वास्तुकला

दक्षिण-पूर्व एशिया में कलात्मक परंपराओं के विकास का अध्ययन करके भारतीय प्रभाव को भी देखा जा सकता है जो अर्न्त-क्षेत्रीय और प्रदेशान्तरगत दोनों प्रकार के आदान-प्रदान को दर्शाते हैं। दोनों क्षेत्रों के बीच कुछ विषय-वस्तु साझा थी और हम कुछ स्थानीय अनुकूलन भी देखते है। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि प्रत्येक सांस्कृतिक के गतिविधि के क्षेत्र में यह स्थानीय कारीगर और कलाकार थे और न कि भारतीय शिल्पी जिन्होंने उत्पादन प्रक्रिया में भाग लिया था। इसलिए, उनके लिए अपने कलात्मक प्रयासों में स्थानीय प्रथाओं और मान्यताओं को शामिल करना स्वाभाविक था जो मुख्य रूप से धार्मिक थी। बौद्ध, हिन्दू और अन्य स्थानीय देवी-देवताओं के सांस्कृतिक केन्द्र सह-अस्तित्व में थे।

हिन्दू देवताओं के अनेक मूर्तियां जैसे विष्णु, शिव, गणेश, महिषासुरमर्दिनी, हरिहर आदि और स्थानीय विशेषताओं वाले बौद्ध स्तूप और तराशी हुई मूर्तियाँ मिली हैं। जावा में गणेश की छवियों को अक्सर एक सिंहासन पर बैठा दिखाया गया था जो खोपड़ियों की एक पंक्ति के साथ सजाया गया था, जो कि पूर्ण रूप से एक जावा की संकल्पना थी। पोनागर, चाम की देवी माँ, मौलिक रूप से एक देशी निराकार देवी थी लेकिन जैसे ही भारतीय परंपराएँ चम्पा या चाम (वर्तमान वियतनाम् में) पहुँची, वह शिव की शक्ति में रूपान्तरित हो गई लेकिन उन्हें उमा या पार्वती नहीं कहा गया। उन्हें एक नई उपाधि, भगवती कौथारेश्वरी प्रदान की गई और देवी को एक सुसम्पन्न रूप में परिवर्तित कर दिया गया। 1050 सी. ई. में चम्पा के राजा, श्रीपरमेश्वर के एक शिलालेख में उन्हें समर्पित एक स्त्रोत है। इस प्रकार कुछ उदाहरणों में स्थानीय देवी-देवताओं को हिन्दू दिव्य विशेषताओं के साथ जोड़ा गया था जिसका परिणाम एक संशोधित दिव्यता थी। स्थानीयकरण उस तरीके से भी स्पष्ट था जिस तरह से वे मूर्तियों को सुशोभित करते थे। असाधारण भारतीय शैली, वेशभूशा और अलंकरण को छोड़ दिया गया था और उनका स्थान स्थानीय सामग्री ने ले लिया। देवी-देवताओं के साथ जुड़े अनुष्ठानों का भी स्थानीयकरण किया गया था।

म्यंमार में हीनयान बौद्ध धर्म प्रमुख था लेकिन महायान बौद्ध धर्म और तन्त्रवाद भी खूब फला फूला। यहां के स्तूप स्थापत्य विभिन्न स्त्रोतों के प्रभाव को प्रकट करते हैं अर्थात् भारत, श्रीलंका, कंबोडिया, चीन और समामेलन से कला और वास्तुकला में एक नई शैली और रूप सामने आया जिसे म्यंमारी कहा जाता है। उत्तर गुप्तकालीन शैली में कांस्य की कलाकृतियां, नट ह्लोंग कियोंग मन्दिर, आन्नद पगौड़ा (मन्दिर) भारत के दृढ़ प्रभाव दिखाते हैं। नट ह्लोंग कियोंग मन्दिर भारतीय व्यापारियों और ब्राह्मणों के लिए बनाए गये थे जो पगान वंश के संस्थापक अनावृथ की सेवा में थे। इसमें विष्णु के दशावतार की मूर्तियाँ हैं। बागान् में आनन्द पगौड़ा को 1105 सी. ई. में एक अन्य पगान राजा क्यानसिथा ने बनवाया था। ये एक बौद्ध मन्दिर है। शिखर, परिधिगत गलियारों आदि सहित इसकी कई विशेषताएं बंगाल और उड़ीशा की एक पुरानी भारतीय मन्दिर स्थापत्य शैली में बनाई गई थी।

चम्पा साम्राज्य के शासक जो प्राचीन सियाम (थाईलैंड) में दूसरी से सत्रहवीं शताब्दी तक रहे थे, उन्होंने विशाल धार्मिक संरचनाओं के निर्माण का कार्य शुरू किया। सातवीं से चौदहवीं शताब्दी तक अनेक हिन्दू मन्दिरों का निर्माण चम्पा के तटीय मैदानों में किया गया था। 875 सी. ई. में राजा इन्द्रवर्मन द्वितीय जिन्होंने महायान बौद्ध धर्म का पालन किया था ने डोंग डुयोंग में एक विशाल बौद्ध मठ का निर्माण किया। सियाम को हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म खमैर से विरासत में मिला था जो सियाम के दक्षिण क्षेत्र पर शासन करता था। खमैर शासकों ने अपने मन्दिरों (वाट) को द्रविड़ शैली में बनवाया। सबसे महत्वपूर्ण एक अंगकोर वाट था जिसे सूर्यवर्मन द्वितीय ने अपनी राजधानी अंगकोर में बनवाया था। मुख्य मन्दिर की दीवारों, दीर्घाओं और मार्गों पर उत्कीर्ण मूर्तियां दो प्रसिद्ध हिन्दू महाकाव्यों

रामायण और *महाभारत* की कहानियों को दर्शाती हैं। यह विष्णु को समर्पित है और सबसे बड़ा हिन्दू मन्दिर है। फूनान के एक उत्तराधिकारी राज्य, खमैर साम्राज्य ने अपने शासन के लिए वैधता हासिल करने के लिए कोड़िन्या और सोमा, एक नाग राजकुमारी, की कहानी को अपनाया। इसलिए आलंकारिक कला में नाग आकृति एक प्रमुख रूपांकन बन गई। ग्याहरवीं शताब्दी के अन्त में लेटे हुए विष्णु की एक विशालकास्य मूर्ति, जो अब कम्बोड़िया के राष्ट्रीय संग्रहालय में है, खमैर कला पर भारतीय प्रभाव का शानदार उदाहरण है।

शैलेन्द्र शासक[4], जिन्होंने 750 से 850 सी. ई. के बीच जावा और सुमात्रा पर शासन किया था, महायान बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और उन्होंने कुछ भव्य बौद्ध संरचनाओं का निर्माण शुरू करवाया था। बौरोबुदुर में नौवीं शताब्दी में उन्होंने एक भव्य स्तूप का निर्माण किया जो आज भी दुनियां की सबसे बड़ी बौद्ध संरचना है। इसमें पत्थर के नौ क्रमिक मंडल शामिल है, जिसका शीर्ष एक घंटाकृति वाले स्तूप से सुशोभित है, जो दिव्य क्षेत्र का प्रतीक है। इसपर उत्कीर्ण मूर्तियां बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाओं को दर्शाती है। इस तरह के विशाल बौद्ध संरचना के जवाब में, हिन्दू संजय वंश[5] के शासक रकाई पिकाटन ने मध्य जावा में प्रम्बानन में एक हिन्दू मन्दिर का निर्माण शुरू किया। चंडी[6] प्रम्बानन आज तक इंडोनेशिया का सबसे बड़ा मन्दिर है। 856 सी. ई. का शिवागृह शिलालेख बताता है कि यह शिव की पूजा करने के लिए बनाया गया था। शैलेन्द्र और बंगाल के पालों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों के परिणामस्वरूप जावा में नालन्दा शैली में बौद्ध कला और मूर्तियों का उत्पादन हुआ जिसने बदले में प्रायद्वीपीय थाईलैंड की कलात्मक शैलियों को प्रभावित किया। उन्होंने भारत में कुछ महत्वपूर्ण संरचनाओं के निर्माण में भी योगदान दिया। पाल शासक देवपाल का एक शिलालेख इस बात की पुष्टि करता है कि सुवर्णद्वीप और जावाभूमि के बलपुत्रदेव नामक राजा ने नालंदा महाविहार में अध्ययन करने के लिए आने वाले जावा के विद्वानों के निवास के लिए नालंदा में एक मठ का निर्माण किया।

इस तरह, विभिन्न दक्षिण-पूर्व एशियाई राज्यों ने भारतीय महाकाव्यों, बौद्ध और हिन्दू प्रतिमा विद्या, भारतीय वास्तुकला की शैली, रूपाकंनों आदि से विषय-वस्तुओं और मिथकों को अवशोशित किया और इस तरह से उधार लिए तत्वों को अपने संबंधित क्षेत्रों और समय के साथ रचनात्मक रूप से जोड़ा और कला और वास्तुकला की अपनी विशिश्ट शैली विकसित की जो स्थानीय दर्शकों के साथ प्रभावी ढंग से मेल खा सकती थी। इस प्रकार विभिन्न राज्यों ने आयात की गई अवधारणाओं और रूपों के लिए विभिन्न कलात्मक व्यवहार अपनाया।

9.6 साहित्य और नाटक

इससे पहले हमने पढ़ा कि ब्राह्मण पुजारियों ने कई दक्षिण-पूर्व एशियाई राज्यों के गठन में एक प्रमुख भूमिका निभाई। परिणामस्वरूप संस्कृत भाषा और साहित्य को राजाओं द्वारा संरक्षण दिया गया। शासकों द्वारा अनेक शिलालेख जारी किये गये, जो अक्सर पत्थर के स्तम्भों और कभी-कभी धातु की प्लेटों पर उत्कीर्ण किए गये। संस्कृत के शिलालेख मुख्य रूप से राजनैतिक गतिविधियों से संबंधित है। इन के कारण स्थानीय भाषाओं की शब्दावलियों का विस्तार हुआ क्योंकि नये पारिभाषिक शब्द शुरू किये गये। बौद्ध धर्म के आगमन से बौद्ध शिक्षण ग्रन्थों की शुरूआत हुई। आठवीं शताब्दी और सोलहवीं शताब्दी के

[4] शैलेन्द्र राजवंश मूलरूप से एक हिन्दू राजवंश था क्योंकि शैलेन्द्र (जिसका अर्थ है 'पर्वत का शासक') शिव का दूसरा नाम है।

[5] संजय वंश की स्थापना 732 सी. ई. में संजय ने की थी।

[6] जावा में हिन्दू मन्दिरों को चंडी कहा जाता है। यह शब्द देवी दुर्गा के नामों में से एक से लिया गया है।

बीच अधिकांश समुद्री दक्षिण-पूर्व एशिया के भागों में इस्तेमाल की जाने वाली कावी लिपि (पुरानी जावा की लिपि), संस्कृत लेखन प्रणाली का एक स्थानीय रूप से संशोधित संस्करण था। इसी तरह, संस्कृत और पल्लव लिपियों ने पुरानी बाली की लिपियों के विकास को प्रेरित किया। संस्कृत और पाली भी कुछ राज्यों की आधिकारिक भाषा बन गई जैसे कि द्ववारवाते[7], श्री विजया आदि। इन भाषाओं का म्यंमार में तेरहवीं शताब्दी तक उपयोग किया जाता रहा। आठवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच स्थानीय भाषाओं (मोन और खमैर और खमैर लिपि) ने भी पाली और संस्कृत के शब्दों और ग्रन्थों का प्रयोग किया। संस्कृत के शब्दों का इस्तेमाल उनके राजाओं और स्थानों के नामकरण के लिए भी किया जाता था।

प्रारम्भिक मध्यकाल तक, कई दक्षिण-पूर्व राज्य और साम्राज्य, कई हिन्दू साहित्यिक रचनाओं से परिचित हो गये थे जैसे कि *वेद, पुराण, धर्मशास्त्र,* पाणिनी का व्याकरण, भारतीय दर्शन की छः प्रणालियाँ आदि। यशोवर्मन, कम्बोज राज्य के संस्थापक की तुलना पाणिनी, एक प्राचीन भारतीय संस्कृत व्याकरण वेत्ता और अष्ठाध्यायी के लेखक से की गई है। राजा ने पतंजलि के *महाभाष्य* पर एक टीका लिखी। इस साम्राज्य के एक अन्य शासक, सूर्यवर्मन प्रथम भी एक महान संस्कृत विद्वान थे जो वैदिक शिक्षा में निपुण थे। होरा शास्त्र (ज्योतिश), सिद्धान्त शास्त्र (ज्योतिश), आर्युवेद (चिकित्सा) और गंधर्वविद्या (संगीत) का भी अनुसरण किया गया। म्यंमार की कानून संहिता, *वागारू धर्मसत्ता* ने *मनुस्मृति* के नियत संहिताओं को समाविश्ट किया। *रामायण* और *महाभारत* ने भी दक्षिण-पूर्व एशिया की संस्कृति पर एक प्रत्यक्ष प्रभाव छोड़ा। आयातित मुख्य विषय-वस्तु सत्ता के उपयोग, शासकों और उनके प्रजाजनों के बीच सम्बन्धों, आलौकिक तत्वों जैसे आत्माओं, राक्षओं, भूतों, जादुई हथियारों आदि से सम्बन्धित थी। *रामायण,* राम की कहानी, एक प्रसिद्ध आदर्श राजा, उनके कारनामों और राक्षस राजा रावण के खिलाफ लड़ाई को अपनाया गया। इसके पात्र और कथानक समान ही रहे, लेकिन इसके स्थान को स्वदेशी बनाकर कई स्थानीय पात्रों के साथ जोड़ा गया। कुछ मामलों में नये तत्व जोड़े गए। उदाहरण के लिए लाओ संस्करण में रावण एक परिष्कृत लाओ राजकुमार है। *रामायण* के आधार पर, राजा अनवृथा के शासन काल के दौरान म्यंमार में यमजतदा शुरू किया गया था। यमजतदा में नृत्य और नाटक के माध्यम से राम की कहानी का वर्णन किया जाता है। यम राम का लिप्यंत्रण है। तदानुसार, म्यंमार में *रामायण* को *यामायण* के रूप में जाना जाता है। इसी तरह थाईलैंड में इसे *रामाकिन* कहा जाता है और यह इस देश का राष्ट्रीय महाकाव्य है। *रामायण* और *महाभारत* ने दक्षिण-पूर्व एशिया के छायाकठपुतली नाटक कला जैसे कि वेयांग कुलित और जावा के वेयांग गोलेक को भी प्रेरित किया। कई विद्वानों का मानना है कि वेयांग कुलित बाद में एक माध्यम बन गया जिसके जरिये भारतीय तत्व दक्षिण थाईलैंड के छाया कटपुतली कला में प्रेषित किये गये थे अर्थात् नांगतालुंग और नांगेई। इससे पता चलता है कि भारतीय परंपराएं एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में प्रसारित हुई और उन्हें नये परिवेश के अनुरूप संशोधित किया गया।

[7] माना जाता है कि म्यंमार में हिन्दू धर्म 350 बी.सी.ई. तक पहुँच गया था। जब पीयू लोग वहां आए और आकर बस गए थे। बाद में पश्चिमी चीन से मोन लोग आए और उन्होंने पीयू लोगों की जगह ले ली। हालांकि उन्होंने पीयू लोगों की संस्कृति को अपनाया। मोन राज्य ने कई शताब्दियों तक शासन किया और काफी हद तक अपने क्षेत्रों का विस्तार किया और यहां तक कि थाईलैंड पर भी विजय प्राप्त की। यहाँ उन्होंने एक और राज्य की स्थापना की जिसका नाम द्ववारवती था जिसको बाद में पगान राज्य द्वारा हटा दिया गया था जिसने 11वीं से 13वीं शताब्दी तक म्यंमार में शासन किया था।

बोध प्रश्न 2

1) प्रारम्भिक मध्यकाल के दौरान आप भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के सम्बन्धों को समझने में चोलों द्वारा श्री विजय के आक्रमण की व्याख्या कैसे करेगें?

.....

.....

.....

.....

.....

2) कला, वास्तुकला, साहित्य और नाटक में अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान बनाने के लिए दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न राज्यों ने भारतीय तत्वों को कैसे ग्रहण किया और उनका स्थानीयकरण किया?

.....

.....

.....

.....

.....

WayangKulit
Source: Richa Singh

WayangGolek
Source: Richa Singh

9.7 सारांश

दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारत के सम्बन्धों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के न केवल बाहरी दुनिया के साथ बल्कि एक-दूसरे के साथ भी वाणिज्यिक संबंध थे। भारतीय व्यापारियों, व्यापार श्रेणियों और राज्य संरक्षण ने एक अनुकूल वातावरण बनाया जिससे न केवल वस्तुओं का आदान-प्रदान हुआ बल्कि विचारों का भी व्यापक आदान-प्रदान हुआ। दुनियां के लिए इसके गहरे निहितार्थ थे। सम्पर्कों ने उनके रीति-रिवाजों, कला-वास्तुकला, विचारों, समाज आदि पर महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़े। भारतीय परंपराओं के प्रसार की प्रक्रिया क्रमिक थी। उनका प्रचार प्रकृति में बलपूर्वक नहीं था लेकिन आमतौर पर शांतिपूर्ण था। भारतीय व्यापारियों, भिक्षुओं और पुजारियों की भूमिका शासकों और दक्षिण-पूर्व एशिया के कुलीनों के साथ महत्वपूर्ण थी। भारतीय प्रतिमान के साथ सम्बन्ध ने दक्षिण-पूर्व एशियाई राजाओं को अपनी राजनैतिक वैधता और शक्ति के स्रोतों का विस्तार करने और सुदृढ़ करने और मुखियातंत्र से राज्यों और साम्राज्यों में बदलने में सक्षम बनाया। हालांकि भारतीय संस्कृति और धर्म का प्रारंभिक महत्वपूर्ण प्रभाव शासक वर्गों के स्तर पर था। उत्तरोत्तर उधार के तत्वों का देशी संस्कृतियों के साथ विलय हो गया और उन्हें दक्षिण-पूर्व एशिया की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान की एक श्रृंखला उत्पन्न करने के लिए स्थानीय किया गया।

9.8 शब्दावली

बोधिसत्व : एक बोधिसत्व वह व्यक्ति है जो निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करने में सक्षम है। लेकिन वह अपने मोक्ष को इसलिए स्थगित कर देता है ताकि उन लोगों के प्रति करूणा दिखा सके जो पीड़ित हैं और जिन्हें कर्म और संस्कार के प्रभाव यानि पुर्नजन्म के चक्र से मुक्त होने के लिए मार्ग दर्शन की आवश्यकता होती है।

हरिहर : हिन्दू धर्म में हरिहर, अर्धनारीश्वर आदि देवी-देवताओं के समग्र रूपों की अवधारणा मौजूद है। हरिहर विष्णु, संरक्षक और शिव, संहारक का मिश्रित प्रतिनिधित्व है।

राज्य गठन : एक प्रक्रिया जिसके द्वारा एक केन्द्रीयकृत राज्य संरचना जिसमें नेता की शक्ति निहित होती है, स्थापित की जाती है।

स्तूप : एक स्तूप एक अर्ध-गोलाकार संरचना है जहां बौध संतों के पवित्र अवशेष दफनाये जाते थे। यह बौद्ध वास्तुकला का एक मौलिक भाग है। बौद्ध स्त्रोतों के अनुसार बुद्ध के अवशेषों को आठ भागों में विभाजित किया गया था और उनके अवशेषों को संरक्षित करने के लिए आठ अलग-अलग स्थानों पर स्तूपों का निर्माण किया गया था। तब से स्तूप बुद्ध की काया के साथ जुड़ गया। जब एक स्तूप को प्रार्थना कक्ष या बौद्ध मन्दिर के अन्दर रखा जाता है तो इस संलग्न संरचना को चैत्य कहा जाता है।

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 9.2 देखें।

2) भाग 9.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 9.4 देखें।

2) भाग 9.5 और 9.6 देखें।

9.10 संदर्भ ग्रन्थ

गुप्ता, एस.पी. एन्ड अस्थाना, शशिप्रभा (2007). *एलीमेन्टस ऑफ इन्डियन आर्टस्, इनकलूड़िंग टेम्पल आर्किटेक्यर, आइकोनोग्राफी एन्ड आइकोनोमेट्री.* नई दिल्ली : इन्द्रप्रस्था म्यूजियम ऑफ आर्ट एन्ड आर्कियोलोजी.

हॉल, कैनेथ आर. (1985). *मेरीटाइम ट्रेड एन्ड स्टेट डवलपमेन्ट इन अर्ली साउईस्ट एशिया.* यूनिवर्सिटी ऑफ हवाई प्रेस.

कुलके, हरमन (2009). द नेवल एक्सपेडिशन्स ऑफ द चोलाज इन द कॉन्टेक्स्ट ऑफ एशियन हिस्ट्री. हरमन कुलके, के. केशवापानी एन्ड विजय साखिया (एडीटिड). *नागापट्टिनम टू स्वणद्वीप : रिफ्लेक्शनस ऑन द चोला नेवल एक्सपेडिशिन्स टू साउथ इस्ट एशिया.* सिंगापुर : इन्टीटयूट ऑफ साउथ ईस्ट एशियन स्टडीज़.

मैबेट, आई. डब्ल्यू. (1977). द इंडियनाइजेशन ऑफ साउथ ईस्ट एशिया : रिफ्लेक्शन्स ऑन द हिस्टोरिकल सोर्सिज. *जर्नल ऑफ साउथ ईस्ट एशियन स्टडी.* वॉल्यूम 8, न. 2, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 143-161.

मुखोपाध्याय, बी. (2017). ब्राह्ममिनीकल डिवीनिटीज इन सियाम् : फ्रोम अरली टू मॉर्डन इरा. इन लिपि घोष (एड). *इंडिया थाइलैंड कल्चरल इन्टरेक्शन्स. ग्लीम्पशीश फ्रोम द पास्ट टू प्रेसेन्ट.* सिंगापुर : स्प्रिगंर.

रे, हिमांशु प्रभा (2019). शेयरड कल्चरल हेरिटेज : टूवर्डस v सस्टेनेबल फ्यूचर। *एक्ट ईस्ट : आसियन-इंडिया शेयरड कल्चरल हेरिटेज.* आर आई एस (रिसर्च एंड इन्फोरमेशन सिस्टम फॉर डवलपिंग कल्टरीज). ऐ.आई.सी. (आसियन-इंडिया सैंटर : एट आर आई एस).

स्मिथ, मोनिका एल. (1999). ''इंडियनाइजेशन'' फ्रोम द इंडियन पोइन्ट ऑफ व्यू : ट्रेड एंड कल्चरल कॉन्टेक्टस विद साउथ ईस्ट एशिया इन द अरली फर्स्ट मिलेनियम सी. ई.. *जर्नल ऑफ द इक्नोमिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑफ द ओरियन्ट.* 1-26 *ब्रिल.*

इकाई 10 कृषि, भू-स्वामी, कृषक और जनजाति : सामंतवाद विवाद*

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 सामंतवाद क्या है?

10.3 कृषि अर्थव्यवस्था

10.3.1 कृषि संगठन

10.4 ग्रामीण तनाव

10.5 कृषि और विनिमय व्यवस्था

10.6 प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि अर्थव्यवस्था का चित्रांकन

10.7 व्यापार और वाणिज्य

10.7.1 विनिमय के माध्यम

10.7.2 व्यापार की सापेक्ष गिरावट

10.7.3 शहरी बस्तियाँ : ह्रास

10.8 भारतीय सामंतवाद

10.8.1 भारत में क्या सामंतवाद था?

10.9 सामंतवाद पर पुर्नविचार

10.10 सामंतवाद, व्यापार और शहरीकरण

10.11 समस्याएं

10.12 सारांश

10.13 शब्दावली

10.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.15 संदर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगे :

- सामंतवाद क्या है?
- भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएं जो प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में अस्तित्व में आईं जो भारतीय सामंतवाद सिद्धांत का आधार बनती हैं;
- मध्ययुगीन भारत में व्यापार, वाणिज्य और शहरी क्षय और इस तरह की प्रक्रियाएं सामंतवाद से संबंधित कैसे हुईं;
- भारतीय सामंतवाद पर बहस।

* यह इकाई ई.एच.आई.–3, खंड 1 (इकाइयां 1 और 3) तथा एम.एच.आई.–05, खंड 3 (इकाई 10) से ली गयी है।

10.1 प्रस्तावना

गुप्तकाल के पश्चात 7वीं से 13वीं शताब्दियों के काल को भारतीय इतिहास में प्रारंभिक मध्ययुगीन काल माना जाता है। इस अवधि में अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति के क्षेत्र में मौलिक परिवर्तन हुए। इन्हें सामंतवाद सिद्धान्त, खंडित राज्य संरूपण व एकीकरण और निरंतरता (प्रक्रियाएं जो आरंभिक ऐतिहासिक काल में प्रत्यक्ष हुईं) के सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया गया है। इस इकाई में हम इन निर्माणों में से एक पर चर्चा करेंगे जो समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति में होने वाले परिवर्तनों पर आधारित है। यह प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के विद्वानों और ऐतिहासिक लेखन में एक जीवंत बहस का विषय रहा है और यह विषय बहुत समृद्ध और सूक्ष्म भेद युक्त है।

10.2 सामन्तवाद क्या है?[1]

सामंतवाद पर बहस की मुख्य विशेषताओं की समीक्षा करने से पहले, आओ समझें कि सामंतवाद क्या है? सामंतवाद से अभिप्राय उन परिवर्तनों से है, जो पश्चिमी यूरोप में 8वीं से 14वीं सदियों के बीच घटित हुए। इन परिवर्तनों के केन्द्र में फ़ीफ़ (एक प्रकार की भू-सम्पत्ति) कही जाने वाली भूमि का अनुदान था, जिसके चारों ओर हमारे अध्ययन काल के सामाजिक तथा आर्थिक सम्बंध केंन्द्रित थे। 'फ़्यूडलिज़्म' (सामंतवाद) शब्द की उत्पत्ति जर्मन शब्द 'फ़्यूड' से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ भूमि के टुकड़े से है। औद्योगिक क्रांति से पूर्व के पूर्व-आधुनिक युग में भूमि ही सम्पत्ति का मुख्य स्रोत थी। कौन इस भूमि का अधिपति था, कौन इस पर काम करता था, तथा किन शर्तों के साथ, तथा प्रत्येक को इस भूमि से कितनी आय होती थी; ये न केवल समाज के आर्थिक हालात के संकेतक थे, बल्कि निजी सम्पत्ति तथा रुतबे के निर्धारक भी थे। अतः वे सम्बंध जो इस भूमि के उत्पादन तथा आय को संचालित करते थे, सामंती समाजों को समझने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। समाज का प्रत्येक हिस्सा जिन शर्तों के साथ इस भूमि का उपयोग करता था, वे ही उनके आपसी सम्बन्धों को भी निर्धारित करतीं थीं। इस अर्थ में सामंतवाद इस महत्वपूर्ण सम्बंध से निर्धारित होने वाले सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक तंत्र के समुच्चय का प्रतिनिधित्व करता है।

कृषिदासत्व (serfdom) वह आधारभूत संस्था थी जिसने सामंतवाद की व्यवस्था को निर्धारित कियाः दासता से भिन्न, इसमें भूमि पर काम करने वालों पर भूमि के स्वामी सत्ताधारी कुलीनवर्ग के सदस्य का स्वामित्व था। लॉर्ड (Lord: अधिपति) से यह संबंध यद्यपि दासता की अपेक्षा कम कष्टदायक था, तथापि ऐसा था कि इसमें भी उसका शोषण होता था तथा उसके श्रम का इस हद तक शोषण होता था कि उसके पास मुश्किल से जीवन-निर्वाह के लिए कुछ शेष रहता था। अधिकांशतः वह अपने औजारों और श्रम से खेती करता था तथा उसे अपनी आजीविका के साधन उस भूमि के टुकड़े से प्राप्त करने होते थे, जिससे वह बंधा हुआ था। लॉर्ड की ज़मीन पर काम के बदले उसे कोई पारिश्रमिक प्राप्त नहीं होता था। यह पारिश्रमिक एक तरह से श्रम के रुप में लगान था, उस भूमि के टुकड़े पर जो लॉर्ड द्व ारा उसे दी गई थी, ताकि वह स्वयं (लॉर्ड) के लिए श्रम का बंदोबस्त सुनिश्चित कर सके यह व्यवस्था उस समय प्रारंभ हुई जब दासता व्यवहारिक नहीं रह गई थी।

10.3 कृषि अर्थव्यवस्था

भारतीय इतिहास के प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में कृषि का विकास और भूमि संबंधों का संगठन भूमि-अनुदानों के माध्यम से हुआ। इस अनुदान प्रक्रिया की शुरूआत प्रथम शताब्दी

[1] यह भाग बी.एच.आई.सी.–104, विषय II, इकाई 5 से ग्रहित है।

सी.ई. से हुई और बारहवीं सदी तक व्यवहारिक रूप से यह पूरे उप-महाद्वीप में फैल गई। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में कृषि विस्तार का मतलब अधिक और नियमित रूप से विकसित कृषि तकनीक, हल द्वारा खेत जोतना और सिंचाई तकनीक का इस्तेमाल था। कृषि प्रक्रिया की संस्थागत व्यवस्था, उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण और उत्पादन के नए संबंधों ने इस विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विस्तार के साथ ही नए ग्रामीण तनाव पैदा हुए। कृषि व गैर-कृषि उत्पादों से संबंधित वाणिज्यिक गतिविधियाँ बढ़ गयीं।

कृषि विस्तार की शुरूआत *ब्रह्मदेय* और *अग्रहार* बस्तियों से हुई। ये ब्राह्मणों को चौथी सदी के बाद से दिए गए भूमि-अनुदान थे। बाद की सदियों में यह कृषि विस्तार एकरूप व सार्वभौमिक हो गया। आठवीं से बारहवीं सदी में इस प्रक्रिया का विस्तार हुआ। कृषि विकास की प्रक्रिया पराकाष्ठा पर जा पहुंची जो कि धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष लोगों जैसे ब्राह्मणों, मंदिरों और राजा की सरकार के अधिकारियों को मिले भूमि-अनुदानों के कारण संभव हो सका। हालांकि भौगोलिक और पारिस्थितिकीय कारकों की वजह से इस विकास में कई महत्वपूर्ण क्षेत्रीय विविधताएं आ गईं।

10.3.1 कृषि संगठन

कृषि संगठन और अर्थव्यवस्था बहुत जटिल थी। इसे अनुदान की क्षेत्रीय पद्धति के गहन अध्ययन और *ब्रह्मदेय,* गैर-*ब्रह्मदेय* और मंदिर अनुदान-व्यवस्था की भूमिका व चरित्र से समझा जा सकता है। भूमि अधिकार की प्रकृति और विकास, ज़मीन से जुड़े विभिन्न वर्गों की परस्पर अन्तर-निर्भरता तथा उत्पादन और वितरण प्रक्रिया भी इसको समझने में मदद करते हैं।

ब्रह्मदेय : ब्राह्मणों को भूमि-अनुदान में मिले खेत या पूरे गाँव को *ब्रह्मदेय* अनुदान कहा जाता है जिससे वे भू-स्वामी या भू-नियंत्रक हो जाते हैं। इसका मतलब खाली ज़मीन को खेती में लाना था। मौजूद खेतों को नई अर्थव्यवस्था में लाना था जो ब्राह्मणों के प्रभुत्व के तहत थी। इन ब्राह्मणों ने, विभिन्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों को पदों के जरिये और वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत जातीय समूहों के जरिये नई अर्थव्यवस्था में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उदाहरण के तौर पर, शूद्रों को कृषक वर्ग में लाने के लिए तत्कालीन ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था में तार्किक रूप देने की कोशिश की गई।

ब्रह्मदेय के रूप में भूमि-अनुदान के प्रचलन की शुरूआत शासक वंशों द्वारा की गई और उसके बाद छोटे राजा और सामंत आदि भी इसका अनुसरण करने लगे। *ब्रह्मदेय* अनुदानों ने कृषि के विस्तार में सहायता कैसे की?

- उन्हें बहुत से करों और देयों से पूरी तरह या कम से कम प्रारंभिक अवस्था में छूट मिली हुई थी (उदाहरण के लिए 12 वर्ष)।
- उन्हें बहुत तरह के विशेषाधिकार (परिहार) मिलते थे।

शासक परिवार संसाधनों के आधार में विस्तार से आर्थिक लाभ पाते थे। इसके अलावा, *ब्रह्मदेय* अनुदान देने से उन्हें अपनी राजनीतिक सत्ता के लिए वैचारिक आधार मिलता था। दक्षिण भारत के संदर्भ में ऐसा देखा जाता है कि *ब्रह्मदेय* के रूप में ज़मीन या तो एक ब्राह्मण को या कई ब्राह्मण परिवारों को, जो कि कुछ से लेकर कई सौ और कभी-कभी हज़ार से ज़्यादा होते थे, दी जाती थी। *ब्रह्मदेय* आवश्यक रूप से बड़े सिंचाई के साधनों जैसे तालाब या झील के निकट होते थे। ऐसा अक्सर देखा जाता था कि जब *ब्रह्मदेय* अनुदान दिये जाते थे तो उस भूमि के निकट नए सिंचाई के साधनों का निर्माण किया जाता था। यह कार्य सूखे और अर्द्ध-सूखे क्षेत्रों में या उन इलाकों में विशेषकर किया जाता था जो वर्षा पर निर्भर थे। नदी घाटी क्षेत्रों में, जहां अधिक खेती होती थी, वे

कम उत्पादन के क्षेत्रों को साथ मिला लिया करते थे। कभी-कभी दो या अधिक बस्तियों को साथ जोड़कर एक *ब्रह्मदेय* या एक *अग्रहार* बना दिया जाता था। उन गांवों से कर वसूलने का अधिकार भूमिदान पाने वाले ब्राह्मणों को दे दिया जाता था और उन्हें दान में मिली ज़मीन पर खेती करने का अधिकार भी मिल जाता था। दान में दी गई ज़मीन या गांव की सीमाएं प्रायः बड़ी सावधानी से तय की जाती थीं। गांव के अंदर भी सभी किस्म की ज़मीन जैसे – नम, सूखी और बाग आदि का विवरण भी दिया जाता था। कभी-कभी विशेष फसलों और पेड़ों का उल्लेख भी होता था। भू-दान का मतलब भूमि अधिकार के हस्तांतरण से ज़्यादा होता था जैसे कई मामलों में गांव के राजस्व और आर्थिक संसाधनों के साथ-साथ मानव संसाधन जैसे – किसान, कारीगर और दूसरे लोगों को भी दान पाने वाले के नाम हस्तांतरित कर दिया जाता था। ऐसे भी प्रमाण मिले हैं जिसमें गांव के लोगों की सामुदायिक ज़मीन या तालाब और झील पर अतिक्रमण कर लिया जाता था। इस तरह ब्राह्मण लोग इन बस्तियों में कृषि उत्पादन के प्रबन्धक हो गए और इसके लिए इन्होंने अपनी सभायें संगठित कर लीं।

गैर-धार्मिक अनुदान

सातवीं सदी के उपरांत राजकीय अधिकारियों को भी भूमि दान के रूप में वेतन दिया जाने लगा। इसका विशेष महत्व है क्योंकि इससे एक दूसरे ज़मींदार वर्ग का उदय हुआ जो ब्राह्मण नहीं थे। प्रशासनिक अधिकारियों को ज़मीन दान देने का उल्लेख काफ़ी प्रारंभ से 200 सी.ई. (मनु के समय में) मिलता है। लेकिन इसका ज़्यादा प्रचलन गुप्त काल के बाद हुआ। मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात, बिहार और बंगाल के साहित्यिक ग्रंथों से पता चलता है कि मंत्री, रिश्तेदार और वे लोग जो रक्षा सेवाओं में संलग्न थे उन्हें दसवीं से बारहवीं सदी में कई तरह के अनुदान दिए गए। पाल भूमि घोषणापत्रों में उल्लेखित राजा, राजपुत्र, राणक और महासामंत आदि लोग मुख्यतः ज़मीन से जुड़े जागीरदार थे। एक क्षेत्र के अधिकारियों को मिले अनुदान अलग-अलग होते थे। उदाहरण के तौर पर, हम आधा दर्जन परमार अधिकारियों के बारे में सुनते हैं परन्तु उनमें से कुछ को ही ज़मीन अनुदान के रूप में मिली थी। गुजरात के चालुक्यों के अधीन ऊंचे अधिकारियों और सामंतों को बहुत बड़े भू-क्षेत्र अनुदान के रूप में दिए गए। प्राप्त प्रमाण यह बताते हैं कि असम, बंगाल और बिहार में कुल मिलाकर जो अनुदान दिए गए, उनसे अधिक सिर्फ उडीशा में दिये गये। इसके अलावा, अधिकारियों को विशेषाधिकार मिले जिनके अंतर्गत वे विशेष वसूली प्राप्त कर सकते थे। इनकी अवधि तय नहीं थी परन्तु ये निश्चित रूप से ऐसे बिचौलिए पैदा करते थे जिनकी पट्टेदारों की ज़मीन में रुचि होती थी।

देवदान

अभिलेखों से यह विशेष प्रमाण मिलता है कि ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण धार्मिक प्रतिष्ठानों को उपहार मिलते थे। ये स्थान कृषि बस्तियों के लिए केन्द्र-बिन्दु का काम करते थे और संस्कृति-संक्रमण के जरिए किसान बस्तियों और जनजातीय बस्तियों को एकीकृत करते थे। मंदिर की ज़मीन पट्टे पर पट्टेदारों को दी जाती थी जो उपज का एक बड़ा हिस्सा मंदिरों को देते थे। ऐसी ज़मीन *अग्रहार* व्यवस्था के *ब्रह्मदेय* या महाजनों की सभा द्वारा संचालित की जाती थी। गैर-ब्राह्मण बस्तियों में भी मंदिर मुख्य संस्थान बन गए। मंदिर की ज़मीनें गैर-ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई मंदिर कार्यकारिणी समिति से संचालित होती थी जैसे तमिलनाडु के वेलल्ला और कर्नाटक व आंध्र के ओक्कलू, कंपुलु आदि। जाति संघ मंदिर के इर्द-गिर्द काम करता था जिसमें विभिन्न वर्गों को जाति और कर्मकाण्डीय स्तर दे दिया गया था। इस प्रक्रिया में वे लोग जिन्हें अशुद्ध और निम्न पेशे वाला समझा जाता था वे अछूत समझे जाने लगे। उन्हें मंदिर में नहीं आने दिया जाता था और उन्हें बस्ती के बाहर रहने को जगह दी जाती थी।

मंदिर की ज़मीन की देखरेख ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण भू-पति अभिजात्य वर्ग करते थे। स्थानीय इकाइयाँ जिनमें भूमिपति अभिजात्य वर्गों का वर्चस्व था, सिंचाई के साधनों को नियंत्रित करती थीं। इस तरह ब्राह्मण, मंदिर, गैर-ब्राह्मण, ज़मींदार, नौकरी प्रदान करने वाले तथा भूमि पर विशेषाधिकार रखने वाले वर्ग प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि व्यवस्था में प्रमुख स्थान रखते थे।

नए भूमिपति अभिजात्यों के अंतर्गत परिवारों के प्रधान और स्थानीय किसानों के प्रमुख, जिन्हें कानूनी अधिकार अर्थात भूमि की देखरेख करने और उस पर स्वामित्व का अधिकार था, आते थे। दूसरे शब्दों में, राजा और वास्तविक उत्पादक के बीच में बिचौलियों का वर्ग उभरकर आ गया।

भूमि-अनुदानों का एक महत्वपूर्ण पहलू अनुदान पाने वाले को दिए गए अधिकार हैं। दिए जाने वाले अधिकारों में वित्तीय और प्रशासनिक अधिकार भी हैं। करों में भूमि-कर जो राजस्व का एक बड़ा हिस्सा था और जिसे राजा या सरकार को दिया जाता था, अब ज़मीन प्राप्त करने वालों को सौंप दिया गया। ऐसे परिहार (छूट) जिनका संदर्भ ताम्रपत्रों और शिलालेखों में मिलता है जिसमें छूट की बात दर्ज की गयी है और जो वास्तव में राजा को देय होती थी, उसमें अदायगी पाने का अधिकार ज़मीन पाने वालों को हस्तांतरित कर दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह *धर्मशास्त्रों* के आधार पर किया गया जो भूमि पर राजा के अधिकार को स्थापित करना चाहते थे और ऐसे अनुदानों को उचित ठहराते थे जिससे बिचौलियों का उदय हुअ।

हालांकि इस बात के प्रमाण मिले हैं कि प्रारंभिक बस्तियों में भूमि अधिकार का आधार सामूहिक भी होता था लेकिन निजी स्वामित्व या अधिकार का इस बात से पता चलता है कि ज़मीन पाने वालों को ज़मीन दे देने या हस्तांतरित करने का अधिकार था। उन्हें इन बस्तियों में दूसरे वंशानुगत लाभ भी मिलते थे। भूमि उपहार अक्सर ज़मीन खरीदने के बाद दिए जाते थे। संभवतः, धार्मिक और गैर-धार्मिक दोनों प्रकार के वंशानुगत स्वामित्व का विकास ऐसे अनुदानों से हुआ।

10.4 ग्रामीण तनाव

कृषि विस्तार के बावजूद ग्रामीण परिदृश्य समरूप नहीं था। किसान वर्ग श्रेणीबद्ध था। पुराने समय और पूर्व-काल के गहपति के विपरीत अब विभिन्न श्रेणी के अधिकारी ज़मीन से जुड़े थे जैसे – *क्षेत्रिक, कृषक, हलिन* और *अधिक*। इन नामों में भू-स्वामित्व का कोई संकेत नहीं मिलता है जिससे लगता है कि ये विभिन्न श्रेणी के कृषकों की चर्चा कर रहे हैं। *ब्रह्मदेय* का गैर-*ब्रह्मदेय* में परिवर्तन या गैर-*ब्रह्मदेय* का *अग्रहार* में परिवर्तन ग्रामीण क्षेत्रों में तनाव का संभावित कारण था। कश्मीर में डमर (Damara) विद्रोह, बंगाल में रामपाल के समय में कैवर्तों का विद्रोह, तमिलनाडु में ज़मीन अतिक्रमण की स्थिति में आत्मदाह, पांड्य क्षेत्र में शूद्रों द्वारा दान की गई ज़मीन पर कब्ज़ा, बिचौलियों के प्रति अविश्वास का संकेत देते हैं। यह तथ्य कि दान देने वाले प्रायः ऐसी ज़मीन की तलाश करते थे जहां पर खेती विवादास्पद नहीं हो, उथल-पुथल के संकेत देता है। *अग्रहार*-अनुदानों के आस-पास पाए गए *वीरगलों* (hero-stones) से भी कृषि बस्तियों में हो रही अन्दरूनी उथल-पुथल पर हम प्रकाश डाल सकते हैं।

10.5 कृषि और विनिमय व्यवस्था

कभी-कभी ऐसा माना जाता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन आर्थिक संगठन, जो कि मुख्य तौर पर कृषि पर आधारित और आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी, में उत्पादन का मुख्य

उद्देश्य जीविकोपार्जन था और यह बाज़ार के नियमों पर आधारित या उनसे जुड़ी हुई नहीं थी। इसलिए आर्थिक विकास की बहुत कम सम्भावना थी। कारीगर और दस्तकार गांवों से, अनुदान भूमि से या धार्मिक प्रतिष्ठानों से जुड़े रहते थे। व्यापारियों और बिचौलियों की विशेष भूमिका नहीं थी। वे सिर्फ गांव के लोगों को लोहे के औजार, तेल, मसाले, कपड़ा आदि की आपूर्ति करते थे। दूसरे शब्दों में, बाज़ार व्यवस्था का बहुत सीमित कार्य था।

उपर्युक्त तस्वीर 300 से 800 सी.ई. के लिए काफ़ी सही है। हालांकि बाद के 500 सालों में कृषि बस्तियों में काफ़ी तेजी से वृद्धि हुई और स्थानीय वितरण के लिए स्थानीय बाज़ारों का विकास हुआ। बाद में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में नियमित वितरण के कारण संगठित वाणिज्य का उदय हुआ। इससे व्यापारी संघों के भ्रमणशील व्यापार और नौवीं सदी से आंशिक मुद्राकरण का विकास हुआ। यद्यपि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में इन विशेषताओं में सापेक्ष अंतर था। लेकिन नई अर्थव्यवस्था में कृषि की बढ़ती भूमिका आसानी से नज़र आती थी।

कृषि उत्पादों का विनिमय उन वस्तुओं से होने लगा जिनको भ्रमणशील व्यापारी काफ़ी दूर से लेकर आते थे। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के अंत में भू-स्वामित्व के प्रतिरूप में परिवर्तन आया। व्यापारी और आर्थिक रूप से धनी कारीगर, जैसे बुनकर, ज़मीन में पैसे लगाने लगे अर्थात ज़मीन खरीदने लगे और ज़मीन दान देने लगे। उदाहरण के तौर पर, दक्षिण कर्नाटक में जगति-कोटल्लि वर्ग (बुनकरों का समुदाय) और तेल्लिगा (तेलियों का समुदाय) खेती में सक्रिय भागीदार थे। जगति-कोटल्लि की चर्चा बार-बार तालाब खुदवाने या बाग लगवाने के संदर्भ में की जाती है।

10.6 प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि अर्थव्यवस्था का चित्रांकन

प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के बारे में कई मत सामने आए हैं। एक तरफ इसे सामंती अर्थव्यवस्था की उपज बताया जाता है तो दूसरी ओर इसे किसान-राज्य और समाज बताया जाता है।

भारतीय सामन्तवाद की मुख्य विशेशताएं हैं :

1) पदानुक्रम पर आधारित भू-पति बिचौलियों का उदय। सामन्तों, राजकीय अधिकारियों और गैर-आर्थिक आधार पर भूमि प्राप्त करने वालों को सैनिक कार्य करने पड़ते थे और उन्हें सामंती उपाधि मिलती थी। अनुदान पाने वालों को अपनी भूमि पर खेती करवाने के लिए उसे कई प्रकार के लोगों को देना पड़ा (विभिन्न क्षेत्रों में यह प्रक्रिया भिन्न थी) जिससे विभिन्न वर्ग के बिचौलियों का उदय हुआ। इनमें कुलीन भूमिपति, पट्टेदार, जोतदार और कृषक थे। यह पदानुक्रम प्रशासनिक ढाँचे में नज़र आता था, जहाँ ज़मींदार-जागीरदार संबंधों का उदय हुआ। दूसरे शब्दों में, भारतीय सामंतवाद में ज़मीन का और उसकी उपज का असमान वितरण था।

2) दूसरा महत्वपूर्ण पहलू जबरन मजदूरी का प्रचलन था। ब्राह्मण और ज़मीन का दान पाने वाले अन्य लोग जबरन मजदूरी (*विष्टी*) लेने के अधिकार का दावा करते थे। मूलतः जबरन मजदूरी करवाना, राजा या राज्य का विशेशाधिकार था। अब इसे ज़मीन पाने वाले छोटे अधिकारियों, गांव-अधिकारियों और दूसरे लाभार्थियों को हस्तांतरित किया गया। सिर्फ चोल अभिलेखों में ही जबरन मजदूरी के 100 से ज़्यादा संदर्भ मिलते हैं। यहां तक कि किसान और कारीगर भी विष्टी के अंतर्गत आते थे। इसके परिणामस्वरूप, कृषि दास प्रथा का उदय हुआ जिसमें खेत मजदूर अर्द्ध-दास हो गए।

3) शासकों और बिचौलियों के द्वारा ज़मीन पर अधिकार की बढ़ती मांग के कारण किसानों का भूमि पर अधिकार कम हो गया। कईयों की स्थिति पट्टेदारों की सी

हो गई जिन्हें हटाए जाने का खतरा बना रहता था। कई किसान अर्धिक (जोतदार) हो गए। करों के बोझ, जबरन दबाव और कर्ज़ के कारण किसानों पर दबाव बढ़ता गया।

4) कई तरीकों से अधिशेष (उत्पादन का अतिरिक्त भाग) वसूला जाता था। अतिरिक्त आर्थिक दबाव एक विशिष्ट विधि थी। नए संपत्ति-संबंधों के उदय से नए आर्थिक दमन की शुरूआत हुई। राजराज चोल के अभिलेख में लगभग 50 प्रकार के करों और राज्य की मांगों से बढ़ते हुए दबाव का पता चलता है।

5) यह अपेक्षाकृत एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था थी। भूमि-अनुदान पाने वाले को ज़मीन के साथ मानव संसाधनों का हस्तांरण यह दर्शाता है कि ऐसे गांवों में किसान, हस्तकार और कारीगर गांवों से जुड़े थे और एक दूसरे पर निर्भर थे। ज़मीन से उनका जुड़ाव अनुदान पाने वालों का उन पर नियंत्रण बनाए रखता था।

संक्षेप में, 500 सालों के सर्वेक्षण में अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर गांवों में वर्ण-व्यवस्था के अन्दर काम करने वाले किसान उस समय की कृषि आधारित अर्थव्यवस्था की खास विशेषता हैं।

10.7 व्यापार और वाणिज्य

मुद्रा के उपयोग का स्वरूप और सीमा, बाज़ार की कार्य प्रणाली, कृषि उत्पादन की भूमिका और शहरी बस्तियों के विभिन्न चरण, सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इनमें से कोई भी भूमि-अनुदान की व्यवस्था से अलग नहीं है और इन्हें 800-1300 की सदियों में पूरे भारत की विशेषता बताया गया है। ऐसा कहा जा सकता है कि इस काल में व्यापार और वाणिज्य का भी ''सामंतीकरण'' हो गया था।

माल इकट्ठा करने, इसके वितरण और विनिमय को व्यापार कहते है। यह एक प्रक्रिया है जो बहुत कारकों पर निर्भर करती है, जैसे उत्पादन का स्वरूप और मात्रा, यातायात की सुविधा, व्यापारियों की सुरक्षा, विनिमय के प्रतिरूप आदि। इसमें व्यापारियों, सौदागरों, किसानों और शिल्पकारों के अलावा समाज के अन्य हिस्से भी शामिल रहते हैं। अरोक्ष रूप में इसमें राजनीतिक अधिकारियों की भी रूचि रहती है क्योंकि माल पर लगाया गया कर राज्य के राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्रोत होता है।

700-1000 सी.ई. के काल में यह पाया गया है कि भूमि-अनुदान सिर्फ पुजारियों और मंदिरों को ही नहीं बल्कि योद्धाओं और राजकीय अधिकारियों को दिया गया। हम पहले पढ़ चुके हैं कि इससे विभिन्न श्रेणियों के ज़मींदारों का उदय हुआ। यहां तक कि बड़े राजकीय अधिकारी जैसे महा-मण्डलेश्वर, मंडलिक, सामंत, महासामंत, ठाक्कुर आदि भी भूमि से सम्बन्धित गतिविधियों में रुचि लेने लगे, हालांकि वे वास्तविक खेत जोतने वालों से अलग थे क्योंकि वे किसानों से हासिल किए गए अधिशेष पर निर्भर थे। इस प्रकार किसानों के पास व्यापार के लिए कुछ भी नहीं रह जाता था। इससे एक ऐसी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जिसमें वास्तविक उत्पादकों की गतिशीलता पर प्रतिबंध लगा कर स्थानीय ज़रूरतों को स्थानीय रूप से पूरा किया जाता था। विनिमय के माध्यम, जैसे धातु के सिक्कों, की सापेक्षिक कमी ने इस प्रवृत्ति को और मज़बूत बनाया।

10.7.1 विनिमय के माध्यम

700 से 1000 सी.ई. तक भारत में कई महत्वपूर्ण राजवंशों ने राज किया। इनमें पश्चिम भारत में गुर्जर-प्रतिहार, पूर्वी भारत में पाल और दक्कन में राष्ट्रकूट थे। उस समय के कुछ शक्तिशाली राजा, जिन्होंने लंबे समय तक शासन किया, इन राजवंशों के थे। बड़े आश्चर्य की बात है कि उस समय के बहुत कम सिक्के उपलब्ध हैं और उनकी तुलना पहले की

सदियों के सिक्कों की मात्रा या स्तर से नहीं की जा सकती। क्योंकि माल की खरीद या बिक्री में मुद्रा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है इसलिए पुरातात्विक खोजों में सिक्कों की कमी तथा सिक्कों को ढालने के सांचों की अनुपलब्धता से यह पता चलता है कि उस काल में व्यापार काफ़ी कम हो गया था।

हालांकि सबसे पहले डी. डी. कोसाम्बी ने इस पहलू की चर्चा की थी लेकिन 1965 में प्रो. आर. एस. शर्मा के ''भारतीय सामंतवाद'' के प्रकाशन के बाद ही गुप्त काल के बाद के कालों में सिक्कों की कमी और व्यापार तथा वाणिज्य से इसके संबंध और इसके परिणामस्वरूप सामंती समाज व्यवस्था के उद्भव की बात सामने आयी। पिछले 25 सालों में इस पर काफ़ी बहस हुई है। अब तक चार मत सामने आए हैं :

i) एक में उपर्युक्त दिए गए पहलू का समर्थन किया गया है।

ii) उडीशा पर किया गया एक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि 600 से 1200 सी.ई. तक सिक्कों का चलन बिल्कुल नहीं था लेकिन यह अध्ययन दक्षिण-पूर्वी एशिया से व्यापार की चर्चा करता है और विदेशी व्यापार में वस्तु-विनिमय पर ज़ोर देता है।

iii) दूसरी ओर, कश्मीर में 800 सी.ई. से ही तांबे के सिक्कों का प्रचलन हो गया था, सिक्कों के निम्न स्तर को कश्मीर घाटी में व्यापार के पतन पर आधारित अर्थव्यवस्था और कृषि पर आधारित गतिविधियों की पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है।

iv) अंत में, एक मत सिक्कों की कमी और व्यापार के ह्रास के बीच संबंध पर आपत्ति प्रकट करता है। यह 700 से 1200 सी.ई. के बीच मध्यपूर्व भारत, जिसमें बिहार, पश्चिमी बंगाल और वर्तमान बंगलादेश आते हैं, से मिले प्रमाणों पर आधारित है। यह बात मानी जाती है कि उस समय सिक्के उपयोग में नहीं लाये जाते थे और पाल और सेन राज्यों में सिक्के नहीं ढाले जाते थे। यह भी कहा जाता है कि विनिमय के माध्यमों की कोई कमी नहीं थी। उदाहरण के तौर पर यह बताया जाता है कि चांदी के सिक्के हरिकेल ही नहीं बल्कि कौड़ियाँ और सबसे महत्वपूर्ण चूर्णी (सोना, चांदी का बूरा) भी विनिमय के माध्यम थे।

कुछ क्षेत्रों में अपवाद हो सकते हैं लेकिन पूरे भारत के परिप्रेक्ष्य में प्रो. शर्मा की परिकल्पना सही साबित होती है। क्षेत्रीय अपवादों के संदर्भ में निम्नलिखित सवालों पर ध्यान देना ज़रूरी है :

- इन वाणिज्यिक गतिविधियों का स्वरूप और सीमा क्या थी?
- क्या ये गतिविधियां एक स्थाई वाणिज्यिक वर्ग को जन्म देने में सक्षम थीं?
- इस व्यापार से किस को लाभ पहुंचता था?
- क्या इस तथाकथित बढ़ते व्यापार से मेहनकश जनता और एक स्थान पर बसे किसानों को कोई फायदा था?

इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है :

- मध्य-पूर्वी भारत में संबंधित स्रोत, जिन्हें उस क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य में उद्धत किया गया है, वहां के मूल निवासियों की समुद्री व्यापार में भागीदारी के बारे में कुछ नहीं बताते हैं।
- यहां तक कि सीमित व्यापार गतिविधियां भी विशिष्ट शासक वर्ग के ही हाथ में थीं।
- आम व्यक्ति की दयनीय हालत ''वंगली/वंगाली'' शब्द (बंगाल का निवासी) से प्रकट होती है। यह शब्द गरीबी और दयनीय स्थिति को दर्शाता है।

इस तरह जो लोग भारत के दक्षिण-पूर्व एशिया से व्यापार की बात करते हैं उन्हें उस क्षेत्र की धातु मुद्रा की स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए। उदाहरण के लिए, कम्बोडिया पर किए गए एक विस्तृत अध्ययन से पता लगता है कि गुप्त काल के बाद की दो सदियों 600-800 सी.ई. में दक्षिण-पूर्व एशिया में मुद्रा की कोई व्यवस्था विकसित नहीं हो सकी थी और वस्तु-विनिमय (मुख्यतः धान और अंशतः कपड़े पर आधारित) ही खमेर अर्थव्यवस्था का आधार था। प्रारंभिक मध्ययुगीन सिक्कों, जैसे इंडो-ससानियन, श्री विग्रह, श्री आदिवराह, बुल और हौर्समैन (Bull and Horsman), गधइया आदि का प्रयोग पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में और कुछ हद तक गंगा की घाटी में शुरू हो चुका था, परन्तु कुल मिलाकर समूची अर्थव्यवस्था पर ये कोई खास प्रभाव नहीं डाल सके। सिक्कों के प्रचलन के काल के बारे में अभी भी संदेह है। उनका अत्यंत निम्न स्तर और उनकी कुछ भी खरीदने की घटती हुई क्षमता उनकी वास्तविक भूमिका के ह्रास को इंगित करती है। इसके अलावा, बढ़ती हुई आबादी और बस्तियों के विस्तार के संदर्भ में मुद्रा चलन की मात्रा नगण्य थी। इस तरह हम कह सकते हैं कि पहले चरण में धातु मुद्रा में सापेक्ष कमी आनुभविक प्रमाणों पर आधारित है। इसका भारत की व्यापार गतिविधियों पर प्रभाव पड़ना निश्चित था।

10.7.2 व्यापार की सापेक्ष गिरावट

आंतरिक तौर पर राजनीतिक शक्ति का बिखराव और स्थानीय प्रधानों और धार्मिक अनुदान पाने वालों आदि के हाथ में शक्ति आ जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभिक सदियों में भूमि-अनुदान पर आधारित अर्थव्यवस्था पर विपरीत असर पड़ा। बहुत से बिचौलिए ज़मींदार, विशेषकर कम उपजाऊ क्षेत्रों में रहने वाले, लूटपाट करने लगे या अपने क्षेत्र से गुजरने वाले माल पर अत्यधिक कर लगाने लगे। इससे व्यापारियों और सौदागरों के व्यवसाय में बाधा पड़ी। संभावी शासक प्रधानों के बीच आपसी लड़ाई ने भी व्यापारियों को हतोत्साहित किया। हालांकि आठवीं सदी के दो जैन ग्रंथ (हरिभद्र सूरि का *समराइच्चकहा* (Samaraichchakaha) और उद्योतन सूरि का *कुवलयमाला* (Kuvalayamala) बढ़ते हुए व्यापार और चहल-पहल वाले शहरों की चर्चा करते हैं लेकिन यह तर्क सही है कि ये ग्रंथ ज़्यादातर सामग्री पहली की सदियों के स्रोतों से लेते हैं इसलिए यह ज़रूरी नहीं है कि ये आठवीं सदी की सही आर्थिक स्थिति को दर्शाते हैं।

पश्चिम के साथ विदेशी व्यापार के ह्रास के बारे में यह बताया जाता है कि चौथी सदी में महान रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इसमें गिरावट आयी। छठी सदी के मध्य में भी इस पर विपरीत प्रभाव पड़ा जब बाइज़नटाइन (पूर्वी रोमन साम्राज्य) के लोगों ने रेशम बनाने की कला को सीखा। इस तरह भारत ने एक महत्वपूर्ण बाज़ार खो दिया जिससे सामान्य युग की प्रारंभिक सदियों में भारत को बड़ी मात्रा में सोना प्राप्त हुआ था।

विदेशी व्यापार का पतन सातवीं और आठवीं सदी में भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर अरबों के विस्तार के कारण भी हुआ। इस क्षेत्र में उनकी मौजूदगी से भारतीय व्यापारियों के लिए स्थल मार्ग असुरक्षित हो गए। *कथासरितसागर* में एक कहानी हमें बताती है कि उज्जैन से पेशावर जा रहे सौदागरों के एक समूह को एक अरब ने पकड़ कर बेच दिया। बाद में जब वे किसी तरह मुक्त हुए तो उन्होंने सदैव के लिए उत्तर-पश्चिमी इलाके को छोड़ने का फैसला कर लिया और व्यापार के लिए दक्षिण को लौट गये। तिब्बतियों और चीनियों के बीच इन सदियों में हुई लड़ाइयों ने भी मध्य एशिया के मार्गों पर माल लाने-ले जाने की गतिविधियों को प्रभावित किया। भारत के पश्चिमी तटों में भी समुद्री व्यापार अरबों द्वारा सातवीं सदी में भरौच और थाना (Thana) पर हमलों और वल्लभी जो आठवीं सदी में सौराश्ट्र तट का एक महत्वपूर्ण बंदरगाह था, के विनाश के कारण अस्तव्यस्त हुआ। हालांकि बाद में दसवीं सदी के बाद अरबों ने भारतीय समुद्री व्यापार के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किंतु प्रारंभ में उनके समुद्री हमलों का भारतीय वाणिज्यिक

गतिविधियों पर विपरीत प्रभाव पड़ा था। समकालीन साहित्य में भारत के दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के साथ सम्पर्क का उल्लेख है लेकिन यह संदेहास्पद है कि क्या यह पश्चिम के साथ व्यापार के ह्रास की पूर्ति कर पाया।

10.7.3 शहरी बस्तियाँ : ह्रास

पहला चरण बहुत से शहरों के ह्रास और उजड़ने का चरण है। यह वाणिज्य में ह्रास का लक्षण है क्योंकि शहर मुख्यतः उन लोगों की बस्तियां हैं जो शिल्प कला और वाणिज्य में संलग्न होते हैं। व्यापार में ह्रास और शिल्प की वस्तुओं की मांग में कमी आई। शहरों में रहने वाले व्यापारियों और दस्तकारों को जीविका के वैकल्पिक साधन ढूंढने के लिए देहाती इलाकों में जाना पड़ा। इस प्रकार कस्बों का पतन हुआ और शहरी लोग ग्रामीण अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन गए। ह्वेन त्सांग के उल्लेखों के अलावा पौराणिक अभिलेख भी काली युग का उल्लेख करते हुए महत्वपूर्ण शहरों की घटती आबादी की ओर संकेत करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वराहमिहिर (पांचवी सदी) द्वारा इंगित प्रवृत्ति कायम रही। वैशाली, पाटलिपुत्र, वाराणसी आदि जैसे महत्वपूर्ण शहरों का ह्रास पुरातात्विक खुदाई से स्पष्ट है। खुदाई ढांचों और प्राचीन वस्तुओं के निम्न स्तर को प्रकट करती है। तीसरी और आठवीं सदी के बीच का अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य शहरी केन्द्रों के उजड़ने और उनके ह्रास की स्थिति को दर्शाता है। यहां तक कि जो बस्तियाँ आठवीं सदी तक भी रहीं वे बाद में उजड़ गई। हम रोपड़ (पंजाब), अतंरजीखेड़ा और भीटा (उत्तर प्रदेश) की चर्चा कर सकते हैं। मध्य प्रदेश में प्रभास पाटन (गुजरात), महेश्वर, पौनार/पउनार/पवनार (महाराष्ट्र) और कुडावेल्लि (Kudavelli) (आंध्र प्रदेश) शहरी बस्तियों की इस श्रेणी में आते हैं। कन्नौज (उत्तर प्रदेश के फ़र्रूख़ाबाद जिले में) की मध्ययुगीन महत्ता का, जिस पर अधिकार पाने के लिए पालों, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के बीच कई लड़ाइयां लड़ी गयीं, खुदाई के द्वारा प्रमाणित होना बाकी है।

मध्ययुगीन काल के पहले चरण में हालांकि वाणिज्यिक गतिविधियों का ह्रास हुआ था परन्तु यह पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई। दरअसल राजाओं, सामंतों, मंदिर और बौद्ध विहारों के महन्तों के लिए निर्मित कीमती और विलासिता वाली वस्तुओं का व्यापार जारी रहा। बहुमूल्य और अर्ध-मूल्यवान पत्थरों, हाथी दांत, घोड़े इत्यादि वस्तुएं लम्बी दूरी के व्यापार का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थीं। इस काल के स्रोतों में दैनिक इस्तेमाल की वस्तुओं के आदान-प्रदान के बहुत कम प्रमाण मिले हैं। अभिलेखों में उल्लेखित महत्वपूर्ण वस्तुओं में सिर्फ नमक और तेल शामिल हैं जिनका उत्पादन प्रत्येक गांव में नहीं होता था। इसलिए इन्हें बाहर से मंगाना पड़ता था। यदि अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर नहीं होती तो अनाज, चीनी, कपड़ा, हस्तकला की वस्तुओं इत्यादि में व्यापार का उल्लेख अधिक मिलता। संक्षेप में, 750 से 1000 सी.ई. के बीच की वाणिज्यिक गतिविधियों की प्रकृति ऐसी थी कि बिचौलिये भू-स्वामियों और सामंतों की ज़रूरतों की पूर्ति करती थी न कि आम जनता की। हालांकि पिहोवा (हरियाणा के करनाल के पास) और आहार (उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर के पास) जैसे व्यापार और वाणिज्य के कुछ केन्द्र थे जहां दूर-दूर से व्यापारी व्यापार करने के लिए आते थे। परन्तु वे पूरे देश की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल पाए।

बोध प्रश्न 1

1) भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएं क्या थीं जो प्रारम्भिक मध्यकाल में सामने आईं?

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही या गलत है? (✓) या (×) का निशान लगाएं।

(क) आर. एस. शर्मा के अनुसार गुप्तोत्तर काल में सिक्का प्रणाली में गिरावट आई।

(ख) 600-1200 सी.ई. के बीच उडीशा में सिक्कों के प्रचलन की बहुतायत थी।

(ग) कश्मीर (लगभग 8वीं शताब्दी) के ताम्र सिक्कों की खराब गुणवत्ता को व्यापार में गिरावट के रूप में देखा जा सकता है।

(घ) 8वीं-12वीं शताब्दियों के दौरान ढले हुए सिक्कों के अलावा विनिमय का कोई माध्यम नहीं था।

10.8 भारतीय सामंतवाद

भारतीय प्रसंग में 'सामन्तवाद' का प्रथम आत्मसातीकरण कर्नल जेम्स टॉड के हाथों हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजस्थान के इतिहास के प्रसिद्ध संकलनकर्ता थे। अधिकांश तत्कालीन यूरोपीय इतिहासकारों की भांति टॉड ने भी सामन्तवाद को भूस्वामी-दास संबंधों के रूप में परिभाषित किया। मध्यकालीन यूरोप में भू-स्वामी ही अपने दासों की सुरक्षा और भरण-पोशण का ध्यान रखता था और बदले में वे भू-स्वामियों को सैन्य व अन्य सेवाएँ प्रदान करते थे। एक प्रकार निष्ठा की भावना भी दासों और भू-स्वामियों को अटूट बंधन में बाँधती थी। टॉड ने अपने समय के राजस्थान में यूरोपीय सामंतवाद की इस संस्था और स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रचलित पाया।

'सामन्तवाद' शब्द का प्रयोग भारत में इतिहास की पुस्तकों में यत्र-तत्र, प्रायः उससे जुड़े अस्पष्ट अर्थों के साथ, प्रयुक्त होता रहा। 1950 और 1960 के दशकों के मध्य लिखे गए भारतीय इतिहास लेखन पर बढ़ते मार्क्सवादी प्रभाव के साथ ही इस शब्द की भूस्वामी-दास संबंधों के साथ सम्बद्धता की विचारधारा में बदलाव आया और इसका प्रयोग एक आर्थिक अर्थ में, अर्थात इसे भारतीय वर्ग संरचना के विकास के संदर्भ में, वर्णित किया गया।

डी. डी. कोसाम्बी ने सामाजिक-आर्थिक इतिहास के प्रसंग में सामन्तवाद को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने 1956 में अपनी प्रथम प्रकाशित उल्लेखनीय पुस्तक *एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री* में भारतीय इतिहास में सामन्तवाद के विकास को एक द्विमार्गी प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित किया : 'ऊर्ध्वगामी सामंतवाद' (Feudalism from above) और 'अधोगामी सामंतवाद' (Feudalism from below)। ऊर्ध्वगामी सामन्ती आधार राजकर्मचारियों और ब्राह्मणों को भूमि और अधिकार प्रदान कर राजकीय निर्णयों का परिणाम थे; वहीं अधोगामी सामंतवाद अनेक व्यक्तियों और लघु समूहों द्वारा सत्ता के ग्राम स्तरों से राजाओं के अधीन ज़मींदार और सामंत बनने का परिणाम था। कोसाम्बी ने अपनी विशेषता सूचक पद्धति में सामंतवाद की धारणा की किसी अनुभवजन्य विश्लेषण के बजाय एक सूत्र की शक्ल में निरूपित किया। यह महत्वपूर्ण कार्य प्रोफ़ेसर आर. एस. शर्मा द्वारा उनकी पुस्तक *इण्डिन फ़्यूडलिज्म,* 1964 में किया गया। परंतु आर. एस. शर्मा ने सामन्तवाद संबंधी 'अधोगामी' और 'ऊर्ध्वगामी' वाला कोसाम्बियाई सूत्र नहीं अपनाया; अपितु उन्होंने भारतीय इतिहास में सामंतवाद के उदय को पूरी तरह से राजकीय कार्रवाई के परिणाम के रूप में देखा, अर्थात् ऊपर से।

शर्मा ने 1920-30 के दशकों के बेल्जियम के इतिहासकार हैनरी पिरेन (Henry Pireme) द्वारा विस्तार से निरूपित यूरोप में सामन्तवाद के उत्थान और पतन संबंधी प्रतिमान

का अनुसरण किया। पिरेन ने यूरोपीय सामन्तवाद के प्रबल स्थायी रूप-भूस्वामी-दास संबंधों को विस्थापित किया और उसके स्थान पर उस सिद्धांत को लाए जिसके समाज हेतु काफ़ी व्यापक और गहरे परिणाम थे। उन्होंने प्रतिपादित किया कि 'भव्य व्यापार', अर्थात भूमध्यसागर पार यूरोप में लंबी दूरी के व्यापार ने यूरोपीय अर्थव्यवस्था, समाज और सभ्यता को पुरातनता में तब तक फलने-फूलने दिया जब तक सातवीं शताब्दी में यूरोप में अरबों के हमलों से उसका विघटन नहीं हो गया। व्यापार-विघटन ने अर्थव्यवस्था के 'ग्रामीणीकरण' की ओर प्रवृत्त किया, जिसने उसे बर्हिमुर्खी के बजाय अन्तर्मुखी बना दिया। और यह, जैसा कि पिरेन ने उसे नाम दिया, 'एकाकी भू-सम्पदा अर्थव्यवस्था' में भी परिणत हो गई। एकाकी भूमि-सम्पदा का अर्थ था भूमि की वह इकाई जो सम्पदा स्वरूप भू-स्वामी के पास होती थी (औसतन 10,000 एकड़) और जिसे किसान द्वारा जोता जाता था, जहाँ व्यापार नाममात्र का होता था और जहाँ लगभग हर वह चीज़ जिसकी लोगों को आवश्यकता होती थी वहीं पैदा होती थी। ये भू-सम्पदाएँ, दूसरे शब्दों में, आर्थिक रूप से 'आत्म-निर्भर' इकाइयाँ थीं। यह तस्वीर ग्यारहवीं शताब्दी से फिर बदल गई जब धर्म-युद्धों (Crusades) द्वारा अरबों को वापस निकट-पूर्व की ओर खदेड़ दिया गया; इससे व्यापार का विकास एवं शहरों का पुनरूत्थान हुआ तथा इसने सामन्तवाद को पतन की ओर प्रवृत्त किया। पिरेन ने इस प्रकार एक ओर व्यापार और शहरीकरण तथा दूसरी ओर सामन्तवाद के बीच एक असंगत विरोधाभास को माना।

आर. एस. शर्मा ने भारतीय ऐतिहासिक भूदृष्य के संदर्भ में लगभग हर विस्तार से पिरेन के इस प्रतिमान का अनुकरण किया, यहाँ तक कि उन्होंने उसकी शब्दावली को भी काफ़ी हद तक ज्यों का त्यों अपनाया। उन्होंने गुप्तकाल के पतन के पश्चात विश्व के विभिन्न भागों के साथ भारत के लंबी दूरी के व्यापार के पतन की चर्चा की; परिणामस्वरूप शहरीकरण पर भी दुष्प्रभाव पड़ा जो अर्थव्यवस्था के ग्राम्यीकरण में परिणित हुआ। इस प्रकार एक ऐसा परिदृश्य उभरा जिसमें आर्थिक संसाधन दुलर्भ नहीं थे बल्कि मुद्रा की दुर्लभता थी। चूंकि सिक्के उपलब्ध नहीं थे, राज्य ने अपने पदाधिकारियों और ब्राह्मणों जैसे अनुदान प्राप्तकर्ताओं को भुगतान में भूमि देना शुरू कर दिया। भूमि के साथ-साथ राज्य ने इस नए 'बिचौलियों' के वग्र को कृषकों पर अधिक से अधिक अधिकार भी दिए। मध्यस्थों के प्रति किसानों की बढ़ती अधीनता ने उन्हें दासों के स्तर पर ला दिया जो मध्यकालीन यूरोप में उनके प्रतिपक्षी थे। बिचौलियों को राज्य द्वारा अनुदान शर्मा के भारतीय सामंतवाद की व्याख्या में निर्णायक तत्व है। तदोपरांत, अपने लेखों में उन्होंने इस प्राधार पर अन्य प्रासाद भी खड़े किए, जैसे कायस्थों की जाति में संगठित होने के प्रयत्न में मुन्शियों की संख्या में वृद्धि, क्योंकि राज्य के अनुदानों को दर्ज किया जाना ज़रूरी था। बिचौलियों को भू-अनुदान देने की निर्णायक प्रक्रिया ग्यारहवीं शताब्दी तक चली जब व्यापार के पुनरुद्धार ने शहरीकरण की प्रक्रिया को फिर से चालू किया। इस पुनर्जागरण में सामन्तवाद का पतन निहित है, हालांकि शर्मा इस पहलू पर ज़्यादा विस्तार से नहीं जाते हैं। इस तस्वीर में एक तत्व जो खोया हुआ था वह था यूरोप के अरब आक्रमण संबंधी भारतीय प्रतिपक्ष; तथापि प्रोफेसर बी. एन. एस. यादव, भारतीय सामन्तवाद के एक अन्य लब्धप्रतिष्ठ पक्षधर, ने भारत के हूण आक्रमणों की ओर ध्यान खींचा जो भारत में सामन्तवाद के उदय के प्रारंभ के लगभग समकालीन हैं। यूरोप की दमनकारी सामन्ती व्यवस्था कृषक वर्ग के व्यापक विद्रोहों में परिणत हुई; भारत में आर. एस. शर्मा ने इस प्रकार के विद्रोहों के प्रमाण खोजने की कोशिश की परन्तु उन्हें केवल एक ही उदाहरण मिला – कैवर्तों का, जो अनिवार्यतः पूर्वी बंगाल में नाविक समुदाय थे परन्तु वे अंशकालीन खेती भी करते थे और जिन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी में विद्रोह किया था। 1965 में अपनी परिपूर्ण रूप में प्रतिपादित इस अभिधारणा का भारत में कालांतर विषयक इतिहास लेखन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। विद्वानों ने इस पक्ष को कुछ और अधिक तथ्यों के साथ समर्थन प्रदान किया, हालांकि व्यवहारतः किसी ने

भी सामन्तवाद संबंधी किसी भी अन्य पहलू का अन्वेशण नहीं किया, जैसे लंबे समय तक इसके सामाजिक अथवा सांस्कृतिक पहलू की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। बी. एन. एस. यादव और डी. एन. झा सामंतवादी विचारधारा के दृढ़ पक्षधर रहे। सामन्तवाद की विचारधारा ने दक्षिण भारतीय इतिहास लेखन में भी जगह पाई। एम. जी. एस. नाराणयन और नोबोरू करशिमा जैसे प्रमुख इतिहासकारों ने इसका पक्ष लिया। कुछ प्रमुख विद्वानों में इसकी आलोचना भी की; आलोचकों में सबसे प्रतिष्ठित थे डी. सी. सरकार। एक पूर्ण रूप से स्पष्ट वैचारिक विभाजन भी दिखाई देता था जिसने 1960 और 1970 के दशकों में भारत में इतिहास लेखन को प्रभावित किया : डी. डी. कोसाम्बी, आर. एस. शर्मा, बी. एन. एस. यादव और डी. एन. झा दृढ़प्रतिज्ञ मार्क्सवादी थे; डी. सी. सरकार मार्क्सवादी खेमे के दूसरी ओर खड़े थे। परंतु सामंतवाद की धारणा के प्रति न तो समर्थन और न ही विरोध ने 1970 के दशक के अंत तक आगे अन्वेषण हेतु इस धारणा के बुनियादी ताने-बाने को प्रकट किया। यह प्रारंभ मार्क्सवादी इतिहास लेखन के भीतर से हुआ। हम इस विषय पर थोड़ी देर में चर्चा करेंगे।

1946 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय, यूनाइटेड किंगडम के सबसे प्रसिद्ध मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों में एक मॉरिस डॉब (Maurice Dobb) ने अपनी पुस्तक प्रकाशित की – *स्टडीज़ इन द डेवलपमेंट ऑफ़ कैपिटल्ज़िम* – जिसमें उन्होंने सर्वप्रथम व्यापार और सामन्तवाद के बीच पिरेनवादी विरोधाभास पर गंभीर रूप से सवाल उठाये और ऐंगल्स की अन्तर्दृष्टियों का अनुसरण करते हुए इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा कि पूर्वी यूरोप में व्यापार के पुनर्जागरण ने 'द्वितीय कृषि-दास प्रथा (serfdom)' अर्थात सामंतवाद को जन्म दिया। उन्होंने इस प्रकार यह तर्क दिया कि पश्चिमी यूरोप में भी व्यापार के पुनर्जागरण की वजह से सामन्तवाद का पतन नहीं हुआ था बल्कि ऐसा गाँवों में भू-स्वामियों के अत्यधिक और बढ़ते शोषण के कारण कृषकों के शहरों की ओर पलायन के कारण हुआ। इस दृष्टिकोण ने मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों और इतिहासकारों के बीच 1950 के दशक के आरम्भ में एक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद को जन्म दिया। यह विवाद अब भी मुख्य रूप से इस प्रश्न तक ही सीमित है कि क्या सामन्तवाद और व्यापार परस्पर असंगत हैं? साथ ही, बौद्धिक भू-दृश्य के अन्य क्षेत्रों में, खासकर फ़्रांस में, जहाँ इतिहास लेखन की *एनाल्स* (Annales) विचारधारा एक वैकल्पिक दृष्टिकोण के रूप में विकसित हो रही थी, नए-नए प्रश्न रखने शुरू किए गए और समस्या के नए-नए आयामों पर अन्वेशण किया जाने लगा। इन प्रश्नों में से कुछ भारत भी चले आए।

10.8.1 भारत में क्या सामन्तवाद था?

1979 में इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस (Indian History Congress) के चालीसवें अधिवेशन के मध्यकालीन भारत खंड के अध्यक्षीय सम्बोधन का शीर्ष था 'वॉज़ देयर फ़्यूडलिज़्म इन इंडियन हिस्ट्री?'। इसके लेखक, हरबन्स मुखिया, एक दृढ़प्रतिज्ञ मार्क्सवादी इतिहास लेखक, ने मध्यकालीन भारतीय परिदृश्य की मध्यकालीन यूरोप से तुलना करते हुए सैद्धांतिक आधार पर और फिर तथ्यों के स्तर (empirical level) पर भारतीय सामन्तवाद की अवधारणा पर सवाल खड़े किए।

सैद्धांतिक प्रश्न इस मुद्दे से जुड़ा था कि क्या सामन्तवाद को पूरी तरह से एक सार्वभौम अवस्था के रूप में लिया जा सकता है। यदि लाभ-आधिक्यीकरण की प्रेरक शक्ति ने उत्पादन-वृद्धि और बाज़ार के विस्तार द्वारा पूंजीवाद की ओर तब तक प्रवृत्त किया जब तक उसने पूरी दुनिया को अपने प्रभाव क्षेत्र में नहीं ले लिया, जिसे हम आज प्रत्यक्षतः देख रहे हैं, और यदि यह उत्पादन की एकल प्रणाली के आधिपत्य के तहत किसी वैश्विक प्रणाली को स्थापित करने हेतु पूँजीवाद का एक लक्षण है तो तार्किक रूप से यह स्वयं को एक वैश्विक पैमाने पर विस्तारित करने, अर्थात एक वैश्विक प्रणाली में बदल जाने हेतु

किसी पूर्व पूँजीवादी व्यवस्था की पहुँच से परे ही होगा। क्योंकि पूर्व-पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ लाभ-आधिक्यीकरण से प्रेरित न होकर उपभोग की प्रवृत्ति से प्रेरित थीं। इससे उनके विस्तार की क्षमता स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर से ज़्यादा व्यापक नहीं थी। अतः सामन्तवाद केवल एक क्षेत्रीय व्यवस्था हो सकती थी न कि एक वैश्विक व्यवस्था। इस समस्या को सामंतवाद के विविध रूपों – यूरोपीय, चीनी, जापानी और भारतीय आदि – को तथ्य रूप में मान कर हल किया जाना मुश्किल है। हालांकि इतिहासकारों द्वारा इसका प्रयास अक्सर ही किया गया है। फिर, या तो सामन्तवाद की परिभाषा इतनी अस्पष्ट हो जाती है कि हरेक पूर्व पूंजीवादी व्यवस्था का पर्याय हो जाती है और इस प्रकार सामंतवाद को दूसरी व्यवस्थाओं से अलग करना मुश्किल हो जाता है, साथ ही इस प्रकार यह अनुपयोगी सिद्ध होती है। परन्तु यदि इसकी परिभाषा स्टीक है, जैसा कि उसे कारगर बने रहने के लिए होना चाहिए, तो ''भिन्नताएँ'' इतनी व्यापक हो जाती हैं कि वे इसे अनुपयोगी बना देती हैं। वस्तुतः एक ही भू-भाग के भीतर ही ये भिन्नताएँ इतनी अधिक हैं कि हाल के वर्षों में मध्यकालीन यूरोप के कुछ सर्वाधिक सम्मानित इतिहासकार, जैसे जॉर्ज ड्यूबी और जैक ली गॉफ़ (Jacques Le Goff), 'सामन्तवाद' शब्द के नितांत प्रयोग से ही बचते हैं; वे इतने संशयवादी हो गए हैं कि उन्हें सामंतवाद की लगभग हर परिभाषा पर शक है। 1979 के अध्यक्षीय भाषण में भारतीय सामंतवाद के प्रश्न का तथ्यपरक आधार मध्यकालीन पश्चिमी यूरोप और मध्यकालीन भारत के इतिहासों के बीच एक तुलना प्रस्तुत करता है, जिसका अनुशीलन तीन स्तरों पर किया गया है : पारिस्थितिकीय दशाएँ, मौजूदा प्रौद्योगिकी तथा उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों में कृषि में प्रयुक्त श्रमिकों का सामाजिक संगठन। इस हस्तक्षेप के कारण यह विवाद केवल सामंतवाद/व्यापार के विरोधाभास तक ही सीमित नहीं रहा, जिसे अपनी ही मातृभूमि में आपत्ति का सामना करना पड़ा। यह तथ्यपरक तर्क इस परिप्रेक्ष्य में दिया गया कि पश्चिमी यूरोप की पारिस्थितिकी में वर्ष में धूप के चार महीने मिलते हैं; खेत जोतने से लेकर बीज बोने, फसल की रखवाली व कटाई करने और भण्डारण करने संबंधी गतिविधियां। सभी कृषि कार्य इसलिए इस काल के भीतर ही पूरे कर लिए जाने चाहिए। इसके अलावा, कृषि में जिस प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया जाता था वह अत्यधिक श्रमसाध्य थी और भूमि और श्रम दोनों की उत्पादकता निराशाजनक। बीच-उपज अनुपात अधिक से अधिक 1:2.5 था। परिणामस्वरूप, इन चार महीनों में श्रमिकों की माँग बहुत अधिक होती थी। यहाँ तक कि एक दिन की श्रम हानि का भी दुष्प्रभाव उत्पादन पर स्पष्टतः नज़र आता था। इसका समाधान श्रमिकों को भूमि के साथ बाँधकर, अर्थात कृषि-दास प्रथा (serfdom) में दिखाई दिया। इसने उत्पादन प्रक्रिया में भूस्वामी-दास के बीच अत्यधिक तनाव पैदा किया। भू-स्वामी कृषि श्रमिकों पर और अधिक नियंत्रण पाने का प्रयास करने लगे; कृषक बेहद आज्ञाकारी नज़र आते हुए भी अपनी निजी भूमि पर खेती करने हेतु भू-स्वामियों का समय चुरा लेने का प्रयास करते थे। संघर्ष, जो शांत परन्तु प्रचण्ड था, ने प्रौद्योगिकीय सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इससे बारहवीं शताब्दी तक उत्पादन में 1:4 की आनुपातिक वृद्धि हुई। जनसंख्या में भी वास्तविक वृद्धि हुई। इसने श्रमिकों को भूमि के बंधन से मुक्त होने, कृषि के विस्तार और व्यापार एवं शहरीकरण में तीव्र गति से वृद्धि की ओर प्रवृत्त किया। यह प्रक्रिया, यद्यपि, 1348-51 में 'ब्लैक डैथ' की घटना के कारण अस्त-व्यस्त हो गई जिसने जनसंख्या का लगभग एक-चौथाई हिस्सा निगल लिया जिससे फिर से श्रमिकों की कमी पड़ गई। भू-स्वामियों ने बंधुआ मजदूरों के पुराने प्राधारों की ओर वापस लौटने का प्रयास किया; कृषकों ने, जिन्होंने 11वीं और 12वीं शताब्दियों में अच्छे दिन देखे थे, विशेष रूप से 14वीं शताब्दी के दौरान पूरे यूरोप में विद्रोह कर दिया। ये विद्रोह गरीब कृषकों के बजाय सम्पन्न किसानों द्वारा किए गए। शताब्दी के अंत तक आते-आते सामन्तवाद एक मलबे में परिवर्तित हो चुका था।

भारतीय पारिस्थितिकी में, दूसरी ओर, लगभग दस महीने धूप होती थी अतः कृषि प्रक्रियाओं को लंबी अवधि तक फैलाया जा सकता था। भीषण गर्मी के कारण, जिसके बाद बारिश

होती थी, मिट्टी की ऊपरी परत अत्यधिक उर्वरक होती थी; अतः इसी कारण इसे श्रमसाध्य खुदाई की ज़रूरत नहीं थी। भारतीय बैल का ककुद् (hump) भारतीय किसान को बैल की अधिक से अधिक कर्षण शक्ति (drought power) का प्रयोग करने देता था, क्योंकि इससे हल को बैल के कंधे पर रखा जा सकता था; दूसरी ओर, यूरोपीय बैल की सपाट पीठ पर जैसे ही वह हल को खींचता था हल बार-बार फिसल जाया करता था। मध्यकालीन यूरोपीय खेतों में बैल की खींचने की शक्ति के पूर्ण उपयोग को आसान बनाने के प्रौद्योगिकीय सुधार के लिए सदियाँ लगीं। मध्यकालीन भारत में भूमि की उत्पादक क्षमता भी काफ़ी अधिक थी, जो 1:16 पर स्थिर थी। इसके अलावा, अधिकतर भारतीय भूखंडों पर साल में दो बार फसल उगाई जाती थी, जिसके बारे में यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी तक सुना भी नहीं गया था। यूरोप के मुकाबले भारत की स्थिति में बुनियादी अंतर ने कृषि में श्रम-प्रयोग के सभी रूपों के भिन्न स्वरूप को अवश्यंभावी बना दिया। यहाँ *बेगार,* अर्थात वैतनिक या अवैतनिक बंधुआ मजदूरी, शायद ही कभी उत्पादन प्रक्रिया का हिस्सा रहा; यहाँ यह अनुत्पादक कार्यों के लिए अधिक प्रयोग की जाती थी, जैसे किसानों द्वारा अपने सिर पर ज़मींदार का सामान ढोना या फिर विशेष अवसरों पर ज़मींदारों और जागीरदारों को दूध या तेल आदि पहुँचाना। दूसरे शब्दों में, किसान और ज़मींदार या जागीरदार के बीच तनाव राजस्व के हिस्से के प्रश्न पर उत्पादन प्रक्रिया से बाहर ही होता था। यही कारण है कि मध्यकालीन भारत में उत्पादन प्रक्रियाओं की प्रौद्योगिकी में हमें इस स्तर का कायापलट नहीं दिखाई पड़ता जैसा कि हम मध्यकालीन यूरोप में देखते हैं, हालांकि यह महत्वपूर्ण है कि भारत में न तो प्रौद्योगिकी और न ही कृषि उत्पादन की प्रक्रिया स्थिर या अपरिवर्तनशील थी।

1979 के अभिभाषण ने मध्यकालीन भारतीय व्यवस्था को स्वतंत्र कृषक अर्थव्यवस्था के रूप में लक्षित किया। स्वतंत्र कृषकों को मध्यकालीन यूरोप के दासों से पृथक समझा जाना चाहिए। जहाँ मध्यकालीन यूरोपीय कृषिदास का श्रम ज़मींदार के नियंत्रण में था, उसके भारतीय प्रतिरूप का श्रम अपने खुद के नियंत्रण में होता था। राज्य के नियंत्रण में जो था वह था भू-राजस्व के रूप में कृषि-उत्पादन का एक हिस्सा। यहाँ महत्वपूर्ण अंतर यह रहा कि जहाँ श्रम-नियंत्रण पर तनाव के कारण बारहवीं शताब्दी से यूरोपीय कृषि उत्पादन प्रणाली का रूपांतरण सामंतवादी से पूँजीवादी के रूप में हुआ; परंतु भारत में राजस्व-संबंधी तनावों ने उत्पादन प्रणाली को इस हद तक प्रभावित नहीं किया और इसका रूपांतरण भिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अधीन बीसवीं शताब्दी में ही अंकुरित होता दिखाई दिया।

'वॉज़ देअर फ़्यूडलिज्म इन इंडियन हिस्ट्री' को 1981 में एक ब्रिटिश प्रकाशन *द जर्नल ऑफ़ पैज़ेन्ट स्टडीज़* में फिर से छापा गया। आगामी कुछ ही वर्षों के भीतर इसने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इतनी रुचि पैदा कर दी कि 1985 में दुनिया भर से आठ लेखों और उन आठों लेखों पर मूल लेखक के जवाब के साथ उक्त लेख पर केन्द्रित पत्रिका का एक विशेष दोहरा अंक *फ़्यूडलिज़्म एण्ड नॉन-यूरोपियन सोसाइटीज़* शीर्षक से प्रकाशित हुआ जो स्कूल ऑफ़ ओरिएन्टल एंड अफ़्रीकन स्टडीज़, लंदन विश्वविद्यालय के टी. जे. बायर्स बायरेस (T. J. Byres), जो उक्त पत्रिका के संपादक थे, एवं इस निबन्ध के मूल लेखक द्वारा संयुक्त रूप से सम्पादित था। साथ ही, इसे एक पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया गया। शीर्षक इस बात को ध्यान में रखकर स्वीकार किया गया कि यह विवाद यूरोप और भारत की सीमाएँ लाँघ कर चीन, टर्की, अरब देशों और ईरान में भी फैल चुका था। उक्त विशेशांक के प्रकाशन ने, बहरहाल, चर्चा को समाप्त नहीं किया; आगे चलकर इस पत्रिका में तीन अन्य लेख भी प्रकाशित हुए जिनमें अन्तिम था 1993 में प्रकाशित लेख। इस चर्चा का प्रायः 'सामन्तवाद पर विवाद' के रूप में भी संदर्भ दिया गया। संबंधित निबंधों का एक संग्रह 1999 में नई दिल्ली में *द फ़्यूडलिज़्म डिबेट* शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

10.9 सामन्तवाद पर पुनर्विचार

हालांकि सामन्तवाद-संबंधी बहस में सामन्तवाद की धारणा की सार्वभौमिकता-संबंधी सैद्धांतिक कथन पर – हर इतिहासकार द्वारा अपने स्वतंत्र विचार रखे जाने के साथ – भारतीय ऐतिहासिक प्रमाणों के प्रश्न पर आलोचनात्मक रूप से दृष्टि डाली गई। आर. एस. शर्मा की मुख्य रूप से कड़ी आलोचना हुई, अतः उन्होंने अपने पहले दृष्टिकोण पर पुनर्विचार किया और भारतीय सामन्तवाद के विषय को काफ़ी परिष्कृत किया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने लेख 'हाउ फ़्यूडल वॉज़ इंडियन फ़्यूडलिज़्म?' में बड़े ही सशक्त एवं शिष्ट रूप में इसका समर्थन भी किया। उनके द्वारा भारत में सामंतवाद के उदय को पूरी तरह से बिचौलियों को भूमि-हस्तांतरण में राज्यीय कार्यवाही के परिणाम के रूप में देखे जाने के लिए उनकी आलोचना की गई थी। उन्होंने इसमें किंचित फेरबदल किया और इसके कार्य-क्षेत्र को विस्तृत कर उन्होंने सामन्तवाद को एक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में देखने की कोशिश की जो, उनके अनुसार, समाज में आर्थिक एवं सामाजिक संकटों के क्रम में विकसित हुआ, जिससे लोगों के विचारानुसार *कलियुग* का प्रारंभ हुआ। इस प्रकार, यह पूरी तरह से शासकीय कार्यवाही का परिणाम न था। बी. एन. एस. यादव भी प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय साहित्य में *कलियुग* की अवधारणा-संबंधी एक विस्तृत अध्ययन में शामिल हो गए। उनके अनुसार *कलियुग* की इस अवधारणा में संकट के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, अर्थात किसी समाज की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण-संबंधी लक्षण। इन सब बातों ने भारतीय सामन्तवाद की बहस को उल्लेखनीय रूप से समृद्ध किया। शर्मा कृषक विद्रोहों के कई अन्य उदाहरण भी खोज पाने में सक्षम हुए जो 1965 में प्रकाशित उनकी पुस्तक में वर्णित उदाहरणों के अतिरिक्त थे। इन नवीन साक्ष्यों ने उक्त दृष्टिकोण को और शक्ति प्रदान की है। उन्होंने अपना ध्यान सामन्ती समाज के विचारात्मक एवं सांस्कृतिक पहलुओं की ओर मोड़ा; उनके नवीनतम निबंध-संग्रह *अर्ली मेडीवल इंडियन सोसाइटी : ए स्टडी इन फ़्यूडलाइज़ेशन* जो नई दिल्ली, 2001 में प्रकाशित हुआ, में उन्होंने अपने अनेक पुराने तर्कों को संशोधित किया है और कुछ नए विषयों को शामिल किया है, जैसे 'द फ़्यूडल माइण्ड' जिसमें उन्होंने कला एवं वास्तुकला में सामन्ती पदानुक्रमों की विद्यमानता, सामन्ती समाज के वैचारिक आधारों के रूप में कृतज्ञता एवं निष्ठा-संबंधी विचारों आदि समस्याओं का अन्वेषण किया है।

संस्कृति के क्षेत्र में विस्तारण के इस साहसिक कार्य को ऐसे कई इतिहासकारों द्वारा भी हाथ में लिया गया जो सामन्तवाद की धारणा के समर्थ हैं। 1987 व 2000 में प्रकाशित 16 निबंधों का एक संग्रह *'द फ़्यूडल ऑर्डर : स्टेट, सोसाइटी एंड आइडियॉलॉजी इन अर्ली मेडीवल इंडिया* में पुस्तक के सम्पादक डी. एन. झा ने इन लेखों के संग्रह को शामिल करने में सावधानी बरती है। इसमें उन्ही लेखों का संकलन है जो सामन्ती व्यवस्था, जो अपने आप में एक व्यापक शब्द है, के सांस्कृतिक एवं वैचारिक आयामों का विश्लेषण करते हैं। इस प्रकार इसमें विश्लेषित प्रमुख आयाम धर्म-संबंधी हैं, विशेष रूप से लोकप्रिय धर्म या *भक्ति,* जो उत्तर एवं दक्षिण भारत दोनों जगह थी और भारत की क्षेत्रीय संस्कृतियों एवं भाषाओं का विकास। जैसा कि अधिकतर विद्वानों ने भक्ति सम्प्रदायों के उदय को ब्राह्मणवादी परंपरानिष्ठ आधिपत्य के विरुद्ध एक जनप्रिय विरोध-प्रदर्शन के रूप में देखा है; सामन्तवाद के पक्षधर इन्हें किसी देवता के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, अधीनता एवं निष्ठा-सम्बंधी विचारधारा के बल पर इसे ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के आधार-स्तंभ के रूप में देखते हैं। समर्पण और निष्ठा को बड़ी आसानी से सामंत या स्वामी की ओर स्थानांतरित किया जा सकता था।

भारतीय सामन्तवादी विचारधारा के इतिहासकारों के बीच कुछ मत-विभाजन भी देखने में आता है। डी. एन. झा ने, उदाहरण के लिए, *कलियुग* की धारणा के साक्ष्य-संबंधी

घटनास्थल और उस 'संकट' के स्थल के बीच असंगतता पाई है जो *कलियुग* ने दर्शायाः इसके प्रमाण प्रायद्वीपीय भारत से मिलते हैं, परन्तु वह संकट ब्राह्मणवादी उत्तर-भारत में अपेक्षित था। संकट के सूचक-स्वरूप *कलियुग* की धारणा के साक्ष्य की वैधता पर बी. पी. साहू ने भी संदेह व्यक्त किया है; बल्कि उन्होंने उसे राजत्व की पुनर्व्याख्या और इसी कारण उसके भीतर किसी संकट के बजाय ब्राह्मणवादी विचारधारा का पुनः समर्थन अधिक माना।

10.10 सामन्तवाद, व्यापार और शहरीकरण

यद्यपि भारतीय सामन्तवाद की धारणा की मूल संरचना अछूती ही रही जो एक ओर व्यापार एवं शहरीकरण और दूसरी ओर सामन्तवाद के बीच विरोधाभास को इंगित करती है। और यह इतिहास लेखन में नवीन रुझानों की तुलना में समस्यारहित भी नहीं रही। यूरोपीय इतिहास लेखन में खुद ही इस समस्या पर इतिहासकारों के विचारों में अत्यधिक परिवर्तन की स्थिति रही है। यदि हैनरी पिरेन ने 1930 के दशक में शहरी/ग्रामीण, व्यापार/सामन्तवाद तथा प्राकृतिक या आत्मनिर्भर/मुद्रा-अर्थव्यवस्था के बीच असमाधेय विरोधाभास को तथ्य रूप में स्वीकार किया तो वहीं बाद के इतिहासकारों ने एक दूसरे के बीच पूर्ण संगति दर्शाते हुए इस धारणा के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। महान फ़्रांसीसी इतिहासकार मार्क ब्लॉक ने अपने लेखों में से एक का नाम 'नैचुरल इकॉनॉमी वर्सेस मनी इकॉनॉमी : ए स्यूडो-डिलैमा' रखा और एक अन्य फ़्रांसीसी इतिहासकार गी बुआ (Guy Bois) ने अपनी एक कृति में उन क्षेत्रों जहाँ व्यापार बहुत विकसित था, में वर्ष 1000 सी.ई. के आसपास पश्चिमी यूरोप में सामन्तवादी आर्थिक संबंधों के विकास का वर्णन किया। अन्य शब्दों में, उन्होंने व्यापार और सामन्तवाद के बीच एक सीधा कारण-संबंध स्थापित किया। इस प्रकार व्यापार/सामन्तवाद के मध्य विरोधाभास की धारणा का अंत अपने उत्पत्ति-स्थल में ही हो गया। प्राकृतिक अथवा आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था की अस्तित्व-संबंधी अवधारणा पर मूल रूप से लगभग हर जगह सिद्धांततः तथा आँकड़ों के स्तर पर भी संदेह व्यक्त किया गया है। स्पष्टतः, भरण-पोषण के निम्नतम स्तर पर भी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ न कुछ व्यापार की आवश्यकता होती है। चाहे वह नमक खरीदने के लिए हो या कपड़े या फिर बर्तन खरीदने के लिए; चीज़ें खरीदने का परिणाम और उसके लिए मुद्रा का प्रयोग सामाजिक सोपानों पर बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता जाता है। व्यापार किसी ने किसी रूप में कृषि-अर्थव्यवस्था में समाहित होता है क्योंकि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में मिट्टी की प्रकृति के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार की फसलों की खेती होती है; अतः उन्हें अपनी उपज का लेन-देन करना आवश्यक है ताकि भरण-पोषण की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

अनुभव के आधार पर अनेक इतिहासकारों के सामने इस भूभाग में व्यापार के पतन एवं मुद्रा की कमी-संबंधी धारणा तथा भारतीय सामन्तवाद की काल-संबंधी समस्याएँ थीं। डी. एन. झा ने भारत में सामन्तवाद के उदय के कारण के रूप में लंबी दूरी के व्यापार के अभाव पर बहुत अधिक निर्भर होने के लिए आर. एस. शर्मा की आलोचना की। परन्तु इतिहासकारों द्वारा इस बात पर बल, कि यूरोप के समांतर ही 1000 सी.ई. के आसपास व्यापार का पुनरुत्थान हुआ, वास्तव में सामन्तवादियों द्वारा इस निर्धारित तिथि से काफ़ी पूर्व ही भारत के अनेक क्षेत्रों में व्यापार फल-फूल रहा था। बी. डी. चट्टोपाध्याय ने इसे कम से कम एक शताब्दी पूर्व घटित हुआ दर्शाया है। रणबीर चक्रवर्ती ने अपनी दो पुस्तकों – *ट्रेड इन अर्ली इंडिया,* 2001 और *ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन अर्ली इंडियन सोसाइटी,* 2002 में संबद्ध काल में फलते-फूलते व्यापार के पर्याप्त प्रमाण सामने रखे हैं। मुद्रा की कमी-संबंधी अवधारणा पर भी, जो भारतीय सामन्तवाद की अवधारणा का आधार है, बी. डी. चट्टोपाध्याय एवं बी. एन. मुखर्जी जैसे अन्वेशकों द्वारा विशेष रूप से प्रतिवाद किया गया। जॉन एस.

डेयेल (John S. Deyell) ने भी अपनी पुस्तक *लिविंग विदाउट सिल्वर,* 1990 में मुद्रा की अभाव-संबंधी धारणा को गंभीर रूप से चुनौती दी। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सोना, चाँदी या ताँबा जैसी धातुएँ ही मध्यकालीन समाजों में मुद्रा का एकमात्र रूप नहीं थीं। मार्क ब्लॉक ने दर्शाया है कि मध्यकालीन यूरोप में लगभग हर चीज़ विनिमय का माध्यम, अर्थात मुद्रा का काम कर सकती थी। मसाले की किसी खास किस्म का एक नियत/निश्चित माप, किसी खास किस्म के कपड़े का टुकड़ा, किसी विशेष अनाज का एक माप इत्यादि। भारत में भी विनिमय-माध्यम के रूप में कौड़ियों की परम्परा ने इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया है और यह तथ्य उसकी महत्ता को दर्शाता है कि कौड़ियाँ प्राप्त करने में वस्तुतः लंबी दूरी का व्यापार शामिल था, क्योंकि कौड़ियाँ सुदूर मालदीव से आती थीं।

10.11 समस्याएँ

कुछ अन्य पद्धति-संबंधी समस्याएँ भी दृष्टिगत होती हैं। यदि लगभग 300 सी.ई. और लगभग 1100 सी.ई. के बीच का काल भारतीय सामन्तवाद का काल है तो उत्तरोत्तर काल, अर्थात 'मध्यकालीन भारत', जैसा कि सामान्यतः औपनिवेशिक शासन लागू होने के पूर्व के काल को कहा जाता है, को किस प्रकार अभिलक्षित किया जाए? इसके अतिरिक्त, क्या इतनी लंबी कालावधि को इस अस्पश्ट धारणा के साथ एकमात्र शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है कि समस्त कालावधि सिर्फ एक इकाई थी जिसमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ? मार्क ब्लॉक ने, उदाहरणार्थ, 1000 सी.ई. के आसपास मोटे तौर पर किए गए विभाजन के साथ यूरोप में सामन्तवाद के काल को 'प्रथम सामन्ती युग' और 'द्वितीय सामन्ती युग' में वर्गीकृत किया। उनके दृष्टिकोण से यह परिवर्तन इतना तीव्र था कि एक युग से आया व्यक्ति दूसरे युग में स्वयं को अजनबी पाता। सामन्तवाद की संरचना के भीतर गहन परिवर्तन अब यूरोपीय इतिहास लेखन की परम्परागत धारणा बन चुकी है, हालांकि विभिन्न इतिहासकारों द्वारा प्रयुक्त शब्द बेशक भिन्नता लिए हुए हैं। कुछ इतिहासकार 'प्रथम और द्वितीय सामन्ती युग' के बजाय 'निम्न और उच्च मध्य-युग' कहना पसंद करते हैं। साथ ही, इस बात पर सहमति भी थी कि यूरोप में सामन्तवाद के बाद ही पूँजीवाद का उदय और संघटन हुआ। उपनिवेशवाद पूँजीवाद के उदय का ही एक पहलू था। आठ शताब्दियों की कालावधि में भारतीय सामन्तवाद में उसके अस्तित्व-संबंधी किस प्रकार के परिवर्तन देखे जा सकते हैं? और लगभग 1100 सी.ई. के बाद सामंतवाद के उपरांत कौनसा युग आया? निश्चित रूप से वह पूँजीवाद नहीं था। सामन्तवाद के पक्षधरों ने इन प्रश्नों को गंभीरता से नहीं लिया है। डी. डी. कोसाम्बी ने लगभग एक बौद्धिक सुस्पष्ट वक्तव्य के रूप में सामन्तवाद की विद्यमानता को 17वीं शताब्दी तक दर्शाया; उन्होंने इस काल को छह शताब्दियों तक और बढ़ाकर, साथ ही उसे एक छोर से दूसरे तक, लगभग 1400 वर्षों तक, के काल को एकरूप मानकर समस्या को सिर्फ जटिल ही बनाया, जो आज के इतिहासकारों द्वारा स्वीकार करने के लिए एक असंभव दलील थी क्योंकि परिवर्तन की खोज, यहाँ तक कि छोटी अवधियों के सूक्ष्म परिवर्तन भी, ही उनका मुख्य कार्य है।

अनेक समस्याओं के बावजूद 'द फ़्यूडलिज़्म डिबेट' ने इस पर भी एक लंबी, विस्तारपूर्वक चर्चा की है। इस बहस के विद्वतापूर्ण स्तर में सजीवता की कोई कमी नहीं रही; यह कभी भी व्यक्तिगत विद्वेश के स्तर पर नहीं आई। जैसा कि इंग्लैंड की एक प्रतिष्ठित मध्यकालीन विद्वान, सूजन रेनॉल्ड्स द्वारा स्वयं एक समीक्षा में, खासकर अपने ही घर और आसपास शैक्षिक समाजों में, ऐसे पतन पर क्षोभ व्यक्त करते हुए लिखा गया। यह बहस बहुत अधिक उपभोगी साबित हुई है क्योंकि इसने लगभग हर व्यक्ति को अपनी धारणा पर पुनर्विचार करने और उसे परिशोधित करने, साथ ही इसके पहलुओं में किंचित हेर-फेर करने की

ओर प्रवृत्त किया, बेशक उन्होंने ऐसा इसका पक्ष लेते हुए किया। अंत में कोई निष्कर्षपूर्ण उत्तर नहीं मिलता; परन्तु यह तो इस विषय की प्रकृति ही है क्योंकि यह आत्म-आलोचना के माध्यम से स्वयं ही निरंतर नवीकृत होने का प्रयास करता रहता है।

बोध प्रश्न 2

1) सामंतवाद की बहस में हाल के घटनाक्रमों का विश्लेषण करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारतीय संदर्भ में सामंतवाद का यूरोपीय प्रतिरूप/प्रतिमान किस हद तक प्रासंगिक है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.12 सारांश

इस इकाई में हमने चर्चा की कि सामंतवाद को कैसे परिभाषित किया जाए। इस शब्द की उत्पत्ति यूरोप में हुई और यह 8वीं से 14वीं शताब्दी तक वहाँ की अर्थव्यवस्था व समाज में हुए परिवर्तनों का सूचक है। भारतीय संदर्भ में गुप्त काल के बाद की अवधि में अर्थव्यवस्था एवं समाज में हुए परिवर्तनों को भारतीय मार्क्सवादी विद्वानों ने सामंती (Feudal) के रूप में चिन्हित किया। इस संज्ञा को यूरोपीय संदर्भ से चुनकर भारतीय पृष्ठभूमि पर लागू किया गया। आर्थिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर भूमि-अनुदानों के प्रचलन के परिणामस्वरूप कृषि का विस्तार हुआ। भूमि के खेतिहारों के बीच परिणामी तनावों ने विभिन्न समूहों के परस्पर संबंधों को चिन्हित किया। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के ह्रास के कारण शहरी केन्द्रों में व्यापक गिरावट आई। अधिकांश शहरी बस्तियों में खुदाई ने घटिया अवशेषों और कभी-कभी एक अवशेष-रहित परत को उजागर किया है जो इस कालावधि के दौरान बस्तियों के परित्याग को दर्शाती है। मुद्रा के रूप में सिक्कों की कमी थी और कौड़ियाँ विनिमय का एक सामान्य माध्यम बन गईं। हमने सामंतवाद-संबंधी बहस के मुख्य पक्ष पर भी चर्चा की कि क्या अर्थव्यवस्था व समाज में ये बदलाव एक सामंती व्यवस्था की ओर इशारा करते हैं। इस अवधारणा पर बी. डी. चट्टोपाध्याय, रणबीर चक्रवर्ती और जॉन एस. डेयेल जैसे विद्वानों द्वारा सवाल उठाया गया है। इन सभी की राय, विचारों और मतों पर प्रकाश डाला गया है।

10.13 शब्दावली

अग्रहार : मुख्य रूप से ब्राह्मणों के कब्ज़े में एक कर-मुक्त गाँव।

अर्धिक : दूसरों की भूमि को जोतने वाला एवं आधी फसल को अपने हिस्से के रूप में प्राप्त करने वाला किसान।

देवदान : ब्राह्मणवादी मंदिर परिसरों को उपहार में दी गई कर-मुक्त भूमि। इसे बौद्ध और जैन परंपरागत शब्दावली में *पल्लिचंदम/पल्लीच्छंदम* कहा जाता था।

घनक : तेल बनाने का कारखाना।

हलिन : हलवाहा।

कर्षक : मिट्टी को जोतने वाला।

महाजन : ब्राह्मणों की एक प्रकार का सभा।

परिहार : कर-मुक्त भूमि का दान देने वाले को दिए जाने वाले विशेषाधिकारों के रूप में करों और दायित्वों से छूट।

रनक : सामंती शासक का शीर्षक/उपाधि।

कृषि-दास (Serfs) : मध्यकालीन यूरोप में कृषकों का एक वर्ग। वे भूमि के उस टुकड़े से बँधे रहते थे जिस पर वे खेती करते थे। बदले में वे भू-स्वामियों की भूमि पर श्रमिक की तरह कार्य करते थे अथवा अपनी उपज का एक हिस्सा उन्हें चुकाते थे। इसके अतिरिक्त कई अन्य दायित्व भी उन्हें पूरे करने पड़ते थे।

श्रोतिय : वेदों में शिक्षित ब्राह्मण।

तेलिक/तेल्लिक : तेल के कार्य में संलग्न व्यक्ति।

10.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) इन भागों के उप-भागों को देखें : 10.3, 10.3.1, 10.4, 10.5

2) (क) ✓, (ख) x, (ग) ✓, (घ) x

बोध प्रश्न 2

1) भाग 10.8, 10.9, व 10.10 को देखें।

2) उप-भाग 10.8.1 व भाग 10.10 देखें।

10.15 संदर्भ ग्रंथ

चक्रवर्ती, रणबीर (2002). *ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन अर्ली इंडियन सोसाइटी.* नई दिल्ली : मनोहर.

डेयेल, जॉन (1990). *लिविंग विदाउट सिल्वर : द मोनेटरी हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली मेडिवल नॉर्थ इंडिया.* नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

झा, डी. एन. (संपादित) (2000). *द फ़्यूडल ऑर्डरः स्टेट, सोसाइटी एण्ड आइडियॉलोजी इन अर्ली मेडिवल इंडिया.* नई दिल्ली : मनोहर.

डी. डी. कोसांबी (1956). *एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री.* बंबई : पीपटस प्रकाशन.

मुखिया, हरबंस (संपादित) (1999). *द फ़्यूडलिज़्म डिबेट.* नई दिल्ली : मनोहर.

शर्मा, आर. एस. (1965, 1980). *इंडियन फ़्यूडलिज़्म.* नई दिल्ली : मैकमिलन.

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 11 जाति, लिंग और व्यवसाय*

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 स्रोत

11.3 विभिन्न परिप्रेक्ष्य

11.4 सामाजिक रूपान्तरण

11.5 नई सामाजिक व्यवस्था

- 11.5.1 ब्राह्मण
- 11.5.2 शासक वर्ग
- 11.5.3 वैश्य
- 11.5.4 शूद्र
- 11.5.5 अछूत
- 11.5.6 नई जातियाँ : *कायस्थ* और *वैद्य*

11.6 जनजातियाँ

11.7 दास

11.8 *मलेच्छ*

11.9 लैंगिक सम्बन्ध

- 11.9.1 महिलाओं के संपत्ति अधिकार
- 11.9.2 विवाह और विवाह-विच्छेद
- 11.9.3 विधवापन और नियोग
- 11.9.4 सती प्रथा
- 11.9.5 स्त्री शिक्षा
- 11.9.6 कुछ अपवाद

11.10 सारांश

11.11 शब्दावली

11.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.13 संदर्भ ग्रन्थ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप जानेंगे :

- इस अवधि के सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए विभिन्न साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोत;
- इस काल के सामाजिक जीवन की विशिष्ट विशेषताएं;
- विभिन्न सामाजिक समूहों और उनके बीच पारस्परिक संबंध;

* यह इकाई बी.एच.आई.सी. 132, इकाई 14 से ली गयी है।

- इस अवधि के दौरान सामाजिक संरचना और लिंग सम्बन्धों में परिवर्तन और निरंतरता के तत्व;
- सामाजिक परिवर्तन में विभिन्न संस्थाओं या कारकों की भूमिका; और
- सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप अर्थव्यवस्था, राजनीति और संस्कृति में उभरते रूझान।

11.1 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में लगभग 700 से 1200 सी.ई. की समयाविधि को 'प्रारंभिक मध्ययुगीन' कहा जाता है। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ शुरू होता है, और भारत में राजनीतिक इस्लाम के आने के साथ समाप्त होता है। प्रारंभिक मध्ययुगीन समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति की प्रकृति इतिहासकारों के बीच एक बहस का मुद्दा रहा है।

समाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि कुछ आर्थिक और राजनीतिक विकासों द्वारा तैयार की जाती है। उप-महाद्वीप में व्यापक भूमि अनुदान यकीनन सभी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक विकासों का मूल कारण बन गया। चर्तु-वर्ण पर आधारित ब्राह्मणवादी सामाजिक आदर्श के स्थान पर एक अधिक जटिल, विषम और क्षेत्रीय रूप से नानारूप जातियों या जाति व्यवस्था का जन्म हुआ। जबकि चर्तु-वर्ण व्यवस्था निर्देशात्मक *धर्मशास्त्रों* में जारी रही, वह इस अवधि के दौरान कभी भी वैसी नहीं रही जैसी की पहले थी। वर्ण व्यवस्था ने ब्राह्मणवादी समाज पर विमर्ष में सैद्धांतिक स्तर पर काम किया, जबकि जाति या जाति व्यवस्था ने कार्यात्मक पहलू प्रदान किया। दूसरे शब्दों में वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में समाहित हो गई। कभी-कभी, यहाँ तक कि वर्ण और जाति शब्द का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर इस्तेमाल किया जाता था, विशेष रूप से ब्राह्मण जाति के लिए।

प्रांरभिक मध्ययुगीन काल से ही जाति की पहचान प्रमुख थी। सामाजिक संरचना की बदलती प्रकृति ने आरोही और अवरोही दोनों प्रकार की सामाजिक गतिशीलता के लिए मार्ग प्रदान किया। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में सामाजिक परिवर्तन को कलियुग या कलियुग के संकट के नाम से जाना गया, जिसके लक्षणों को वर्ग भेदों और पदानुक्रमों के विस्तार और महिलाओं की अधीनता के रूप में भी चित्रित किया गया था। कलियुग की धारणा वैदिक परंम्पराओं से एक महान प्रस्थान-बिन्दु का प्रतिनिधित्व करती है।

इस इकाई का उद्देश्य न केवल सामाजिक संरचना का एक व्यापक वर्णन प्रदान करना है, बल्कि उस कालावधि के सामाजिक इतिहास में महिलाओं और लैंगिक संबंधों को भी शामिल करना है।

11.2 स्रोत

संस्कृत पवित्रता के शिकंजे से निकल कर राजनीति और साहित्य की भाषा बन गई। इस काल के अंत तक, उभरती हुई देशी भाषाएं साहित्यिक रचना में संस्कृत के वर्चस्व को चुनौती देने लगीं। इस काल के दौरान विभिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाओं का प्रस्तुतिकरण किया गया। इनमें धार्मिक ग्रन्थ, कविता और नाटक (काव्य-नाटक), दार्शनिक ग्रन्थ, गणित, व्याकरण, चिकित्सा, संगीत, स्थापत्य कला, शब्द-कोश आदि पर तकनीकी ग्रन्थ शामिल थे। क्षेत्रीय राज्यों के प्रसरण ने भी राजसी जीवन वृतान्तों जैसी रचनाओं के लिखे जाने में प्रमुख भूमिका निभाई जैसे बाणभट्ट की *हर्षचरित,* संध्याकरनंदिन की *रामचरित,* पदमगुप्त

की *नवसहशंकर चरित,* बिल्हन की *विक्रमांकदेवचरित,* हेमचन्द्र की *कुमारपालचारित,* और अज्ञातकृत *पृथ्वीराजविजय,* चंदबरदाई की *पृथ्वीराजरासो* आदि। कल्हण ने कश्मीर के शासकों और राजवशों के बारे में भारत में सबसे पहले ज्ञात ऐतिहासिक इतिवृत्त *राजतरंगिणी* भी लिखा। पुराणों की रचना और संकलन प्रारंभिक मध्यकाल में जारी रहा। जबकि *भागवतपुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण* और *कालिकापुराण* लेखबद्ध किये गये, कुछ पुराने पुराणों में जोड़ा गया, और कुछ उपपुराणों की इस काल में रचना की गई थी। कुछ *धर्मसूत्रों* को भी संकालित किया गया था जैसे कि *चर्तुविंशतिमाता,* लक्ष्मीधर की *कृतयाकल्प-तरू* और देवन भट्ट की *स्मृतिचंद्रिका*। जीमूतवाहन ने *व्यवाहरमात्रिका* नामक कानून और दयाभाग नामक प्रभावशाली नीति-संग्रह भी लिखा। *स्मृति* और *मीमांसा* ग्रन्थों पर टिप्पणियों ने समय और स्थान के अनुसार नये सिरे से व्याख्याएँ प्रदान की जो उस काल के सामाजिक परिवेश को प्रभावित करती हैं।

संस्कृत के अलावा, अन्य भाषाओं ने भी साहित्य के विकास को देखा। कुछ जैन ग्रन्थ महाराष्ट्र की प्राकृत भाषा में लिखे गये। जैन ग्रन्थों में अपभ्रंश के प्रभाव का भी पता लगाया जा सकता है। दक्षिण भारत में, *आलवार* और *नयनार* संतों की कथाओं की रचना तमिल में की गई। दक्षिण के राष्ट्रकूट, होयसाल और चालुक्य राजसी घरानों ने भी कुछ कन्नड़ रचनाओं सहित साहित्य का संरक्षण किया। इन ग्रन्थों के अलावा, गुजरात से *लेखपद्धति* कानूनी और अन्य दस्तावेजों के प्रतिरूपों का एक संग्रह; *कृषि पराशर,* बंगाल से कृषि पर एक ग्रन्थ; *धर्मकथा* जैन कथाओं का एक संग्रह; और *महावीरचार्य* की *गणितसारसंग्रह* और गणित पर भास्कराचार्या की *लीलावती* भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी प्रदान करते हैं।

चीनी और अरब यात्रियों के वर्णन भी उस काल के लिए जानकारी का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। चीन से जुआनजैंग और यिजींग ने भारत का दौरा किया, जबकि सूलेमान, अल मसुदी, अबू जैद, अल-बिदुरी, इब्न हकल, अल बिरूनी, मुहम्मद उफी और इब्न बतुता जैसे अरब यात्रियों ने भारत के विषय में अपने समृद्ध लेखा-वृत्तांत छोड़े।

बड़ी संख्या में साहित्यिक स्रोतों के अलावा, इस अवधि के शिलालेख सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए सूचना का एक प्रमुख स्रोत हैं। मंदिर और पुजारियों को दिए गए भूमि अनुदानों में इस काल के लिए सबसे बड़ी मात्रा में स्पष्ट रूप से दर्शाए गए पुरालेखी ऐतिहासिक आँकड़े हैं। पुरातात्विक और मुद्रा-शास्त्रीय आंकड़ों के कम होने से इस कालावधि के लिए उनकी उपयोगिता को साबित करना अभी बाकी है।

11.3 विभिन्न परिप्रेक्ष्य

राष्ट्रीय आन्दोलन ने महिलाओं के मसले को केन्द्रीय स्थिति प्रदान की। सामाजिक-धार्मिक आंदोलन ने महिलाओं की स्थिति और कई पूर्व-औपनिवेशिक प्रथाओं जैसे सती या विधवा-दाह, ब्रह्मचर्य पर आधारित विधवापन, विधवा पुनर्विवाह पर रोक, बहु-विवाह, और बाल-विवाह के खिलाफ लड़ाई लड़ी। कई भारतीय सुधारवादी और बाद में, राष्ट्रवादी विचारधारा वाले इतिहासकारों ने प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर स्त्रियों की स्थिति पर लिखने का जोखिम उठाया। पहले के अध्ययन आमतौर पर कुछ चुनिंदा मापदंडों जैसे कि संपत्ति, शिक्षा और सभाओं में उनकी भागीदारी के साथ-साथ परिवार के सीमित संदर्भ में पुरुष रिश्तेदारों के सम्बन्ध में, महिलाओं की सामाजिक स्थिति की जाँच से संबंधित थे। आरंभिक महिलाओं पर अध्ययन मुख्य रूप से *ब्राह्मण* ग्रंथों पर आधारित थे, जिनके लैंगिकता पर आधारित पूर्वाग्रहों को अनदेखा किया गया। इन स्रोतों के चयनात्मक अध्ययन और व्याख्या परिणाम स्वरूप, राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन ने आमतौर पर प्राचीन भारत में महिलाओं की उच्च स्थिति का अनुमान लगाया। ऐसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व अत्यन्त प्रभावशाली लेखन

कार्य ए. एस. अल्तेकर की *द पोजिशन ऑफ़ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,* नामक रचना है। जिन्होंने आर. सी. दत्त जैसे पहले के इतिहासकारों के समान ही पारंपरिक विचार-पद्ध ति को अपनाया। उन्होंने साम्राज्यवादी लेखन को अस्वीकार करने के लिए भारतीय नारीत्व का महिमामंडन किया और हमेशा अपने दृष्टिकोण में चयनात्मक बने रहे। बाद में, अल्तेकरवादी प्रतिमान को लगभग सभी नारीवादी इतिहासकारों ने चुनौती दी, जिन्होंने इसे बहुत सीमित और पक्षपाती कहा। उदाहरण के तौर पर उमा चक्रवर्ती ने अपने लेख, '*बियोंड द अल्तेकेरियन पैराडाइम : टूवर्डस ए न्यू अंडरस्टेंडिग ऑफ़ जेंडर रिलेशन्स इन अरली इंडियन हिस्ट्री,* ने इस पर जोर दिया कि महिलाओं का सही चित्रण के लिए पुनर्लेखन की तत्काल आवश्यकता है। तब से, स्त्रीवादियों और अन्य इतिहासकारों द्वारा महिलाओं की स्थिति और लैंगिक संबंधों पर बड़ी संख्या में किताबें और लेख प्रकाशित किए गए हैं।

जहाँ तक सामाजिक वर्गों का सवाल है, राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने आमतौर पर जाति, दासता और अस्पृश्यता जैसी सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को नज़रअंदाज किया। हालाँकि, कुछ मार्क्सवादी इतिहासकारों जैसे डी. डी. कोशांबी और आर. एस. शर्मा ने शूद्रों, अछूतों, दास प्रथा और जाति व्यवस्था पर उत्कृष्ट कार्य लिखें। लेकिन वें अंर्त-वर्गीय/जातीय संबंधों की व्यापक गतिशीलता के बजाए, निम्न जातियों की भौतिक परिस्थितियों और अक्षमताओं और उनके उच्च जातियों के साथ सामाजिक-आर्थिक संबंधों की प्रकृति पर अधिक केन्द्रित थे। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने प्रारंभिक मध्ययुगीन काल को कलि-युग सामाजिक संकट के रूप में चित्रित किया, जिसके लक्षण थेः व्यापार और सिक्कों के प्रचलन में गिरावट और शहरी केन्द्रों का पतन, बस्तियों का ग्रामीणकरण, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संबंधों का सामंतीकरण, राजनीतिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण और विचलन। सबसे महत्वपूर्ण बात थी एक शोषणकारी सांमती व्यवस्था का उदय। मार्क्सवादी दृष्टिकोण को बाद में अन्य इतिहासकारों द्वारा चुनौती दी गई, जैसे हर्मन कुलके और बी. डी. चट्टोपाध्याय ने एकीकृत राज्य के नये प्रतिरूपों का इस्तेमाल इस काल के विकासों की व्याख्या के लिए किया। इन इतिहासकारों ने समान स्रोतों का उपयोग किया, लेकिन विभिन्न निष्कर्षों तक पहुँचे और उस काल के विषय में अधिक जानकारी हमें दी। हालांकि स्रोतों की विशालता को ध्यान में रखते हुए प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के सामाजिक आयामों पर बहुत कम काम किये गये है।

11.4 सामाजिक रूपान्तरण

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल ने जातियों और उप-जातियों के प्रसार और उनकी सामाजिक गतिशीलता के साथ महत्वपूर्ण परिवर्तनों को देखा। इससे सामाजिक व्यवस्था पहले की तुलना में अधिक जटिल और अस्थिर हो गई थी। एक ओर, सामाजिक परिवर्तनों ने एक कठोर, एकपक्षीय सरलीकृत सामाजिक व्यवस्था यानी *चर्तुवर्ण* व्यवस्था, जिसकी ब्राह्मणवादी ग्रन्थों द्वारा वकालत की गई थी, के आदर्श से एक महत्वपूर्ण विचलन को अंकित किया। दूसरी ओर *ब्राह्मण* ग्रन्थों ने ब्राह्मणवादी विचारों के आदर्श से विचलन के तौर पर *कलियुग* को अन्य तीन पूर्ववर्ती युग – *सतयुग, त्रेता* व *द्वापर* के विपरीत सामाजिक पतन की बुनियाद के रूप में पेश किया गया। *कलियुग* के विवरण महाकाव्यों और *पुराणों* में लगभग तीसरी शताब्दी सी. ई. से दिखाई देते हैं और कुछ प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों और शिलालेखों में भी दृष्टिगोचर होते हैं। *कलियुग* का संकट न केवल ब्राह्मणवादी सामाजिक मानदंडों से विमुखता के प्रति ब्राह्मणवादी ग्रन्थों के लेखकों के असंतोष की एक मज़बूत अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, बल्कि प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में बदलती सामाजिक स्थिति पर भी टिप्पणी करता है।

एक ओर, *वर्णाश्रम-धर्म* की ब्राह्मणवादी योजना (समाज के वर्णों में आदर्श विभाजन) और व्यक्ति के जीवन का आश्रम में विभाजन को प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों जैसे स्मृतियों, टीकाओं (*टीका, भाष्य, वृत्ति*) *धर्मशास्त्रों* और *पुराणों* के सार *धर्मशास्त्र संग्रह* (संचय) या नीति-*संग्रह* (*निबन्ध*) में दोहराना जारी रहा। लेकिन दूसरी ओर उन्होंने समकालीन सामाजिक परिवर्तनों को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका भी अदा की। उन्होंने शुरुआती मध्ययुगीन काल के बदलते सामाजिक परिवेश के मद्देनज़र ताजा व्याख्याओं, सशोंधनों और कभी-कभी प्रतिस्थापन की पेशकश की। कई प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रंथों ने ब्राह्मण या द्विज ब्राह्मण (दो बार जन्में) और सभी गैर-ब्राह्मण या *अद्विज* (दो बार नहीं जन्में) के बीच दोहरे विभाजन को आधार बनाया। यहाँ शूद्र सभी गैर-ब्राह्मणों के लिए प्रयोग किया गया है। दोहरे विभाजन पर आधारित यह योजना बंगाल और तमिल भाषी क्षेत्रों में सुस्पष्ट थी। दिलचस्प बात यह है कि यह दोहरा विभाजन दो महत्वपूर्ण सामाजिक समूहों, क्षत्रियों और वैश्य की उपस्थिति को छोड़ देता है। पहले के ग्रन्थों की तरह, प्रारंभिक मध्ययुगीन *ब्राह्मण* ग्रन्थों ने भी *वर्ण-संकर* की अवधारणा के संदर्भ में जातियों के प्रसार की व्याख्या की, जो वर्णों के बीच या वर्णों में और (मिश्रित जातियों) के बीच वैवाहिक सम्बंधों को दर्शाता है। मिश्रित जातियों या मिश्र जातियों की बहुलता का या जाति पदानुक्रम की विस्तार इसका परिणाम माना गया था। अंतर्वर्ण-विवाह या *अनुलोम* विवाह और *प्रतिलोम* विवाह की कल्पना की गई थी, जिससे *वर्णसंकर* या मिश्रित वर्ण की उत्पत्ति हुई, जबकि दोनों को मंजूरी नहीं दी गई थी। *अनुलोम* सन्तानों को *वर्ण-पदानुक्रम* में *प्रतिलोम* विवाहों से जन्मी संतानों के ऊपर रखा गया था। *जाति* के स्तर पर आने के बाद कुछ भी 'शुद्ध' नहीं रहा। ब्राह्मणवादी वर्ण-जाति व्यवस्था ने इसके भीतर विभिन्न सामाजिक समूहों को अंगिकार किया, लेकिन कई समूहों का इससे बाहर भी रखा। कई जनजातियों, सीमांत लोगों, विदेशी प्रवासियों, व्यवसायिक समूहों और धार्मिक संप्रदायों को वर्ण-जाति व्यवस्था में शामिल किया गया, जबकि अन्य को *मलेच्छ* के रूप में बहिष्कृत दिखाया गया है। हालाँकि, वर्ण-जाति योजना के भीतर समूहों का समावेश, बहिष्करण और श्रेणी-बद्धता सभी ग्रन्थों में कभी भी सुसंगत और समान नहीं थे। यह एक अत्यधिक अस्थिर और क्षेत्रीय रूप से अलग-थलग सामाजिक स्तरीकरण को दर्शाता है और इस प्रकार वर्ण-जाति व्यवस्था के मूल समूहों पर ब्राह्मणवादी अनुभूतियों के अंतर को बताता है।

11.5 नई सामाजिक व्यवस्था

इस अवधि में समाज के हर पहलू में महान परिवर्तन देखा गया। प्रारंभिक मध्ययुगीन प्रक्रियाओं ने वर्ण से लेकर जाति तक परिवर्तनों को जन्म दिया। जातियों का प्रसार समाज की एक विशिष्ट विशेषता बन गया। समाज *द्विज* और *अद्विज* के दोहरे विभाजन से परे हो गया। वर्ण-व्यवस्था के भीतर संयोजन और परिवर्तन ने मिश्रजाति या मिश्रित जातियों के प्रसार की प्रक्रिया शुरू की। यह *राजतरंगिणी,* कश्मीर से 12वीं शताब्दी के इतिवृत सहित विभिन्न स्रोतों द्वारा अच्छी तरह से जाना जाता है। जाति ने विभिन्न स्तरों पर पदानुक्रम बनाए। तीन श्रेणियाँ बनाई गई : *उत्तमसंकर, मध्यमसंकर* और *अधमसंकर*। जाति व्यवस्था ने सरल गतिहीन समाजों को और जटिल अंतर्विवाही समूहों में बदल दिया। जाति व्यवस्था के भीतर विभिन्न स्तरों पर व्यावसायिक, देशी और गैर-स्वदेशी समूहों को शामिल किया गया था। जाति के साथ-साथ गोत्रों का प्रसार भी जारी रहा और 14वीं शताब्दी तक इनकी संख्या 500 तक पहुँच गयी।

11.5.1 ब्राह्मण

ब्राह्मणों एक अखंड या समरूप समूह नहीं थे। वे कई *गोत्रों, प्रवरों, वंशों, पक्षों, अनव्यों, गणों, गामीयों* आदि में विभक्त थे। शिलालेखों में *श्रोतिय, आचार्य, पुरोहित, पंडित, महाराज*

पंडित, पाठक, त्रिपाठी, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, दीक्षित, याज्ञनिक, शुक्ला, अग्निहोत्री, अवसथिक, अवस्थी का प्रयोग किया गया है। वे यह भी संकेत करते हैं कि उनकी पहचान उनके अलग-अलग क्षेत्रीय या प्रादेशिक मूल, कुल या वंश, वैदिक शिक्षा और पुरोहिती कार्यों आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न थी। इन अंतरों के बावजूद उनकी वर्ण आधारित पहचान बनी रही। ब्राह्मण उप-जातियों के प्रसार ने प्रारंभिक मध्यकाल में गोत्रों में एक महत्वपूर्ण वृद्धि की। उत्तर-दक्षिण दोहरे विभाजन ने अपने क्षेत्र से जुड़े दो अलग-अलग ब्राह्मणों के समूह का निर्माण किया : *पंच गौड़* (उत्तरी समूह) और *पंच द्रविड़* (दक्षिणी समूह)। उनकी क्षेत्रीय सम्बंधता महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्रों तक सीमित नहीं थी, बल्कि अपने पैतृत्क गांवों तक थी। उदाहरण के लिए बंगाल और मिथिला में, ब्राह्मणों को उनके *गामियों* और *मूलों* के आधार पर कई उप-जातियों में विभाजित किया गया था।

उन्होंने भूमि, अनुष्ठान और शास्त्रों में अपनी शक्ति के माध्यम से प्रारंभिक मध्ययुगीन समाज के ऊपरी सोपानों पर कब्ज़ा कर लिया। क्षेत्रीय राज्यों के प्रसार ने भी ब्राह्मणों के उद्देश्य को पूरा किया। सत्ता और वैधता के संघर्ष में, ब्राह्मणों ने उभरते हुए सत्तारूढ़ परिवारों से, उन्हें महाकाव्य और पौराणिक नायकों और देवताओं से जोड़ते हुए, मनगढंत वंशावली बनाने के बदले में और उनके लिए भव्य बलिदान करने के लिए संरक्षण प्राप्त किया। राजनीतिक स्तर पर, ब्राह्मण राजनीतिक शक्ति के वैचारक और वैधता प्रदान करने वाले रूप में उभरे। उन्हें राजकोषीय, प्रशासनिक और न्यायिक अधिकारों के साथ भूमियाँ दी गई थी। ऐसे भूमि अनुदान न केवल व्यक्तिगत रूप से बल्कि सामूहिक या संस्थागत रूप से भी दिये गये थे। ब्राह्मण और उनके धार्मिक प्रतिष्ठान जैसे मंदिर या मठ भूमि अनुदान के सबसे बड़े लाभार्थी के रूप में उभरे। राज्य-व्यवस्थाओं के प्रसार से नये क्षेत्रों में भूमि-अनुदान में तेजी आई और भूस्वामियों (ब्राह्मण *अग्राहरियों*) का एक अलग विशिष्ट वर्ग बना, जो ना तो सामंती थे और ना ही कृषक। इस अर्थ में वे शासक को बिना कर या उपहार चुकाए, बिना भूमि को जोते, भूमि और राजस्व का आनन्द लेते थे। दूसरे शब्दों में वे बिना सांमती ज़िम्मेदारियों के सामंती शासक बन गये।

प्रारंभिक मध्यकाल से ही ब्राह्मण ग्रामीण समाज या कृषि समुदाय में शामिल हो गए थे। वे प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में प्रमुख भू-स्वामी समुदाय या ग्रामीण भू-आभिजात्य वर्ग के रूप में उभरे। उन्होंने भूमि-अनुदान, प्रवासन, ब्राह्मणवादी मंदिरों और मठों के प्रशासन और सत्तारूढ़ विशिष्ट वर्ग के साथ संबंध के माध्यम से खुद को सशक्त किया। उन्होंने उपमहाद्व ीप के विभिन्न समाजों में परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया। इस काल में वे भूमि अनुदान और प्रवासन के माध्यम से ग्रामीण समाज में गहरे प्रवेश कर गये। भूमि अनुदानों के अध्ययन से सकेंत मिलता है कि अधिकांश मामलों में ब्राह्मण ही दान लेने वाले दिखाई दिए। उन्हें *अग्रहार* और गैर-*अग्रहार* दोनों बस्तियों में प्रतिनिधित्व दिया गया और उन्होंने कृषि विस्तार में भी मदद की। वे न केवल नई बस्तियाँ स्थापित करने में सहायक थे, बल्कि उन्होंने नई बस्तियों को वर्ग और जाति से परिचय कराया। चाहे वे खुद जमीन पर खेती करतें हों या नहीं, यह पता नहीं लगाया जा सकता, लेकिन यह निश्चित है कि वे किसान परिवार का हिस्सा बन गए। वे प्रभावशाली भू-सम्पत्तिवान वर्ग के रूप में उभरे और उन्होंने *महात्मों, कुटुम्बिन, कायस्थों* आदि जैसे अन्य सामाजिक समूहों के साथ सांठगांठ करके अपना अधिकार जमा लिया। इससे अनुष्ठान, शास्त्र और भूमि के आधार पर उनकी शक्ति में और वृद्धि हुई। दूसरी ओर, सत्ताधारी कुलीनों नें भी ब्राह्मणों के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में अपने अधिकार को पुनर्स्थापित किया, और ग्रामीण समाज में उप-सामंतीकरण को आगे बढ़ाया। क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं के प्रसार से भी उन्हें न केवल भूमि-अनुदान के माध्यम से अपनी स्थिति को आगे बढ़ाने में मदद मिली, बल्कि संसाधनों और अधिकारों की एक विशाल श्रृंखला के रूप में व्यापक विशेषाधिकार भी प्राप्त किये। इस प्रक्रिया में दोनों ने एक दूसरे को वैधता प्रदान की। विशाल संसाधनों और श्रमिकों पर अपनी पकड़ के साथ, ब्राह्मण

ाों ने ग्रामीण समाज में अपनी स्थिति को मज़बूत किया। व्यापक देशान्तर जाल, नातेदारी संबंधों, शैक्षणिक योग्यता, और राजसी संपर्क ने ब्राह्मणों के वर्चस्व का क्षेत्र बढ़ाया। यह कालअवधि उपमहाद्वीप में ब्राह्मणवादी धार्मिक केन्द्रों या परिसरों के उद्भव का भी गवाह बनी। ग्रामीण क्षेत्रों में ब्राह्मणवाद के विस्तार ने पुरोहितों के महत्व को असाधारण अनुष्ठानों, वृतों और प्रायश्चितों में बढ़ाया। भूमि अनुदानों के अतिरिक्त, उनको सामान्य लोगों को दी गई सेवाओं के बदले में दान और दक्षिणा भी प्राप्त होती थी।

वैदिक बलि के अनुष्ठानों में कमी आने से ब्राह्मणों के लिए नये मार्ग खुल गये। भूमि-अनुदानों प्रवासन, राज्य-निर्माण और कृषि विस्तार ने ब्राह्मणों के लिए कृषि, व्यापार, प्रशासनिक और सैन्य सेवाओं जैसे गैर-धार्मिक व्यवसायों को अपनाने के लिए अनुकूल वातावरण बनाया। ब्राह्मणों के द्वारा कई तरह के व्यवसाय अपनाने के पुरालेखों और साहित्यिक स्रोतों में कई उदाहरण हैं। क्षेमेन्द्र की *दशावतारचरित* (11वीं शताब्दी सी.ई.) में कुछ ब्राह्मणों द्वारा कारीगरों, नर्तकों, शराब, मक्खन, नमक विक्रेताओं आदि के अपमानजनक व्यवसायों को अपनाने का वर्णन किया गया है, और यह भी वर्णन है अन्य ब्राह्मण लोग अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को छोड़ने से कैसे 'पदच्युत' हो रहे हैं। यह हालांकि, यह संकेत नहीं करता की उन्होंने पूरी तरह से अपने पुरोहितीय कार्यों को छोड़ दिया था। भक्ति पंथ के प्रसार से नई पूजा-विधि, तीर्थों, पूजाओं, व्रतों, तपस्याओं और *पुराणों* के सस्वर पाठ में आय के अच्छे स्रोत के साथ उनकी कमाई जारी रही। उन्होंने सत्ताधारी कुलीनों, सामंतों के साथ अपने संबंधों, भूमि-अनुदानों और अन्य प्रकार के उपहारों के कारण काफ़ी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त की।

ब्राह्मणों ने न केवल कृषि को अपनाया, जो वैश्य-शूद्रों का प्राथमिक व्यवसाय था, बल्कि व्यापार सहित विभिन्न गैर-पारंपरिक व्यवसायों को भी अपनाया। चारुदत्त, *मृच्छकटिक* नाटक का नायक, पेशे से एक व्यापारी और जाति के एक 'धर्मपरायण ब्राह्मण' हैं। यह सामान्य तौर पर नहीं कहा जा सकता है कि पुरोहित वर्ग के सभी सदस्यों ने भौतिक समृद्धि का आनंद लिया, उनमें से कुछ ने निम्न स्तर के कार्यों का भी सहारा लिया। *जजमानी* प्रणाली के विकास के कारण ब्राह्मण भी स्थिर हो गये और स्थानीय सामाजिक समूहों से जुड़ें रहे, जिन्होंने ब्राह्मणों द्वारा दी जाने वाली सेवाओं के बदले में उन्हें संरक्षण प्रदान किया। ब्राह्मणवादी ग्रन्थ यह प्रमाणित नहीं करते कि ब्राह्मणों की सेवाओं को कुछ मिश्रित जातियों तक पहुँचाया गया। जिन ब्राह्मण लोगों ने उनको सेवा दी उन्हें मिश्रित जातियों के बराबर पदच्युत और पतित घोषित किया गया। अल-बरूनी ने भी ईरानी मूल के *मग* या *शकद्वीपी* ब्राह्मण नामक एक पदच्युत ब्राह्मण का उल्लेख किया है। *राज-ब्राह्मण, क्षत्रिय-ब्राह्मणों, वैश्य-ब्राह्मणों* और *शूद्र ब्राह्मणों* के रूप में सरासर व्यावसायिक विविधता और सामाजिक स्थिति का स्पष्ट वर्गीकरण आरोही और अवरोही गतिशीलता को दिखाता है। ब्राह्मणों का एक वर्ग भू-आभिजात्य वर्ग से और प्रादेशिक शक्तियों को प्राप्त कर क्षत्रिय दर्जे का कुलीन शासक बन गया। ब्राह्मण-क्षत्र का संयोजन एक अनिर्णित स्थिति नहीं थी, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण को छोड़कर विशुद्ध रूप से क्षत्रिय मूल का दावा किया। राजस्थान के उभरते सत्तारूढ़ परिवारों जैसे चाहमानों, प्रतिहारों और गुहिलों ने पहले अपने ब्राह्मण मूल के कारण दो वर्णों के मिलन से अपनी वंश-परम्परा का दावा किया, लेकिन क्षेत्रियों की भूमिका निभाई। लेकिन एक बार उन्होंने खुद को स्थापित कर लिया तो उन्होंने पूरी तरह से ब्राह्मणीय दर्जा छोड़ दिया। इस प्रकार हम देखते है कि ब्राह्मणों की उप–जातियों के प्रसार के कारण ब्राह्मणों की स्थिति अधिक जटिल और अस्थिर हो गई।

11.5.2 शासक वर्ग

क्षेत्रीय राज्य-व्यवस्था या सत्ताधारी घरानों के प्रसार ने कई सामाजिक परिवर्तन किए। नए वंशों पर आधारित सामाजिक समूहों की उत्पत्ति हुई, जिन्हें प्रारंभिक मध्यकाल का

''राजपुत्र या राजपूत'' कहा जाता था। आरंभिक मध्यकाल के ग्रन्थ जैसे *कुमारपालचरित, वर्णरत्नाकर, राजतरंगिणी,* आदि में राजपूतों के छत्तीस कुलों का उल्लेख है। लेकिन 36 राजपूत कुलों की सूची ग्रन्थ से ग्रन्थ में भिन्न होती है। जबकि चाहमानों और प्रतिहारों जैसे कुछ कुलों को बहिष्कार का सामना नहीं करना पड़ा और सूची में नियमित रूप से शामिल हुए।

राजपूत की उत्पत्ति एक बहुत ही विवादित विषय है, फ़िर भी यह निष्कर्ष निकालना मुश्किल है कि वे विदेशी आप्रवासी थे या देशी जनजातियाँ या पुराने क्षत्रिय या ब्राह्मण या वर्गीकृत किए गए सामंत या सभी। राजपूतों का विस्तार विविध मूलों की ओर संकेत करता है। 8वीं शताब्दी के बाद से पश्चिमी और मध्य भारत में ऐसे कई समूह उभरे और वहाँ राजनीतिक स्थान पर कब्ज़ा कर लिया। बाद में इसी प्रक्रिया को भारतीय महाद्वीप के कई हिस्सों में दोहराया गया जिसने इसे उस समय की विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया बनाया। 'राजपूतीकरण' की प्रक्रिया के माध्यम से कई नये वंशों को राजनीतिक स्थिति में शामिल किया गया। राजपूतीकरण की प्रक्रिया 7-8वीं शताब्दी सी.ई. में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। राजपूतों ने मिथकों, विवाह गठबंधन, ब्राह्मणों के समर्थन, संप्रदाय भक्ति पंथ के माध्यम से अपनी शक्ति और स्थिति को बढ़ाया। राजपूतों के कई नए वंश उभरे। कई प्रमुख वंश छोटे कुलों में विभाजित हो गए। बी. डी. चट्टोपाध्याय प्रारंभिक मध्ययुगीन प्रक्रियाओं के साथ राजपूत की उत्पत्ति के बारे में बताते हैं जैसे कि भूमि-अनुदान के माध्यम से नए क्षेत्रों का उपनिवेशीकरण, बड़े स्तर पर क्षेत्रीय संरचना में एकीकरण, कृषि का विस्तार, गाँव की अर्थव्यवस्था का विस्तार, जातियों का प्रसार आदि। एक तरफ 'मेड़' जैसा कबीला एक आदिवासी पृष्ठभूमि से राजपूत वर्ग में पहुँच गया। दूसरी तरफ, हुणों जैसे विदेशी आप्रवासी भी राजपूत वर्ग में शामिल किये गए। आरोही गतिशीलता ने कई समूहों को राजपूत या क्षत्रिय स्थिति के लिए प्रतिस्पर्धा करने का अवसर दिया।

भूमि अनुदानों से भी नए वर्गों का उदय हुआ। सामंती शासक या कुलीन एक अलग वर्ग के रूप में उभरे। भट्ट भुवनदेव (12वीं शताब्दी) के *अपराजितप्रच्छ* में सामंतों की आठ श्रेणियों को संरचित पदानुक्रम में *महामण्डलेश्वर, मण्डलिका, महासामन्त, सांमत* और *लघुसांमत* के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह बताता है कि सम्राट जो *महाराजाधिराजा परमेश्वर* की उपाधि धारण करते हैं, उनके पास चार *मंडलेश्वर,* 12 *मंडलीक,* 16 *महासामंत,* 32 *सामंत,* 160 *लघुसामंत* और 400 *चर्तुसिका* उनके दरबार में होने चाहिए, जिनके नीचे अन्य सभी राजपुत्र थे। यह स्पष्ट रूप से पता नहीं लगाया जा सकता है कि इन सामंती राजाओं ने क्षत्रिय या राजपूत का दर्जा रखा था या नहीं। लेकिन यह स्पष्ट है कि शुरू में राजपूतों को सामंती पदानुक्रम के निचले क्रम पर रखा गया था। अन्य एक समकालीन ग्रन्थ *मनसार* इंगित करता है कि वर्णों के बावजूद सामंती पदानुक्रम में दो सैन्य पद *प्रहारका* और *अस्त्रग्रहिन,* सभी वर्णों के लिए खुले थे। रैंक में कम होने के बावजूद, *अस्त्रग्रहिन* 500 घोड़ों, 5000 हाथियों, 50,000 सैनिकों, 5000 महिलाओं और एक रानी के अधिकारी थे।

भूमि और शक्ति उभरते सामाजिक और राजनीतिक वर्गों का आधार बन गयी। शुरुआती मध्यकाल में कुछ वणिज अथवा व्यापार जातियों और कारीगरों को भी सैन्य और प्रशासनिक पद का सकेंत देते हुए सामंती खिताब दिये गए थे। इन प्रशासनिक पदों ने पद धारण करने वालों की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाया। *ठाकुर, राउत* और *नायक* जैसी उपाधियाँ ना केवल राजपूतों और क्षत्रियों को दी जाती थी, बल्कि *कायस्थों* या अन्य जातियों के सदस्यों को भी दी जाती थीं। *राजपुत्र, राजकुल* या *रणक* जैसे नए शीर्षकों को अपनाना न केवल राजपूत वंशों तक सीमित था, बल्कि कुछ बाहरी लोगों के लिए भी खोला गया था। ये उपाधियों सामंती उपाधियों जैसे *सामंत, महासामंत, लघुसामंत* आदि से पूरी तरह अलग थीं।

प्रारंभिक चरण में सभी प्रमुख राजपूत वंश जैसे प्रतिहार, गुहिल और चाहमान स्थापित राजवंशों के तहत सामंत बने। उन्होंने ना केवल स्वतंत्र शक्ति की घोषणा करके अपनी राजनीतिक स्थिति को बदल दिया, बल्कि राजपूत दर्जे का दावा करके सम्मानजनक सामाजिक वंश का दावा भी किया। उन्होंने अपनी वंशावली गढ़ी और पौराणिक अतीत की क्षत्रिय स्थिति का दावा किया। 11-12वीं शताब्दी सी.ई. में राजपूत वंशों का प्रसार एक व्यापक सामाजिक घटना का परिणाम था जिसे राजपूतीकरण कहा जाता हैं। मुख्य कुलों से उप-कुलों या मामूली कुलों का गठन भी राजपूतों के प्रसार की प्रक्रिया को तेज कर देता है। समय के साथ डोड़ा, परमारों का एक उप-कुल; पीपड़िया, मंगलय, गुहिलों के उप-वंश; देवड़, मोहिला और सोनी, चहमानों के उप-समूह; और दाधीच, राठौरों का एक उप-कुल बना। कई कारकों ने इस उप-कुलो के गठन में योगदान दिया जैसे की प्रत्यक्ष विभाजन, स्थानीयता और वैवाहिक गठबंधन।

शूद्रों सहित राजपूतों के नई सामाजिक-राजनीतिक गठजोड़ में विविध सामाजिक समूह सम्मिलित हो गए। इसलिए *बृहदधर्मपुराण* ने राजपूतों को मिश्रित जाति माना और *शूद्र कालमकार* ने शूद्र महिला और क्षेत्रीय पुरुष के मिलन से पैदा हुई मिश्रित जाति के क्षत्रिय को उग्र के समकक्ष माना। अरब यात्री इब्नखुदार्दबिह के वर्णनों (10वीं शताब्दी सी.ई.) में दो प्रकार के क्षत्रियों का पता चलता है। *सत-क्षत्रिय* और *असत-क्षत्रिय*। शुद्ध और अन्य क्षत्रियों के बीच यह द्विआधारी विभाजन 12वीं शताब्दी सी.ई., की एक महत्वपूर्ण विशेषता बन गया, जो कई ग्रन्थों और शिलालेखों द्वारा सत्यापित है, जो कि श्रेष्ठ कुलों को अन्य प्रदूषित कुलों से अलग करता है।

11.5.3 वैश्य

वैश्य वर्ण में भी प्रारंभिक मध्यकाल में परिवर्तन आया। जातियों के प्रसार के कारण वैश्य वर्ण के भीतर कई व्यवसायों का समावेश हुआ। उस काल के दौरान वैश्य वणिज या व्यापारी का पर्याय बन गए। कृषि के विस्तार और कृषि के साथ शूद्रों के विशिष्ठ जुड़ाव ने वैश्यों को *श्रुति* साहित्य द्वारा सौंपे गए अपने पारंपरिक कर्त्तव्यों को छोड़ने के लिए मजबूर किया। हमारे पास उनकी बस्तियों के संदर्भ हैं जिन्हें *वाणिज्य-ग्राम* के नाम से जाना जाता है। शिल्प और विभिन्न प्रकार के कारीगरी उत्पादनों के प्रसार के कारण वणिज जातियों का प्रसार हुआ। वे अब मुख्य रूप से रत्नों, मोती, मूँगा, धातु, बुने हुए कपड़े, इत्र और मसालों के क्रय–विक्रय में शामिल थे। प्रारंभिक मध्यकाल तक *वणिज* की पहचान वैश्य के बजाए, एक प्रमुख अस्मिता के रूप में उभरी। पश्चिमी भारत के कुछ *वणिज* परिवारों ने अपनी समृद्धि स्थापित की और धार्मिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को संरक्षण देना शुरू कर दिया। 9वीं शताब्दी के सियादोनी शिलालेख से पता चलता है कि कैसे एक नमक व्यापारी या *नेमक-वणिज,* जिनके पिता भी *नेमक-वणिज* थे और जिन्होंने धार्मिक प्रतिष्ठानों को कई दान दिए और *नेमक-जाति* के सदस्य बन गए।

11.5.4 शूद्र

8वीं शताब्दी का *विष्णुधर्मोत्तर पुराण* हजारों मिश्रित जातियों की उत्पत्ति का उल्लेख करता है। चीनी यात्री जुआनजेंग भी अनेकों जातियो का उल्लेख करता है। निम्न या निम्नतम शूद्र-जातियों या मिश्रित जातियों की संख्या में प्रसार हुआ। इतने बड़े समूह का उदय न तो एक समान था और न ही स्थिर। बंगाल से 10वीं से 15वीं शताब्दी सी.ई. के बीच *ब्रह्मवैवर्त-पुराण* में 17 *सत्-शूद्र* जातियों और विभिन्न *असत-शूद्र* जातियों के नाम दर्ज हुए है जिनको पतित और अधम् का दर्जा भी दिया गया जो उनके अशुद्ध और अछूत स्थिति का सूचक था। 12वीं-13वीं शताब्दी के बंगाल के *वृहद्धर्मपुराण* में 36 मिश्रित-जातियों या

मिश्रित शूद्रों को दर्ज किया गया है। उन्होंने आगे चलकर उन्हें 22 *उत्तम,* 12 *मध्यम* और 9 *अधम* अथवा *अंत्यज* श्रेणियों में विभाजित किया। ऐसा लगता है कि 36 मध्ययुगीन समय में विशेष रूप से वर्ग और जातियों के संबंध में रूढ़िवादी घिसा-पिटा आँकड़ा उभरा।

11.5.5 अछूत

कभी-कभी अछूतों को पाँचवा वर्ण भी कहा जाता था। कुछ समूहों को सामाजिक पदानुक्रम के सबसे निचले तल पर रखा गया था, इसलिए वर्ण-जाति व्यवस्था में उन्हें गंभीर सामाजिक-सांस्कृतिक अलगाव और भेद-भाव का सामना करना पड़ा। उन्हें पहली बार 600 बी.सी.ई. में *चांडाल, मगध* और *पौलकस* के रूपों में देखा गया था। लेकिन यह स्पष्ट है कि उनके साथ अलग तरह से व्यवहार किया गया था। लगभग 200 सी.ई. में इस अस्पृश्यता ने आरंभिक *धर्मसूत्रों, अर्थशास्त्र* और *मनुस्मृति* में एक निश्चित आकार लिया। *चांडाल* अछूत का पर्याय बन गया और उन्हें ब्राह्मणवादी, बौद्ध और जैन पंथों में तिरस्कार की भावना का सामना करना पड़ा था। *चांडाल* के साथ-साथ *श्वापक* और *अन्तयावसाईन* गलिनता के स्थायी स्रोत बन गये और उन पर कई तरह की अक्षमताऐं थोपीं गई। उन्हें निम्न स्तर के या अशुद्ध व्यवसायों को भी सौंपा गया जैसे कि शमशान, सफाई कर्ता और जल्लाद।

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में अस्पृश्यता का प्रचलन तेज हो गया। *विष्णुस्मृति* और *कात्यायन स्मृति* जैसी ब्राह्मणवादी विधि की पुस्तकों में पहली बार '*अस्पृश्य* शब्द का प्रयोग किया गया। सूची में और समूहों को जोड़ा गया लेकिन *चांडाल* और *श्वापक* को अछूत माना जाता रहा। वे *शूद्रों* से भी अलग थे। चीनी यात्री फाहयान भी *चांडाल* के सामाजिक, व्यवसायिक और शारीरिक पृथकत्व को प्रमाणित करते हैं। बौद्ध और जैन ग्रन्थों द्वारा भी इसी तरह का बर्ताव किया गया। 12वीं शताब्दी में अस्पृश्यता अपने चरम् पर पहुँच गई। नए क्षेत्रों में ब्राह्मणवादी समाज के विस्तार के कारण विभिन्न व्यवसायिक समूहों और जनजातियों को अछूतों में शामिल किया गया। शुद्धता और अशुद्धता की धारणा और तेज हो गई, और यह दृष्टि, छाया, पानी और भोजन के माध्यम से भी संक्रामक बन गई। *चांडाल* सबसे बुरी तरह प्रभावित थे। निम्न स्तरीय समूहों को भी अछूतों के रूप में नामित किया गया जिनमें *चर्मकार, राजक, बुरुड़, नट, चकरी, ध्वजी, शौडींक, शिकारी, मछुआरे, कसाई, जल्लाद* और *मेहतर* शामिल थे। गौ-मांस खाने वाले या *गवसनह* को पहली बार अछूत बनाया गया। कई आदिवासी जनजातियाँ जैसे कि *भील, कैवर्त, मेड* और *कोलिकों* भी ब्राह्मणवादी व्यवस्था को अस्वीकार करने के कारण अछूत बना दिये गये। सभी ब्राह्मणवादी ग्रंथों में *कैवर्त* और *निशाद* को अछूत के रूप में दर्ज नहीं किया गया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरोध के कारण कुछ कृषि जातियों को भी अछूत करार दिया गया। विभिन्न समूहों से जुड़ी अस्पृश्यता की श्रेणी के आधार पर अछूतों के बीच पदानुक्रम बनाने के प्रयास भी किए गए थे। कभी-कभी शूद्रों को अछूतों के रूप में भी पहचाना जाता था, विशेष रूप से *असत-शूद्रों* को। संक्षेप में अस्पृश्यता को एक तरफ कुछ समूहों के बहिष्कार के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया, दूसरी ओर, इसका इस्तेमाल असन्तुष्टों की आवाज़ दबाने के लिए किया गया। लेकिन सभी अछूतों को समाज से बाहर नहीं किया गया था। कुछ प्रारंभिक मध्ययुगीन ब्राह्मणवादी ग्रन्थ असाधारण उद्धरण प्रदान करते हैं। *स्मृतिअर्थसार* अछूतों को मन्दिर में प्रवेश की अनुमति देता है। *अत्रिस्मृति* और देवन भट्ट की *स्मृतिचन्द्रिका* कई अवसरों पर अछूतों के साथ मेल-जोल करने की अनुमति देती है जैसे कि त्योहारों, युद्धों और धार्मिक जुलूसों में; और विपदाओं और देश और गाँवों के आक्रमणों के दौरान। दूसरी ओर *राजतरंगिंणी* भी विपरीत तस्वीरें पेश करती हैं, जहाँ *डोम्ब* और *चंडाल* दरबार की राजनीति में प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं।

11.5.6 नई जातियाँ: *कायस्थ* और *वैद्य*

मुंशी समुदाय के रूप में कायस्थों का उदय इस काल का एक अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक विकास है। भूमि अनुदानों के प्रसार ने शिलालेख या दस्तावेज लेखकों या अभिलेखकों की देखभाल करने वालों का एक वर्ग बनाया। वे *कायस्थ, करण, कर्णिका, अधिक, पुस्तपालक, चित्रगुप्त, लेखक, द्विर, धर्मलेखिन, अक्षरचन, अक्षपातालिक* और *अक्षपातालाधिकृत* के रूप में विभिन्न नामों से जाने जाते थे। इन श्रेणियों ने कायस्थों के एक वर्ग का गठन किया। प्रारंभ में उच्च वर्णों के साक्षर व्यक्तियों को कायस्थ के रूप में नियुक्त किया गया; बाद में, दस्तावेज लेखन सभी के लिए खुला पेशा बन गया। जब यह पेशा वशांनुगत हो गया तो इसने एक जाति का रूप ले लिया जहाँ उन्होंने सवर्गीय विवाह और विजातीय विवाह की धारणा को अपनाया। कायस्थों का *द्विजों* और *अद्विजों* अथवा *शुद्रों* के साथ संसर्ग के कारण कायस्थों का वर्ण संबंध ठीक से स्थापित नहीं हो सका।

ब्राह्मणवादी निर्देशात्मक ग्रन्थों ने अम्बस्थ या वैद्यों या चिकित्सकों को *शूद्र* घोषित किया और *द्विजों* को इसे अपना पेशा बनाने से रोक दिया। प्रतिबंधों के बावजूद, कई समूहों ने इस पेशे को अपनाया और निर्देशात्मक ग्रन्थों की उपेक्षा करके चिकित्सक बन गये। हमेशा की तरह अभ्यास वशांनुगत हो गया और पेशा जाति में बदल गया। जब ब्राह्मणों ने खुद ब्राह्मणवादी मठों में इस पेशे का अभ्यास करना शुरू कर दिया, तो पेशे के खिलाफ पूर्वाग्रह में काफ़ी कमी आई। चिकित्सा, वनस्पति विज्ञान और पशु-चिकित्सा विज्ञान में पुस्तकों की रचना ने भी पेशे और जाति का दर्जा उपर उठा दिया।

11.6 जनजातियाँ

ग्रामीण इलाकों के साथ-साथ आंतरिक ग्रामीण इलाकों के लिए दिये गये भूमि अनुदानों के कारण राज्य समाज का वहाँ की जंगलों में रहने वाली जनजातियाँ से साक्षात्कार हुआ। विभिन्न वन जनजातियों व उन सबको जो ब्राह्मणवादी समाज के चतुर्वर्ण व्यवस्था से बाहर थे, निम्न स्तर का घोषित कर, वशीभूत करके समाज में जगह दे दी गईं। बहुत सी जनजातियों का कृषकीकरण हुआ। यह शांतिपूर्ण प्रक्रिया नहीं थी। ब्राह्मणों द्वारा आदिवासी पंथों और देवताओं का विनियोजन किया गया और कभी–कभी जनजातीय पंथ को शाही पंथ की स्थिति तक ऊंचा उठा दिया गया जैसा कि उडीशा के जगन्नाथ पंथ के संदर्भ में हुआ। कुछ मामलों में कुछ जनजातियों को उच्च स्तर प्रदान किया गया जैसे कि ब्राह्मण या क्षत्रिय। अन्य समय में उन्हें निम्न दर्जा दिया गया जैसे कि शूद्र या अछूत। ब्राह्मणकृत आदिवासी समूह जैसे अभिर ब्राह्मण, अंबस्थ ब्राह्मण और बोया ब्राह्मण इसके बेहतरीन उदाहरण है। बोया जो दक्कन के नेल्लोर–गुंटूर क्षेत्र में एक प्रमुख आदिवासी समूह था, ब्राह्मणों में बदल गया और दक्कन की एक प्रमुख स्थानीय शक्ति के रूप में उभरा।

11.7 दास

वैदिक काल से ही दासत्व का अस्तित्व था, लेकिन दासों को कभी भी उत्पादन-संबंधी गतिविधियों में शामिल नहीं किया गया और वे तथाकथित अशुद्ध घरेलू कार्यों जैसे कि झाड़ू लगाने, मानव मल हटाने और व्यक्तिगत सेवाओं को स्वामी तक पहुँचाने तक ही सीमित थे। दास कभी एक समान वर्ग के नहीं थे। *अर्थशास्त्र* पाँच प्रकार के दासों की गणना करता है; *मनुस्मृति* सात प्रकार के, और *नारदस्मृति* पद्रंह प्रकार के। उनके जन्म, क्रय, बंधक, उपहार, विरासत, स्वैच्छिक दासता, युद्ध में बंधक, ऋृणग्रस्तता आदि के आधार

पर दासों के बीच अन्तर थे। गुलाम या दास किराए के नौकरों से अलग थे। शूद्रक *की मृच्छकटिक* में दासता की जीवंत तस्वीर पेश की गई है। दास क्रय और विक्रय की वस्तु थे। दासपुत्र या दास के पुत्र और दास पुत्री या दास की बेटी, को बार-बार अपशब्दों के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। *लेखापद्धति,* 13वीं शताब्दी का ग्रन्थ, घरेलू और खेतों में महिला दास के कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन करता है और उन्हें विदेश भेजने की अनुमति भी देता है। दास पूरी तरह से अपनी आजीविका के लिए अपने स्वामी पर निर्भर थे। उनके पास किसी तरह का स्वामित्व का हक नहीं था। उनका शारीरिक शोषण किया जाता था। *लेखापद्धति,* एक महिला दास को यातना देने और आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करने का एक उल्लेख करती है। लेकिन उनकी मुक्ति संभव थी। *नारद स्मृति* इसके लिए विस्तृत प्रावधान प्रदान करती है।

संगम काल के उत्तरार्द्ध से दक्षिणी भारत में दासता का अस्तित्व था। दक्षिण भारत में दासों को निजी सम्पत्ति माना जाता था। शिलालेख बताते हैं कि पुरुष और महिला दोनों को मन्दिरों को बेच दिया जाता था जहाँ महिला को 'मंदिर-महिला' के रूप में नियोजित किया गया था। विवाह में दहेज के एक भाग के रूप में भी दास हस्तांतरणिय थे। कुछ मामलों में दासता स्वैच्छिक थी, जहाँ पद-दलित परिवारों ने खुद को मंदिरों को सौंप दिया था।

11.8 *मलेच्छ*

यह अवधारणा नई नहीं थी; प्रारंभिक मध्यकाल से बहुत पहले यह विद्यमान थी। यह आमतौर पर उन लोगों के लिए उपयोग किया जाता था, जो ब्राह्मणवादी समाज के प्रमुख मूल्यों, विचारों या मानदंडों को स्वीकार नहीं करते थे। यह मुख्य रूप से विदेशियों और देशी जन-जातियों के लिए इस्तेमाल किया गया था। इस ढाँचे का उपयोग ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा के लिए किया गया था, और सुसंस्कृत और बर्बर या *मलेच्छों* के बीच एक विभाजन करने के लिए किया गया था। लेकिन समय और स्थान पर यह भिन्न थी। *मलेच्छ* स्वभाविक रूप से विविध थे। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में, विभिन्न स्तरों पर बड़ी संख्या में जनजातियों को ब्राह्मणवादी समाज के विस्तार में शामिल किया गया था। हालाँकि उनमें से कुछ ने ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था का या राज्य समाज के विस्तार का प्रतिरोध किया। वे बाहर रहे और उन्हें *मलेच्छ* के रूप में नामित किया गया। कई प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों में जैसे *ब्रहद्धर्मपुराण, वर्णरत्नाकर* आदि में *मलेच्छों* के बारे में बताया गया है। इन साहित्यों में कुछ जनजातियों जैसे *भील, पुलिन्द,* और विंध्यन घाटी के *सबरों* को असामाजिक तत्वों के रूप में दर्शाया गया है। *राजतरंगिणी* कुछ अस्टोर, स्कंद और गिलगिट के *मलेच्छ* प्रमुखों को कश्मीरी संस्कृति की सीमा से बाहर पिछड़े और बाहरी तत्वों के रूप में पेश करती है।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही या गलत है? इसके आगे लिखो।

   क) मध्ययुगीन काल में ब्राह्मण प्रभावशाली ग्रामीण भू-स्वामी के रूप में उभरे ( )

   ख) मध्ययुगीन काल में *कायस्थ* और *वैद्य* नई जातियों के रूप में उभरे ( )

   ग) दास भी उत्पादन कार्यों में लगे हुए थे ( )

   घ) सभी जनजातियों को शूद्र या अछूत के रूप में शामिल किया गया था ( )

   ड़) प्रारंभिक मध्यकाल में *मलेच्छ* के स्तर का पतन हो गया था। ( )

2) इस काल में अछूतों की स्थिति पर चर्चा करें?

.....

.....

.....

.....

3) प्रारंभिक मध्यकाल में शूद्रों की बदलती स्थिति पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

11.9 लैंगिक सम्बन्ध

आरंभिक काल के दौरान कृषि अर्थव्यवस्था के विस्तार के साथ, 'भू-संपत्ति', दौलत का सबसे मूल्यवान रूप बनकर उभरी। नए उभरते राज्यों या क्षेत्रीय राज्य व्यवस्था ने बहुत अधिक शक्ति को धारण किया और प्रत्येक प्रकार की भूमि पर सर्वोच्च अधिकारों का प्रयोग किया। क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय स्तर पर व्यापक भूमि अनुदान दिये गए, जिससे राज्य समाज का विस्तार हुआ। ब्राह्मणों ने भूमि-अनुदान के माध्यम से नये क्षेत्रों में प्रवेश किया, विशाल भूमि के स्वामी बने। उपर्युक्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विकास ने प्रारंभिक मध्यकाल में लैंगिक सम्बन्धों को और अधिक जटिल बना दिया।

अपनी संम्पत्ति के अधिकारों, स्वेच्छा विवाह, विधवापन, सती-व्यवस्था, शिक्षा और राजनीति या प्रशासन में कुछ असाधारण भूमिकाओं के संदर्भ में पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन करके लैंगिक सम्बन्धों को आसानी से उकेरा जा सकता है।

11.9.1 महिलाओं के संपत्ति अधिकार

ब्राह्मणवादी विधि-शास्त्रों ने पुरुष उत्तराधिकारियों के ना होने की स्थिति में संपत्ति के उत्तराधिकार में महिलाओं के अधिकार को मान्यता दी। स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार, राज्य द्वारा इसके जब्त होने की संभावनाओं को कम कर देता है। जीमूतवाहन के *दयाभाग* (12वीं शताब्दी सी.ई.) और विज्ञनानेश्वर के *मिताक्षर* (11वीं शताब्दी सी.ई.) ने भी विधवाओं के उत्तराधिकार के अधिकार को मान्यता दी। गुजरात के राजा कुमारपाल का 1150 सी.ई. शिलालेख विधवा को अपने पति की भू-संपत्ति पर अधिकार देता है। राजदित्य चोल द्वितीय का अच्छलपुरम, तमिलनाडू का अभिलेख एक *ब्रह्मदेय* गाँव की *सभा* के फैसले के बारे में बताता है जो एक विधवा को अपने पति की भूमि और अन्य सम्पत्तियों को विरासत में देने की अनुमति देती है।

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में स्त्रीधन के रूप में स्त्रियों के अधिकारों का विस्तार हुआ। प्रारंभिक मध्ययुगीन टीकाओं और नीति संग्रहों ने स्त्री धन का विषय क्षेत्र व्यापक बनाया। *मिताक्षर* महिलाओं से संबंधित किसी भी प्रकार की सम्पत्ति के रूप में इसकी व्याख्या करता है। लेकिन परिभाषा सभी ग्रन्थों में एक समान नहीं है। *दयाभाग* और *स्मृति-चन्द्रिका* जैसे कुछ ग्रन्थों ने स्त्री धन को बहुत सीमित दायरे में मान्यता दी। प्रारंभ में, स्त्री धन काफ़ी

हद तक चल सम्पत्ति तक सीमित था। हालांकि महिलाओं को विक्रय ऋण या उपहार के माध्यम से सम्पत्ति को बेचने का निरपेक्ष स्वामित्व का अधिकार नहीं था। महिलाओं को केवल चल सम्पत्ति रखने का अधिकार था। अचल सम्पत्ति पर परिवार का श्रेष्ठतर अधिकार था।

प्रारंभिक मध्ययुगीन शिलालेख यह भी संकेत देते हैं कि सामंतों की कुछ रानियाँ और पत्नियाँ अपने जीवनसाथियों के जीवन काल में जागीरधारक बन गई। उनमें से कुछ ने मंदिरों और ब्राह्मणों को अपनी जागीरें धर्म लाभ के लिए दान कर दी। उनमें से कुछ ने धार्मिक वास्तुशिल्प के लिए दान दिया और मंदिर और तालाबों के निर्माण, मरम्मत और नवीनकरण का काम किया। इससे पता चलता है कि उच्च वर्ग की महिलाओं के पास अपने सम्पत्ति व्यय में काफ़ी अधिकार और संसाधन थे। चोल रानियों और राजकुमारियों के बीच यह प्रथा बहुत आम थी, यह दर्शाता है कि उन्होंने व्यक्तिगत भत्ता या व्यक्तिगत सम्पत्ति का आनन्द लिया होगा। मंदिर में नृत्य करने वाली या *तेवरातियल* को मंदिर भूमि, राजस्व और करों में भी हिस्सा दिया गया। उन्हें मंदिर की भूमि में भू-स्वामित्व का अधिकार था। महिलाओं के भूमि के अधिकार उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न थे। *राजतरंगिणी* में कश्मीर में महिला शासकों (सुगन्धा, दिद्दा और सूर्यमती) सहित कई महिला दाताओं और भवन निर्माण कर्त्ताओं का भी उल्लेख है, जैसे रानी (रत्नादेवी) और कुछ गैर-राजसी परिवारों की स्त्रियाँ (जैसे सुशाला, चिन्ता, वल्गा और संबावती)।

जबकि महिलाओं का संसाधनों पर सीमित अधिकार था, पुरुषों को भूमि और अन्य संसाधनों पर निर्विवाद अधिकार थे, उन्होंने इसे परिवार, जागीर और राज्य प्रणाली के माध्यम से नियंत्रित किया। ब्राह्मणवादी निर्देशात्मक नियम महिलाओं के अधिकारों की बनिस्पत पुरुषों के प्रभुत्व को ज्यादा मान्यता देते हैं। लैंगिक समानता की अवधारणा लगभग अदृश्य थी। कश्मीर की कहानी असाधारण है, जहाँ पुरुषों और महिलाओं दोनों ने पारंपरिक रूप से मान्यता प्राप्त भूमिकाओं की उपेक्षा करते हुए दान और भवनों के निर्माण की समान परियोजनाओं को अपनाया।

11.9.2 विवाह और विवाह-विच्छेद

महिलाओं को सम्पत्ति के अधिकार के अलावा, घर के भीतर और बाहर स्त्रियों की स्थिति भी पुरुष लोगों की तुलना में उनके लैंगिक संबंधों को दर्शाती है। पहले के दौर में *अनुलोम* विवाह को प्रोत्साहित और *प्रतिलोम* विवाह का दृढ़ता के साथ विरोध किया जाता था। लेकिन इन दोनों विवाहों के परिणामस्वरूप *वर्ण* और जातियों का अंतर्मिश्रण हुआ। उसी रीति पर, शुरुआती मध्ययुगीन काल में *द्विज* या *द्विजाति* के पुरुषों को निम्न वर्ग की लड़कियों के साथ विवाह को अमान्य ठहराया गया। कुछ ग्रन्थों ने मिलन को अनुमति दी, लेकिन केवल यौन सन्तुष्टि के लिए, उससे परे नहीं। *स्मृतिचन्द्रिका* ने इस तरह के मिलन और वंश विरासत के नियम बनाए। *अनुलोम* विवाह के संदर्भ में संतानों को उनके माता–पिता के समान सामाजिक दर्जा नहीं दिया जाता था बल्कि उससे निम्न दर्जा दिया जाता था। *प्रतिलोम* विवाह के मामलें में, उनकी वर्ण-जाति की स्थिति के बावजूद संतानों को शूद्र का दर्जा या उससे कम दर्जा दिया जाता था। लेकिन विवाह के नियम तय नहीं किये गये थे, यह अनुमान से अधिक लचीला था।

प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों ने तेजी से लड़कियों की विवाह योग्य आयु को कम किया, जबकि पुरुषों के लिए कोई नियम निर्धारित नहीं थे। यौवन पूर्व विवाह एक आम बात थी। अल-बरुनी ने हिन्दुओं में भी इसी तथ्य को मौजूद पाया और ब्राह्मणों में वधु के लिए 12 साल की उम्र को दर्शाया। प्रारंभिक विवाह ने लड़कियों को पितृसत्तात्मक वर्चस्व के कारण अधिक असुरक्षित बना दिया। लेकिन यौवन पूर्व विवाह की प्रथा का सभी वर्गों और

जनसंख्या के स्तर में सार्वभौमिक रूप से पालन नहीं किया गया था। दक्षिण भारत में भी, पूर्व यौवन विवाह और वधु-मूल्य (दहेज) समाज के आदर्श बन गए। परिवार में एक लड़की के जन्म का स्वागत नहीं होता था। निम्न वर्गों की तुलना में उच्च वर्गों में बालिकाओं के प्रति भेदभाव तीव्र था। स्वभाविक परिणाम यह था कि पुनर्विवाह असंभव या केवल असाधारण परिस्थितियों में किया जाता था।

11.9.3 विधवापन और नियोग

ब्रह्मपुराण बाल-विधवा के पुर्नविवाह की अनुमति देता है/अथवा जबरन् छोड़ दी गई या अपहरण किए जाने पर कन्या के पुनर्विवाह की अनुमति देता है। जबकि *मेधातिथि* जो *मनुस्मृति* पर टीका है, और अन्य ग्रंथ विधवा विवाह को अस्वीकार कर देते हैं। *लेखापद्धति* बताती हैं कि विवाह-विच्छेद समाज के निचले तबकों के बीच बहुत आम था, जबकि ब्राह्मणवादी ग्रन्थों में विवाह विच्छेद के नियमों को प्रतिष्ठापित नहीं किया गया था। इस प्रकार उच्च-जाति के पुरुषों ने विवाह और विवाह-विच्छेद के निषेध के माध्यम से अपनी महिलाओं पर मज़बूत नियंत्रण किया।

ब्राह्मणवादी साहित्य ने नियोग की पहले की रीति को भी अस्वीकार कर दिया और नियोग से पैदा हुए बच्चे के पितृत्व के मुद्दे पर भी उनके विचार विभाजित थे। कुछ ने पितृत्व का उत्तरदायित्व जैविक पिता को और कुछ ने पतियों या दोनों को दिया। प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान यह प्रथा गहरी और जटिल हो गई और ऐसा लगता है कि महिलाओं ने अपनी प्रजनन क्षमता पर अपना नियन्त्रण खो दिया। इसके अलावा, नियोग, विशेष रूप से एक महिला का अपने छोटे देवर के साथ, लैंगिक पदानुक्रम के लिए और दूसरी ओर नातेदारी पदानुक्रम के लिए चुनौती बना। ऐसी परिस्थितियों में जटिल उत्तराधिकार के कानूनों के साथ, प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में नियोग की प्रथा का तेजी से परित्याग कर दिया गया।

मध्ययुगीन काल में महिलाओं की दुर्दशा बढ़ गई। प्रारंभिक मध्ययुगीन ग्रन्थों में विधवापन पर अधिक प्रतिबन्ध जोड़े गये थे। उन्होंने विधवाओं के सिर के मुंडन के साथ-साथ उनके लिए कठोर, तपस्वी और ब्रह्मचारी जीवन को निर्धारित किया। वे आहार, पोशाक और आत्म-अलंकरण पर भी प्रतिबन्ध लगाते हैं। दक्षिण भारत में, ब्राह्मणवादी प्रभाव के तहत् 7वीं शताब्दी सी.ई. के बाद स्थिति खराब हो गई। सिर का मुन्डन शुरुआत में तमिल प्रथा था, जिसे बाद में उत्तर भारत में अपनाया गया।

11.9.4 सती प्रथा

प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में विधवा-दाह या सती प्रथा का अधिक स्पष्ट रूप देखने को मिला। यह मुख्य रूप से समाज के ऊपरी वर्ग तक ही सीमित थी, विशेष रूप से शासक और सैन्य अभिजात्य वर्ग के लिए। यह प्रथा पितृसत्तात्मक आधारित समाज की उपज थी, जहाँ स्त्रियों और उनकी लैंगिकता को समाज के लिए खतरा माना जाता था। स्थायी विधवापना की तुलना में आत्म-दाह के माध्यम से शारीरिक मृत्यु को आसान माना जाता था। इस प्रथा को साहस और निष्ठा की अभिव्यक्ति के कार्य के रूप में भी गौरवन्वित किया गया था। उत्तर भारत में, उत्तर-पश्चिम, राजस्थान और मध्यप्रदेश में सती प्रथा अधिक प्रचलित थी। ब्राह्मण ग्रंथों में इस विषय पर अलग-अलग राय थी। *मेधातिथि* इस प्रथा को अस्वीकार करती थी। लेकिन सती प्रथा प्रचलित हो गई। गैर-धर्म वैधानिक ग्रन्थ और शिलालेख आँकड़ें भी इसे प्रमाणित करते हैं। *राजतरंगिणी* कश्मीर के राजसी परिवारों में सती प्रथा के कई उदाहरण भी दर्ज करती है। यहाँ न केवल राजसी महिलाएँ बल्कि करीब की रिश्तेदार, राज्यपदाधिकारी, उप-पत्नियाँ और उपचारिका भी अपने स्वामी की चिता पर आत्म-दाह करती थी।

बाण भी *हर्षचरित* में इस प्रथा की बात करता है। पश्चिमी मध्य प्रदेश और राजस्थान से सती स्मारक और अहिच्छत्र से प्राप्त सतीसत्ता की पट्टियाँ इस प्रथा को स्वीकार करती हैं। इस प्रथा को पूरे भारत में महिमामडिंत किया गया था, लेकिन यह सभी समुदायों के एक आम रिवाज़ की तुलना में एक प्रतिष्ठा का सूचक अधिक था। वीरागलों की तरह, सती स्मारक महिलाओं की वीरता का प्रतीक बन गया।

11.9.5 स्त्री शिक्षा

महिलाओं को औपचारिक शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता था। *मिताक्षर* की टीका बताती है कि चूँकि महिलाएँ शूद्र की तरह हैं, इसलिए उन्हें उपनयन संस्कार का कोई अधिकार नहीं है, जो महिलाओं को शैक्षिक जीवन में प्रवेश करने से रोकता था। *नारदस्मृति* पर 8वीं शताब्दी के टीकाकर असहाह ने इस आधार पर महिलाओं की निर्भरता को उचित ठहराया है कि उनके पास उचित शिक्षा, और अच्छी तरह से विकसित समझ का अभाव था। इन पाठ्य परंपराओं के बावजूद कुलीन आभिजात्य वर्ग की महिलाओं की शिक्षा और सैन्य प्रशिक्षण तक कुछ पहुँच थी। निम्न जाति की महिलाओं को उनके जाति आधारित व्यवसायों में पारंपरिक प्रशिक्षण करने की अनुमति थी। संस्कृत कवियत्रियों के कुछ छुट पुट उद्धरण हैं। 9वीं शताब्दी के प्रख्यात कवि राजशेखर कुछ कवियत्रियों को उल्लेखित करते हैं, जैसे कि शिलाभट्टारिका, विज्जिका, प्रभुदेवी, विकटनीतम्बा और सुभ्रदा। उनका कहना है कि पुरुषों की तरह महिलाएँ भी कवि हो सकती हैं। कवि धनदेव ने कुछ कवयित्रियों जैसे मोरिका और मारूला का भी उल्लेख किया है, जो कविता लिखने में निपुण थी, और जिन्होंने शिक्षा हासिल की थी, बहस जीती थी और सब कुछ बोलने में दक्षता हासिल की थी। हालाँकि हमें किसी भी कवयित्री द्वारा लिखित एक भी काव्य नहीं मिला; यहाँ तक कि उनके द्वारा रचित छंद भी संख्या में सीमित हैं (लगभग 140 छंदों का श्रेय 33 कवियत्रियों को जाता हैं)। इन छन्दों के लेखकों को आसानी से निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वो किसी विशिष्ट काव्य का हिस्सा नहीं हैं। नाटय साहित्य के अध्ययन से समाज में महिलाओं की स्थिति को समझा जा सकता है। नाटय साहित्य में, यहाँ तक कि उच्च वर्ग की महिलाओं को संस्कृत में वार्तालाप से वचिंत किया जाता है जो भाषा आमतौर पर उच्च जन्म के पुरुषों के लिए मानी गई थी। *मृच्छकटिक* में, असाधारण स्थिति में *गणिका* वंसतसेना संस्कृत में बात करती है, जबकि अन्य उच्च श्रेणी की महिलाएँ भी संस्कृत की बजाय अन्य बोलिया बोलती हैं। *श्रृगांर-मंजरीकथा* में, भास ने विद्या और संस्कृति के प्रतीक के रूप में *गणिका* श्रंगारमंजरी का वर्णन किया है। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल का संस्कृत साहित्य साक्षर महिलाओं की बहुत हाशिये की स्थिति दर्शाता है।

11.9.6 कुछ अपवाद

राजनीतिक क्षेत्र अनिवार्य रूप से पौरुष आधारित बना रहा, लेकिन महिलाओं ने विभिन्न क्षमताओं में काम किया जो प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में लैंगिक संबंधों की एक विशिष्ठ विशेषता को चिन्हित करता है। जहाँ ब्राह्मणवादी साहित्य ने पुरुष का पक्ष लिया, वहीं *राजतंरगिणी* ने प्रारंभिक मध्ययुगीन काल की महिला शासकों के सर्वोत्तम उदाहरणों का खुलासा किया। ग्रन्थ ने केवल प्रभुताशाली महिला शासकों पर बल्कि सिंहासन के पीछे से प्रभावित करने वाली महिलाओं के वर्ग पर भी प्रकाश डाला है। ग्रन्थों में 104 पुरुष शासकों के विपक्ष में कश्मीर की तीन महिला शासकों (उत्पला, यशकर एवं गाँडा की क्रमशः यशोवती, सुगन्धा और दिद्दा) के शासन काल का वर्णन है। शासकों के अलावा, बड़ी संख्या में महिलाओं ने भी रानी, राजकुमारी, निम्न जाति की पत्नियाँ, उप-पत्नियाँ और परिचारिका कन्याओं के रूप में विभिन्न क्षमताओं में राज-दरबार की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया। इन राजसी महिलाओं के अलावा, दरबार की विधवाओं, मन्दिर की नर्तकियाँ, पत्नी

और माँ को भी राज-दरबार की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाने के लिए चित्रित किया गया था। राजनीति के अलावा, कुछ राजसी और गैर-राजसी महिलाओं को भी धार्मिक इमारतों और अन्य गतिविधियों का संरक्षण करते हुए दिखाया गया है। हालांकि, समाज और राज्य की प्रकृति स्वभाव में पितृसत्तात्मक ही थी। इन राजसी महिलाओं की शक्ति अनिवार्य रूप से पितृसत्तात्मक मानदंडों के अधीन थी। वेगंई के पूर्वी चालुक्यों में अपने पति की मृत्यु के बाद विजयमहादेवी शासक बनी। दिवाब्बारसी ने कर्नाटक में बनवासी के कदंबों के लिए अपने नाबालिक बेटे के स्थान पर शासन किया। हम उडीशा के भौमाकारों और वारंगल (आंध्रप्रदेश) के काकतीय लोगों से भी संदर्भ ले सकते हैं, जहाँ महिलाएँ शासक बन गई थी। शासकों के अलावा राजसी महिलाओं में कुछ को राज्यपाल, प्रशासक, ग्राम सरपंच, सलाहकार आदि के रूप में नियुक्त किया गया था। राजसी परिवारों के बीच चचेरे ममेरे भाई-बहिनों में विवाह और राजसी परिवारों के वैवाहिक गठबंधनों ने महिलाओं को शादी के बाद भी राजनीतिक और सामाजिक रूप से अपने मातृ संबंधों का उपयोग करने की अनुमति दी। फ़िर भी शुरुआती मध्ययुगीन काल में सत्ता की राजनीति में महिलाओं की भागीदारी एक समान नहीं रही।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही या गलत है? इसके आगे लिखोः

   क) *दयाभाग* और *मिताक्षर* ने विधवा के उत्तराधिकार के अधिकार को मान्यता दी। ( )

   ख) मंदिर की नर्तकियों को मंदिर की भूमि, राजस्व और करों में हिस्सा नहीं दिया गया। ( )

   ग) ब्राह्मणवादी साहित्य ने नियोग का पक्ष लिया। ( )

   घ) महिलाओं को औपचारिक शिक्षा लेने के लिए उपयुक्त माना जाता था।( )

   ड़) महिला शासक दिद्दा यशकारा राज-वंश की थी। ( )

2) इस काल के लिए विधवाओं की स्थिति पर चर्चा करें।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

3) राजनीति और प्रशासन में राजसी और गैर-राजसी महिलओं की भूमिकाओं पर चर्चा करें।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

11.10 सारांश

इस काल की सामाजिक संरचना और लैंगिक संबंधों का अध्ययन राजनीति और समाज की परिवर्तनशीलता की ओर इशारा करता है। प्रारंभिक मध्ययुगीन समाज गतिहीन नहीं था, परिवर्तनशील था। सामाजिक संरचना के सभी स्तरों पर अधिकारों और पदों का एक पदानुक्रम मौजूद था। भूमि अनुदान ने ग्रामीण क्षेत्रों में ब्राह्मणों की स्थिति को मज़बूत किया, और इस अवधि में वे भू-स्वामी के रूप में उभरे। ब्राह्मणवर्ण भी विभिन्न उप-जातियों में विभाजित हो गया। प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में राजपूतीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से एक नये शासक वर्ग का उदय हुआ। राजपूत सजातीय समूह नहीं थे, लेकिन कई कुलों में विभाजित थे। धीरे-धीरे वैश्यों ने कृषि छोड़ दी और एक व्यापार समुदाय बन गए। कई नई वणिज जातियों नए व्यवसायों के समावेश के कारण उभरीं। इस काल में शूद्रों की स्थिति बेहतर हुई। नए क्षेत्रों में कृषि के विस्तार के कारण कृषक वर्ग का विस्तार हुआ और शूद्र कृषक बन गए। अछूतों की स्थिति और खराब हो गई। इस काल में कुछ नई जातियों जैसे कायस्थ और वैद्यों का उदय भी हुआ। विभिन्न वर्णों से संबंधित व्यक्तियों की भागीदारी इस जाति में थी। दूरस्थ क्षेत्रों को राज्य समाज के तहत लाया गया, जिससे देशी जनजातियों अधीन हो गई या ब्राह्मणवादी व्यवस्था में शामिल हो गई। अंसतुष्ट समूहों को शूद्र आ अछूत का दर्जा देकर दबा दिया गया। इस काल में स्त्रियों की स्थिति बदतर हो गई। हालांकि नीतिविदों ने पुरुष उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति में संपत्ति के उत्तराधिकार के लिए महिलाओं के अधिकार को मान्यता दी। इस काल में स्त्रीधन की धारणा का भी विस्तार हुआ। लड़कियों की विवाह योग्य आयु यौवनारम्भ से भी कम मान ली गई थी। नीतिविदों ने विवाह-विच्छेद के लिए कानून नहीं बनाया। *अनुलोम* विवाह को प्रोत्साहित किया गया, और *प्रतिलोम* विवाह को समाप्त कर दिया। विधवाओं पर अधिक प्रतिबंध लगा दिए गए, और विधवा दाह या सती प्रथा आम बन गई, ब्राह्मणवादी साहित्य ने नियोग को बढ़ावा नहीं दिया। महिलाओं को औपचारिक शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता था। कुछ उच्च वर्ग की महिलाओं का संसाधनों पर बहुत नियन्त्रण या पहुँच थी, और उन्होंने राजनीति या प्रशासन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालाँकि, ये असाधारण उदाहरण थे जिनका उपयोग महिलाओं की स्थिति को व्यापक स्तर पर देखने के लिए नहीं किया जा सकता था।

11.11 शब्दावली

द्विज : शाब्दिक अर्थ 'दो बार पैदा हुआ'। द्विज व्यक्तियों को उपनयन (पवित्र धागा) संस्कार करने का अधिकार था।

गोत्र : ब्राह्मणों का कुल तंत्र, बाद में गैर-ब्राह्मणों पर भी लागू होता हुआ।

अनुलोम : उच्च जातीय पुरुष और निम्न जाति की स्त्री के बीच विवाह।

प्रतिलोम : अनुलोभ का उल्टा। निम्न जाति के पुरुष और उच्च जाति की स्त्री के बीच विवाह।

पित्तृसत्ता : एक सामाजिक व्यवस्था जहाँ पुरूष महिलाओं पर वर्चस्व रखते हैं।

अग्रहार : किसी राजा द्वारा भेंट की गई भूमि या गाँव।

नियोग : एक प्राचीन परंपरा है जिसमें एक महिला को अपने मृत पति के भाई के साथ यौन संबंध बनाने की अनुमति होती है।

11.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (1) सत्य (2) सत्य (3) गलत (4) सत्य (5) सत्य

2) अपने उत्तर को उप-भाग 11.5.5 के आधार पर देखें।

3) अपने उत्तर को उप-भाग 11.5.4 के आधार पर देखें।

बोध प्रश्न 2

1) (1) सही, (2) गलत, (3) गलत, (4) गलत और (5) सही।

2) अपने उत्तर को उप-भाग 11.9.3 और 11.9.4 के आधार पर देखें।

3) अपने उत्तर को उप-भाग 11.9.6 के आधार पर देखें।

11.13 संदर्भ ग्रन्थ

चक्रवर्ती, रनबीर (2010). *एक्सपलोरिंग अर्ली इंडिया.* दिल्ली : मेकमिलन.

चट्टोपाध्याय, बी. डी. (1994). *द मेकिंग ऑफ़ अर्ली मेडिवल इंडिया.* नई दिल्ली.

झा, डी. एन. (2000). *द फ्यूडल ऑर्डर.* नई दिल्ली : मनोहर.

रॉय, कुमकुम (एड.) (1999). *वूमन इन अर्ली इंडियन सोसायटी.* दिल्ली : मनोहर.

शर्मा, आर. एस. (1990). *शूद्रराज़ इन एनशिएंट इंडिया.* दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास.

शर्मा आर. एस. (2003). *अर्ली मेडिविल इंडियन सोसायटी.* दिल्ली : ऑरियन्ट लोंगमेन.

शर्मा, आर. एस. (2009). *रीथिंकिंग इंडियाज़ पास्ट.* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

श्रीमाली एंड शर्मा (एड.) (2008). *ए काम्प्ररीहेनसिव हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया.* वॉल्यूम IV, भाग 2. दिल्लीः मनोहर.

सिंह, उपन्दिर (2008). *ए हिस्ट्री ऑफ़ एनशियन्ट एंन्ड अर्ली मेडिविल इंडिया,* दिल्ली : पियर्सन लोगंमेन.

वेलूथट, केशवन (2009). *द अर्ली मेडिविल इन साउथ इंडिया.* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस.

यादव, बी. एन. एस. (1973). *सोसायटी एंड कल्चर इन नार्थन इंडिया.* इलाहाबादः सेन्ट्रल बुक डिपो.

इकाई 12 व्यापार, व्यापार मार्ग और समुद्री व्यापार*

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 स्रोत

12.3 व्यापार, बाजार एवं शहरी केन्द्र : 650-1300 सी.ई.

12.4 शहरों के पतन पर विवाद – पतन के पक्ष में तर्क

12.5 शहरों के पतन पर विवाद – पतन के विरुद्ध तर्क

12.6 उत्तर भारत में बंदरगाह और व्यापार मार्ग

12.7 लंबी दूरी का समुद्री व्यापार (उत्तर भारत)

12.8 दक्षिण भारत में व्यापार मार्ग

12.9 दक्षिण भारत के समुद्री संपर्क

- 12.9.1 कर्नाटक
- 12.9.2 कोंकण तटीय व्यापार और यात्रा
- 12.9.3 आंध्र प्रदेश
- 12.9.4 केरल
- 12.9.5 तमिल क्षेत्र

12.10 सारांश

12.11 शब्दावली

12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.13 संदर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगे :

- आरंभिक मध्यकाल में शहरी पतन का सिद्धांत;
- शहरीकरण पर तर्क और सामग्री जो शहरी क्षय की तस्वीर को मिथ्या घोषित करते है;
- उत्तर और दक्षिण भारत में व्यापार और व्यापार मार्ग;
- भारत और विदेशों के बंदरगाहों के बीच लंबी दूरी के समुद्री संपर्क।

12.1 प्रस्तावना

विस्तृत गुप्त साम्राज्य और प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में उत्तर भारत में कई क्षेत्रों में राजसी राज्यों का प्रसार एक मजबूत कृषि के आधार पर आधारित था। वास्तव में 300-1300

* यह इकाई एम.एच.आई.–05, खंड 3, इकाइयाँ 14 एवं 15 से ली गई है।

सी.ई. की अवधि के दौरान जिस प्रकार कृषि अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ उससे यह धारणा बनी कि अर्थव्यवस्था का ग्रामीणीकरण हुआ; दूसरी ओर अर्थव्यवस्था का गैर-कृषि क्षेत्र, 600-1000 सी.ई., में क्षीण हो गया। 1000 सी.ई. उपरांत ही शिल्प, वाणिज्य और शहरी केन्द्र पुनः पुनर्जीवित हुए। इस धारणा ने विद्वानों के मध्य विवाद उत्पन्न किया है।

इस इकाई में हम उन तर्कों पर गौर करेंगे, जो भारत में आरंभिक मध्यकाल में व्यापार और वाणिज्य में गिरावट के सिद्धांत के पक्ष में पेश किए गए है। हम यह भी देखेंगे कि व्यापार, व्यापार मार्गों और व्यापाक समुद्री वाणिज्यिक संपर्कों पर जो सामग्री प्राप्त हुई है वह उपरोक्त सिद्धांत को मिथ्या साबित करती है। निम्नलिखित पृष्ठों में उत्तर और दक्षिण भारत में व्यापार और तटीय संपर्कों पर पर्याप्त जानकारी दी गई है।

12.2 स्रोत

सर्वेक्षणाधीन काल में पूर्व काल के बाद अनेक बदलाव आये, यह तथ्य उन नए प्रकार की तत्कालीन अध्ययन सामग्रियों एवं दस्तावेजों द्वारा भी इंगित होता है जो बदलती स्थिति के स्वयं साक्षी थे। इस काल के अध्ययनार्थ सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत-सामग्री है विशाल संख्या में प्राप्त अभिलेख। चौथी शताब्दी बाद के अधिकांश अभिलेख ताम्रपत्रों (ताम्रशासन/ताम्रपत्र) की श्रेणी में आते है। इन ताम्रपत्रों में अनुदान पाने वालों को शाही आदेशों द्वारा राजस्व-मुक्त भू-सम्पदा का हस्तांतरण किए जाने के लिए लिपिबद्ध किया गया। यद्यपि यह प्रथा संभवतः सबसे पहले दक्कन में दूसरी शताब्दी सी.ई. के आसपास नजर आई, भू-अनुदान प्रदान किए जाने की प्रथा पूरी तरह से चौथी शताब्दी से ही स्थापित हुई और 600 सी.ई. के पश्चात् उसने एक अखिल-भारतीय आयाम ले लिया। अधिकांश ताम्रपत्रों में किसी ब्राह्मण, किसी ब्राह्मण समूह अथवा, किसी धार्मिक संस्था (बौद्ध मठ, ब्राह्मणवादी मंदिर अथवा कोई मठ अथवा कोई जैन प्रतिष्ठान) को उपहार में दिए गए राजस्व-मुक्त अनुदान लिपिबद्ध हैं। धार्मिक अनुदान प्राप्तकर्ताओं (धार्मिक दान के प्राप्तकर्ताओं) को दिए गए ऐसे अनुदान को *अग्रहार* कहा जाता है।

ताम्रपत्र चूंकि भू-सम्पदा के अनुदान संबंधी राजकीय अभिलेख है, वे ग्रामीण अर्थव्यवस्था को समझने के लिए अमूल्य है, विशेष रूप से भू-सम्पदा की हस्तांतरण प्रक्रिया, ग्रामीण आवास-पैटर्न, फसलों, सिंचाई परियोजनाओं, कृषकों एवं कृषि-राजस्व माँग को समझने के लिए। परंतु, सदा-कदा ये अनुदान उन महत्वपूर्ण व्यापारियों एवं शिल्पियों पर भी प्रकाश डालते हैं जिनकी विद्यमानता भू-अनुदान संबंधी धार्मिक कार्य के महत्वपूर्ण गवाहों के रूप में लिपिबद्ध थी।

व्यापारी ताम्रपत्र अनुदानों में किसी समूह में अथवा सभा के रूप में भी किन्हीं मांगलिक दिवसों पर नजर आते हैं, जब वे किसी देवता अथवा मंदिर को उन वस्तुओं पर, जिनका वे व्यापार करते थे, कुछ करों का स्वेच्छा से दान देने का निर्णय लेते थे। ऐसे अनुदानों में स्वाभाविक रूप से न सिर्फ व्यापारी दृष्टिगोचर होते हैं, बल्कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का भी वर्णन मिलता है। ये अभिलेख हमें विभिन्न प्रकार के बाजारों की भी जानकारी देते हैं, जिनमें से कुछ से महसूल और सीमाकर (*शुल्क*) वसूल किए जाते थे, इससे व्यापार की राजस्व संभावना से संबंध के संकेत मिलते हैं। ऐसे अभिलेखों की भी जानकारी मिलती है जिनमें व्यापारियों द्वारा वैयक्तिक रूप से दिए गए अनुदान लिपिबद्ध हैं, या तो किसी देवता के पक्ष में या फिर कुछ परोपकारी कार्यों हेतु।

व्यापार एवं शहरी केन्द्रों संबंधी जानकारी विस्तृत विधि-संहिताओं अथवा सैद्धांतिक ग्रंथों (*शास्त्रों/धर्मशास्त्रों*) से मिलती है। *विष्णु, वशिष्ठ, बृहस्पति* एवं *नारदकृत* संहिताएँ हमारे प्रयोजनार्थ उपयोगी होंगी। इन संहिताओं पर टिप्पणियाँ (उदाहरणार्थ, *मनुस्मृति*

एवं *याज्ञवल्क्यस्मृति* पर टिप्पणियाँ) भी इस विषय पर कुछ उपयोगी जानकारी प्रस्तुत करती हैं। कुछ महत्वपूर्ण जानकारी अमरसिम्हा (पांचवी-छठी शताब्दी सी.ई.) के प्रसिद्ध शब्दकोश *अमरकोश, अभिज्ञानचिन्तामणि* और हेमचन्द्र (ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी सी.ई.) की *देशीनाममाला* तथा *लेखापद्धति* जैसी तकनीकी संहिताओं से प्राप्त की जा सकती है। वाणिज्यिक कार्यकलापों संबंधी कुछ जानकारी विशाल रचनात्मक साहित्य में भी उपलब्ध है, उदाहरण के लिए, कालिदास की कृतियों, शूद्रक के *मृच्दकटिकम,* दंडिन के *दशकुमारचरित* एवं विभिन्न प्रकार के जैन ग्रंथ। इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि दो सुप्रसिद्ध जैन ग्रंथ *जगदुचरित्र* एवं *वस्तुपालमहात्म्यम्* आरंभिक मध्यकालीन गुजरात के दो प्रमुख व्यापारियों की जीवनियाँ हैं।

व्यापार, विशेष रूप से भारत के विदेश व्यापार, के इतिहास हेतु स्रोत के रूप में विदेशी साहित्यिक स्रोतों का विशेष महत्व है। फाह्यान (पांचवी शताब्दी सी.ई. का पूर्वार्द्ध), ह्वेनसाँग (सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध), इत्सिंग (सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) और चाऊ जु कुआ (1225 सी.ई.) के चीनी विवरण भारत में व्यापार को समझने के लिए अमूल्य स्रोत हैं। भारत में अरबी और फारसी के भौगोलिक और यात्रा संस्मरण {सुलेमान (लगभग 851 सी.ई.) इब्नखुर्दादबिह (882 सी.ई.), अल-मसूदी (915 सी.ई.), बुजुर्ग इब्न शहरियार (995 सी.ई.), *हुदूद-अल आलम* का बेनाम लेखक (982 सी.ई.), अल-बरूनी (973-1048 सी.ई.), और अल-इदरीसी (1162 सी.ई.)} भारतीय उत्पादक वस्तुओं एवं पश्चिम एशिया के साथ भारत के व्यापार संबंधों के विषय में जानकारी से भरपूर हैं, हालांकि ये विवरण कहीं-कहीं एक ही सी बात कहते हैं, क्योंकि ज्यादातर अरबी लेखकों ने भारत का भ्रमण ही नहीं किया था। इन विवरणों में सीरिया के ईसाई भिक्षु कॉस्मास इंदीकॉप्ल्यूस्तस के छठी शताब्दी सी.ई. के उत्तरार्द्ध में लिखे विवरणों और वेनिस यात्री मार्को पोलो (तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) के भारत संबंधी प्रसिद्ध विवरणों को जोड़ा जा सकता है। एक असाधारण प्रकार का स्रोत है मध्यकालीन यहूदी व्यापारियों के पत्र, जो भारत के पश्चिमी तट और लाल सागर के बीच नियमित रूप से व्यापार करते थे। यद्यपि उनके सम्पर्कों के मुख्य बिन्दु कर्नाटक एवं मालाबार तट थे, इन अनुपम व्यापार-पत्रों में लंबी दूरी के व्यापार में वास्तविक भागीदारों के अनुभवों को लिपिबद्ध किया गया है। ये गुजरात तट पर व्यापार संबंधी महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हैं।

600 बी.सी.ई. से 300 सी.ई. में प्रचुर मात्रा में प्राप्त पुरातत्वीय आंकड़ों की तुलना में बाद की सहस्राब्दि के दौरान हमें सिर्फ मुट्ठीभर उत्खनित एवं अन्वेशित सामग्रियाँ ही प्राप्त होती है। प्रारंभिक ऐतिहासिक बस्तियों से भिन्न, प्रारंभिक मध्यकालीन बस्तियों का योजनाबद्ध रूप से अन्वेशण एवं उत्खनन नहीं किया गया है और इसी कारण व्यापार एवं शहरीकरण संबंधी पुरातत्वीय आंकड़े नितान्त अपर्याप्त हैं। गुप्तकालीन शासकों को उत्कृष्ट स्वर्ण और रजत सिक्के जारी करने का श्रेय जाता है। गुप्त शासकों के स्वर्ण सिक्कों की नकल सातवीं शताब्दी सी.ई. की कई छोटी राजसत्ताओं द्वारा किया गया। परन्तु बहुमूल्य धातु (सोना और चाँदी) के सिक्कों की संख्या में प्रारंभिक मध्यकाल में पूर्व शताब्दियों के सिक्कों की संख्या की तुलना में कमी आई। उत्कृश्ट सिक्कों की ढलाई उत्तर भारत में कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित थी; 1000 सी.ई. के बाद ही कीमती धातुओं के सिक्कों की ढलाई पुनः प्रारम्भ हुई। मुद्रा-संबंधी स्रोत इस प्रकार प्रारंभिक ऐतिहासिक सिक्कों द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों की तुलना में इस काल में कम आंकड़े पेश करते हैं। इसकी व्याख्या कुछ विद्वानों द्वारा वाणिज्य के ह्रास के एक प्रमुख संकेतक के रूप में की गई है, खासकर 600-1000 सी. ई. की कालावधि में भारत का विदेश व्यापार ऐसी स्थिति में ही था। प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान भारत के कुछ हिस्सों में पाये गए सिक्कों के प्रमाण पर चर्चा प्रासंगिक भागों में की जायेगी।

12.3 व्यापार, बाजार एवं शहरी केन्द्र : 650-1300 सी.ई.

हाल के वर्षों में इन साढ़े छह शताब्दियों संबंधी अध्ययनों ने इतिहासकारों के बीच महत्वपूर्ण वाद-विवाद को जन्म दिया है। विचारधीन काल बीसवीं शताब्दी के तीसवें मध्य-दशक से ही इतिहासकारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने लगा था, हालांकि शुरू-शुरू में स्पष्ट रूप से विद्वानों ने राजवंशीय-इतिहास हेतु अपनी पंसद दर्शायी। राजनीतिक रूप से, उत्तर भारत और संपूर्ण उपमहाद्वीप पर राजतंत्रीय सत्ताओं का वर्चस्व था। परंतु 600 सी.ई. पूर्व की सत्ताओं से भिन्न, इनमें से किसी भी सत्ता को उत्तर भारत, दक्कन अथवा सुदूर दक्षिण पर सर्वोच्चता प्राप्त नहीं थी। राजनीतिक परिदृश्य की प्रमुख विशेषता अनेक शक्ति सम्पन्न क्षेत्रीय सत्ताओं तथा स्थानीय सत्ताओं की विद्यमानता है। राजनीतिक-प्रशासनिक परिवेश का एक अन्य उल्लेखनीय लक्षण विभिन्न कोटियों एवं श्रेणी के सामन्तों की विद्यमानता है। यह राजनीतिक परिदृश्य पूर्व शताब्दियों की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है।

इन सभी शासकों ने बहुत से भू-अनुदान जारी किए जो न सिर्फ राजनीतिक जीवन अपितु सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास हेतु जानकारी का प्रमुख स्रोत प्रदान करते हैं।

12.4 शहरों के पतन पर विवाद – पतन के पक्ष में तर्क

जैसा कि हमने पहले भी संकेत किया, भू-अनुदान प्रारंभिक मध्यकालीन ग्रामीण समाज और अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक मूल्यवान आँकड़े प्रदान करते हैं। परन्तु इन अनुदानों की प्रकृति एवं उद्देश्य शहरी केन्द्रों में शिल्पकारों और व्यापारियों के कार्यकलापों को लिपिबद्ध करने में बहुत कम कसर छोड़ता है। ऐसे अनुदानों में अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि क्षेत्र संबंधी जानकारी अपेक्षाकृत रूप से दुर्लभ है। यह 600 सी.ई. से पूर्व के अनुदान संबंधी अभिलेखों एवं प्रशासनिक दस्तावेजों के नितान्त विपरीत है जहाँ व्यापारियों, शिल्पियों एवं विभिन्न व्यावसायिक समूहों का उल्लेख गैर-कृषि स्थलों के संदर्भ में प्रमुखता से किया गया है। बहुत से विद्वानों का तर्क है कि दस्तावेजों एवं दस्तावेजों के लेखन के तरीकों में बदलाव दरअसल तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में परिवर्तनों का सूचक है। भू-अनुदानों की विशाल संख्या क अर्थ, उनके अनुसार, 600/650 सी.ई. के बाद से अर्थव्यवस्था का सशक्त ग्रामीणीकरण ही है। ऐसे बदलते भौतिक परिवेश में शिल्पियों, व्यापारियों एवं शहरी केन्द्रों की प्रासंगिकता कम हो गई प्रतीत होती है। यह तर्क दिया जाता है कि चौथी शताब्दी के पश्चात् रोमन साम्राज्य के साथ भारत के फलते-फूलते और सक्रिय व्यापार में ह्रास ने भारत की वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। 600-1000 सी.ई. के दौरान लंबी दूरी के व्यापार में भारत की कोई सार्थक भागीदारी नहीं दिखाई देती, और परिणामस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-तंत्र में वस्तुओं के शिल्प-उत्पादन और उनके विनिमय हेतु कम ही ललक रह गई थी। अंतः भारत का लंबी दूरी का व्यापार विशेश रूप से फेलते अरब व्यापार-तंत्र के साथ व्यापार में वृद्धि की वजह से ही 1000 सी.ई. के बाद पुनर्जीवित हुआ।

पुरालेखीय सामग्रियों से प्राप्त आंकड़ों में साहित्यिक स्रोतों, खासकर *पुराणों* से जानकारी संवर्धित और संपरित की गई है। प्रमुख *पुराणों,* जिन्होंने ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी/पाँचवी शताब्दी सी.ई. के आसपास ही अपना वर्तमान आकार ग्रहण किया, के गहन अनुशीलन ने अनेक विद्वानों को इस निष्कर्श की ओर प्रवृत्त किया कि पौराणिक वृत्तांत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं में तेजी से बदलाव को ही इंगित करते हैं। ये विद्वान पाँचवी शताब्दी के बाद से सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश में महत्वपूर्ण संकटों को महसूस करते हैं। *कलियुग* में व्यापारियों की दरिद्रतापूर्ण दशाओं के

पौराणिक वृत्तांतों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है, जो भारतीय विचारधारा में चार युगों वाली पारंपरिक व्यवस्था में सबसे बुरा युग माना गया है। *बृहन्नारदीय पुराण* के अनुसार व्यापारी *कलियुग* में नौकरों (*कर्मोपजीवन*) और धान कुटाई करने वालों (*तंदुलकरीन*) की स्थिति में पहुँच गए थे।

600 से 1000 सी.ई. के दौरान उत्तर भारत में उपलब्ध अभिलेखों में केवल मुट्ठीभर व्यापारियों का ही स्पष्ट वर्णन है। ताम्रलिप्त, न सिर्फ बंगाल का प्रमुख बन्दरगाह था, बल्कि भू-क्षेत्र से घिरे गंगा घाटी का बन्दरगाह भी, आठवीं शताब्दी में लुप्तप्राय हो गया। इसका मुख्य कारण उस नदी में गाद का जमाव था जिस पर वह स्थित था। ताम्रलिप्त का अंतिम विदित पुरालेखीय संदर्भ बिहार के हजारीबाग क्षेत्र से प्राप्त एक आठवीं शताब्दी के अभिलेख में मिलता है। सिन्धु नदी के डेल्टा में बारबैरीकुम बंदरगाह को प्रारंभिक मध्यकाल में आर्थिक रूप से कोई प्रधानता प्राप्त नहीं थी। इसी क्षेत्र में दैबुल बंदरगाह दसवीं शताब्दी के पश्चात् एक अन्तर्राष्ट्रीय बंदरगाह के रूप में प्रकाश में आया। इसी प्रकार, गुजरात में प्रमुख बंदरगाह, बेरीगाजा या भड़ौच, का पूर्वाकालीन गौरव समाप्त हो चुका था। इन तीन बंदरगाहों के लुप्त होने से ही उत्तर भारत के लंबी दूरी के समुद्री व्यापार पर प्रतिकूल असर पड़ा होगा। प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत के आर्थिक जीवन में व्यापार और व्यापारियों के क्रमिक ह्रास को दर्शाने के लिए इन सबका ही उदाहरण लिया गया है।

प्रारंभिक मध्यकाल में व्यापार में गिरावट संबंधी उपर्युक्त वर्णन की बहुमूल्य धातुओं से बने सिक्कों के अभाव से पुष्टि होती है। प्रारंभिक मध्यकालीन तीन उत्कृष्ट क्षेत्रीय सत्ताओं, बंगाल व बिहार के पालवंश और सेनवंश (लगभग 750-1200 सी.ई.) तथा दक्कन के राष्ट्रकूटों (लगभग 754-974 सी.ई.), ने कोई सिक्के ही जारी नहीं किए। एक अन्य प्रमुख सत्ता, कन्नौज और पश्चिमी भारत के गुर्जर-प्रतिहारों, ने चाँदी के सिक्के तो ढाले परन्तु वे अविश्वनीय मानक भार एवं धात्विक शुद्धता वाले थे। अपने अंकित मूल्य से मेल न खाते हुए अपने संदेहास्पद यर्थाथ मूल्य के कारण लंबी दूरी के व्यापार में विनिमय के विश्वसनीय धात्विक माध्यम के रूप में ऐसे सिक्के अनुपयुक्त ही रहे होंगे। इस मौद्रिक दशा के पतन का एक उल्लेखनीय अपवाद पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत के शाही शासकों द्वारा उत्कृष्ट सिक्कों के निर्गमन में दिखाई देता है। इस बात पर जोर दिया गया है कि उत्तर-पश्चिमी भारत के शाही शासकों के अधीन इस क्षेत्र से कोई भी ताम्रपत्र प्राप्त नहीं हुआ है। अतः कुछ विद्वान इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि मुद्रा-अर्थव्यवस्था और भू-अनुदान अर्थव्यवस्था परस्पर असंगत थीं।

गंगा घाटी और विशेष रूप से बंगाल से प्राप्त अनेक ताम्रपत्र अनुदानों में *पूरण, धारण* और *द्रम्म* जैसे मुद्रा के लिए प्रयुक्त शब्द आवसरिक रूप से मिलते हैं। यद्यपि मुद्रा संबंधी ये शब्द विदित थे, ऐसे सिक्कों के कोई असल नमूने पालवंश और सेनवंश के राज्यों से नहीं मिले हैं। दूसरी ओर, बड़ी संख्या में ताम्रपत्र प्रायः *कर्पदकों* या *कौड़ियों* का उल्लेख करते हैं। *कपर्दक-पूरण* उक्ति भी इन ताम्रपत्रों में नजर आती है। *पूरण* शब्द किसी विशेश प्रकार के सिक्के की ओर इशारा नहीं करता, अपितु *कौड़ियों* की एक *पूरण* अथवा एक चाँदी सिक्के के रूप में समानता प्रस्तुत करता है। प्रारंभिक मध्यकालीन पूर्वी भारत की परंपरागत अंकगणितीय तालिकाएँ दर्शाती हैं कि एक चाँदी के सिक्के और *कौड़ी* के बीच संख्या अनुपात 1:1280 था। दूसरे शब्दों में, 1280 *कौड़ियाँ* एक चाँदी के सिक्के के बराबर थीं। प्रारंभिक मध्यकालीन अभिलेखों में *कपर्दक-पूरण* उक्ति का व्यापक प्रयोग, जिसका उल्लेख आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता, यह तजवीज कर सकता है कि *कौड़ी* विनिमय का प्रमुख माध्यम थी। ऐसा प्रतीत होता है कि *कौड़ियों* ने विनिमय के धात्विक माध्यम का स्थान ले लिया जिसने अपने अविश्वनीय यथार्थ मूल्य के कारण अपनी प्रासंगितकता खो दी थी। पूर्वी बिहार में भागलपुर के निकट कोलगाँग में हुए उत्खनन में बड़ी संख्या में

कौड़ियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे विनिमय के एक माध्यम रूप में उनके नियमित वितरण का भौतिक प्रमाण मिलता है।

इस बात पर जोर दिया गया है कि *कौड़ियाँ* धात्विक मुद्रा हेतु मात्र एक तुच्छ और अपर्याप्त विकल्प ही रही हो सकती हैं। *कौड़ियों* का विशाल परिमाण लाने-ले जाने में लाभ की बजाय परेशानियाँ ही ज्यादा पैदा करता होगा; दूसरे शब्दों में, *कौड़ियों* की लंबी दूरी के व्यापार हेतु अनपयुक्त ही माना जाता है। इनका सर्वोत्तम प्रयोग स्थानीय स्तर के व्यापार के लिए ही हो सकता था और वे 'दूरदर्शी व्यापार के अवरोधक' थे। अतः अनुमानित मुद्रा के रूप में *कौड़ियों* के व्यापक प्रचलन की व्याख्या लंबी दूरी के व्यापार के पतन संबंधी एक और पक्के सबूत बतौर की जाती है।

तत्कालीन समृद्ध व्यापार अर्थव्यवस्था को बाधित करती 'मौद्रिक अशक्तता' की अवधारणा अनेक ऐतिहासिक शोधों में प्रबलता से विद्यमान है। व्यापार में गिरावट और धात्मिक मुद्रा का सापेक्ष अभाव विनिमय के लिए वस्तुओं के बड़े पैमाने पर उत्पादन में सहायक नहीं थे। इसका परिणाम न सिर्फ कृषि पर अत्यधिक निर्भरता था, बल्कि इससे एक आत्म-निर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था का उदय भी हुआ। यह तर्क दिया जाता है कि गाँवों की सभी जरूरतें गांवों में ही उत्पन्न और सुलभ हुआ करती थी, जिससे बाहरी वस्तुओं के लाने-ले-जाने की आवश्यकता कम ही होती थी। व्यापार के सापेक्ष अभाव ने आत्मनिर्भर गांवों को जन्म दिया जो अवरूद्ध और गतिहीन थे।

टंकित मुद्रा के अभाव से शासकों के सामने अपने राजकर्मियों को वेतन, आदि देने में गंभीर समस्याएँ आयी होंगी। ऐसे हालातों में शासक को नकद के बदले अपने राजकर्मियों को भूमि सौंपे जाने का सहारा लेना पड़ा होगा। इससे धार्मिक व्यक्तियों एवं संस्थाओं हेतु भू-अनुदानों के अलावा धर्मनिरपेक्ष भू-अनुदान देने की प्रथा को भी बल मिला होगा। सेवा पट्टे अथवा धर्मनिरपेक्ष भू-अनुदानों ने राजकीय राजकोष को और भी क्षीण कर दिया तथा इससे केन्द्रीय सत्ता को क्षति पहुँची। वाणिज्य के ह्रास एवं मौद्रिक अशक्तता के प्रतिकूल प्रभाव इस प्रकार आर्थिक जीवन तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने एक विकेन्द्रीकृत राज्य-व्यवस्था और खंडीय संप्रभुता का मार्ग भी प्रशस्त किया।

आने वाले समय में इन शक्तिशाली कर्मचारियों ने न सिर्फ उन आवंटित क्षेत्रों से अत्यधिक धन-सम्पति संचित की, अपितु वे स्थानीय रूप से शक्तिसम्पन्न भी हो गए। इसने शासक की सत्ता, जो शीर्ष राजनैतिक सत्ता थी, को और अधिक नुकसान पहुँचाया। दूसरे शब्दों में, इन सामंतों और मातहतों की कीमत पर धीरे-धीरे शासक के अपने आर्थिक एवं राजनीतिक विशेशाधिकारों में उल्लेखनीय कमी आई।

अर्थव्यवस्था और राज्य-व्यवस्था की ये दशाएँ प्रारंभिक मध्यकाल में भारत में सामन्तवाद की उत्पत्ति एवं दृढ़ीकरण में परिणत हुई। चूँकि यह अर्थव्यवस्था, जो सामंतवादी अर्थव्यवस्था के रूप में जानी जाती है, ग्राम्यवाद में अत्यधिक लिप्त थी और जिसमें व्यापार की बहुत कम गुंजाइश थी, माना जाता है कि यह शहरी विकास में शायद ही सहायक थी। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के शहरी केन्द्रों संबंधी पुरातात्विक आंकड़ों के प्राचुर्य की स्पष्ट तुलना में, प्रारंभिक मध्यकालीन शहरों के विषय में उत्खनन एवं अन्वेशण से प्राप्त जानकारी काफी अपर्याप्त है। अनेक पूर्वकालीन शहरी केन्द्र अपने भौतिक परिवेश के ह्रास, अव्यवस्थित विन्यास और पुनप्रर्युक्त ईंटों के उपयोग संबंधी प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनकी व्याख्या 600-1000 सी.ई. के दौरान, उत्तर भारत समेत, इस उपमहाद्वीप के वृहत्तर भागों पर अ-शहरीकरण के स्पष्ट संकेतों के रूप में की गई है। एक प्राकृत साहित्यिक स्रोत वर्णन करता है कि शहरी केन्द्र गांवों में बदल गए (*नयराणि गममूयाणि होहिन्ति*)। कहा जाता है कि भारत के वाणिज्य में पतन ने शहरी पतन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पालवंश,

सेनवंश और प्रतिहारवंश संबंधी ताम्रपत्रों के विश्लेशण से पता चलता है कि इनमें नगर एवं पुर जैसे शब्दों के कम ही संदर्भ मिलते हैं। ताम्रपत्र जयस्कंधावारों अथवा विजयी सेना शिविरों के संदर्भों से भरे पड़े हैं। ऐसे जयस्कंधावारों ने राजनीतिक-सामरिक मुख्यालय के रूप में काम करना शुरू कर दिया। यह निश्कर्श निकाला गया है कि विनिमय एवं शिल्प-उत्पादन क्षेत्रों के रूप में शहरी केन्द्र धीरे-धीरे लुप्त होते गए और उनके स्थान पर सामरिक एवं राजनीतिक केन्द्र नजर आने लगे।

प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत में उनके तीर्थाटन (तीर्थ) केन्द्रों का उदय दिखाई देता है जिन्होंने किसी समय धार्मिक केन्द्रों के रूप में शहर का आकार ले लिया। भारतीय सामन्तवाद के पक्षधर इतिहासकारों का तर्क है कि चूँकि शहरी केन्द्रों ने व्यापार क्षेत्रों के रूप में अपनी मुख्य प्रासंगिकता खो दी थी, वे धार्मिक केन्द्र बन गए जिससे वस्तुओं के उत्पादन/निर्माण एवं विनिमय के केन्द्रों के रूप में उनकी भूमिका को मुख्य रूप से क्षति पहुँची। व्यापार अथवा अधिक सटीक रूप से व्यापार में गिरावट की धारणा की प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत की सामन्ती सामाजिक संरचना में एक निर्णायक भूमिका रही है। तीन क्षेत्रों में सामन्ती अर्थव्यवस्था के आदर्श-स्वरूप के लक्षण देखने को मिलते हैं : पालवंश और सेनवंश कालीन बंगाल, गंगा-यमुना दोआब में गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य, तथा दक्कन में राष्ट्रकूट सत्ता।

12.5 शहरों के पतन पर विवाद – पतन के विरुद्ध तर्क

प्रारंभिक मध्यकाल में उत्तर भारत में वाणिज्यिक ह्रास एवं शहरी अर्थव्यवस्था संबंधी उपर्युक्त वर्णन निर्विरोध नहीं रहा। प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में सामन्ती अर्थव्यवस्था की अवधारण की भी आलोचना की गई है। सामन्ती अर्थव्यवस्था के दृश्टिकोण में अनेक विद्वानों ने तथ्यात्मक अशुद्धियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। पुरातात्विक प्रमाणों सहित अन्य स्रोतों के प्रयोग द्वारा यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि व्यापार का कोई विशेष रूप से पतन नहीं हुआ था और न ही व्यापक रूप से कोई बड़ी अ-शहरीकरण की प्रक्रिया ही दृष्टिगोचर होती है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि भू-अनुदानों की प्रथा, जो अकृषित, निर्जन वन अथवा बंजर इलाकों की भूमि के संदर्भ में जारी किए जाते थे, ने अभूतपूर्व ग्रामीण विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया। परन्तु क्या कृषक बस्तियों के प्रचुर मात्रा में उद्भव का अर्थ आत्मनिर्भर एवं अवरुद्ध गांवों का सुदृढ़ीकरण मात्र है? मानव जीवन की दो अनिवार्य और अपरिहार्य आवश्यकताएँ, नमक और लोहा, हरेक गांव में स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं थे। यदि ये वस्तुएँ गैर-स्थानीय स्रोतों से प्राप्त करनी पड़ती थीं तो प्रारंभिक मध्यकालीन गांवों के आत्मनिर्भर एवं अवरुद्ध स्वरूप संबंधी धारणा पर गंभीर सवाल उठ खड़े हो सकते हैं।

निम्नलिखित भागों में उत्तर और दक्षिण भारत के व्यापार, व्यापार मार्गों एवं समुद्री संपर्कों पर काफी जानकारी दी गई है, जो इस तथ्य की ओर इशारा करते हैं, कि प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में सभी प्रकार के व्यापार में गिरावट नहीं हुई। कुछ बंदरगाह, व्यापार केन्द्र और मार्ग इस अवधि में फलते-फूलते व्यापार और वाणिज्य के साक्षी है। वास्तव में कई केन्द्र प्रमुख बन गए और कई अन्यों का पतन हो गया। इस प्रकार पूर्ण क्षय और परित्याग का सिद्धांत विवादस्पद है।

12.6 उत्तर भारत में बंदरगाह और व्यापार मार्ग

बंगाल, जो गंगा डेल्टा में स्थित है और अनेक नदियों द्वारा सिंचित हैं, में नदीतटीय घरेलू संचार-व्यवस्था में मददगार बहुत से तटीय बंदरगाह थे। बंगाल से प्राप्त प्रारंभिक

मध्यकालीन ताम्रपत्र प्रायः ग्रामीण स्थानों में सरहदों के रूप में छोटे नौका स्टेशनों (*नौ-दण्ड, नौ-बंध*) का उल्लेख करते हैं जिनमें असंख्य सोते और छोटी नदियों (*स्रोतस्विनी, गांगिणिका*), नहरें तथा कुल्याएँ होती थी। निस्संदेह सर्वाधिक महत्वपूर्ण नदीय मार्ग गंगा या भागीरथी के साथ-साथ ही था जिस पर अनेक बेड़े चलते थे (*स खलु भागीरथीपथप्रवर्तमान-नौवत*)। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही इस डेल्टा के पूर्वी भाग में तटवर्ती बंदरगाह नजर आने लगे। ऐसा ही एक बंदरगाह था देवपर्वत (आधुनिक मैनामती-लालमाई, बंगलादेश) जो ताम्रपत्रों (सातवीं से प्रारंभिक दसवीं शताब्दी) के अनुसार क्षीरोदा नदी के तट पर था जिस पर अनेक नौकाएँ चलती थीं। साभर (बंगलादेश की राजधानी ढाका के निकट) से प्राप्त, लगभग 971 सी.ई. एक अन्य ताम्रपत्र में एक अजीब से स्थान का नाम लिपिबद्ध है : वंगसागर-सांभन्दरीयाक। साभर वाम्सी नदी के तट पर स्थित था और एक छोटे से आंतरिक नदी-पत्तन के रूप में काम करता था। सांभन्दरीयाक शब्द का अर्थ वस्तुओं के संचयन (भण्डार) हेतु पर्याप्त एवं समुचित सुविधाएँ (सम्यक) प्रस्तुत करते एक स्थान से लगाया जा सकता है। साभर 'साभंर' शब्द से ही व्युत्पन्न हुआ बताया जाता है जिसका अर्थ है वस्तुओं का भण्डार। इस बात की प्रबल संभावना है कि साभर या प्राचीन सांभर एक सांभन्दरीयाक का ही प्रतिनिधित्व करता था। साभर स्थित यह भण्डारण सुविधा ही उसे पूर्वकालीन पूतभेदनों के निकट लाई हो सकती है। व्यापार गतिविधियों के वर्णन विभिन्न प्रकार के साहित्यिक ग्रंथों में मिलते हैं। गिरसेनसूरी की *निर्वल्यमाला* (लगभग 8वीं शताब्दी) व्यापारियों की एक सभा (*वणिकमेली*) का सजीव वर्णन प्रस्तुत करती है जो सूरपरक के सुप्रसिद्ध बन्दरगाह नगर में जमा हुए। यद्यपि यह विवरण संभवतः पूर्वकालीन स्मृतियों पर आधारित है, विशेष बात है व्यापारियों के बीच उनके अनुभवों का आदान-प्रदान। यह बन्दरगाह आर्यसुर (लगभग 7वीं/8वीं शताब्दी) की *जातकमाला* में भी नजर आता है। सूरपरक में, इस ग्रंथ के अनुसार, भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में एक निपुण नाविक के रूप में रहा करते थे जो जहाजों को बन्दरगाह तक लाने (*आहरण*) और वहाँ से ले जाने (*अपहरण*) की कला में कुशल था। ये बातें वाणिज्य की निरंतरता, न कि ह्रास, की छाप छोड़ती हैं, जो इस धारणा के विरुद्ध है कि सामन्ती सामाजिक संरचना के आलोक में वाणिज्य का पतन हुआ।

उत्तर भारत के विशाल मैदानों में अक्सर ही संचार के अनेक स्थल मार्ग हुआ करते थे, उनमें से कुछ प्रारंभिक मध्यकाल में विशेष रूप से प्रमुख थे। इस प्रकार शिया-तां (785-805) एक ऐसे मार्ग के विषय में वर्णन करता है जो पुंद्रवर्धन (उत्तर बंगाल) और कजनिग्ला (राजमहल की पहाड़ियों के निकट) को छूते हुए कामरूप से मगध जाता था। बहुत से स्थल मार्ग कान्यकुब्ज को भारत के विभिन्न भागों से जोड़ते थे, जैसा कि अल-बिरूनी लिखता है। एक ऐसा ही मार्ग अयोध्या, वाराणसी, पाटलिपुत्र एवं मुँगेर से होकर कान्यकुब्ज से गंगासागर (समुद्र के साथ गंगा के संगम पर) तक जाता था। कान्यकुब्ज से आरंभ एक अन्य मार्ग प्रयाग (प्रयागराज) से जुड़ता था, फिर मध्यप्रदेश के रीवा क्षेत्र से होकर पहुंचता था और फिर वहां से सुदूर दक्षिण में कांचीपुरम (चेन्नई के निकट) तक चला जाता था। गंगा-युमना दोआब, अल-बिरूनी के अनुसार पश्चिमी भारत के साथ भलीभांति जुड़ा हुआ था। इस प्रकार मथुरा के उज्जयिनी और बयाना (राजस्थान) के साथ स्थल मार्गीय संबंध थे और दोनों ही स्थानों से काठियावाड़ में सोमनाथ के सुप्रसिद्ध बंदरगाह तक पहुँचना संभव था।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के कुछ सेनवंशी राजाओं के ताम्रपत्रों में एक नई प्रकार की बस्ती दृष्टिगोचर होती है, जिसका नाम था *चतुरक*। *चतुरक* शब्द बारहवीं शताब्दी से पहले पूर्वी बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में नहीं दिखाई पड़ता है। शाब्दिक रूप से इसका अर्थ है एक ऐसा स्थान जो चार सड़कों के संचरण पर स्थित हो। *चतुरक* कोई गाँव नहीं था, बल्कि यह कोई बड़ा शहरी विपणन क्षेत्र भी नहीं था। ऐसे ही एक *चतुरक*

को *बेटाद्दा-चतुरक* कहते थे जो गंगा नदी के तट पर था (*पूर्वे जहनविसिम*)। इसको हावड़ा जिला, पश्चिम बंगाल में बेतोर के नाम से जाना जाता है जिसको सरस्वती नदी पर सप्तग्राम के प्रसिद्ध बंदरगाह के साथ गंगा को जोड़ते एक आंतरिक नदी-तटीय बंदरगाह के रूप में सोलहवीं शताब्दी में उल्लेखनीय महत्व मिला। एक नदी तटीय बंदरगाह के रूप में बेतोर की भूमिका की शुरूआत इस प्रकार बारहवीं शताब्दी से ही हो चुकी थी। गंगा डेल्टा में इन आंतरिक बन्दरगाह नगरों का स्थान ग्रामीण आंतरिक क्षेत्रों और बृहद् शहरी केन्द्रों के बीच मध्यवर्ती था और ये न्यूनाधिक उत्तरी एवं पश्चिमी भारत की प्रारंभिक मध्यकालीन *मण्डपिकाओं* की ही भांति भूमिका निभाते थे। उपर्युक्त स्रोत संभवतः उत्तर भारत में व्यापार के पतन की स्थिति को नहीं दर्शाते हैं।

वाणिज्य संबंधी अप्रत्यक्ष प्रमाण ताम्रपत्रों में उपलब्ध विभिन्न राजस्व-वसूल करने वाले अधिकारियों की सूची से भी बटोरे जा सकते हैं। इस प्रकार, *हट्टपति* (*हट्टों* का प्रभारी अधिकारी), *शौल्किक* (*शुल्क* या करों तथा सीमाकरों की वसूली का प्रभारी अधिकारी), *तारिक* (*तारा* अथवा नौका शुल्क की वसूली का प्रभारी अधिकारी), गमागमिका (प्रवेशद्वार और निकास की देखरेख करने वाला अधिकारी), *नौवत* और *अर्ध-नौवत* (व्यापार बेड़ों के आवागमन का पर्यवेक्षण करने वाले वरिष्ठ एवं कनिष्ठ अधिकारीगण), आदि के संदर्भ उत्तर भारत में व्यापारियों एवं वस्तुओं की आवाजाही को यथासंभव उजागर करते हैं। यह संचार के कुछ मार्गों के अस्तित्व को इंगित करता है, विशेष रूप से उत्तर भारत में स्थल संचार के। नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वीरभद्रदेव ने नगरहार (जलालाबाद, अफगानिस्तान) से सम्बोधी (बोधगया, बिहार) तक एक यात्रा शुरू की। वह अभिलेख जो इसे लिपिबद्ध करता है, में बोधगया में अपने अनेक स्वदेशवासियों को देखकर वीरभद्रदेव के हर्ष का भी बखान करता है। यह इस विस्तृत स्थल संचार व्यवस्था के साथ-साथ यात्रा की नियमितता और बारंबारता को भी प्रचुरता से दर्शाता है। यह स्थल मार्ग गंगाघाटी में भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाक्षेत्र से उम्दा जंगी घोड़ों के आयात हेतु निश्चय ही विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहा होगा। इसीलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पालकालीन अभिलेख उत्तरी भू-भागों से घोड़ों की प्राप्ति हेतु पालवंशी राजाओं की उत्सुकता का वर्णन करते हैं। इस बात की पुष्टि मिन्हाज-उस सिराज की *तबकांत-ए नासिरी* द्वारा भी होती है, जो नूडिया (सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी, लगभग 1179-1199 सी.ई.) में अरबी घोड़ों के व्यापारियों की नियमित आमद को जोर देकर बताती है। उत्तर-पूर्वी सीमाक्षेत्रों और विशेष रूप से कामरूप के साथ बंगाल के संबंध की पुष्टि अभिलेखों, मिन्हाज के विवरणों और मार्को पोलो की यात्राओं (लगभग 1254-1324 सी.ई.) द्वारा विशेष रूप से होती है। चालुक्य शासकों के अधीन गुजरात ने स्थलमर्गीय संपर्कों में उल्लेखनीय सुधारों का अनुभव किया। चालुक्य राज्य (पटन) का मुख्य शहर अनहिलपुर, मुंजापुर, झुंझुवाड़ा, वीरंगाम, वधवान, साएला, वनथली, आदि के साथ भलीभांति जुड़ा था। दूसरी ओर, यह वाराणसी, प्रयाग और धार (मध्य भारत में) के साथ भी जुड़ा था। गुजरात के महत्वपूर्ण बंदरगाहों की, जैसे स्तंभपुर या कैम्बे और सोमनाथ, आंतरिक नगरों, खासकर जो मालवा पठार में थे, के साथ प्रभावशाली संचार-व्यवस्था कायम थी। ताम्रलिप्त, जो आठवीं शताब्दी तक पूर्व का मुख्य बंदरगाह था, में अयोध्या व्यापारी आते रहते थे। 1024 सी.ई. में तटीय आंध्र से बंगाल में वंगला-देश तक चोलवंशी राजा राजेन्द्र का साहसी अभियान उडिशा के साथ बंगाल और फिर वहां से आंध्र की ओर स्थलमार्गीय संपर्कों को इंगित करता है। सुदूर उत्तर-पश्चिम में, पंजाब में मुलतान ने व्यापार के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में उल्लेखनीय महत्व प्राप्त कर लिया जो गंगा के मैदानों और साथ ही इस उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र से भी जुड़ा था। मुलतान एक प्रमुख व्यापार केन्द्र के रूप में अरब-वर्णनों में व्यापक रूप से दिखाई देता है।

12.7 लंबी दूरी के समुद्री व्यापार (उत्तर भारत)

उपर्युक्त आंकड़े और तर्क प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत में व्यापार में किसी अवनति को नहीं दर्शाते हैं। उपलब्ध जानकारी का ध्यानपूर्वक अनुशीलन भी उत्तर भारत के अन्य बाह्य क्षेत्रों के साथ व्यापार में गिरावट की तजवीज नहीं करता है। इस उद्देश्य से अरबी और फारसी स्रोत हमें महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि भारतीय सामन्ती संरचना के पक्षधरों ने आमतौर पर भारत के लंबी दूरी के व्यापार संबंधी ज्ञान के विषय में इन स्रोतों की उपेक्षा ही की है।

पश्चिम एशिया, अफ्रीका के कई भागों में और भूमध्यसागर से लेकर स्पेन तक इस्लाम का उदय और प्रसार वाणिज्यिक गतिविधियों में सहायक सिद्ध हुआ। इस्लाम की व्यापार एवं शहरवाद के प्रति एक विशिष्ट पहचान थी। आठवीं शताब्दी में अब्बासिद खलीफा पद की स्थापना एवं सुदृढ़ीकरण ने मध्य एशिया, चीन और दक्षिण एशिया के साथ पश्चिम एशिया के स्थलमार्गी संचार में मदद की। परन्तु समुद्री व्यापार में अधिक शानदार विकास गौरतलब हैं। अब्बासिद खलीफा पद खाड़ी के उत्तरी भाग में मुख्य बंदरगाह के रूप में सिराफ के साथ फारस की खाड़ी (*दरिया-ए अखजार*) के महत्व को बढ़ाने में सहायक रहा। 969 सी.ई. में मिस्र में फातिमिद खलीफा पद की स्थापना से समुद्री व्यापार में एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। यह पश्चिमी हिन्द महासागर की प्रमुख समुद्र-गली के रूप में लाल सागर के उत्कर्ष में परिणत हुआ, जिससे भारत के साथ-साथ भूमध्यसागरीय क्षेत्रों के साथ भी समुद्री व्यापार में मदद मिली।

हिन्द महासागर में लंबी दूरी के समुद्री व्यापार का पश्चिमी टर्मिनल या तो सिराफ में या फिर मिस्र में एलैक्जेंड्रिया और पूर्वी टर्मिनल तटवर्ती दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ-साथ चीन के तट पर भी था। हिन्द महासागर में इन हलचलों को, जो मानसून पवनों के परिवर्तनों की निश्चित भविश्यवाणी द्वारा दिशानिर्देशित और निरूपित होती थीं, भारत को भी शामिल करना पड़ा जो हिन्द महासागर के केन्द्र में स्थित था। इस समुद्री स्थल का *अल बहर अल हिन्द* (भारतीय सागर या महासागर) के रूप में नामांकन ही भारतीय बन्दरगाहों एवं पत्तनों के साथ अरब व्यापारियों एवं यात्रियों की घनिष्टता पर विशेष जोर देता है। *बहर अल हिन्द* के दो खंडों से अरब लेखक भली-भाँति परिचित थे : *बहर लार्वी* (लार् = लता या दक्षिणी गुजरात, गुजरात का समुद्र, अर्थात् अरब सागर) और *बहर हरकाल* (हरिकेला का समुद्र; हरिकेला बंगलादेश के दक्षिण-पूर्वी भाग पर स्थित था; तदनुसार *बहर हरकल* बंगाल की खाड़ी को इंगित करता है)। ज्ञातव्य है कि 971 सी.ई. के एक ताम्रपत्र में बंगाल की खाड़ी का वंगसागर के रूप में उल्लेख किया जा चुका है।

यद्यपि दक्कन और सुदूर दक्षिण भारत में बंदरगाह संख्या में काफी हैं, अरबी एवं फारसी साहित्यिक स्रोतों से उत्तर भारत के भी अनेक बन्दरगाहों का पता चलता है। यह सत्य है कि ये साहित्यिक स्रोत उत्तर 1000 सी.ई. के दौरान व्यापार के वृहत्तर परिमाप एवं नियमितता की बात करते हैं, परन्तु 1000 सी.ई. से पूर्व भी भारत के समुद्री व्यापार के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

चचनामा आठवीं शताब्दी में सिंध पर प्रथम अरबी आक्रमण का वर्णन और एक अरबी इतिहासकार अल बालाधुरी (मृ. लगभग 892 सी.ई.) के विवरण सिन्धु डेल्टा स्थित देबुल बंदरगाह के महत्व को दर्शाते हैं। इस समय से पहले ही देबुल श्रीलंका के साथ अपने सामुद्रिक संपर्कों के लिए जाना जाता था। इस प्रारम्भिक मध्यकालीन बंदरगाह के अवशेष पाकिस्तान में बनभोर स्थल से प्राप्त खुदाई में मिलते हैं। देबुल का प्राधान्य नौवीं से बारहवीं शताब्दी के अरब लेखकों के विवरणों में भी बना रहा। उत्तरी भारत

के पश्चिमी तट-प्रदेशों में, बहरहाल, गुजरात तट ही है जिसने विशेष प्रसिद्धि हासिल की। यद्यपि भड़ौच, जिसे अरब वृत्तांतों में बरूज, कहा गया है, लुप्तप्राय हो चुका था। वाणिजय के परिदृश्य पर एक महान् बन्दरगाह उभरकर आया, श्रीस्तंभपुर/श्रीस्तंभतीर्थ अथवा आधुनिक कैम्बे। यह सुलेमान (लगभग 851 सी.ई), इब्नखुर्दादबिह (लगभग 882 सी.ई.), अल मसूदी (915 सी.ई.), बुजुर्ग इब्न शहरीयार (955 सी.ई.), *हुदूद अल आलम* के एक बेनाम लेखक (982 सी.ई.), अल बरुनी (1034 सी.ई.), अल इदरीसी (1162 सी.ई.), चाउ-जू-कुआ (1225 सी.ई.), मार्को पोलो (1295 सी.ई.) और इब्न बतूता (चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) के अरबी वृत्तांतों में बारंबार नजर आता है। इसने सिराफ और होमुर्ज जैसे दोनों ही फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों तथा लाल सागर के मुहाने पर एडन के साथ संपर्क कायम किए। दो प्रारंभिक मध्यकालीन संस्कृत साहित्यिक स्रोत – *वस्तुपालमहात्म्यं* तथा *जगदुचरित* – दो प्रमुख गुजराती व्यापारियों – वस्तुपाल और जगदू (बारहवीं/तेरहवीं शताब्दी) के गतिविधि-केन्द्र के रूप में इसी बंदरगाह की बात करते हैं। कैम्बे, निश्चय ही उत्कृष्ट बंदरगाह था, हालाँकि, उसे अनेक छोटे बंदरगाहों का यथासंभव सहयोग प्राप्त था जो कैम्बे के मुख्य बंदरगाह हेतु सहायक बंदरगाहों के रूप में काम किया करते थे। यह थे : सोमनाथ (1264 सी.ई.) के एक संस्कृत-अरबी द्विभाषी अभिलेख में प्रमुखता से नजर आने वाला, अलदीब (द्यू, एक बारहवीं शताब्दी यहूदी व्यापार-पत्र में उल्लिखित) और घोघा। पुरालेखीय एवं साहित्यिक स्रोतों में होर्मुज (संस्कृत साहित्यिक स्रोतों में वर्णित आर्द्रपुर) तथा कैम्बे, सोमनाथ तथा घोघा के बीच गहन संपर्क संबंधी पर्याप्त दस्तावेज मिलते हैं। घोघा का होर्मुज से आने वाले जहाजों (*हुर्मुजीवाहन*) के आगमन बिन्दु के रूप में विशिष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। कैम्बे बंदरगाह का कोंकण तट के भी अनेक बंदरगाहों से विशिष्ट संपर्क था, जैसे थाना, संजन और चौल, इनमें सभी का उल्लेख अरबी वृत्तांतों में मिलता है। गुजरात एवं निकटवर्ती उत्तर कोंकण तट में ये बंदरगाह भारतीय साहित्यिक स्रोतों एवं अभिलेखों में भी दृश्टिगत होते हैं, जिन्हें आमतौर पर *वेलकुल* अथवा बन्दरगाह की संज्ञा दी गई है।

अब हम अपना ध्यान बंगाल तट पर स्थित बंदरगाहों की ओर करते हैं, जो चारों तरफ से भूमि से घिरी गंगा घाटी के लिए समुद्र हेतु एक प्रमुख निर्गम मार्ग था। यह सत्य है कि आठवीं शताब्दी सी.ई. के पश्चात् ताम्रलिप्त के महापत्तन की सक्रिय भूमिका के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। परंतु इस बात से भी इकार नहीं किया जा सकता कि कम से कम सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही ह्वेनसाँग दक्षिण-पूर्व एशिया में कुछ क्षेत्रों के साथ समतट (गंगा डेल्टा का अंतिम पूर्वी छोर) के समुद्री संपर्कों से प्रभावित था। ऐसा तब हो रहा था जब ताम्रलिप्त अपने गौरव के चरमोत्कर्श पर था। समतट-हरीकेला क्षेत्र सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तटवर्ती दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ एक प्रमुख क्षेत्र के रूप में उभर रहा था, यह बात इत्सिंग (भारत-भ्रमण 675-95 सी.ई.) के वृत्तांतों से प्रमाणित होती है। मध्य-नौवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के अरब वृत्तांत धौम (DHM-धौंम, अर्थात् पालवंशी राजा धर्मपाल) के राज्य में एक बंदरगाह की बड़ी तारीफ करते हैं, जिससे इसके बंगाल डेल्टा में होने का पला चलता है। यह बंदरगाह है समन्दर। यह नाम संभवतः समुद्र या सागर शब्द से व्युत्पन्न है। इब्न बतूता ने इसे सुदकावन के नाम से जाना। यह एक नदी के मुहाने पर स्थित था और इसके करीब ही एक द्वीप भी था जो अल इदरीसी (1162 सी.ई.) के अनुसार, विविध देशों के व्यापारियों से परिपूर्ण था। इदरीसी यह भी लिखता है कि यह बंदरगाह एक संकरी खाड़ी या प्रवेशिका (खावर) के नजदीक स्थित था जो बेड़े की आवाजाही में मदद करती थी। इब्न बतूता ने सुदूर उत्तर में सुदकावन से हबांग तक, जिसे बंगलादेश में हबीगंज के नाम से जाना जाता है, की यात्रा की थी। उसने नील नदी के किनारे-किनारे भी एक यात्रा की। इस नदी की आमतौर पर

मेघना के नाम से पहचान की जाती है। समन्दर/सुदकावन के विषय में विभिन्न साहित्यिक वृत्तांतों ने इसकी पहचान आधुनिक चिटागांग (चट्टग्राम) के निकट स्थित एक बंदरगाह के साथ की। वस्तुतः क्रमानुसार आठवीं और दसवीं शताब्दी के दो पात्र-अभिलेखों में यह क्षेत्र नवचट्टमण्डल के नाम से जाना गया। ताम्रलिप्त के पतन और विलुप्ति की क्षतिपूर्ति पर्याप्त रूप से इस डेल्टा के पूर्वतम हिस्से में एक नए बन्दरगाह के उदय के साथ हुई प्रतीत होती है। समन्दर ने अरबी साहित्यिक स्रोत के अनुसार सेरेनदीब (श्रीलंका), उरानशिन (उडीशा), गंजा (कोरोमण्डल में कांचीपुरम) आदि के साथ वाणिज्यिक संपर्क कायम रखे। इब्न बतूता, हालांकि बाद के काल में आया फिर भी, सुदकावन और मालदीव के बीच समुद्र-यात्राओं की बात करता है। सुदकावन के दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ संपर्कों के विषय में हमारे पास पर्याप्त जानकारी नहीं है। परन्तु नालन्दा से प्राप्त एक ताम्रपत्र से यह भलीभांति पता चलता है कि जावा के राजा बलपुत्रदेव ने पालवंशी शासक राजा देवपाल (802-37 सी.ई.) से निवेदन किया था कि वह नालन्दा विहार को पांच गांव अनुदान स्वरूप दे, जावा के राजा के निवेदन को यथावत् सम्मान दिया गया। यह बंगाल और तटवर्ती दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच नियमित सांस्कृतिक संपर्कों का स्पष्ट संकेतक है। ऐसे सांस्कृतिक सम्पर्क इन दो क्षेत्रों के बीच निरंतर वाणिज्यिक संपर्कों का ही परिणाम प्रतीत होते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अरब लेखक समन्दर बंदरगाह पर उम्दा किस्म के कपड़ों, कमरूनी रामबाँस की लकड़ी, गेंडे के सींगों और तलवारों की उपलब्धता की बात करते हैं, जो निश्चित रूप से इन उत्पादों की जहाजों पर लदाई/उतराई का स्थान था। कमरूनी रामबाँस की लकड़ी, जिसका स्थान केवल मुलतान की रामबाँस लकड़ी के मुकाबले दूसरा था, स्वयं बंगाल या समन्दर का कोई स्थानीय उत्पाद नहीं था। यह कामरूप से नदी-मार्ग द्वारा समन्दर लाया जाता था। गेंडे का सींग भी भारत के उत्तर-पूर्वी भागों से ही समन्दर तक पहुँचता प्रतीत होता है। तलवार संभवतः अंग (पूर्वी बिहार), जो इस हथियार को बनाने के लिए प्रसिद्ध था, में निर्मित वस्तु थी। वस्त्र पूरी संभावना के साथ बंगाल के स्थानीय उत्पाद ही थे, जो सबसे उम्दा किस्म के सूती कपड़ों के उत्पादन के लिए निरन्तर प्रसिद्ध थे। समन्दर का बंदरगाह, इस प्रकार विस्तृत आंतरिक क्षेत्रों से जुड़ा हुआ था। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया, गंगा डेल्टा के छोटे और अन्तरदेशीय नदीय बंदरगाह थे और आंतरिक क्षेत्रों के बीच महत्वपूर्ण सम्पर्क प्रदान करते थे। प्रारंभिक मध्यकालीन बंगाल में सक्रिय लंबी दूरी के समुद्री व्यापार के विषय में कम ही मतभेद है। प्रारंभिक मध्यकालीन बंगाल में लंबी दूरी के व्यापार के ह्रास संबंधी धारणा को स्वीकार करना मुश्किल है।

बोध प्रश्न 1

1) 300-1300 सी.ई. के दौरान व्यापार और वाणिज्य के विकास का आंकलन करने के लिए शिलालेख और सिक्कों की भूमिका का विश्लेषण करे।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) शहरी क्षय के मुद्दे पर इतिहासकारों के बीच बहस पर चर्चा करें। आपकी राय में कौन सा तर्क अधिक ठोस है और क्यों?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

12.8 दक्षिण भारत में व्यापार मार्ग

पुडुक्कोट्टाई और रामनाथपुरम्, सालेम और कोयम्बटूर जैसे क्षेत्र ऐसे प्राचीन व्यापार मार्गों पर थे जो तमिलनाडु को कर्नाटक और केरल से जोड़ते थे और आगे दक्षिण को श्रीलंका की ओर ले जाती मन्नार की खाड़ी से। उनका वाणिज्यिक महत्व *संगम* काल से ही है, इसके प्रमाण – आहत मुद्राओं के अलावा प्रारम्भिक तमिल ब्रह्मी अभिलेखों और रोमन मुद्रा-भण्डारों के वितरण में दृष्टिगोचर होता हैं। यह प्रक्रिया मध्यकाल तक सुचारू रूप से चलती रही और उन्होंने पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक व्यापार-संचलन में मदद की। तटीय नगरों, जैसे तिरूप्पलईवनम्, मायिलप्पुर, मामल्लपुरम् और आगे दक्षिण में कावेरीम्पांट्टिनम, नागप्टट्टीनम् (चोल तट पर), तोन्डी, कायल, एवं पाण्ड्य तट पर अन्य नगरों के उदय भी एक तटीय मार्ग को इंगित करते हैं। तोन्डी (तित्तंदातनपुरम्) एक महत्वपूर्ण तटीय नगर था जहाँ अनेक व्यापार समूहों, यथा *अंजुवन्नम, मणिग्रामम्* और *सामन्त पण्डासाली* द्वारा स्थानीय मंदिर को धार्मिक अनुदान हेतु निर्धारित करों की वसूली के लिए एक समझौता किया गया। 13वीं-14वीं शताब्दी के कामुदी और पिरनमलाई अभिलेख 18 *पट्टिनमों,* 32 *वलारपुरमों* और 64 *कादिगैट्टावलमों* का वर्णन करते हैं, जिनमें सभी अनेक नगरों के उदय को इंगित करते हैं, जो दक्षिण भारत के व्यापार-तंत्र में विभिन्न प्रकार के महत्व वाले तटीय नगरों, मेलों और बाजार नगरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोंगु क्षेत्र में, जहां मुडिकोण्डाचोलापुरम एक प्रमुख व्यापार केन्द्र था, कावेरी के दक्षिण और उत्तर स्थित अनेक नगर व्यापारियों के बढ़ते संचलन के साथ उदित हुआ, जो स्थानीय मंदिरों को अनुदान दिया करते थे। पेरूर एक उल्लेखनीय रूप से महत्वपूर्ण और बड़ा नगर था जहाँ *चक्रवर्ती* उपाधि वाले व्यापारी काफी प्रभावशाली थे।

12.9 दक्षिण भारत के समुद्री संपर्क

विशेष रूप से प्रारंभिक मध्यकालीन अवधि में समुद्री व्यापार की गिरावट के बाद विदेशी व्यापार भी बधित हुआ। पारंपरिक विवरण व्यापार मार्गों (स्थल मार्ग और नदी के किनारे) वाणिज्यिक केन्द्रों, व्यापारियों के पेशेवर निकायों का उल्लेख करते हैं लेकिन तटिय नेटवर्क के बारे में बहुत कम ज्ञात हैं।

पूरे तटीय क्षेत्र में नियमित तटीय यातायात था; विशेष रूप से कोंकण और मलय क्षेत्र इस अवधि के दौरान प्रमुखता से उभरे। आइए हम दक्षिण के विभिन्न क्षेत्रों के तटिय व्यापार और समुद्री लिंक पर चर्चा करें।

12.9.1 कर्नाटक

समुद्र पार सम्पर्क बढ़ते जा रहे थे और कोंकण एवं कैनरा तटों पर भट्कल, बसरूर, बाराकुर, कारवाड़, होनावर, कासरगोड़, कुम्बला, मंगलौर, सिरूर, सदाशिवगढ़, माल्पे, अकोला, मीरजन जैसे बन्दरगाह विकसित हुए। होनावर प्रमुख बंदरगाहों में एक था। होनावर जैसे बड़े बन्दरगाहों में लाए गए तटीय नगरों से माल की उतराई और वसूली के लिए नियमित तटीय यातायात और आवधिक रूप से लंबी दूरी का यातायात होता था। कासरगोड़ मुस्लिम व्यापारियों के लिए बड़े महत्व का था। मंगलौर अरब क्षेत्र से आने वाले यात्रियों के लिए सबसे बड़ा नगर था।

अरब लेखकों द्वारा चावल, काली मिर्च, रेशम, नारियल, केला, सागवान, रामबाँस, वृणभानि (amber), बाँस, कपूर, इलायची, लौंग, आम, गंधक, हर्र, आदि निर्यात-वस्तुओं का वर्णन किया गया है। मार्को पोलो ने आयात-वस्तुओं में ताँबे का काम, जरी, रेशम और औशधियाँ, आदि को सूचीबद्ध किया है। यदि हम भ्रमणशील व्यापारियों के अभिलेखों पर भी विचार करें तो गांधार, तुरूश्क, सिंहल, चोल, मगध, व मलेंयालां से आने वाले अश्व, हाथी, मोती, वस्त्र, कस्तूरी एवं चंदन व्यापार की अन्य महत्वपूर्ण वस्तुएँ थीं। बेलगाम से प्राप्त 1204 सी.ई. के अभिलेख में सबसे विस्तृत सूचियों में एक में सागवान, नारियल, मसाले (काली मिर्च और अदरक) तथा वस्त्र जैसी उपभोक्ता वस्तुओं का वर्णन मिलता है। उत्तरी कर्नाटक में बेलगाम अनेक प्रकार के व्यापारियों का एक बड़ा संगम-स्थल था। व्यापार-मदों में नियमित उपभोग की वस्तुएँ भी शामिल थीं, जैसे धान, चावल, काली मिर्च, हींग, हरी अदरक, हल्दी, पान, सुपारी, नारियल, खजूर की पत्तियाँ, घास, गन्ना, खांड, केला और हर्र। यह स्पष्ट नहीं है कि उनमें से कौन सी वस्तुएँ तटवर्ती जहाजों द्वारा लाई-ले-जाई जाती थीं। विलासिता की वस्तुओं के अलावा कृषि उत्पादों के साथ-साथ निर्मित उत्पादों में भी व्यापार के लिए तटीय-व्यापार तंत्र व्यस्त और प्रभावोत्पादक था।

12.9.2 कोंकण तटीय व्यापार और समुद्री यात्राएँ

कोंकण तट, पूर्व अपरांत, अर्थात् महाराष्ट्र तट (उत्तर व दक्षिण कोंकण) और इसके महत्व के बारे में प्राचीन क्लासिकल स्रोतों को जानकारी थी। परंतु, उत्तरी और दक्षिणी कोंकण के बन्दरगाहों के बीच अन्तर संबंधों की जानकारी प्रारंभिक काल में स्पष्ट रूप से नहीं मिलती। कोंकणा शब्द को अधिक प्रमुखता प्रारंभिक मध्यकाल में ही मिली। अरब साहित्यिक ग्रंथों में वर्णित कमकम की बराबरी निरूपवाद रूप से बलहार, अर्थात् राष्ट्रकूटों के साथ की जाती है। उत्तरी कोंकण और तुलवन (दाभोल से गोवा – जुवाह सिंदपुर) के बीच भिन्नता का चौथी व पाँचवीं शताब्दी सी.ई. तक पता ही नहीं था। बादामी के चालुक्यों के शासन काल (छठी से आठवीं शताब्दी सी.ई.) से इस तट के कुछ भागों पर चालुक्यों द्वारा नियंत्रण करने में रुचि बढ़ी, खासकर चालुक्यों द्वारा लता (दक्षिण तटीय गुजरात) पर विजय के पश्चात्। इसके पश्चात् उत्तरी कोंकण तट और गुजरात-काठियावाड़ तटों के बीच तटीय सम्पर्क विकसित हुए और तटीय समुद्री यात्राएँ नियमित हो गई।

कोंकण अंचलों में प्रारंभिक ऐतिहासिक काल की बजाय प्रारंभिक मध्यकाल में अधिक और नए-नए बन्दरगाहों का उदय देखा गया। कोंकण तट पर बड़ी संख्या में तट नौंवीं शताब्दी सी.ई. से मिलते हैं जिनका अरबी और फारसी स्रोतों में भी जिक्र मिलता है। एक महत्वपूर्ण व्यापार केन्द्र के रूप में कोल्हापुर का पता यहूदी व्यापारियों के पत्रों से चलता है। उत्तर से दक्षिण तक अनेकों पोताश्रयों का उल्लेख इन नामों से मिलता है : समयन/सिंदन (= थाणा जिले में संजन), श्रीस्थानक (थाणा), चेमुलिया/सैमूर (कोलाबा जिले में चौल), नागपुरा (कोलाबा जिले में नागव), बालिपत्तन (रत्नगिरी जिले में खरेपतन), गोपकपत्तन/गोवे (गोवा), चन्द्रपुर/सिंदपुर (गोवा के दक्षिण में चन्दौर)। सिंदपुर का

अरब स्रोतों में प्रमुखता से संदर्भ मिलता है। गोवे कदम्बों का एक महत्वपूर्ण पत्तन और राजधानी था। अरब वृत्तांत जैसे सुलेमान और इब्नखुर्दादबिह (नौवीं शताब्दी) कैम्बे (कण्बय) के साथ और कोंकण एवं मालाबार को जोड़ते व्यापार-तंत्र के विशय में रोचक तथ्य प्रस्तुत करते हैं। इसकी पुष्टि फारसी भूगोल-संबंधी ग्रंथ *हुदूद-अल आलम* (982 सी.ई.) से होती है। सुरपरक, अर्थात् मुम्बई के निकट सोपारा भी विदेशी वृत्तांतों में जाना-माना नाम था। मालाबार होकर कोंकण से श्रीलंका तक लम्बी तटीय समुद्री यात्राओं ने आंतरिक अंदरूनी व्यापार एवं शिल्प केन्द्रों के साथ संपर्क स्थापित किए। इसके उपरांत सिलाहरों ने, जो महाराष्ट्र तट पर अत्यधिक शक्तिशाली थे, पूरे कोंकण तट पर कड़ा नियंत्रण लागू करने का प्रयास किया। 11वीं शताब्दी सी.ई. तक उत्तरी कोंकण के बंदरगाह अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण थे, परन्तु 11वीं शताब्दी के बाद दक्षिणी कोंकण के बंदरगाहों खासतौर पर सिलाहरों के पुरालेखीय अभिलेखों में उल्लिखित बालिपत्तन (रत्नगिरि जिले में वर्तमान खारेपत्तन), के भी प्रमुखता पा जाने के साथ ही स्थित बदल गयी। बालिपत्तन और गोवा के आसपास के क्षेत्रों के बीच समुद्रतटीय यात्राओं ने चन्द्रपुर एवं चेमुलिया (चौल) को बालिपत्तन से जोड़ा। बालिपत्तन गोवा के निकट से और बालिपत्तन के उत्तर से आने वाले बेड़ों का संगम-स्थल था। बालिपत्तन में बेड़ों से प्राप्त महसूल राजस्व का विशेष स्रोत थे। उत्तर व दक्षिण स्थित इन दो महत्वपूर्ण पोताश्रयों के साथ वाणिज्यिक संबंधों को बढ़ावा देने के लिए रियासतें दी जाती थी। कोंकण अंचलों के उत्तरी क्षेत्र में तटीय व्यापार का विकास, जिसमें बालिपत्तन का एक प्रमुख स्थान था, प्रारंभिक मध्यकाल में कृषि बस्तियों के क्रमिक विस्तार, फसलों के वैविध्यीकरण, शिल्पकलाओं के प्रचुर मात्रा में उद्भव एवं कर्नाटक में वाणिज्य संबंधी विकास का परिणाम प्रतीत होता है। सिंदपुर, जिसके गोवा के साथ गहरे संबंध थे, का परिचय अरब के नाविक अहमद इब्न माजिद (15वीं शताब्दी का यशस्वी *मुआल्लिम*) की नौ-संचालन संबंधी नियमावली से मिलता है। स्थानीय कदम्ब शासकों के अधीन गोपकपत्तन, गोपपुर और गोवे (गोवा) सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह के रूप में उभरे। गोवा के इस महत्व को दर्शाने वाले संदर्भ हैं : काठियावाड़ तट (1038 एवं 1125 सी.ई.) पर गोवा से (कदम्ब शासकों द्वारा) कोल्हापुर, सोमनाथ तक तीर्थयात्राएँ, अर्थात् 11वीं शताब्दी में थाणा होते हुए दक्षिण कोंकण से काठियावाड़ तट (सौराष्ट्र) तक, अरब मुसलमान व्यापारियों द्वारा डूबते हुए जहाज से एक कदम्ब शासक को बचाना जो बाद में गोवा के प्रशासनिक प्रमुख भी बने। *नौवित्तक* शब्द का अरबी शब्द *नाखुदा* (जहाज का स्वामी) का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग प्रमाणतः एक जहाज के स्वामी व्यापारी का ही संदर्भ होता है। उसके द्वारा बनवाई गई *मिजीगिटी* (मस्जिद) का रखरखाव गुर्जर, सौराष्ट्र, लता, कोंकण, आदि से आने वाले बेड़ों पर गोवा में लगने वाले करों से प्राप्त राजस्व द्वारा किया जाता था। मालाबार के उत्तरी भाग में एक प्रमुख बन्दरगाह मंजरूर एवं काठियावाड़ के बीच संपर्कों और कोंकण तट से होकर गुजरात की ओर की जाने वाली समुद्री यात्राओं के प्रमाण यहूदी व्यापारियों के कैरो गैनिजा रिकॉर्ड द्वारा मिलते हैं, जो ऐडन के साथ व्यापार में यहूदी व्यापारियों की भूमिका को सिद्ध करते हैं। एक जहाजस्वामी (*नाखुदा*), तिन्बू की जानकारी 1145 सी.ई. एक यहूदी पत्र से मिलती है।

ऐडन और भारत के बीच चलने वाले जहाजों को कोंकण तट पर समुद्री डकैती का सामना करना पड़ता था। तिन्बू का जहाजरानी व्यवसाय कोंकण अंचलों के साथ-साथ मंजरूर से थाणा तक फेला हुआ था। प्रारंभिक भारतीय व्यापारियों की जहाजरानी उद्यमों में भागीदारी थी, परन्तु इससे संबद्ध आंकड़े अपर्याप्त है। *नाखुदा* महरूज़ जैकब मंजरूर से 1145 सी.ई. में अपने बहनोई के लिए एक खत लेकर आया, जो मंजरूर से थाणा तक की तटीय जलयात्रा का संदर्भ देता है। कन्बय (कैम्बे), जिसके मंगलौर एवं मालाबार अंचलों के अन्य बंदरगाहों के साथ परस्पर संबंध थे, भी इस तटीय संचार-तंत्र का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। मुलयबार और कोल्लम के संदर्भ भी दर्शाते हैं कि काठियावाड़ में

सोमनाथ से जलयात्राएँ 11वीं शताब्दी में काफी नियमित हो गई थीं। प्रारंभिक मध्यकालीन स्रोत बेड़ों के प्रकार के विषय में कुछ नहीं कहते हैं जो *पैरिप्लस* को ज्ञात थे, जैसे त्रप्पगा और कोट्टयम्बा, जो जैन ग्रंथ *अंगविज्ज* (चौथी शताब्दी सी.ई.) में दिए गए संदर्भों से संबंध रखते हैं। त्रप्पगा और कोट्टयम्बा तटीय जहाज थे, जो अवश्य ही चेमुलिया और चंद्रपुर से बालिपत्तन के बीच चलते होंगे। तटीय जहाजों संबंधी यह तस्वीर अस्पष्ट है, और इस संबंध में साहित्यिक स्रोत एवं पुरालेखीय संदर्भ अपर्याप्त हैं। लड़ाइयों के प्रसंग में और मुंबई के निकट बोरीविली स्थित गुफाओं में वीरागलों या वीर स्तम्भों के दृश्य प्रतिरूप एक साथ बाँध कर जोड़े गए तख्तों से बने जहाजों की कुछ किस्मों को दर्शाते हैं। संभवतः वे 12वीं शताब्दी के सिलाहरों और कदम्बों के बीच लड़ाइयों में भी प्रयोग किए गए थे। सैनिकों को लाने वाली छोटी नौकाओं तथा यात्रियों व माल को लाने-ले जाने वाली बड़ी नौकाओं का संदर्भ यहूदी पत्र में मिलता है।

प्रारंभिक मध्यकालीन कोंकण में जहाज धारक व्यापारियों के समुदाय संबंधी पुरालेखीय आँकड़ें उपलब्ध हैं। *महामात्य* एक उच्च अधिकारी था, और सिलाहरों के अधीन *वसैदा* नामक एक अफसर *नौवित्तक* (अरबी स्रोत नाखुदा का संदर्भ देते हैं) भी था। वे वाणिज्यिक के साथ-साथ प्रशासनिक भूमिकाएँ भी निभाते थे। मौद्रिक परिदृश्य मध्य-आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी सी.ई. तक धातु के सिक्कों के आपेक्षिक अभाव की वजह से सक्रिय व्यापार संबंधी जानकारी से मेल खाता नहीं लगता। जबकि राष्ट्रकूटों के राजवंश द्वारा जारी की गई कोई निश्चित मुद्रा प्रचलन में नहीं थी, अवश्य ही अरबी *द्रम्म* प्रयोग में रहे होंगे। सिलाहरों ने गधैया पैसा प्रकार के, चांदी के सिक्के जारी किए। सोने के सिक्के 11वीं शताब्दी से नजर आते हैं (कलचुरियों, कदम्बों और पश्चिमी चालुक्यों के अधीन)। जोखिमों और अनिश्चितताओं के बावजूद व्यापारियों और माल का अबाध तटवर्ती संचालन दिखाई पड़ता है। लंबी दूरी के व्यापार में निहित जोखिम और अनिश्चितताओं के बावजूद तटवर्ती यात्राएँ अपेक्षाकृत अधिक शांत और सुरक्षित थीं। इस यातायात में निरन्तरता देखने में आती है, हालाँकि कोंकण तट पर वाणिज्य की कुल मिलाकर शांत प्रकृति में भी परिवर्तन और हेर-फेर ने बालिपत्तन जैसे नए बंदरगाहों को उदय की ओर प्रवृत किया। राष्ट्रकूटों के अधीन संजन उत्तरी कोंकण में एक जाना-माना बंदरगाह था। मालाबार अंचलों, कोंकण और सौराष्ट्र के बीच संपर्क प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से प्रारंभिक मध्यकाल और भलीभाँति प्रारंभिक आधुनिक काल में भी अटूट ही बने रहे।

12.9.3 आन्ध्र क्षेत्र

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में आंध्र में लंबी दूरी की व्यापार गतिविधियों की गति साधारण थी। इसके लिए, यह कहा जाता है कि राजनीतिक वातावरण प्रेरणादायक नहीं था परन्तु एक सीमित पैमाने पर आन्तरिक व्यापार विद्यमान था। व्यापारी प्रायः बैंकरों के रूप में काम करते थे, उदाहरण के लिए चन्द भीम पोती सेट्टी वेलनती कुलोटुंगा कोडा गोंकराजु (1157) के लिए बैंकर के रूप में काम करता था। वेंगी, गुडीमेट्टा, नादेंडला, धरणीकोटा और नेलौर जैसे अधीनस्थ राजाओं और सरदारों की राजधानियाँ व्यापारियों को आकर्षित करती थीं। व्यापार को बढ़ावा देने वाले मंदिरों के बीच पांच अरम थे (भीमपुर, गुडीपुडी, पालकोनालु, द्रक्षारम और अमरावती), साथ ही बेजवाड़ा में मल्लेश्वर और चेब्रोलु में महासेना भी, जो तीर्थ-केन्द्र थे। तीर्थ-स्थानों में प्रसिद्ध सिम्हाचलम, बापत्ला, घंटशाला, श्रीसैलम, अहोबलम और तिरूपति भी शामिल थे। 11वीं-12वीं शताब्दी में ऐसे मंदिरों के आसपास नगर बस गए। पेणुगोंडा के शासक, तमिल व्यापारी और आंध्र में व्यापारी संगठन, जिनमें 500 मणिग्रामम, अंजुवन्नम शामिल थे (मल्लम अभिलेख), विशेष रूप से सक्रिय थे। परंतु, काकतीय राजा गणपति देव (1199-1261 सी.ई.) के शासनकाल में शानदार विकास ने एक नए युग की शुरूआत की, जो समुद्री व्यापार को बढ़ावा देकर एवं मोतुपल्ली, गुंटूर

जिले के बन्दरगाह का पुनर्नवीकरण करके तथा सभी विदेशी व्यापारियों के लिए एक अभय शासन प्रदान करके किया गया। इसने कष्टकर कराधान और समुद्री डकैती से मुक्ति की ओर प्रवृत्त किया। व्यापार-वस्तुओं, जैसे चंदन, कपूर, मोती, हाथी दाँत, रेशम, धागा, मूँग और मसालों पर स्थिर शुल्कों ने माल और व्यापारियों के नियमित संचलन में मदद की। संचार-साधनों में भी सुधार आया। मार्को पोलो इस बन्दरगाह का संदर्भ मुल्फ़ली के रूप में देता है। 1244 सी.ई के मोतुपल्ली अभिलेख (गुंटूर जिला) में इस नगर के आयात और निर्यात दोनों का वर्णन है। इस काल से वैश्य समुदाय की आम समृद्धि *वैश्य पुराण* में प्रकट होती है। पेनुगोंडा व अन्य 17 नगर 714 गोत्रों वाले वैश्यों का मूलनिवास स्थान थे, प्रत्येक के पास एक *नकरम* होता था जिसका प्रमुख *नकरस्वामी* था। कोमती व्यापारी, जिनके बारे में *वैश्य पुराण* में भरपूर कहानियाँ हैं, घंटशाला से प्राप्त कुछ अभिलेखों में भी उल्लिखित एक महत्वपूर्ण समूह थे।

11वीं-14वीं शताब्दी के दौरान तेलंगाना में अर्थव्यवस्था, समाज और राज्य व्यवस्था संबंधी अध्ययन उत्तरोत्तर यह दर्शाते हैं कि तेलंगाना काकतियों के शासनकाल में व्यापार संभावना का एक प्रमुख क्षेत्र था। इस काल में यह अपेक्षाकृत शुष्क और झील-सिंचित क्षेत्र था जिसका विकास कृषि-विस्तार और संगठित व्यापार के माध्यम से सचेत रूप से किया गया। कालांतर में यही वो प्रक्रिया थी जिसने राजकीय प्रोत्साहन और संरक्षण संबंधी नीति द्वारा, अन्तरराष्ट्रीय और लंबी दूरी के व्यापार-तंत्रों में समस्त आंध्र के महत्व को बढ़ाया।

12.9.4 केरल

केरल ने पश्चिमी देशों के साथ सम्पर्क विकसित किया और राजकीय चार्टरों के अधीन यहूदियों, ईसाइयों और अरबों जैसे विदेशी व्यापारियों को व्यापार नगर दिए गए (यथा, उन्हें बसने और व्यापार के लिए ऐसे केन्द्र दिए गए जहाँ मुख्य व्यापार गतिविधियाँ होती थीं)। अन्य तटीय नगर भी उभरे, जैसे कोलिक्कोडु, कोल्लम, आदि, जो दक्षिण एशियाई व्यापार के आयात-निर्यात तथा संग्रह-वितरण के बाजार बन गए। अंजुवन्नम एक व्यापार संगठन था जिनकी सभाएँ नौवीं-दसवीं शताब्दी में केरल और कैनरा तट पर अक्सर ही हुआ करती थीं और बाद में भी, दक्षिण कैनरा में 15वीं-16वीं शताब्दी के अभिलेखों में हन्जामना संभवतः प्रारम्भिक मध्यकाल के अंजुवन्नम का ही प्रतिनिधित्व करता था। ऐसे व्यापार समूहों की विद्यमानता और मलैयाला क्षेत्र से आने वाले अरबी घोड़ों के व्यापारियों ने कर्नाटक और केरल में तटीय नगरों का महत्व बढ़ा दिया, जैसा कि कोझीकोड के निकट सुल्तान बेट्टेरी (15वीं-16वीं शताब्दी) के एक अभिलेख में अय्यावोल की विद्यमानता का भी संदर्भ मिलता है।

12.9.5 तमिल क्षेत्र

मध्य बारहवीं शताब्दी के उपरांत विदेशी व्यापार में बढ़ती भागीदारी के स्पष्ट संकेत मिलते हैं जो 13वीं शताब्दी के अंत तथा 14वीं शताब्दी सी.ई. में दक्षिण भारत में समुद्री आयातों से सिद्ध होता है। युआन वंश के शासनाधीन दक्षिण भारत में भेजे गए चीनी व्यापारी शिष्टमंडल दक्षिण भारत और चोल व उत्तर-चोल काल में उसके समुद्री व्यापार के महत्त्व को रेखांकित करते हैं। विलासिता की वस्तुओं से रोजमर्रा की जरूरी चीजों, जैसे रंग, सूती धागा, वस्त्र, परिष्कृत लोहा, काली मिर्च और घोड़े, आदि समुद्री व्यापार की वस्तुओं में परिवर्तन अय्यावोले अभिलेखों में और अधिक प्रमुखता से दिखाई पड़ता है। यह माल कैसे दक्षिण भारत में लदान के लिए आता था और ये पोतवणिक कौन थे, इसके बारे में जानकारी नहीं मिलती। श्रेणियों के अभिलेख दर्शाते हैं कि उनके द्वारा अपने एजेन्ट दूर देशों में भेजे गए थे और उन्होंने व्यापार केन्द्र स्थापित किए थे (उदाहरणार्थ, तकुआ पा – मणिग्रामम् (मलय प्रायद्वीप में) और पागन – आय्यावोल (बर्मा, म्यांमार में, इनमें से प्रथम स्थान को दर्शाता है और दूसरा श्रेणी को)।

व्यापारियों की पहुँच राजाओं तक होती थी। श्रीलंका पर चोल आक्रमणों में ऐसे ही परस्पर प्रभाव शामिल थे। चोल शासकों की विदेश-नीति का उद्देश्य समुद्रीय व्यापार के हितों का विस्तार था ताकि चोल शासक और व्यापारी दोनों ही इसका लाभ उठा सकें। ये अभियान लूटपाट के उद्देश्य से नहीं थे वरन् व्यापार चोल नीति को निर्धारित करने में एक महत्वपूर्ण कारक था और चोल शासकों के परस्पर लाभ कमाने की दृष्टि से व्यापारी समुदाय के साथ संबंध होते थे। उत्तरी श्रीलंका मे ंचोल अभिलेख मन्तई से ट्रिंकोमाल्ली तक पाये जाते हैं, जहाँ पोलोन्नरूवा प्रमुख केन्द्र था। उत्तरी श्रीलंका पर चोलों का अधिकार दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ श्रीलंका के संबंधों में रूकावट रहा हो सकता है, खासकर जावा और बाली के साथ सिंहली संबंधों में। श्रीलंका अनमोल रत्नों में संपन्न था, जैसे कि लालमणियाँ, पुखराज और नीलमणियाँ। अरबी कृतियाँ जैसे *अहबर अस सिनव अल हिन्द*, यात्रा-वृतांतों का एक संग्रह और इब्नखुर्दादबिह की कृति भी काली मिर्च, इत्र, कस्तूरी, हीरे-जवाहरात, रामबाँस (aloe), सोना और मोतियों का संदर्भ देती हैं, उनमें से कुछ, जैसे सुगंधित मसाले, श्रीलंका को निर्यात किए जाते थे। मन्नर की खाड़ी जहां मोती प्रचुर मात्रा में मिलते थे तथा उत्तर-पश्चिम श्रीलंका में मन्तई (महातिट्ट) ही चोलों के लिए प्रवेशद्वार का काम करता थे। मन्तई प्रारंभिक मध्यकाल का एक विशाल एम्पोरियम था जिसकी तुलना फारस की खाड़ी पर स्थित सिराफ से की जा सकती है। काली मिर्च की चीन में और पश्चिमी देशों में ऊँची कीमत मिलती थी तथा इस माँग में 13वीं शताब्दी में काफी वृद्धि हो गई।

चोल शासकों और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच व्यापार संबंधों की पुष्टि 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के नागपट्टिनम रिकॉर्ड और चोल शासकों को काम्बोजों के उपहारों एवं चीन (1077 सी.ई.) को भेजे गए चोल शिष्टमण्डलों द्वारा होती है। दक्षिण-पूर्व एशिया में कादारम या श्री विजय की ओर चोल शासक राजेन्द्र का यात्रा-अभियान एक तटीय जलयात्रा ही थी। चोल आक्रमणों का उद्देश्य था ''श्री विजय के हस्तक्षेप से भारतीय वाणिज्यिक हितों की रक्षा करना''। चीन के सुंग सम्राटों अथवा दक्षिण-पूर्व एशिया में श्री विजय के शासकों की ही भांति चोल शासकों ने भी इन क्षेत्रों में विदेश व्यापार बढ़ाने और तमिल-भाषी व्यापारियों के लिए व्यापार-अधिकारों को स्थापित करने का निवेदन और प्रयास भी किया। कैन्टन का श्री विजय अभिलेख, यदि इसकी व्याख्या सही-सही की गई है तो, उस उपसतही कूटनीति पर एक असाधारण अन्तःदृष्टि प्रस्तुत करता है जो कैन्टन में चोल शासकों के वाणिज्यिक गतिविधियों से पूर्व विद्यमान थी। (इसमें कुलोटुंगा प्रथम की ओर से कैन्टन में ताओवादी मठ को एक दान दिए जाने का वर्णन है)। 1088 सी.ई. तक अय्यावोले श्रेणी सुमात्रा में बारूस के निकट स्थापित हो चुकी थी। चोल शासक समुद्री व्यापार के लाभों की भागीदारी में व्यक्तिगत रूप से रूचि रखते थे। पिरानमलई (13वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध), कोइलपट्टी और तिरूवरन्क्यूरिच्ची (त्रिची जिला) से प्राप्त अभिलेखों में आयातों और निर्यात का वर्णन मिलता है। उनमें उल्लिखित वस्तुओं में शामिल हैं - सुपारी, काली मिर्च, हर्र, लोहा, रुई, मोटा कपड़ा, सूत, मोम, याक की पूंछ, कपूर का तेल, गंधबिलाव से प्राप्त इत्र, गंधबिलाव घोड़े हाथी, ऊँट?, रामबाँस, चन्दन, आदि। सुंग समुद्री व्यापार में प्रमुख उपभोक्ता वस्तुएँ थीं - लौंग, लोबान, सूखी गेलिनगेल (dried galingele), अबेका वस्त्र, छतरियाँ, तलवारें, लौकी, खजूर, औशधीय रबाब, गुलाम, मयूर (peafowl), बेन्जेन (benzoin), पुटचुक (putchuk), मार्गोसा बार्क (margosa bark), तरबूज, पापरा-पुश्प (gardenia-flower), नारियल, इलायची, मदिरा पात्र और बहुत सी अन्य वस्तुएँ। चीनी व दक्षिण भारतीय सूचियों में सामान्य उपभोक्ता वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। चन्दन और कपूर, इन दो वस्तुओं की हिन्द महासागरीय व्यापार में बेहद माँग थी। सुगंधित मसाले भी एक महत्वपूर्ण मद थे चूँकि उत्सर्जनीय पवित्र वस्तुओं (expendable sacred items) के लिए लगातार माँग बनी हुई थी। लोबान पश्चिम एशिया से आने वाली एकमात्र वस्तु थी, जबकि

सुगंधित मसाले अधिकांशतः दक्षिण-पूर्व एशिया से आते थे। अय्यावोल अभिलेखों में पांड्य राज्य से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की एक बड़ी संख्या का उल्लेख है। तमिलनाडु के पूर्वी (पांड्य) तट पर 14वीं शताब्दी के कायलपट्टिनम् और तिट्टानदातनपुरम् (टोन्डी) अभिलेख व्यापार संगठनों और वस्तु-भण्डारकों का संदर्भ देते हैं, जैसे कि मणिग्रामम् और सामन्त पंडसाली। आंध्र में चागी प्रमुखों को चिन्तापल्ले अभिलेख (गुण्टूर जिला) और गणपति देव का मोतुपल्ली अभिलेख (1184 सी.ई.) इसी क्षेत्रीय अन्तर-प्रवाह और समुद्री व्यापार की वस्तुओं के बहिर्गमन का संदर्भ देते हैं। इस व्यापार की शाखा-प्रशाखाओं में दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों, श्रीलंका और दक्षिण भारत से होकर चीन से पश्चिम एशियाई क्षेत्रों तक के भूभागों और जिन्सों की एक व्यापक श्रृंखला शामिल है। इसके अतिरिक्त, गुजरात तट पर भी, जो अधिकांश भारतीय व्यापार को पश्चिम एशिया से जोड़ता था, नियमित समुद्री यातायात रहता था जो उसे होर्मुज व अन्य मध्य एशियाई क्षेत्रों तथा उत्तर चीन से जोड़ता था। व्यापार के लिए दक्षिण भारतीय माल भी इसी महत्वपूर्ण रास्ते से लाया-ले-जाया जाता था। मार्कों पोलो चीन को काली मिर्च, अनमोल रत्नों और मोतियों के इस व्यापार के महत्व का वर्णन करता है। मा''बार, पांड्य क्षेत्र, से चीन को राजदूत भेजे गए (1283 और 1284 सी.ई.) और चीन से भी राजदूत कोल्लम (1279 सी.ई.), पश्चिमी तट पर प्रमुख बंदरगाह, पहुँचे। समुद्री वाणिज्य प्रमुख रूप से पश्चिम एशिया तथा मिस्र (कैरो) व चीन के साथ मुख्यतः पश्चिमी तट से होता था जहाँ कोल्लम एक प्रमुख बन्दरगाह की भूमिका निभाता था। गैनिज़ा दस्तावेज और यहदूी पत्र, आदि भूमध्यसागरीय क्षेत्रों, यथा इटली, सिसिली, मोरक्को और लेबनान (सीरिया) के साथ संबंधों के प्रभावशाली प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। करीमी कही जाने वाली मिस्री सरकारी संस्था काली मिर्च और मसालों का व्यापार करती थी। वे 13वीं शताब्दी तक चोल, पांड्य व काकतियों के शासनकालों में गुजरात व दक्षिण भारत के भारतीय व्यापारियों से और सिंहल द्वीप से भी पूर्व की वस्तुएँ प्राप्त करते थे। चीन के सुंग और बाद में युआन शासकों ने इस व्यापार को बढ़ावा दिया। भारतीय उपमहाद्वीप अपने अनेक निर्यातों के बदले भुगतान में सोने, चाँदी और तांबा प्राप्त करता था। चीन में वस्तु-विनिमय के रूप में भुगतान को प्रमुखता दी जाती थी। गैनिजा दस्तावेज दर्शाते हैं कि दक्षिण भारत के साथ व्यापार करने वाले यहूदी व्यापारियों को अपने व्यापार संतुलनों को बनाए रखने के लिए सोने के रूप में भुगतान करना पड़ता था। मिस्र को भेजे जाने वाले मसालों ने यूरोप और मिस्र (विजयनगर काल के वेनिस के सेक्विन, sequins) से भारत को सोने के एक निरन्तर प्रवाह की ओर प्रवृत्त किया। परन्तु घोड़ों का आयात मुद्रा के निकास (drain) की एक प्रमुख मद थी और इस लिहाज से सोने का बहिर्गमन, खासकर उत्तर-चोल शासनकाल में, अर्थव्यवस्था का एक ऐसा पहलू है जिसकी और अधिक गहनता से अध्ययन किए जाने की आवश्यकता है।

अय्यावोल और मणिग्रामम् द्वारा व्यापार की जाने वाली मदों में इस प्रकार वस्तुओं की एक व्यापक विविधता शामिल थी, जैसे वस्त्र, लोहा, रामबाँस (अगारू-आघिल, aloeswood), सुपारी और पूग, गुग्गुल, कपूर, गंधबिलाव से प्राप्त इत्र, कपास और सूती वस्त्र। कताई और बुनाई प्रौद्योगिकी इस प्रकार, इस काल में सचेत रूप में विकसित की गई और दक्षिण-पूर्व एशिया भारतीय वस्त्रों के लिए एक प्रमुख बाजार बन गया। कपास के सक्रिय व्यापार का पता चीनी विवरणों से चलता है (पातुल-14वीं शताब्दी)। वस्त्र पश्चिमी बाजारों को भेजा जाने वाला एक प्रमुख निर्यात था। हालांकि अश्व-पालन का ज्ञान दक्षिण भारत में नहीं था, घोड़े हमेशा तुरुश्क, काम्बोज और यवन देशों से ही आयात किए जाते थे। मोतुपल्ली अभिलेख (मीरा अब्राहम, पृ. 170) अनेक मदों का संदर्भ देता है। लोहा और इस्पात दक्षिण भारत के अनेक भागों से निर्यात किया जाता था। भारतीय इस्पात, जिससे प्रसिद्ध दमिश्की (Damascus) तलवारें बनाई जाती थीं, भारत से निर्यात होने वाली एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु थी जैसा कि गैंनिजा अभिलेखों से इंगित होता है। कस्तूरी, हर्र, मोती,

कालीमिर्च, पुटचुक गुलाबजल, चन्दन, मोम और शहद व रेशम की विभिन्न किस्मों का भी व्यापार किया जाता था, जबकि चीनी रेशम चोल और पांड्य देशों में आयात किया जाता था।

बोध प्रश्न 2

1) प्रारंभिक मध्ययूगीन दक्षिण भारत में भारतीय व विदेशी बंदरगाहों के बीच समुद्री संपर्क की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दक्षिण भारत में व्यापार मार्गों पर एक संक्षिप्त नोट लिखे जो प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में महत्वपूर्ण हो गए थे।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

12.10 सारांश

गुप्त व गुप्तोत्तर काल में क्या शहरी क्षय था या यह काल वृद्धि का था, इस बारे में विद्वानों के मध्य एक लंबी बहस है। शहरी क्षय के सिद्धांत का पक्ष लेने वालों का तर्क है कि रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार में गिरावट और हुणों के आक्रमणों ने भारत में व्यापार गतिविधियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इस अवधि में शहरी केंद्रों की वृद्धि में भारी गिरावट देखी गई, सिक्के (सोना और चांदी) का भी अभाव था। इसके बजाए कौड़ी के उपयोग में वृद्धि हुई जिससे प्रतीत होता है लंबी दूरी के व्यापार में गिरावट आई थी क्योंकि कौड़ियों का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर छोटे लेनदेन के लिए ही किया जा सकता था। इस प्रकार उन्होंने जोर दिया कि लंबी दूरी के व्यापार में जोरदार गिरावट आई। इसके विपरीत भूमि अनुदान कई गुना बढ़ गया। एक आत्मनिर्भर गांव की अर्थव्यवस्था के उद्भव ने अंततः भारत में सामंतवाद के उदय के लिए परिस्थितियों पैदा की। हालांकि, जो लोग इस तर्क का खंडन करते है वे जोर देते है कि हालात इतने खराब नहीं थे। न बाजार पूरी तरह से गायब हुए थे और न ही उत्तर भारत में व्यापार में मंदी आई थी। बल्कि इस्लाम के उदय ने क्षेत्र में तेज व्यावसायिक गतिविधियों का मार्ग प्रशस्त किया। दक्षिण भारत में कृषि विस्तार ने शहरीकरण के एक नए चरण को जन्म दिया। पूरे तटिय क्षेत्र में नियमित तटिय यातायात था, विशेष रूप से कोंकण और मलय क्षेत्र इस अवधि में प्रमुखता से उभरे।

12.11 शब्दावली

अब्बासिद खलीफा का पद : 750 सी.ई. में उमय्या खलीफाओं के स्थान पर अब्बासिद आए। 762 सी.ई. में वे अपनी राजधानी सीरिया में डेमस्कस से हटाकर इराक के नए शहर बगदाद ले गए। अब्बासिदों ने समस्त पश्चिमी एशिया और उत्तर अफ्रीका पर 750 सी.ई. से लेकर लगभग 1000 सी.ई. अर्थात् जब वे कमजोर पड़ना शुरू हो गए, तक शासन किया। सबसे पहले उत्तरी अफ्रीका उनसे अलग हुआ और फातिमिदों के अधीन एक स्वतंत्र राज्य बन गया। 1258 सी.ई. में अब्बासिद वंश का अंत हो गया।

अय्यावोले : प्रारंभिक मध्ययुगीन दक्षिण भारत का शक्तिशाली वाणिज्यिक संगठन।

फातिमिद खलीफा पद : फातिमिदों ने उत्तर अफ्रीका, मिस्र और फिलिस्तीन पर 10वीं से 12वीं शताब्दी सी.ई. तक शासन किया। फातिमिद पैंगबंर मुहम्मद की पुत्री, और चौथे खलीफा एवं प्रथम शिया इमाम अली की पत्नी फातिमा के वंशज होने का दावा करते हैं। फातिमिदों का परम लक्ष्य था बगदाद के अब्बासिद खलीफा को हटाकर अपने खलीफा को स्थागित करना। खलीफा उबैद उल्ला ने बगदाद के सुन्नी खलीफा के विरोध में 909 सी.ई. में कैरो में स्वयं को खलीफा घोषित किया। उन्होंने फारस की खाड़ी से होकर जाने वाले पूर्ववर्ती समुद्री-मार्ग के स्थान पर एशिया जाने के लिए लाल सागर होकर एक नया समुद्री मार्ग स्थापित किया।

गुर्जर-प्रतिहार : इस वंश की स्थापना आठवीं शताब्दी में नागभट्ट प्रथम द्वारा हुई। यह राज्य अपने उत्कर्ष पर राजा भोज (836-90) और महेन्द्रपाल (890-910) के शासनकाल में पहुँचा। इसकी राजधानी कन्नौज थी। यह वंश 10वीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों के लगातार हमलों के कारण कमजोर हो गया और इसकी शक्ति पूरी तरह नष्ट हो गई जब 1018 सी.ई. में गज़नी के शासक महमूद ग़ज़नी ने कन्नौज को लूटा।

हुण : वे मध्य एशिया के घुमन्तु और पशुपालक समुदाय थे। वे देखने में मंगोलियाई लगते थे। अपनी द्रुत अश्व-शक्ति द्वारा उन्होंने सैन्य सर्वोच्चता हासिल की। हुण इतिहास में तीसरी शताब्दी बी.सी.ई. में दृश्टिगत होते हैं जब उन्हें चीन से बाहर रखने के लिए चीन की विशाल दीवार बनवाई गई थी। हुण राज्य आधुनिक हंगेरी में केन्द्रित था। अत्तीला (434-453 सी.ई.) उनका सबसे सशक्त राजा था। हुणों का शासन काला सागर के उत्तर में राइन से लेकर सुदूर कैस्पियन सागर तक फैला हुआ था। गुप्त वंश भी 480 सी.ई. में हुणों के आक्रमणों का

शिकार हुआ। वे 30 वर्षों की एक छोटी सी अवधि के लिए तोरमाण के नेतृत्व में 500 सी.ई. के आसपास मालवा में अपना राज्य स्थापित करने में सफल रहे। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी मिहिरकुल ने उत्तर भारत को जीता परन्तु शीघ्र ही यशोधर्मन द्वारा उन्हें कश्मीर में खदेड़ दिया गया जहाँ 542 सी.ई. में उसकी मृत्यु हो गई।

मलय प्रायद्वीप : यह वह क्षेत्र है जो आजकल प्रायद्वीपीय मलेशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के समीपस्थ द्वीपों का महासागर है, इसमें सुमात्रा का पूर्वी तट, बोर्नियो का तट, और इन क्षेत्रों के बीच पड़ने वाले छोटे-छोटे द्वीप शामिल हैं। यह हिन्द महासागर के अंडमान सागर तथा पश्चिम में मलक्का के आरम्भ एवं थाईलैंड की खाड़ी और पूर्व में दक्षिण चीन सागर के बीच स्थित है। इस प्रायद्वीप का उत्तरी भाग थाईलैंड के एक हिस्से का भाग है, दक्षिणी भाग में पश्चिम मलेशिया का मलय भाग आता है।

मणिग्रामम् : प्रारंभिक मध्ययुगीन दक्षिण भारत का एक शक्तिशाली वाणिज्यिक संगठन।

सासानिद साम्राज्य : उन्होंने आर्कमेनिडों द्वारा हासिल सीमाओं के भीतर स्थूल रूप से, अपना साम्राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी टेसीफों थी। इस वंश की स्थापना राजा अर्दशीर प्रथम द्वारा की गई थी जो प्रार्थियन शासक का सामंत था। शापुर प्रथम (241-272) ने रोमाओं पर दो बार आक्रमण कर उन्हें बुरी तरह परास्त कर जीत हासिल की, बाद में उसने कुषाणों पर हमला किया और उनकी राजधानी पेशावर पर कब्जा कर लिया। अन्तिम सासानिद शासक यज्दगार्द तृतीय (632-636 सी.ई.) था। अरबों ने टेसीफों पर 651 सी.ई. में कब्जा कर लिया, अन्तिम सासानिद शासक की मृत्यु भगोड़े के रूप में हुई।

पश्चिमी क्षत्रप शासक : एक शक शासनवंश जिसने पश्चिमी भारत और मालवा पर शासन किया।

12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 12.2 देखें।

2) भाग 12.4 एवं 12.5 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 12.9 एवं इसके उप-भाग देखें।

2) भाग 12.8 देखें।

12.12 संदर्भ ग्रंथ

चक्रवर्ती, रणबीर (2002). *ट्रेड एंड ट्रेडर्स इन अर्ली इंडियन सोसाइटी.* नई दिल्ली : मनोहर.

चंपकलक्ष्मी, आर. (1996). *ट्रेड, आईडियोलोजी एंड अर्बनाईजेशन : साऊथ इंडिया 300 बी.सी.ई. टू ए.डी. 1300.* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रैस.

चंद्रा, सतीश (एड.) (1987). *द इंडियन ओशियन : एक्सप्लोरेशन्स इन हिस्ट्री, कॉमर्स एंड ज्योगफी.* नई दिल्ली : सेज पब्लीकेशन्.

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1994). *द मेकिंग ऑफ अर्ली मेडिवल इंडिया.* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड, युनिवर्सिटी प्रैस।

चौधरी, के. एन. (1985). *ट्रेड एंड सिविलाइजेशन इन द इंडियन ओशियन फ्रॉम द राइज़ ऑफ इस्लाम टू 1750.* नई दिल्ली : मुंशीराम मनोहरलाल.

देयल, जॉन एस. (1990). *लिविंग विद्आउट सिल्वर, मॉनिटरी हिस्ट्री ऑफ अर्ली मेडिवल इंडिया.* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रैस.

गोइतें, एस.डी. (1973). *लैटर्स ऑफ मेडिवल ज्यूइश ट्रेडर्स.* प्रिसंटन : प्रिंसटन लेगेसी लाइब्रेरी.

गोपाल, लल्लन जी. (1965). *द इकॉनॉमिक लाईफ ऑफ नॉर्दन इंडिया.* वाराणसी : मोतीलाल बनारसीदास.

जैन, वी.के. (1989). *ट्रेड एंड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इंडिया 1000-1300.* नई दिल्ली : मुंशीराम मनोहरलाल.

झा, डी.एन. (एड.) (2000). *द फ्यूडल ऑर्डर.* नई दिल्ली : मनोहर.

कोशांबी, डी.डी. (1956). *एन इंट्रोशक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री.* बॉम्बे : पॉपुलर प्रकाशन.

इकाई 13 वणिक श्रेणियाँ और उत्तर व दक्षिण भारत में शहरीकरण*

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 तीसरा शहरीकरण

13.3 उत्तर भारत में शहरीकरण

13.3.1 वणिक समुदाय

13.3.2 धात्विक मुद्रा

13.4 दक्षिण भारत में शहरीकरण

13.4.1 बाज़ार केन्द्र, व्यापार-तंत्र एवं भ्रमणशील व्यापार

13.4.2 शिल्प उत्पादन

13.5 क्षेत्रीय विकास

13.5.1 दक्कन-कर्नाटक

13.5.2 आंध्र क्षेत्र

13.5.3 केरल

13.5.4 तमिल क्षेत्र

13.6 श्रेणियाँ

13.6.1 उत्तर भारत की श्रेणियां

13.6.2 दक्षिण भारत के श्रेणी संगठन

13.7 सारांश

13.8 शब्दावली

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.10 संदर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगे :

- 600-1000 सी.ई. की अवधि के मध्य शहरी केन्द्रों की उपस्थिति एवं उत्पत्ति;
- किन मामलों में प्रारंभिक मध्यकाल का शहरीकरण गंगा घाटी के दूसरे शहरीकरण से अलग था;
- उत्तर व दक्षिण भारत में शहरीकरण का उदय; और
- उत्तर व दक्षिण भारत की वणिक श्रेणियाँ।

* यह इकाई एम.एच.आई.-05, खंड 3, इकाइयाँ 14 व 15 से ग्रहित है।

13.1 प्रस्तावना

प्रारंभिक मध्यकाल महत्वपूर्ण पहलुओं में प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से भिन्न था। प्रारंभिक मध्यकाल में भूमि देने की व्यापक प्रथा थी। माना जाता है कि मुद्रा के अभाव के साथ व्यापार में गिरावट आई। कई शहरी केन्द्रों में, जहाँ सीमित उत्खनन हुआ है, खराब अवशेष या कभी-कभी एक रिक्त परत दिखाई देती है। यह संकेत करती है कि इस अवधि में कई शहरी केन्द्रों का पतन हो रहा था। विभिन्न उत्खनन में कुषाण स्तरों की तुलना में गुप्तोत्तर अवधि के स्तरों से खराब अवशेष, जैसे पुरानी संरचनाओं के पुनः इस्तेमाल और टूटी हुई ईंटों के प्रयोग के प्रमाण मिले हैं। इस प्रकार के व्यापक क्षय और शहरी केन्द्रों की गिरावट के संदर्भ में ही प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में शहरीकरण पर किसी भी चर्चा को स्थित किया जाना चाहिए। शहरी क्षय के कई आलोचकों और संबंधित सामंतवाद विचारधारा ने इस अवधि में शहरी विशेषताओं के अस्तित्व, उद्भव और निरंतरता को इंगित किया है। इस इकाई में हम शहरीकरण की उन विशेषताओं का अध्ययन करेंगे जो प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में बस्तियों की समृद्ध स्थिति और शहरी संदर्भ की ओर इशारा करते हैं।

13.2 तीसरा शहरीकरण

हम पहले इस तथ्य का अध्ययन कर चुके हैं कि गुप्त काल के बाद भूमि-अनुदानों की बढ़ती प्रथा एक महत्वपूर्ण पहलू था। विद्वानों का मानना है कि इस विशेषता के कारण अर्थव्यवस्था का ग्रामीणकरण हुआ और भारतीय इतिहास में द्वितीय शहरीकरण का अंत हुआ। व्यापक शहरी क्षय और शहरी केन्द्रों में गिरावट आई। माना जाता है कि 300-1000 सी.ई. के बीच अखिल भारतीय पैमाने पर शहर गायब हो गए। यह क्षय लंबी दूरी के व्यापार में गिरावट का परिणाम था। परिणामस्वरूप जो सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन हुए उन्हें सामंती उत्पादन पद्धति के रूप में समझा गया है। हालांकि विद्वानों ने सामंतवाद के निरूपण में विसंगतियों और अंतर्विरोधों को इंगित किया है। हालांकि यह सच है कि प्रारंभिक मध्यकाल में शहरी पतन शहरों के परित्याग द्वारा चिन्हित किया गया है, यह भी उतना ही निश्चित है कि कई अन्य बस्तियाँ अस्तित्व में रहीं और फली-फूलीं। इन सभी पहलुओं की पिछली इकाई में चर्चा की जा चुकी है। वर्तमान इकाई में विचार करने के लिए जो प्रासंगिक है वह यह है कि भारत के कई हिस्सों में 1000 सी.ई. से पूर्व की अवधि में शहरी विशेषताएं दिखाई देती हैं। व्यापार संपर्कों, सड़कों, व्यापारियों के घरों, बाज़ार स्थानों, स्मारकीय मंदिरों, कारीगरों के निवास-स्थलों आदि के साथ कई शहरी केन्द्र उभरे। गौर करने वाली बात यह है कि ये शहरी केन्द्र अपने शुरूआती ऐतिहासिक समकक्षों से इस तथ्य में भिन्न थे कि वे अपने ग्रामीण संदर्भों में गहराई से निहित थे। उपमहाद्वीप में द्वितीय शहरीकरण (लगभग 600 बी.सी.ई.-300 सी.ई.), जिसका उपरिकेन्द्र गंगा घाटी में स्थित था और जो माध्यमिक शहरी केन्द्रों के विकास के लिए एक मंच के रूप में कार्य कर रहा था, प्रारंभिक मध्यकाल में इसके विपरीत कोई ऐसा उपरिकेन्द्र नहीं था जहां से विभिन्न क्षेत्रों को शहरी विशेषताओं का प्रसार हो। विभिन्न विशेषताएँ जैसे भूमि-अनुदानों द्वारा प्रेरित कृषि विस्तार, स्थानीय एवं अतिस्थानीय समूहों के लिए कृषि संसाधनों की उत्पत्ति, संसाधनों का जुटाना, धार्मिक पदाधिकारियों की भागीदारी, मेलों का नियोजन, तीव्र मंदिर-निर्माण गतिविधियाँ, विलास और विदेशी वस्तुओं में व्यापार, बस्तियों में स्थानीय अभिजात वर्ग के साथ-साथ शासक समूहों और व्यापारी निकायों का एकजुट होना – इन सब विशेषताओं ने मिलकर शहरी केन्द्रों के उदय को संभव बनाया जिनकी विशेषता भारतीय इतिहास में तीसरे चरण के शहरीकरण में चट्टोपाध्याय द्वारा स्थित की गयी है।

अब हम उन पहलुओं का विश्लेषण करेंगे जो तृतीय शहरीकरण का हिस्सा बने। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में शहरीकरण की एक संपूर्ण तस्वीर पाने के लिए हम विभिन्न प्रकार के

शहरी केन्द्रों, व्यापार, व्यापार मार्गों, व्यापारियों, वाणिज्यिक लोकाचार, श्रेणियों, बाज़ारों और दुकानों आदि पर चर्चा करेंगे।

13.3 उत्तर भारत में शहरीकरण

भू-अनुदानों संबंधी गहन अध्ययन दर्शाते हैं कि अभिलेखों में बाज़ार पूरी तरह नदारद नहीं थे, यहाँ तक कि पूर्व 1000 सी.ई. के अभिलेखों में भी। अभिलेख और साहित्यिक स्रोत विभिन्न प्रकार के बाज़ारों की विद्यमानता को दर्शाते हैं जिनमें से कुछ 600 सी.ई. से पूर्व में अज्ञात थे। इस प्रकार, प्रारंभिक मध्यकाल में उत्तर भारत के अभिलेखों में *हट्ट* या *हट्टिका* शब्द बारंबार नज़र आते है। *हट्ट/हट्टिका* शब्द आमतौर पर विनिमय के एक ग्रामीण स्तरीय छोटे केन्द्र को इंगित करता है। यह शब्द आधुनिक शब्द *हाट* के रूप में आज भी जीवित है जो बंगाल और बिहार में व्यापक रूप से जाना जाता है। ऐसे ग्रामीण बाज़ार केन्द्रों की प्रकृति आवधिक होती है, यहाँ लेन-देन रोज़ नहीं होता बल्कि सप्ताह में केवल एक या दो निर्धारित दिनों में ही होता है।

हट्ट-संबंधी ऐसे अनेक पुरालेखीय वर्णन *हट्ट* के निकट ही पेयजल (*प्रपा*), विश्रामगृहों (आराम) और भोजनगृहों (*सत्तरा*) की उपलब्धता की बात भी कहते हैं। पालकालीन कुछ अभिलेखों में हमें *हट्टवाड़ा* शब्द भी मिलता है। यह संभवत एक ऐसे *हट्ट* का संकेत करता है जो किसी साधारण *हट्ट* के मुकाबले अधिक महत्वपूर्ण या बृहद होता था। ऐसा एक उदाहरण संभवतः *देवपालदेवहट्ट* था। यह नालन्दा के प्रसिद्ध मठ और विश्वविद्यालय के नज़दीक ही स्थित था। विख्यात पालवंशी शासक देवपाल (लगभग 810-850 सी.ई.) के नाम पर यह *हट्ट* संभवतः किसी साधारण ग्राम-स्तरीय बाज़ार के मुकाबले अधिक बड़ा और प्रसिद्ध था। तत्तनन्दपुरा (अहाड़, बुलन्दशहर जिला, उत्तर प्रदेश) का हट्ट एक वृहद् शहरी व्यापार क्षेत्र के भीतर स्थित था। एक हट्टमार्ग अर्थात किसी बाज़ार स्थल की ओर ले जाती गली का ज़िक्र तत्तनन्दपुरा से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में पाया गया है। प्रारंभिक मध्यकालीन पृथुदक (आधुनिक पेहोवा, करनाल जिला, हरियाणा) में नौवीं शताब्दी में एक अश्व-मेला (घोटक-*यात्रा*) लगा। यात्रा शब्द का यहाँ अर्थ है – एक मेला या पैंठ जिसकी प्रकृति आवधिक है।

हमें आठवीं-नौवीं शताब्दियों से नए प्रकार के बाज़ार स्थलों का पता चलता है। यह हमें लगभग पूरी तरह से केवल उत्तर भारतीय अभिलेखों में ही मिलता है। ये बाज़ार स्थल *मण्डपिका* हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है – आवृत क्षेत्र। उक्त शब्द को सहज ही *मण्डियों* के समकक्ष रखा जा सकता है जो आधुनिक काल में गंगा-यमुना दोआब, उच्च गंगा घाटी तथा पश्चिमी भारत में विस्तृत रूप से पाई जाती हैं। ये *मण्डियाँ* ग्राम्यस्तरीय *हाटों* के मुकाबले बड़ी होती हैं परन्तु बड़े शहरी क्षेत्रों में स्थित बाज़ारों के मुकाबले छोटी। *मण्डी* के सबसे प्राचीन संदर्भों में से एक हिमालय प्रदेश में कांगड़ा क्षेत्र स्थित बैजनाथ *प्रशस्ति* (8वीं/9वीं सी.ई.) में देखा जा सकता है। कीड़ग्राम (Kiragrama) (आधुनिक काँगड़ा) में एक *मण्डपिका* थी जहाँ व्यापारियों के एक परिवार से संबंधित तीन व्यापारियों ने बैजनाथ स्थित एक मंदिर के लिए *मण्डपिका* से प्राप्त दैनिक वसूली में से छः द्रम्म (चाँदी के सिक्के) नगद दान किए। नद्दुला (Naddula) (आधुनिक नाडोल) स्थित *मण्डपिका* हमारा खास ध्यान आकर्शित करती है। नाडोल से प्राप्त अभिलेख दर्शाते हैं कि नददुला प्रारम्भ में एक गाँव था, दरअसल 12 गाँवों के समूह (द्वादशग्रामीय नद्दुलग्राम) में एक गाँव। नद्दुला तत्पश्चात एक *मण्डपिका* के रूप में उभरा जहाँ मुख्य रूप से अनाज व अन्य कृषि उत्पादों का उल्लेखनीय रूप से व्यापार होता था। नद्दुला को फिर एक नगर या शहर पुकारा जाने लगा और अन्ततः यह नाडोल के चाहमानों का राजनीतिक केन्द्र बन गया। नद्दुला केन्द्र-बिन्दु के रूप में कार्य कर रहा था जहाँ आसपास के गाँवों से अधिशेष कृषि उत्पाद

लाए जाते थे। इसने ही नद्दुला में एक *मण्डपिका* की स्थापना हेतु मार्ग प्रशस्त किया। ये कारक नद्दुला के एक गाँव से शहरी केन्द्र और अन्ततोगत्वा प्रारंभिक मध्यकालीन राजस्थान में स्थानीय सत्ता के एक शीर्ष राजनीतिक केन्द्र में उल्लेखनीय रूप से बदलने में कारगर सिद्ध हुए। यह तथ्य कि ये *मण्डपिकाएँ* व्यापार मार्गों और उपलब्ध परिवहन प्रणालियों से भली प्रकार जुड़ी हुई थीं पुरालेखीय अभिलेखों से सिद्ध होता है। इस प्रकार 1114 सी.ई. में उपभोक्ता वस्तुएँ बैलों (*वृष*), गदहों (*गर्दभ*) तथा ऊँटों (*उष्ट्र*) द्वारा मंगलपुरा (आधुनिक मंगरोल, गुजरात) स्थित *मण्डपिका* में लाई जाती थीं।

कई *मण्डपिकाओं* को *शुल्कमण्डपिकाओं* के नाम से जाना जाता था, अर्थात *मण्डपिका* में महसूल और सीमाकर नकद और वस्तु-विनिमय दोनों ही रूपों से वसूला जाता था। महसूलों या करों की वसूली *मण्डपिका* में वाणिज्यिक लेन-देनों का एक स्पश्ट प्रमाण है। *मण्डपिकाओं* में खाद्यान्नों, अनेक दैनिक उपभोग की वस्तुओं (संभवतः भारी वस्तुओं के रूप में), महँगी वस्तुओं जैसे मसाले एवं घोड़े व हाथी जैसे पशुओं, का लेन-देने होता था। कुछ *मण्डपिकाएँ,* उदाहरण के लिए सियादोनी/सियाडोनी एवं बिल्हरी स्थित *मण्डपिकाएँ, पट्टनमण्डपिका* (Pattananandapika) के रूप में वर्णित की गई हैं। इस शब्द का अर्थ या तो किसी शहरी क्षेत्र में कोई *मण्डपिका* अथवा एक ऐसी *मण्डपिका* जिसने शहरी आयाम ले लिया हो, हो सकता है। गुजरात से प्राप्त एक प्रारंभिक मध्यकालीन ग्रंथ लेखापद्धति *महामण्डपिका* शब्द का प्रयोग करता है। उपसर्ग महा का प्रयोग स्पष्टतः दर्शाता है कि कुछ *मण्डपिकाएँ* अपने प्रतिपक्षों के मुकाबले काफी बड़ी बन गई थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये *मण्डपिकाएँ* अपने-अपने ग्रामीण आंतरिक-क्षेत्रों (hinterland) के साथ-साथ वृहत्तर शहरी क्षेत्रों के साथ भी महत्वपूर्ण व्यापार सम्बन्धों को कायम रखे थीं।

बाज़ार क्षेत्रों में स्पष्टतः दुकानें हुआ करती थीं जिन्हें *विथी* (Vithis) अथवा अपण कहा जाता था। सियादोनी में कुछ दुकानों का वर्णन इस रूप में किया गया है कि वे कुछ व्यापारियों के स्वामित्व में पैतृक रूप से थीं (*पितृपितामहोपरजिता*)। कुछ अन्य व्यापारियों द्वारा स्वयं अधिकार में रखी जाने वाली दुकानों का ज़िक्र – संभवतः तीन पीढ़ियों तक – एक लम्बी अवधि तक इस प्रकार के व्यापार प्रतिष्ठानों में सक्रिय वाणिज्यिक गतिविधियों की तस्वीर प्रस्तुत करता है। ये दुकानें प्रमाणतः खुदरा व्यापार के प्रयोजन से थीं।

बंगाल से प्राप्त प्रारंभिक मध्यकालीन ताम्रपत्र प्रायः ग्रामीण स्थानों में सरहदों के रूप में छोटे नौका स्थलों (*नौ-दण्ड, नौ-बंध*) का उल्लेख करते हैं जिनमें असंख्य जलधाराएं और छोटी नदियां (*स्रोतस्विनी, गंगिणिका*), नहरें तथा कुल्याएँ (water-channels) होती हैं। निस्संदेह सर्वाधिक महत्वपूर्ण नदीय मार्ग गंगा या भागीरथी के साथ-साथ ही था जिस पर अनेक बेड़े चलते थे (*स खलु भागीरथीपथप्रवर्तमान-नौवत*)। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही इस ढहाने के पूर्वी भाग में तटवर्ती बंदरगाह नज़र आने लगे। ऐसा ही एक बंदरगाह था देवपर्वत (आधुनिक मैनामती-लालमाई (Mainamati-lalmai), बांगलादेश) जो ताम्रपत्रों (सातवीं से प्रारंभिक दसवीं शताब्दी सी.ई.) के अनुसार क्षीरोद/क्षीरोदा नदी के तट पर था जिस पर देवपर्वत नदी-पत्तन के इर्द-गिर्द अनेक नौकाएँ चलती थीं।

उत्तर भारत के विशाल मैदानों में अक्सर ही संचार के अनेक स्थल मार्ग हुआ करते थे, उनमें से कुछ प्रारंभिक मध्यकाल में विशेष रूप से प्रमुख थे। इस प्रकार चिया-तां (Chia-tan) (785-805 सी.ई.) एक ऐसे मार्ग के विषय में वर्णन करता है जो पुंड्रवर्धन (उत्तर बंगाल) और कजनिगला (राजमहल की पहाड़ियों के निकट) को छूते हुए कामरूप से मगध जाता था। बहुत से स्थल मार्ग कान्यकुब्ज को भारत के विभिन्न भागों से जोड़ते थे, जैसा कि अलबरुनी लिखते हैं। एक ऐसा ही मार्ग अयोध्या, वाराणसी, पाटलिपुत्र एवं मुँगेर से होकर कान्यकुब्ज से गंगासागर (समुद्र के साथ गंगा के संगम पर) तक जाता था। कान्यकुब्ज से शुरू एक अन्य मार्ग प्रयाग (प्रयागराज, उत्तर प्रदेश) से जुड़ता था, फिर

मध्य प्रदेश के रीवा क्षेत्र से होकर उडीशा पहुँचता था और फिर वहाँ से सुंदूर दक्षिण में कांचीपुरम (चेन्नई के निकट) तक जाता था।

13.3.1 वणिक समुदाय

हमारे स्रोत व्यापारियों की विविधता पर भी ज़ोर देते हैं। जबकि पुरातन शब्द जैसे *वणिक, सार्थवाह* तथा *श्रेष्ठी* प्रचलन में बने रहे, नए प्रकार के व्यापारी भी नज़र आये। सियादोनी की प्रसिद्ध *मण्डपिका* में हमें एक नमक-व्यापारी (*नेमक-वणिज*) की सक्रिय विद्यमानता दिखाई पड़ती है। वह इतना सम्पन्न था कि सियादोनी में बहुत से मंदिरों को पर्याप्त संरक्षण प्रदान कर सकता था। राजस्थान से प्राप्त प्रारंभिक मध्यकालीन अभिलेखों की सूक्ष्म जाँच अनेक स्थानीय व्यापारी वंशों के बढ़ते महत्व पर ज़ोर देती है, उदाहरणार्थ, *धूसर* (Dhusara), *धर्कट, उएसवाल/उइसवाल* (बाद में ओसवाल), *श्रीमाली* और *प्राग्वाट*। अनुदान देने वाले व्यापारी प्रायः दान देते समय अपनी वंशावली पर जोर देते थे, वो इस बात पर इसलिए बल देते थे कि वे दर्शाना चाहते थे कि वे प्रतिष्ठित वर्ग सें संबंधित थे, नवधनिक नहीं। 1000 सी.ई. के पश्चात गुजरात से प्राप्त अभिलेखों में एक विशिष्ट प्रकार के व्यापारी दृष्टिगोचर होने लगे। इनको *नौवित्तक* कहा जाता था जो इससे पूर्व कहीं भी नज़र नहीं आते। यह एक ऐसे व्यापारी-वर्ग को इंगित करता है जो अपना धन (*वित्त*) जहाजों (नौ) से उत्पन्न करता था; दूसरे शब्दों में, यह एक जहाज के स्वामित्व वाले व्यापारी-समुदाय को दर्शाता है। इस शब्द का फारसी/अरबी शब्द *नाखुदा* से गहन संबंध है, अर्थात नौ (जहाज) का खुदा या स्वामी।

13.3.2 धात्विक मुद्रा

व्यापारियों, बाज़ारों, उपभोक्ता वस्तुओं, बंदरगाहों तथा संचार-मार्गों संबंधी ऊपर प्रस्तुत आँकड़े और तर्क प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर-भारत में लंबी दूरी के व्यापार समेत व्यापार के ह्रास की छवि को प्रस्तुत नहीं करते। प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में धात्विक मुद्रा के सापेक्षिक अभाव की समस्या पर यहाँ दृष्टिपात करना तर्कसंगत होगा। पूर्वी भारत, विशेषतः बंगाल में, कौड़ियों की व्यापक विद्यमानता अनिवार्यतः यह संकेत नहीं देती कि ये किसी प्रतिबंधित वाणिज्यिक क्षेत्र में लेन-देनों के सूचक थे। कौड़ियाँ बंगाल में स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं हैं। 12वीं, 13वीं व 14वीं सी.ई. अरब वृत्तांत और मा-हुआन के विवरण (सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) प्रचुरता से दर्शाते हैं कि कौड़ियाँ सुदूर मालदीव से बंगाल पहुंचती थीं। ये उन जहाजों में लादकर मालदीव से बंगाल लाई जाती थीं जो मालदीव को चावल निर्यात करते थे। कौड़ियाँ इसी कारण लंबी दूरी के व्यापार के अवरोधक नहीं हो सकती, क्योंकि ये हिन्द महासागर में समुद्रपारीय व्यापार में भलीभांति अंगीभूत थीं। कौड़ियाँ थोक वस्तुओं के रूप में जहाजों में लाई-ले जाई जाती थीं और हिन्द महासागर की तटवर्ती अर्थव्यवस्था में लघु मुद्रा और उसके पूरक के रूप में काम करती थीं।

हालांकि बंगाल के पालवंश और सेनवंश के बारे में ज्ञात नहीं है कि वे सिक्के ढालते थे या नहीं परंतु यह, बहरहाल, बंगाल में सिक्कों की ढलाई न होने को सिद्ध नहीं करता। गत तीन दशकों से निरन्तर शोध स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि आठवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी सी.ई. तक बंगाल के दक्षिण-पूर्वतम भागों (समातत-हरिकेल (Samatata-Harikela) सम्भाग) में उत्कृष्ट चाँदी के सिक्के लगातार जारी किए जाते रहे थे। इसकी सूक्ष्म जाँच किए जाने की आवश्यकता है।

प्राचीन बंगाल की प्रचलित स्वर्ण मुद्राएं सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद की नहीं मानी जा सकतीं। ये *सुवर्ण* मानक वाले गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्कों की नकल थीं परन्तु इनमें अत्यधिक मिलावट थी। परंतु आठवीं शताब्दी सी.ई. के बाद वे उत्कृश्ट चांदी के

सिक्के ढालने लगे जो सामान्यतः आठ ग्राम भार के होते थे। इन सिक्कों के अग्र पर एक विश्रामावस्था में बैल की आकृति और मुद्रालेख हरिकेल होता था परन्तु पट हिस्से पर तीन भागों में विभक्त एक प्रतीक-चिह्न होता था। हरिकेल शब्द की लिखावट का पुरालिपीय विश्लेषण बताता है कि ये उत्कीर्ण सिक्के आठवीं शताब्दी के थे। कमोबेश इसी काल में अग्र भाग पर *पट्टिकेर/पट्टिकेरा* शब्द-लेखन वाले इसी प्रकार के चाँदी के सिक्के भी दृष्टिगोचर होते है। *पट्टिकेरा* के चाँदी के सिक्कों पर हरिकेल चाँदी के सिक्कों की ढलाई परम्परा का प्रभाव देखा जा सकता है। उम्दा किस्म के चाँदी के सिक्के (जिनमें चाँदी का अंश 90 प्रतिशत तक होता था) आठवीं शताब्दी सी.ई. के बाद भी हरिकेल स्वरूप में ढाले जाते रहे, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ।

हरिकेल सिक्के, चूंकि पाल-सेन अभिलेखों के *पुरणों* के सदृश होते थे, उन्हें आसानी से अदला-बदला जा सकता था और कौड़ियों में परिवर्तित किया जा सकता था। दक्षिण-पूर्वी बंगाल का मौद्रिक परिदृश्य समन्दर बंदरगाह के सक्रिय व्यापार-संबंधी जानकारी से भलीभांति मेल खाता है। उपर्युक्त कथन इस व्यापक अवधारणा के अमान्य करार देता है कि प्रारंभिक मध्यकाल में बंगाल में कम मूल्य के सिक्के प्रचलन में थे और इसी कारण उसने अपने व्यापार में तीव्र ह्रास का अनुभव झेला।

यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि उत्तरी भारत, खासकर गंगा-यमुना *दोआब* क्षेत्र में, जहाँ ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक गुर्जर-प्रतिहारों का आधिपत्य रहा, अनेक प्रारंभिक मध्यकालीन सिक्कों के भण्डार (coin-hoards) मिलते हैं जो यह दर्शाता है कि लगभग 600-1000 सी.ई. के दौरान उत्तर-भारत में प्रचलित रहे सिक्कों का परिमाण कुवाणकालीन, सल्तनत एवं मुगलकालीन सिक्कों के परिमाण के तुल्य था, और स्पष्टतः पूर्व गुप्तकाल और राजपूत काल के बाद के सिक्कों के मुकाबले वे उत्कृष्ट थे। गुर्जर-प्रतिहार राज्य (आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक) में मुद्रा की कोई कमी नज़र नहीं आती। इस प्रकार न तो पालवंश और सेनवंश के आधिपत्य वाले पूर्वी-भारत में और न ही गुर्जर-प्रतिहार शासनकाल में इस निष्कर्ष को अंजाम देने के लिए कोई वैध अनुभवजन्य आधार है कि प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत में, खासकर लगभग 600-1000 सी.ई. में, कोई 'मौद्रिक अशक्तता' और व्यापार में गिरावट देखी गई।

13.4 दक्षिण भारत में शहरीकरण

दक्षिण भारत की प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान थी जिसमें कृषि-विस्तार का आरंभिक चरण शामिल था (छठी-नौवीं शताब्दी सी.ई.)। यह तर्क दिया जाता है कि यह भू-अनुदान प्रथा का परिणाम थी जिसमें एकीकरण की दो प्रमुख शक्तियों के रूप में *ब्रह्मदेय* और मंदिर ही ग्रामीण संगठन के केन्द्र-बिन्दु थे। साथ ही, विनिमय स्थलों की आवश्यकता और वाणिज्यिक गतिविधियों में बढ़ोतरी ने कुछ *ब्राह्मदेयों* और मंदिर केन्द्रों को अपनी आर्थिक भूमिका का विस्तार करने की ओर प्रवृत्त किया जिससे व्यापार, शिल्पकला एवं वाणिज्यिक कार्यकलाप एक हो गए और इसने उन सभी नवीन उदित आर्थिक समूहों के लिए शहर में स्थान प्राप्त किया। राजनीतिक एवं/अथवा प्रशासनिक केन्द्र भी शहरी गतिविधियों के केन्द्र बिन्दु थे और वाणिज्यिक वस्तुओं के उपभोक्ताओं तथा मुद्रा/धन के प्रयोगकर्ता के रूप में विभिन्न वर्गों तथा जाति-समूहों को आकृष्ट करते थे। यह सिक्के राज्य द्वारा जारी किए जाते थे और संभवतः व्यापार श्रेणियों द्वारा भी, हालांकि श्रेणियों द्वारा जारी मुद्रा के अभिलेखों में स्पष्ट या प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलते। दक्षिण भारतीय क्षेत्रों के लिए यही द्वितीय शहरीकरण था।

शहरीकरण का यह दौर जिससे हमारा संबंध है एक भिन्न स्वरूप लिये था और स्वतः विकसित प्रक्रिया थी जो छठी से नौवीं शताब्दी सी.ई. के बीच, अर्थात प्रारंभिक मध्यकाल के

प्रथम चरण में, प्रकट हो रही एक कृषि-व्यवस्था के विकास का परिणाम थी। यह प्रक्रिया, जो संपूर्ण प्रायद्वीप में व्याप्त थी, सभी दक्षिण भारतीय क्षेत्रों में एकरूपता लिए नहीं थी। दक्कन, अर्थात कर्नाटक और आंध्र क्षेत्र, कृषि-संगठन के स्वरूप में महत्वपूर्ण रूप से भिन्न थे, हालांकि कृषि-विस्तार और कृषि-संगठन हेतु भू-अनुदान व्यवस्था सर्वव्याप्त संस्थागत साधन थी। कृष्णा एवं गोदावरी के दहाना क्षेत्रों और नदी घाटियों के अंदरूनी हिस्सों में कुछ क्षेत्रों को छोड़कर इन क्षेत्रों में विस्तृत मैदानी क्षेत्रों का अभाव है। कृषि-कार्यकलाप दहाना क्षेत्रों में अधिक गहन थे, जबकि पठारी और पहाड़ी क्षेत्रों के वृहत्तर भाग प्रधानतः चरागाही एवं/अथवा कृषि-चरागाही तथा आखेटक कार्यकलापों पर ही निर्भर थे। तमिल क्षेत्र में प्रारंभिक मध्यकालीन शहरीकरण कृषि क्षेत्र में *नगरम* अर्थात बाज़ारों के उदय के साथ *नाडु* जैसे सूक्ष्म कृषि क्षेत्रों में कृषि विस्तार एवं संगठन द्वारा हुआ। इसने सर्वप्रथम एक कृषि-आधार और वृहद अधिशेषों को व्यापार में निवेशार्थ दिशा प्रदान कर परिवर्तन की एक सुगम श्रृंखला को प्रस्तुत करके स्वयं को आठवीं एवं बारहवीं शताब्दी के बीच, शहरी केन्द्रों की एक नई श्रृंखला में व्यक्त किया। साथ ही व्यापार केन्द्रों के बड़ी संख्या में उदय के साथ *अय्यवोल* जैसे वृहत्तर व्यापार संगठनों के संचालन ने शहरी केन्द्रों और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार-तंत्रों एवं संचार-व्यवस्था के उदय का मार्ग प्रशस्त किया।

13.4.1 बाज़ार केन्द्र, व्यापार-तंत्र एवं भ्रमणशील व्यापार

प्रारंभिक मध्यकालीन शहरीकरण अपेक्षाकृत संतुलित आयामों वाले शहरी केन्द्रों की असाधारण वृद्धि और प्रचुरता को दर्शाता है। यह वे बाज़ार क्षेत्र/व्यापार-केन्द्र [मेले-सांता/सान्तई (santai)] थे जो प्रमुख रूप से विनिमय-तंत्र के मुख्य बिन्दु थे। ऐसे केन्द्रों का वाणिज्यिक क्षेत्रों और अन्तर्क्षेत्रीय एवं भारत की सीमाओं के पार भिन्न-भिन्न स्वरूप था। परंतु कुल मिलाकर प्रारंभिक ऐतिहासिक शहरी केन्द्रों की तुलना में प्रारंभिक मध्यकालीन शहरी केन्द्र अपने क्षेत्रीय संदर्भ से अधिक जुड़े थे। विपणन सुविधाओं तथा स्थानीय लेन-देन की आवश्यकता ने बाज़ार केन्द्रों को जन्म दिया जो एक क्षेत्र-विशेष अथवा छोटे कृषि पृष्ठक्षेत्रों हेतु विनिमय के केन्द्र होते थे। इसका सबसे अच्छा चित्रण दक्षिण भारत के *नगरम* द्वारा किया जा सकता है जिसके ठोस प्रमाण तमिलनाडु से मिलते हैं तथा सीमित रूप में कर्नाटक (*नखर*) और आंध्रप्रदेश (*नगरमु/नगरामु*) से। यह *नाडु* (के. आर. हॉल, 1980) या कुर्रम तमिलनाडु के एक कृषक क्षेत्र – के लिए बाज़ार का काम करता था। उनमें से कुछ नाडु लेन-देन की विनिमय संबंधी आवश्यकताओं के फलस्वरूप उभरे। काफ़ी बड़ी संख्या में इस प्रकार के केन्द्र शासक परिवारों द्वारा स्थापित किए गए थे या फिर राजकीय अनुमोदन द्वारा, जैसे कि चोल शासकों के अधीन। *पुर* या *पत्तन* प्रत्यय के साथ उनका नाम शासकों के नाम पर रखा जाता था जो दक्षिण भारत के सभी क्षेत्रों में एक आम लक्षण था। परंतु ऐसे सभी *नगरम* समान वाणिज्यिक महत्व के नहीं थे। *नगरम* जो व्यापार मार्गों और चौराहों पर स्थित थे, भ्रमणशील व्यापारियों द्वारा वृहद् नगरों, जो अपने आकार तथा व्यापार एवं वाणिज्य दोनों ही लिहाज से बड़े थे, में विकसित किए गए। भम्रणशील व्यापारी संगठनों के माध्यम से और राजकीय बन्दरगाहों व उनमें राजकीय हितों एवं लंबी दूरी के व्यापार को बढ़ावा देने की नीति के कारण वे अन्ततोगत्वा अन्तरा क्षेत्रीय एवं अन्तर क्षेत्रीय व्यापार के साथ-साथ समुद्री व्यापार-तंत्र में भी शामिल हो गए। इस प्रकार का विकास 10वीं शताब्दी सी.ई. से संपूर्ण प्रायद्वीपीय भारत में कमोबेश एकसमान रूप से हुआ, जब दक्षिण भारत वृहत्तर दक्षिण एशियाई व्यापार चक्र में शामिल हुआ जो 10वीं शताब्दी में फिर से पनपने लगा और इसमें दक्षिण एशिया के सभी देश, चीन व अरब के देश सम्मिलित हो गए। 10वीं और 12वीं शताब्दी सी.ई. के बीच दक्षिण एशियाई व्यापार ने वस्तुओं के उत्पादन एवं विनिमय, आन्तरिक व तटीय दोनों, नगरों के विकास, हेतु प्रेरणा प्रदान की। तमिल क्षेत्र के *नगरमों* ने बन्दरगाहों को राजनीतिक एवं प्रशासनिक केन्द्रों से जोड़ा, जो उपभोक्ता बिन्दु थे, और अंदरूनी क्षेत्रों में शिल्प केन्द्रों से भी। भ्रमणशील व्यापारियों की गतिविधियों ने

इस तानेबाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रमुख शिल्प-केन्द्र जो अन्तर क्षेत्रीय व्यापार की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुए दक्षिण भारत के तीनों सांस्कृतिक-क्षेत्रों कर्नाटक, आन्ध्र एवं तमिलनाडु – में वस्त्र एवं बुनाई के केन्द्र थे प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के कुछ शिल्प एवं वाणिज्य केन्द्र प्रारंभिक मध्यकाल तक कायम रहे और पुनर्शहरीकरण की प्रक्रियाओं में शामिल हो गए जिसने उन्हें इस काल की नई सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं से जोड़ा।

13.4.2 शिल्प उत्पादन

शिल्प उत्पादन के क्षेत्रों का पता लगाना मुश्किल है। परंतु पारंपरिक वस्त्र और बुनाई के केन्द्र आधुनिक काल तक कार्यरत रहे (चिंगलेपुट, कोयम्बटूर, मदुरै, सलेम/सालेम, तंजावुर, तिरूचिरापल्ली और तिरुनेलवेली जिले)। बुनाई को एक उद्योग के रूप में चोलपूर्व काल से ही दक्षिण भारत के शासकों द्वारा सुनियोजित ढंग से प्रोत्साहन दिया गया था। प्राचीन बुनाई के केन्द्रों पर चोलों के शासनकाल में विशेष ध्यान दिया गया और नए क्षेत्रों में बुनकरों की बस्तियों को बढ़ावा दिया गया। ऐसे अनेक कपास उत्पादन क्षेत्र थे जिनके निकट बुनाई केन्द्र दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु मुख्य केन्द्र के रूप में कांचीपुरम ने चोलों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया। मदुरै भी समान रूप से महत्वपूर्ण था। अंततोगत्वा, कांची *महानाडु* अर्थात बुनकरों के संयुक्त संगठन-स्थल का प्रतिनिधित्व करने लगा जो कपड़े के उत्पादन एवं विपणन तथा उसके व्यापार पर नियंत्रण रखता था। शिल्प उत्पादन कोंगू (Kangu) क्षेत्र में अधिक व्यापक था जहाँ 12वीं-14वीं सी.ई. के अभिलेखों में वर्णित विशेष रियायतें, वृहद्-स्तरीय शिल्पगत [*कम्मालार* (Kammalar)] कार्यकलाप और महत्वपूर्ण नागरिक कर्त्तव्यों में भागीदारी को इंगित करते हैं। एक दूसरे पर आश्रित समूहों के रूप में व्यापार संगठनों और शिल्प समूहों ने शिल्पियों को विशेष रियायतें प्रदान करते हुए और उन्हें विशेष आश्रय देते हुए अन्य स्थानीय अभिजात वर्ग के साथ-साथ व्यापारियों द्वारा प्रदत्त पारस्परिक लाभों को स्वीकार किया।

13.5 क्षेत्रीय विकास

दक्षिण भारत में शहरी केन्द्रों के विभिन्न स्तर विकसित हुए। परंतु ये एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अपने कार्य एवं महत्व के आधार पर तथा वृहत्तर विनिमय तंत्रों से अपने संबंध के लिहाज से भी भिन्नता रखते थे।

13.5.1 दक्कन-कर्नाटक

कर्नाटक में *नगरम* व्यापार-तंत्रों में विनिमय केन्द्रों के रूप में और कृषि/कृषक क्षेत्रों के लिए नियमित बाज़ारों के रूप में विभिन्न कार्य करते थे। परंतु ऐसे सभी नगरमों (*नखरों*) का समान लक्षण यह है कि इस प्रकार के केन्द्रों में रहने वाले गैर-उत्पादनशील शहरी/शिल्पी/व्यापार समूहों के लिए उनके पास एक आधारभूत कृषि-पृष्ठक्षेत्र (hinterland) (स्थानीय मंदिरों को भू-अनुदानों के माध्यम से) या तो होता था या फिर वे अर्जित करते थे। इन केन्द्रों में बाज़ारों पर नगर-प्रमुख, पत्तनस्वामी नामक मुख्य व्यापारी के नेतृत्व में व्यापारियों का ही नियंत्रण होता था।

कर्नाटक में 7वीं से 12वीं शताब्दी तक नगरों में नियमित वृद्धि ऐसे केन्द्रों के संकेन्द्रण के साथ वाणिज्यिक केन्द्रों के प्रचुर मात्रा में उदय को भी दर्शाती है जो उत्तर-पश्चिम कर्नाटक, कोंकण तट और बीजापुर, धारवाड़, बेलगाम और शिमोगा के वाणिज्यिक जिलों में थे। पश्चिम, अर्थात अरब, फारस की खाड़ी व उससे आगे, के साथ व्यापार में प्रायद्वीप भारत का पश्चिमी तट प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से ही एक सुसंगत रूप से प्रभावी भूमिका निभाता आ रहा था। महाराष्ट्र में थाणे, गोवा और कर्नाटक में भटकल, कारवार, होनवर

एवं मंगलूर/मैंगलोर जैसे अनेक बन्दरगाह 10वीं एवं 12वीं शताब्दी के बीच लंबी दूरी के व्यापार के पुनर्जागरण के दौरान विकसित हुए, जिसके प्रमाण हमें तटीय जहाजरानी तथा महासागरीय नौ-संचालन में मिलते हैं।

वाणिज्यिक लेन-देनों में बड़े पैमाने पर धन का प्रयोग आमतौर पर इस काल में पूरे दक्षिण भारत में बढ़ रहा था, खासकर दक्कन और आंध्र क्षेत्रों में। पुरालेख चूँकि सूचना का प्रमुख स्रोत थे, अधिकतर अध्ययनों ने विभिन्न क्षेत्रों में उभरे तरह-तरह के नगरों को वर्गीकृत करने व उनका पता लगाने के लिए पूरी तरह से अभिलेखों पर ही भरोसा किया है। कर्नाटक में विभिन्न प्रकार के नगरों के लिए प्रयुक्त शब्द हैं – *राजधानी, नेलविदु* और *पत्तन* या *नगर*। जहाँ *नेलविदु* प्रायः किसी स्थानीय/प्रांतीय शासक का मुख्यालय होता था, *पत्तन* या *नगर* वाणिज्यिक नगरों का संदर्भ देता है।

परिवहन और संचार उत्तर-पश्चिम कर्नाटक में सड़कों के निर्माण से आसान हो गया था, जहाँ तेर्दल (Terdal) (बीजापुर जिला), लोक्कीगुंडी (Lokkigundi) और बेलगाम महत्वपूर्ण व्यापार-केन्द्रों के रूप में उभरे। राजमार्ग और मुख्य मार्ग कर्नाटक, आंध्र और तमिलनाडु से जुड़ने लगे तथा पहले के व्यापार मार्ग प्रारंभिक मध्यकाल में भी प्रचलन में रहे। कावेरी के उत्तरी और दक्षिणी किनारों पर इसके मध्यवर्ती पहुंच मार्गों (कोंगू क्षेत्र) में कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच अनेक विनिमय केन्द्र उभरे, जैसे तालकाड़ (मैसूर के निकट) और मुदिकोंडान (थिरूवरूर जिला)। कर्नाटक, आन्ध्र तथा तमिल क्षेत्रों के बीच व्यापक व्यापार-तंत्र भी मौजूद थे। कन्नड़, तमिल और तेलुगू व्यापारियों की विद्यमानता का प्रमाण अनेक नगरों से भली-भांति मिलता है, जैसे बेलगाम (कर्नाटक), पेरूरू (नल्गोंडा जिला, आंध्र प्रदेश) तथा आन्ध्र में विशाखापटनम और घंटसाला के तटीय नगर। आंध्र तट ने प्रमुख बाज़ारों की भूमिका निभाते मोतूपल्ली, विशाखापटनम और घंटसाला के साथ दक्षिण-पूर्व एशियाई व्यापार पर ध्यान केन्द्रित किया। आन्ध्र प्रदेश में नेल्लोर, द्राकशाराम, त्रिपुरान्तकम् और अनुमकोण्डा जैसे क्षेत्र अन्तर्क्षेत्र महत्व के बाज़ार नगरों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

साहूकारी और ऋण देने की किसी नियमित प्रक्रिया को नहीं अपनाया जाता था क्योंकि ऋण पर धन देने की प्रथा को आम स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। धन प्रायः मंदिरों के पास जमा किया जाता था और ब्याज का उपयोग पूजा-अर्चना के लिए किया जाता था। इस प्रकार वाणिज्यिक गतिविधियों में मंदिर की भूमिका महत्वपूर्ण थी। ब्याज ज़्यादातर वस्तु के रूप में लिया जाता था, विशेषतः धान में, हालांकि मुद्रा के रूप में ब्याज लेने की प्रथा अज्ञात नहीं थी।

विपणन सेवाएँ व्यापारियों और विक्रेताओं द्वारा साप्ताहिक मेलों में प्रदान की जाती थीं जो एक धर्म (धार्मिक कार्य) के रूप में पत्तनस्वामियों व अन्य लोगों द्वारा लगवाए जाते थे। विशेषाधिकार प्राप्त दुकानें थीं – *मान्यडांगाडी* और मंदिर की दुकानें *देवरांगड़ी* कहलाती थीं। अन्य जैसे *करांडगंडी, अंगादिमाने* या *माल्लिगे* थोक-विक्रेताओं की दुकानों का प्रतिनिधित्व करती थीं। अंतराक्षेत्रीय व अंतःक्षेत्रीय, तथा तीर्थयात्रा संबंधी वाणिज्य से नगरों और व्यापार-केन्द्रों के प्रचुर मात्रा में उद्भव को इज़ाफ़ा मिला। शहरी पदानुक्रम के शीर्ष पर थे राजधानी पत्तन, जैसे कल्याणी और द्वारसमुद्र। अरसियाकेरे और बालिगवि (Balligavi) वाणिज्यिक केन्द्र थे जो प्रशासनिक केंद्रों के रूप में भी काम करते थे। अन्तर्देशीय नगरों में उल्लेखनीय थे – पैठान, तेर (Ter) या तगारा, कल्याण, नन्दगढ़, वलैपट्टण, पण्डियूर, कुद्रेगुण्डी (हसन/हासन जिला), वैजयन्तीपुरा, पुलीगेरे, मूडुबिदेरे, आदि।

13.5.2 आन्ध्र क्षेत्र

विनिमय-तंत्र आंध्र क्षेत्र में प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से विकसित हुए जिसका मुख्य कारण था भारतीय प्रायद्वीप का उत्तर भारतीय व्यापार मण्डलों के लिए खुला होना। अंतर्देशीय

के साथ-साथ समुद्री व्यापार, खासकर पश्चिमी और दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्रों के साथ लंबी दूरी के व्यापार ने भी वाणिज्य और शहरी गतिविधियों के विकास को प्रोत्साहन दिया। इसके विपरीत, आंध्र में प्रारंभिक मध्यकालीन शहरी प्रक्रियाएँ स्वतः विकसित (*sui generis*) थीं और दक्षिण भारत के अन्य क्षेत्रों के मुकाबले इस काल में कृषि-विस्तार का परिणाम थीं। शिल्प उत्पादन और बन्दरगाहों सहित नगरों व शहरों का विकास इस प्रकार इस काल के सामान्य सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का हिस्सा था। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के नियमित उपभोग के अतिरिक्त विलासिता की वस्तुओं की माँग ने धातु संबंधी उद्योग-धन्धों को विकास की ओर प्रवृत्त किया। सोना, लोहा, तांबा, पीतल और हीरों के लिए खनन दक्कन के अनेक भागों में किया जाता था, जबकि जस्ता और टिन संभवतः दक्षिण-पूर्व एशिया से आता था। धातु-शिल्प संबंधी काफ़ी जानकारी 10वीं शताब्दी और अधिक विशेष रूप से काकतीय काल (11वीं-14वीं शताब्दी सी.ई.) से मिलती है। काकतीय अभिलेख धातु व्यवसाय के नाम पर ही ज्ञात एक समुदाय *पंचलोहाल बेहारमु* का संदर्भ देते हैं। इन शिल्पकलाओं के प्रमुख प्रोत्साहकों के रूप में शाही परिवारों के अलावा देवताओं के लिए रत्नों और आभूषणों के रूप में प्रदान किए गए उपहारों के अनुदान प्राप्तकर्ता मंदिर होते थे।

आन्ध्र क्षेत्र का दूसरा प्रमुख उद्योग था तेल उत्पादन, जहाँ तिलहनों में बिनौला अवलेह सर्वप्रमुख था। चीनी और गुड़ का उत्पादन भी एक महत्वपूर्ण कार्य था जिसके प्रमाण अभिलेखों से भली-भांति प्राप्त होते हैं। बाद के पुरालेखीय अभिलेख इन क्रियाओं के विकास की पुष्टि करते हैं। विजयनगर काल तक आते-आते उन्होंने महत्वपूर्ण रूप धारण किया। परंतु वस्त्र उद्योग मध्यकालीन आन्ध्र में सबसे महत्वपूर्ण था जहाँ पूरे क्षेत्र में पर्याप्त काली मिट्टी (उदाहरणार्थ, गुंटूर जिला) के कपास-उत्पादन क्षेत्र विद्यमान थे। आंध्र के सर्वोतम और उत्कृष्ट वस्त्रों से मार्को पोलो व अन्य मध्यकालीन विदेशी यात्री वाकिफ़ थे। अन्य उत्पादों में शामिल थे नमक बनाना आदि।

काकतीय शासनकाल की पहचान है शहरी प्रक्रियाओं की अत्यधिक तीव्रगति से वृद्धि और *पुरी, नगरम* और *पत्तन* आदि प्रत्ययों के साथ अनेक नगरों का उदय। नगरों की पहचान महज शिल्पकलाओं एवं व्यापार की विद्यमानता ही नहीं थी वरन् मुख्य रूप से श्रेणियों की विद्यमानता भी थी। निर्माण और विनिमय के ऐसे केन्द्रों का उल्लेख प्रायः केवल 15वीं और 16वीं शताब्दी के साहित्य में मिलता है। मंदिर नगरो शाही नगरों अथवा राजनीतिक केन्द्रों जैसी श्रेणियों का अस्तित्व था जहाँ सर्वाधिक सामान्य आर्थिक गतिविधि निर्माण और विनिमय से जुड़ी थी। वे अधिशेष विनियोजन के केन्द्र भी होते थे। मंदिर की धन-सम्पदा और आर्थिक गतिविधियों में विभिन्न व्यावसायिक समूह शामिल थे, जहाँ मंदिर शहरी विकास का प्रतिनिधित्व करता था, विशेषतः वे स्थल जो बड़े तीर्थ-केंद्रों में थे। राजनीतिक केन्द्रों में धन के संकेन्द्रण, अधिशेष का संचालन और राज्य के विभिन्न अधिकारी-वर्गों में उसके पुनर्वितरण ने शहरों को जन्म दिया। परंतु 11वीं शताब्दी से पूर्व शिल्पकला और व्यापार की प्रकृति स्थानीय ही रही। हनुमानकुंडुपरा, जो प्रारंभिक काकतियों का राजनीतिक आधार था, अपने सामाजिक महत्व के कारण एक बड़ा वाणिज्यिक केंद्र बन गया था। 10वीं-11वीं शताब्दी से कल्याणी के चालुक्यों के अधीन और बाद में काकतियों के अधीन राजकीय पहल ने ऐसे केंद्रों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

13.5.3 केरल

केरल ने पश्चिमी देशों के साथ सम्पर्क विकसित किया और राजकीय घोषणापत्रों के अधीन यहूदियों, ईसाइयों और अरबों जैसे विदेशी व्यापारियों को व्यापार नगर दिए गए (उन्हें बसने और व्यापार के लिए ऐसे केन्द्र दिए गए जहाँ मुख्य व्यापार गतिविधियाँ होती थीं)। अन्य तटीय नगर भी उभरे, जैसे कोलिक्कोडु, कोल्लम आदि जो दक्षिण एशियाई

व्यापार के आयात-निर्यात तथा संग्रह-वितरण के बाज़ार बन गए। *अंजुवन्नम* एक व्यापार संगठन था जिसकी सभाएँ नौवीं-दसवीं शताब्दी में केरल और कनारा तट पर अक्सर हुआ करती थीं और बाद में भी। दक्षिण कनारा में 15वीं-16वीं शताब्दी के अभिलेखों में *हन्जामना* संभवतः प्रारम्भिक मध्यकाल के अंजुवन्नम का ही प्रतिनिधित्व करता था। ऐसे व्यापार समूहों की विद्यमानता और मलैयाला क्षेत्र से आने वाले अरबी घोड़ों के व्यापारियों ने कर्नाटक और केरल में तटीय नगरों का महत्व बढ़ा दिया, जैसा कि कोझिकोड के निकट सुल्तान बेटेरी (15वीं-16वीं शताब्दी) के एक अभिलेख में अय्यवोल की विद्यमानता का भी संदर्भ मिलता है।

13.5.4 तमिल क्षेत्र

यह तमिल क्षेत्र ही है जहाँ प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था की विकास-प्रक्रियाओं, विशेष रूप से व्यापार कार्य-कलापों और शहरी विकास, का पल्लव-पांड्य और चोल शासन कालों के प्रचुर पुरालेखीय अभिलेखों में सर्वोतम रूप से चित्रण किया गया है। छठी-नौवीं शताब्दियों के दौरान *ब्रह्मदेय* और मंदिर जैसी संस्थाओं के माध्यम से एक कृषि-व्यवस्था के सुनियोजित विकास से आरंभ करते हुए *नाडु* नामक कृषक क्षेत्रों हेतु एक विपणन केन्द्र के रूप में *नगरम* के उदय से इसने न केवल एक कृषक क्षेत्र के रूप में *नाडु* की विनिमय व्यवस्था में मदद की, बल्कि *अन्तर-नाडु* विनिमय और अन्तर क्षेत्रीय विनिमय हेतु उसने एक मिलन-बिंदु के रूप में भी काम किया। ततपश्चात उसने भ्रमणशील व्यापार संगठनों द्व ारा चलाए जा रहे लंबी दूरी के व्यापार में माल का लाना-ले जाना आसान बना दिया। यह एक व्यापार-तंत्र का क्रमिक विस्तार था जिसके लिए तमिल क्षेत्र ने विभिन्न चरणों में सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किए। यद्यपि ऐसे सभी *नगरम* प्रमुख शहरी केन्द्र नहीं बने, उनमें से कई व्यापार-मार्गों पर स्थित थे और तिचई आयिरन्तु ऐन्नूर्खुर (नानादेसि, वलंजियार और अय्यवोल), मणिग्रामम् एवं अंजुवन्नम के भ्रमणशील व्यापार के साथ एक दूसरे को परस्पर काटते हुए वितरण बिंदु बड़े नगरों और शहरों में क्रमशः विकसित हो गए जो शासक परिवारों की राजधानियों और बन्दरगाहों से भिन्न थे। ये सभी केन्द्र पश्चिम एशियाई व दक्षिण एशियाई (श्रीलंका) तथा दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्रों के साथ वाणिज्यिक गतिविधि के जाल में एक वृहत्तर विनिमय-तंत्र के माध्यम से जुड़ गए, जहाँ भ्रमणशील व्यापार संगठन-संबंधी अभिलेख 11वीं शताब्दी से दृष्टिगोचर होते हैं। गैर-कृषि अथवा शिल्प उत्पादन एवं व्यापार में वृद्धि के परिणाम स्वरूप विकसित हुए शहरी केन्द्रों के केन्द्र-बिन्दु राजकीय केन्द्रों के अलावा *ब्रह्मदेय* और मंदिर थे और वे ही मुख्य बिन्दुओं के रूप में उभरे।

ममल्लपुरम, कावेरीप्पुम्पट्टिनम, नागप्पट्टिनम जैसे बंदरगाह राजकीय संरक्षकों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रोत्साहित राजकीय बंदरगाह थे, जहाँ लंबी दूरी के व्यापार के प्रमाण परस्पर सक्रिय विदेशी व्यापारियों (उदाहरणार्थ, नागप्पट्टिनम में चीन से आने वाले) और राजकर्मचारियों की विद्यमानता से परिलक्षित होते हैं। चोलशासकों द्वारा चीन के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान तथा महसूलों (*सुंगम*) की समाप्ति, नागप्पट्टिनम में बौद्ध विहारों जैसी धार्मिक संस्थानों का निर्माण आदि व्यापार बढ़ाने के लिए सुविचारित राजकीय नीति थी। दक्षिण-पूर्व एशिया, खासकर श्री विजय, की ओर चोलों के राजकीय अभियान दक्षिण भारतीय व्यापारियों हेतु राज्य द्वारा सुविधाएँ जुटाने के लक्ष्य से भेजे गए थे जिनकी विद्यमानता इन क्षेत्रों और सुदूर चीन तक में वाणिज्यिक महत्व रखती थी। ग्रामीण-शहरी अविच्छिन्नता (नगर-ग्राम्य विरोधाभास के बिना परंतु शहरी स्वरूपों और कार्यकलापों की दिशा में क्रमिक कायांतरण के साथ) का सर्वोत्तम चित्रण तमिल क्षेत्र में शहरी प्रक्रियाओं द्वारा होता है जहाँ *ब्रह्मदेय* और मंदिर-केन्द्रों की आर्थिक गतिविधियाँ *ब्रह्मदेयों* के समूहों और मंदिर केंन्द्रों के उदय के साथ ही प्रमुख क्षेत्रों में शहरी विकास को इंगित करती हैं। उनमें से कुछ प्रशासनिक केन्द्र थे और इस प्रकार राजनीतिक प्रक्रियाएँ और/अथवा वाणिज्यिक महत्व भी इन केन्द्रों के शहरी लक्षण में जुड़ गए।

बोध प्रश्न 1

1) 300-1000 सी.ई. के बीच की अवधि में शहरीकरण के उद्‌भव का आंकलन करने के लिए शिलालेख और सिक्कों की भूमिका का विश्लेषण करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दक्षिण भारत के किन्हीं दो क्षेत्रों के संदर्भ में 600-1200 सी.ई. के बीच की अवधि में शहरीकरण की मुख्य विशेषताओं पर चर्चा करे।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.6 श्रेणियाँ[1]

व्यापार श्रेणियां क्या थीं? इनकी कार्य-पद्धति क्या थी? इनके सदस्यों को इससे क्या फायदा मिलता था? ये ऐसे महत्वपूर्ण सवाल हैं हम जिनके जवाब प्राप्त करने के प्रयास करेंगे। ये श्रेणियां समान प्रकार के माल जैसे अनाज, कपड़े, पान के पत्ते, घोड़े, इत्र आदि का व्यापार करने वाले व्यापारियों की स्वैच्छिक श्रेणियां थी। इसकी स्थापना स्थानीय व भ्रमणशील सौदागर करते थे। स्थानीय सौदागरों द्वारा बनाई गई श्रेणियां स्थायी होती थीं जबकि भ्रमणशील सौदागरों की श्रेणियां एक खास यात्रा के लिए बनाई जाती थीं और यात्रा के अंत में उन्हें भंग कर दिया जाता था। श्रेणियां अपनी सदस्यता और कार्य-पद्धति के लिए खुद नियम और कानून बनाती थीं। वे माल का दाम तय करती थीं और यह भी तय करती थी कि किसी खास दिन इसके सदस्य किसी खास माल को नहीं बेचेंगे। अगर श्रेणियां पाती थीं कि स्थानीय अधिकारी का रवैया द्वेषपूर्ण और असहयोगपूर्ण है तो कभी-कभी एक खास क्षेत्र में व्यापार करने से मना कर देती थीं। व्यापारी-श्रेणियां धार्मिक हितों के संरक्षण का काम भी करती थीं। अभिलेखों में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब श्रेणियों ने सामूहिक रूप से अपने माल की खरीद या बिक्री पर मंदिर के रख-रखाव या अनुष्ठान के लिए अतिरिक्त कर देने के निर्णय लिये। श्रेणियां आमतौर पर एक प्रमुख के अधीन काम करती थीं जिसका चुनाव श्रेणियों के सदस्य करते थे। श्रेणियों के आर्थिक मामलों को तय करने में यह प्रमुख प्रधान न्याय अधिकारी की भूमिका निभाता था। यदि सदस्य श्रेणियों के नियमों को तोड़ते थे तो वह श्रेणियों के सदस्यों को सज़ा दे सकता था, उनकी निंदा कर सकता था या उनको निकाल सकता था।

[1] यह भाग ई.एच.आई..03, खंड.1, इकाई 4 से ग्रहित हैं।

उसका एक मुख्य कार्य था राजा से सीधा संबंध बनाए रखना और अपने साथी सौदागरों की ओर से बाज़ार की चुंगी और कर को तय करना। व्यापार गतिविधियों के विकास से श्रेणियों के प्रमुख को समाज में अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायता मिली और उनमें से कई स्थानीय प्रशासनिक परिषदों में अपने सदस्यों के प्रतिनिधियों का काम भी करते थे। श्रेणियों के सदस्यों को एक कठोर नियम के तहत काम करना पड़ता था। वे अपनी तरफ से कार्य में कोई पहल नहीं कर सकते थे। लेकिन इससे उन्हें कई तरह के लाभ मिलते थे। उन्हें अपनी आर्थिक गतिविधियों में श्रेणियों का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस तरह वह स्थानीय अधिकारियों द्वारा परेशान नहीं किये जाते थे, जबकि एक फेरी वाले की तुलना में श्रेणी की सदस्यता के कारण बाज़ार में उनकी ज्यादा साख रहती थी। इसके बावजूद श्रेणियों के प्रमुख का रवैया रूखा और कठोर होता था, सौदागरों के लिए श्रेणियां आर्थिक व शारीरिक संरक्षण का साधन नहीं थीं।

13.6.1 उत्तर भारत की श्रेणियाँ

उस समय के लेख व टीकाओं में व्यापारियों की श्रेणियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं जैसे *नैगमा, समूह, सार्थ, संघ* आदि। *नैगमा* ऐसे कारवां सौदागरों का संघ था जो कई जाति के थे और दूसरे देशों से व्यापार करने के लिए साथ-साथ चलते थे। *मेधातिथि* के अनुसार श्रेणी व्यापारियों, उधार देने वालों और कारीगरों का एक समूह था। जबकि कुछ लेखकों का मानना था कि यह सिर्फ कारीगरों का समूह था। *लेखापद्धति* के अनुसार पश्चिम भारत के राजाओं ने अपने क्षेत्र में इन श्रेणियों की कार्य-पद्धति की देखरेख के लिए *श्रेणी-करण* नामक विशेष विभाग की व्यवस्था की थी। एक अन्य ग्रंथ *मानसोल्लास* बताता है कि कई व्यापारी श्रेणियां अपनी सुरक्षा के लिए सेना (*श्रेणी बल*) रखती थीं। अभिलेखों में सौदागरों की व्यापार गतिविधियों की भी चर्चा है। पश्चिम भारत के अभिलेखों में *वणिक-मंडल* की चर्चा की गयी है जो शायद स्थानीय सौदागरों की श्रेणी थी।

13.6.2 दक्षिण भारत के श्रेणी संगठन

व्यापार अथवा व्यापारी समुदाय को आमतौर पर *बालंजा* (Balaja) के नाम से जाना जाता था जो *वीर बालंजा धर्म (बणाजु* (Banaju), *बणजिग, वणिग* आदि) नामक आचार-संहिता के संरक्षक होने का दावा करते थे तथा वे दक्षिण भारतीय क्षेत्रों और सुदूर पूर्वी देशों, जैसे बर्मा, मलेशिया और सुमात्रा में व्यापार करते थे। आठवीं शताब्दी सी.ई. में कर्नाटक में ऐहोल के मूल निवासी अय्यवोल के 500 स्वामी अन्य क्षेत्रों को गमन कर गए और 10वीं शताब्दी तक मुख्य व्यापार मार्गों पर तमिल क्षेत्र में दृष्टिगोचर होने लगे। उन्होंने उपनामों की एक विस्तृत श्रृंखला धारण कर ली, जैसे *उभय नानादेसि, मुम्मारीदण्ड ऐन्नुर्रुवर, स्वामिगलु, पेक्कंद्रु, नानादेसि पेक्कंद्रु* (तथा *गवारे* (Gavares)। उनकी गतिविधियाँ 12वीं शताब्दी सी.ई. तक बढ़ गईं (1134 सी.ई. का बेलगाम अभिलेख), अनेक *नगरम* और ग्रामों में उनकी विद्यमानता का प्रमाण बीजापुर, बेलगाम और धारवाड़ जिलों में प्राप्त उनके अभिलेखों द्वारा मिलता है। 12वीं शताब्दी के बाद भी, यथा 13वीं शताब्दी (काकतीय शासनकाल) से विजयनगर साम्राज्य के पतन तक उनके अभिलेख दक्कन और आंध्र क्षेत्रों में मिलते तो हैं परन्तु अपेक्षाकृत कम नज़र आते हैं क्योंकि इस दौरान दक्षिण एशियाई व्यापार-तंत्र में व्यापार एवं अन्य प्रतियोगितों की प्रकृति में कई परिवर्तन आए। उनकी गतिविधियों का सजीव चित्रण बेलगाम के 1184 सी.ई. के अभिलेख में मिलता है, जिसमें उनका स्थल और जल मार्ग से यात्रा करना, अपनी व्यापार वस्तुओं के साथ अनेक क्षेत्रों में प्रवेश करना – उत्कृष्ट हाथी, अच्छी नस्ल के घोड़े, वृहदाकर नीलमणियाँ, माणभ, लालमणियाँ, हीरे, लाजवर्द, सुलेमानी पत्थर, पुखराज, रक्मणियाँ, मूँगा, पन्ना और कम मूल्य की विभिन्न

वस्तुएँ। भ्रमणशील और फेरीवाले व्यापार के अलावा विदेश व्यापार में भी उनका व्यापक लेने-देन था।

व्यापारियों का *महानाडु* प्रायः मंदिरों के मण्डपों में सभा करता था। विभिन्न व्यापारी श्रेणियों के मध्य संबंधों की प्रकृति को समझ पाना आसान नहीं है। न ही यह स्पष्ट है कि प्रारंभिक मध्यकाल में ही ऐसे संगठनों का एक पदानुक्रम विकसित हुआ। अपने *वीरशासनों* के साथ *अय्यवोल 500* इन संगठनों में सबसे महत्वपूर्ण दिखाई पड़ता है और अवश्य ही भ्रमणशील व्यापार निकायों के शीर्ष पर रहा हो सकता है। ये व्यापारी व्यापार कारवाओं (तेलुगु में सतू और तमिल में सतू) के समूहों में चला करते थे, इस बात का वर्णन फरिश्ता (लगभग 1560-1620) और इब्न बतूता (1377) द्वारा भी किया गया है। वस्तुओं का अन्तर्क्षेत्रीय आवागमन इन्हीं संगठनों द्वारा नियंत्रित होता था और हम पाते हैं कि दक्षिण कर्नाटक में *अय्यवोल 500* अपने आप को *दक्षिणी अय्यवोल* कहते थे और *तिसई अयिरतु ऐन्नुरुवर* 11वीं शताब्दी से आंध्र क्षेत्र में नियमित आ-जा रहे थे।

युआन वंश के शासनाधीन दक्षिण भारत में भेजे गए चीनी व्यापारी शिष्टमंडल दक्षिण भारत और चोल व उत्तर-चोल काल में उसके समुद्री व्यापार के महत्व को रेखांकित करते हैं। विलासिता की वस्तुओं से रोजमर्रा की जरूरी चीजों, जैसे रंग, सूती धागा, वस्त्र परिष्कृत लोहा, काली मिर्च और घोड़े, आदि समुद्री व्यापार की वस्तुओं में परिवर्तन अय्यवोले अभिलेखों में और अधिक प्रमुखता से दिखाई पड़ता है। यह माल कैसे दक्षिण भारत में लदान के लिए आता था और ये पोतवणिक कौन थे, इसके बारे में जानकारी नहीं मिलती। श्रेणियों के अभिलेख दर्शाते हैं कि उनके द्वारा अपने एजेन्ट दूर देशों में भेजे गए थे और उन्होंने व्यापार केन्द्र स्थापित किए थे [उदाहणार्थ, तकुआ पा – मणिग्रामम् (मलय प्रायद्वीप में)] और पागन – आय्यावोल (बर्मा, म्यांमार में, इनमें से प्रथम स्थान को दर्शाता है और दूसरा श्रेणी को)। व्यापारियों की पहुँच राजाओं तक होती थी। श्रीलंका पर चोल आक्रमणों में ऐसे ही परस्पर प्रभाव शामिल थे। चोल शासकों की विदेश-नीति का उद्देश्य समुद्रीय व्यापार के हितों का विस्तार था ताकि चोल शासक और व्यापारी दोंनो ही इसका लाभ उठा सके। ये अभियान लूटपाट के उद्देश्य से नहीं थे वरन् व्यापार चोल नीति को निर्धारित करने में एक महत्वपूर्ण कारक था और चोल शासकों के परस्पर लाभ कमाने की दृष्टि से व्यापारी समुदाय के साथ संबंध होते थे।

उत्तरी श्रीलंका पर चोलों का अधिकार दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ श्रीलंका के संबंधों में रुकावट रहा हो सकता है, खासकर जावा और बाली के साथ सिंहली संबंधों में। श्रीलंका अनमोल रत्नों से संपन्न था, जैसे कि लालमणियाँ, पुखराज और नीलमणियाँ। अरबी कृतियाँ जैसे *अहबर अस सिनव अल हिन्द*, यात्रा-वृतातों का एक संग्रह और इब्नखुर्दादबिह की कृति भी काली मिर्च, इत्र, कस्तूरी, हीरे-जवाहरात, रामबाँस (aloe), सोना और मोतियों का संदर्भ देती हैं, उनमें से कुछ, जैसे सुगंधित मसाले, श्रीलंका को निर्यात किए जाते थे। उत्तर-पश्चिम श्रीलंका में मन्तई (महातिट्ट) ही चोलों के लिए प्रवेशद्वार का काम करता था। मन्तई प्रारंभिक मध्यकाल का एक विशाल एम्पोरियम था जिसकी तुलना फारस की खाड़ी पर स्थित सिराफ से की जा सकती है।

काली मिर्च की चीन में और पश्चिमी देशों में ऊँची कीमत मिलती थी तथा इस माँग में 13वीं शताब्दी में काफी वृद्धि हो गई। चोल शासकों और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच व्यापार संबंधों की पुष्टि 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के नागमट्टिनम रिकॉर्ड और चोल शासकों को काम्बोजों के उपहारों एवं चीन (1077 सी.ई.) को भेजे गए चोल शिष्टमण्डलों द्वारा होती है। दक्षिण-पूर्व एशिया में कादारम या श्री विजय की ओर चोल शासक राजेन्द्र का यात्रा-अभियान एक तटीय जलयात्रा ही थी। चोल आक्रमणोंका उद्देश्य था ''श्री विजय के हस्तक्षेप से भारतीय वाणिज्यिक हितों की रक्षा करना''। चीन के सुंग सम्राटों अथवा

दक्षिण-पूर्व एशिया में श्री विजय के शासकों की ही भाँति चोल शासकों ने भी इन क्षेत्रों में विदेश व्यापार बढ़ाने और तमिल-भाषी व्यापारियों के लिए व्यापार-अधिकारों को स्थापित करने का निवेदन और प्रयास भी किया।

1088 सी.ई. तक *अय्यवोल* श्रेणी सुमात्रा में बारूस के निकट स्थापित हो चुकी थी। चोल शासक समुद्री व्यापार के लाभों की भागीदारी में व्यक्तिगत रूप से रुचि रखते थे। उनमें उल्लिखित वस्तुओं में शामिल हैं – सुपारी, काली मिर्च, हर्र, लोहा, रुई, मोटा कपड़ा, सूत, मोम, याक की पूंछ, कपूर का तेल, गंधबिलाव से प्राप्त इत्र, घोड़े, हाथी, ऊँट?, रामबाँस (aloe), चन्दन, आदि। सुंग समुद्री व्यापार में प्रमुख उपभोक्ता वस्तुएँ थीं – लौंग, लोबान, सूखा गेलिनगेल (dried galingele), अबेका वस्त्र (abaca cloth), छतरियाँ, तलवारें, चिया (bottle-gourd), खजूर, औषधीय रबाब, गुलाम, मयूर (peafowl), बेन्जेन (putchuk), मार्गोसा बार्क (margosa bark), तरबूज, पापरा-पुष्प (gardenia-flower), नारियल, इलायची, मदिरा पात्र और बहुत सी अन्य वस्तुएँ। चीनी व दक्षिण भारतीय सूचियों में सामान्य उपभोक्ता वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। चन्दन और कपूर, इन दो वस्तुओं की हिन्द महासागरीय व्यापार में बेहद माँग थी। सुगंधित मसाले भी एक महत्वपूर्ण मद थे चूंकि उत्सर्जनीय पवित्र वस्तुएओं (expendable sacred items) के लिए लगातार माँग बनी हुई थी। लोबान पश्चिम एशिया से आने वाली एकमात्र वस्तु थी, जबकि सुगंधित मसाले अधिकांशत : दक्षिण-पूर्व एशिया से आते थे। *अय्यवोल* अभिलेखों में पांड्य राज्य से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की एक बड़ी संख्या का उल्लेख है।

इस व्यापार की शाखा-प्रशाखाओं में दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों, श्रीलंका और दक्षिण भारत से होकर चीन से पश्चिम एशियाई क्षेत्रों के भूभागों और उत्पादों की एक व्यापक श्रृंखला शामिल है। इसके अतिरिक्त, गुजरात तट पर भी, जो अधिकांश भारतीय व्यापार को पश्चिम एशिया से जोड़ता था, नियमित समुद्री यातायात रहता था जो उसे होर्मुज व अन्य मध्य एशियाई क्षेत्रों तथा उत्तर चीन से जोड़ता था। व्यापार के लिए दक्षिण भारतीय माल भी इसी महत्वपूर्ण रास्ते से लाया-ले-जाया जाता था। मार्को पोलो चीन को काली मिर्च, अनमोल रत्नों और मोतियों के इस व्यापार के महत्व को वर्णन करता है। म्यांमार , पांड्य क्षेत्र, से चीन को राजदूत भेजे गए (1283 और 1284 सी.ई.) और चीन से भी राजदूत कोल्लम (1279 सी.ई.), पश्चिमी तट पर प्रमुख बंदरगाह पहुंचे। समुद्री वाणिज्य प्रमुख रूप से पश्चिम एशिया तथा मिस्र (कैरो) व चीन के साथ मुख्यतः पश्चिमी तट से होता था जहाँ कोल्लम एक प्रमुख बन्दरगाह की भूमिका निभाता था। गैनिज़ा दस्तावेज और यहूदी पत्र, आदि भूमध्यसागरीय क्षेत्रों, यथा इटली, सिसिली, मोरक्को और लेबनान (सीरिया) के साथ संबंधों के प्रभावशाली प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। करीमी कही जाने वाली मिस्री वाणिज्यिक संस्था कालीमिर्च और मसालों का व्यापार करती थी। वे 13वीं शताब्दी तक चोल, पांड्य व काकतियों के शासनकालों में गुजरात व दक्षिण भारत के भारतीय व्यापारियों से और सिंहल द्वीप से भी पूर्व की वस्तुएँ प्राप्त करते थे। चीन के सुंग और बाद में युआन शासकों ने इस व्यापार को बढ़ावा दिया। भारतीय उपमहाद्वीप अपने अनेक निर्यातों के बदले भुगतान में सोने, चाँदी और ताँबा प्राप्त करता था। चीन में वस्तु-विनिमय के रूप में भुगतान को प्रमुखता दी जाती थी। गैनिज़ा दस्तावेज दर्शाते हैं कि दक्षिण भारत के साथ व्यापार करने वाले यहूदी व्यापारियों को अपने व्यापार संतुलनों को बनाए रखने के लिए सोने के रूप में भुगतान करना पड़ता था। मिस्र को भेजे जाने वाले मसालों ने यूरोप और मिस्र (विजयनगर काल के वेनिस के सेक्विन, sequins) से भारत को सोने के एक निरन्तर प्रवाह की ओर प्रवृत्त किया। परन्तु घोड़ों का आयात मुद्रा के निकास (drain) की एक प्रमुख मद थी और इस लिहाज से सोने का बहिर्गमन, खासकर उत्तर-चोल शासनकाल में, अर्थव्यवस्था का एक ऐसा पहलू है जिसकी और अधिक गहनता से अध्ययन किए जाने की आवश्यकता है। *अय्यवोल* और *मणिग्रामम्* द्वारा व्यापार की जाने वाली मदों में इस प्रकार

वस्तुओं की एक व्यापक विविधता शामिल थी, जैसे वस्त्र, लोहा, रामबाँस (अगारू-आघिल, aloeswood), सुपारी और पूग, गुग्गुल, कपूर, गंधबिलाव से प्राप्त इत्र, कपास और सूती वस्त्र। कताई और बुनाई प्रौद्योगिकी इस प्रकार, इस काल में सचेत रूप में विकसित की गई और दक्षिण-पूर्व एशिया भारतीय वस्त्रों के लिए एक प्रमुख बाज़ार बन गया। कपास के सक्रिय व्यापार का पता चीनी विवरणों से चलता है, (पातुल-14वीं शताब्दी)। वस्त्र पश्चिमी बाज़ारों को भेजा जाने वाला प्रमुख निर्यात था। हालांकि अश्व-पालन का ज्ञान दक्षिण भारत में नहीं था, घोड़े हमेशा तुरूष्क, काम्बोज और यवन देशों से ही आयात किए जाते थे।

लोहा और इस्पात (wootz) दक्षिण भारत के अनेक भागों से निर्यात किया जाता था। भारतीय इस्तपात, जिससे प्रसिद्ध दमिश्की (Damascus) तलवारें बनाई जाती थीं, भारत से निर्यात होने वाली एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु थी जैसा कि गैनिज़ा अभिलेखों से इंगित होता है। कस्तूरी, हर्र, मोती, कालीमिर्च, पुटचुक (putchuk) गुलाबजल, चन्दन, मोम और शहद व रेशम की विभिन्न किस्मों का भी व्यापार किया जाता था, जबकि चीनी रेशम चोल और पांड्य देशों में आयात किया जाता था।

बोध प्रश्न 2

1) दक्षिण भारत में शहरीकरण के विकास का विश्लेषण करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दक्षिण भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए अभिलेख सूचना का मुख्य स्रोत हैं। टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) शिल्प, व्यापार और शहरीकरण की वृद्धि में व्यापारी संघटनों की भूमिका पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.7 सारांश

कृषि विस्तार और कृषि-क्षेत्र पर सामान्य रूप से निर्भरता ही अर्थव्यवस्था का मुख्य लक्षण था। गुप्त काल के उपरांत नगर नई ऊर्जा के साथ उभरे। व्यापार का पुनरूद्धार, नए बाज़ारों का उदय, राजनीतिक प्रधिकरण का फैलाव और धार्मिक पदाधिकारियों द्वारा आर्थिक शक्ति के एकीकरण ने भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न शहरों में कई शहरों और नगरों को जन्म दिया। विभिन्न प्रकार के शहरी केन्द्र जैसे *पुर, नगरम, मंडपिका, हट्टा, पट्टिनम* उभरे। ये प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में शहरीकरण के एक नए चरण को जन्म देने में सहायक हुए। तमिलनाडु ने विशेष रूप से *नाडुओं, नगरमों,* तथा अय्यवोले जैसे व्यापक संचारतंत्रों वाले संगठन के माध्यम से 'पुनर्नगरीकरण' का अनुभव किया। प्रारंभिक ऐतिहासिक शहरी केन्द्रों की तुलना में, इस दौर में शहरी केन्द्रों ने क्षेत्रों के भीतर अपनी जड़े और गहरी जमाई। श्रेणियों की बढ़ी संख्या 'उत्पादन गतिविधियों की विविधता' को दर्शाती है। पूरे समुद्रतटीय प्रदेश में नियमित रूप से तटवर्ती यातायात विद्यमान था, खासकर इस काल में कोंकण और मलाय क्षेत्र प्रमुखता के साथ उभरे। स्थानीय स्तरों पर, तमिलनाडु में *नगरम* और आंध्र प्रदेश में *नगरमउ* जैसे स्थानीय निकाय व्यापार को संगठन प्रदान करने में सक्रिय थे। इस पूरी कालावधि में व्यापारी सक्रिय व्यापार गतिविधियों में रत थे। वे व्यापार समूह (कारवाँओं) में विचरण करते थे।

13.8 शब्दावली

कोंगू (Kongu) क्षेत्र : दक्षिण भारत में प्राचीन तमिलनाडु क्षेत्र। इसमें वर्तमान कोयम्बटूर, ईरोड, सलेम, करूर और तमिलनाडु के डिन्डीगुल जिलों का एक भाग शामिल था।

कैरो गैनिज़ा दस्तावेज (***Cairo Geniza Records***) : फोस्टेट-कैरो के यहूदी प्रार्थना-भवन में पायी जाने वाली प्राचीन यहूदी पांडुलिपियों का अभिलेखागार। 1890 के दशक में यह सामग्री बॉडलिन लाइब्रेरी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवसिटी, ऑक्सफ़ोर्ड, लंदन ले जायी गई।

सुई जैनेरी (***Sui Generis***) : स्वतः ही उत्पन्न अथवा अपने आप उत्पन्न एवं विकसित प्रक्रियाएँ न कि किसी बाह्य प्रभाव के कारण।

संयुक्त शिल्पी समुदाय : ये समुदाय विभिन्न शिल्पकलाएँ अपनाते थे। परंतु 14वीं शताब्दी तक वे एक वृहद् शिल्प-समुदाय में संगठित हो गए। अतः वे काफी प्रभावशाली थे।

वीरशासन (***Virasasanas***) : श्रेणियों के अभिलेख जो एक प्रशस्ति के साथ शुरू होते हैं जिसमें भ्रमणशील व्यापारियों के रूप में उनके साहस और वीरतापूर्ण कार्यों का उल्लेख होता है जो अच्छे लड़ाकू भी होते थे।

मलाय प्रायद्वीप : यह वह क्षेत्र है जो आजकल प्रायद्वीपीय मलेशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के समीपस्थ द्वीपों का महासागर है, इसमें सुभ्मात्रा का पूर्वी तट, बोर्नियों का तट, और इन क्षेत्रों के बीच पड़ने वाले छोट-छोटे द्वीप शामिल है। यह हिन्द महासागर के अंडमान सागर तथा पश्चिम में मलक्का के आरंभ एवं थाईलैंण्ड की खाड़ी और पूर्व में दक्षिण चीन सागर के बीच स्थित है। इस प्रायद्वीप का उपरी भाग थाईलैंड के एक हिस्से का निर्माण करता है, दक्षिण भाग में पश्चिम मलेशिया, मलेशिया का मलय भाग आता है।

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 13.3 एवं 13.4 और उनके उपभाग देखें।

2) भाग 13.5 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 13.4 एवं 13.5 देखें।

2) भाग 13.4 एवं 13.5 देखें।

3) भाग 13.6 एवं इसके उप-भाग देखें।

13.10 संदर्भ ग्रन्थ

अब्राहम, मीरा (1988). *टू मर्चेंट गिल्ड्स ऑफ़ साउथ इंडिया.* नई दिल्ली : मनोहर.

चक्रवर्ती, रणबीर (2002). *ट्रेड एंड ट्रेडर्स् इन अर्ली इंडियन सोसाइटी.* नई दिल्ली : मनोहर.

चक्रवर्ती, रणबीर (2001) (संपादित). *ट्रेड इन अर्ली इंडिया.* नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस.

चंपकलक्ष्मी, आर. (1996). *ट्रेड, आईडियोलोजी एंड अर्बनाईज़ेशन : साउथ इंडिया 300 बी.सी. टू ए डी 1300.* नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस.

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1994). *द मेंकिग ऑफ़ अर्ली मेडिवल इंडिया.* नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

हॉल, के. आर. (1980). *ट्रेड एंड स्टेटक्रॉफ़्ट इन द ऐज ऑफ़ द चोलाज़.* नई दिल्ली : अभिनव.

शर्मा, आर. एस. (1980). *इंडियन फ़्यूडलिज़्म.* नई दिल्ली : मैकमिलन, दूसरा संस्करण.

शर्मा, आर. एस. (2001). *अर्ली मेडिवल इंडियन सोसाइटी, ए स्टडी इन फ़्यूडलाईज़ेशन.* नई दिल्ली : ओरियंट लोंगमैन.

इकाई 14 धर्म का विकास*

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 धर्म का भूगोल

14.3 प्रक्रिया के रूप में संघटन

14.4 मंदिर और उसकी भूमिका

14.5 सामाजिक-धार्मिक आंदोलन

14.5.1 *संगम* साहित्य में भक्ति का विकास

14.5.2 प्रसिद्ध भक्ति आंदोलनः *नयनारों* और *आलवारों* की भक्ति (600-1000 सी.ई.)

14.5.3 शंकराचार्य और *अद्वैत* दर्शन (788-820 सी.ई.)

14.6 धार्मिक परंपराओं का गठनः 1000-1300 सी.ई.

14.7 सामाजिक-धार्मिक आंदोलनः आचार्यो की भूमिका

14.8 वीरशैववाद

14.9 सारांश

14.10 शब्दावली

14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.12 संदर्भ ग्रन्थ

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगेः

- भू-दृश्य का धार्मिक भूगोल;
- राजनीतिक परिवेश के साथ धर्म का उद्‌भव और एकीकरण;
- मंदिर की भूमिका;
- नौंवी से बारहवीं शताब्दी तक मुख्य रूप से भक्ति की विचारधारा पर आधारित सामाजिक-धार्मिक आंदोलन;
- दक्षिण भारत में चौथीं से छठी शताब्दी में धर्म और भक्ति के विचारों का विकास; और
- सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक लोकप्रिय भक्ति आंदोलन।

14.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम प्रारंभिक मध्यकालीन समाज में धर्म को एक समग्र परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करेंगे। इकाई के पहले भाग में धार्मिक भूगोल पर चर्चा करेंगे। इसके बाद राजनीतिक वातावरण से धर्म के जुड़ाव के प्रादुर्भाव पर चर्चा की जाएगी। इसके बाद मन्दिर

* यह इकाई एम.एच.आई.-06, खंड 4, इकाई 15 एवं खंड 6, इकाई 22 से ली गई है।

की भूमिका पर प्रकाश डाला जाएगा और अंत में इस चर्चा के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जाएंगे। कुछ सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों की भी चर्चा की जायेगी।

14.2 धर्म का भूगोल

एशिया के एक किनारे से दूसरे किनारे तक जाने वाले व्यापार और आप्रवासन मार्गों के साथ बौद्ध और इस्लाम धर्म सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गए थे। छठी शताब्दी में बौद्धों को अफ़ग़ानिस्तान, ऊपरी सिन्धु घाटी तथा कश्मीर से नेपाल तक हिमालय क्षेत्र में उपलब्ध सर्वाधिक संरक्षण प्राप्त हुआ। इसके बाद यह पूर्व की ओर संपूर्ण मध्य एशिया की तरफ बढ़ा तथा तिब्बत, चीन और जापान में दृढ़ता से स्थापित हुआ। आठवीं शताब्दी के बाद, पश्चिम और मध्य एशिया के पूर्व और दक्षिण की तरफ से अरब और प्रवासियों ने धार्मिक संरक्षण को इस्लाम की तरफ स्थानांतरित कर दिया। फिर भी, बौद्ध साधुओं का श्रीलंका में स्थाई आधार था और आठवीं शताब्दी से उन्हें बर्मा में राज्य संरक्षण प्राप्त हुआ। इस स्वरूप में परिवर्तन आने लगा क्योंकि व्यापार के माध्यम से इस्लाम में काफ़ी प्रगति हुई और पहले का धार्मिक संरक्षण इस्लाम के पक्ष में परिवर्तित हो गया और बौद्धवाद पृष्ठभूमि में चला गया। वास्तव में इस प्रकार का दृश्य अन्य स्थानों पर भी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, बंगाल में विजयसेन (1095-1158 सी.ई.) ने पालों को परास्त किया और उसके सैनिक बंगाल और उत्तरी-बिहार तक पहुँच गए। वहां उन्होंने विष्णु पूजा की शुरूआत की और इस तरह विजयसेन द्वारा विजित क्षेत्रों में वैष्णववाद को संरक्षण मिला। अंतिम सेन शासक लक्ष्मणसेन ने प्रसिद्ध बंगाली वैष्णव कवि जयदेव को संरक्षण प्रदान किया जिसने व्यापक प्रभावशाली धार्मिक कविता ''*गीतगोविंद*'' लिखी। वैष्णवाद को सेन शासकों का संरक्षण तेरहवीं शताब्दी में समाप्त हुआ जब राजनीतिक संरक्षण पुनः परिवर्तित हुआ। यह परिवर्तन बंगाल के पूर्वी क्षेत्रों में इस्लाम की तरफ हुआ जहां सेन शासकों ने पहले बौद्धों को हटाया था, जबकि पश्चिमी क्षेत्रों में वैष्णवाद को व्यवसायिकों, ज़मींदारों और स्थानीय शासकों से संरक्षण प्राप्त हुआ।

हिन्दू राजाओं द्वारा शासित काठमांडू घाटी में बौद्धो का काफ़ी प्रभाव था। काठमांडू के आस-पास के राज्य दक्षिण से हिन्दुओं के लिए और उत्तर से बौद्धों के लिए एक साथ आने का कारण बना। पश्चिम के मैदानों – गुजरात, राजस्थान, मालवा और बुंदेलखण्ड में कलचुरियों, चालुक्यों, परमारों और चंदेलों के राजवंशों ने जैनियों को भी संरक्षण प्रदान किया जो व्यापारियों में प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि एक चालुक्य राजा ने जैन धर्म अपना लिया था। स्थानीय संस्कृति और जैन संस्कृति परस्पर समाहित हो गई थी। जैन मंदिरों में पूजा होने लगी और हिन्दू-जैन विवाह होना सामान्य था।

प्रायद्वीपीय क्षेत्र में शिव और विष्णु के पुजारियों ने आरंभिक मध्यकाल में लोकप्रिय बौद्धवाद और जैनवाद को सांस्कृतिक लोकप्रियता से मुख्यतः मदुरै और कांचीपुरम से हटा दिया था। फिर भी, जैनवाद दक्षिण तटीय क्षेत्रों और मुख्यतः केरल में बना रहा एवं राजाओं ने जैनियों, पारसियों, मुसलमानों, ईसाइयों और यहूदियों सहित विभिन्न व्यावसायिक समुदायों को संरक्षण प्रदान किया जो हिन्द महासागर तटीय क्षेत्र के जीवन की मुख्य विशेषता थी। दक्षिण तटीय क्षेत्रों में गैर-मुस्लिम शासकों ने अरब-मुस्लिम बस्तियों को संरक्षण प्रदान किया जैसा कि उन्होंने श्रीलंका में किया था।

14.3 प्रक्रिया के रूप में संघटन

आठवीं शताब्दी से दूर दक्षिण में रूढ़िवादी ब्राह्मणवादी धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में प्राचीन *दक्षिणापथ* में शिव और विष्णु पूजा का प्रसार हुआ। यह *भक्ति* की नई परम्परा के रूप में

प्रकट हुआ जिसने ज्ञान, अनुशासन/नियम और कर्मकाण्ड से अधिक भावना को महत्व दिया। इसमें संस्कृत से भिन्न तमिल भाषा का प्रयोग किया गया और दैव पूजा में महिला संतों और आम जनता की भागीदारी को बढ़ावा दिया गया। इसमें तीर्थ स्थानों में स्थानीय परम्पराओं को स्थापित किया गया, निम्न जातियों की स्थिति को भगवान की नज़रों में स्वीकार्य बनाया गया और उपासकों का ब्राह्मणवादी मध्यस्था से मुक्त भगवान से प्रत्यक्ष सम्बन्ध बताया गया। भक्ति कवियों ने भावात्मक, लोकप्रिय सांस्कृतिक राजनीति की एक नई शैली पैदा की। भगवान के लिए उपासनावाद धार्मिक उन्माद और भाव बन गया तथा दसवीं शताब्दी तक ये ऊर्जाएँ धार्मिक प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध हो गईं। कई स्रोतों से बौद्धों और जैनियों की सामूहिक हत्या के बारे में पता चलता है। चोल राजाओं के अधीन शैव उपासक विष्णु उपासकों के स्थान पर समृद्ध हुए तथा सम्प्रदायों के मध्य संघर्ष बढ़ गये।

भक्ति आस्थावाद और साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्धा ने पारम्परिक रूढ़िवादी धर्म के ब्राह्मणवादी विशिष्ट प्रस्तावकों को चुनौती दी। इससे इन्हें शासक वर्गों से और अधिक संरक्षण प्राप्त हुआ। लोकप्रिय अनुसरण उत्पन्न करने के लिए दक्षिण में अनेक शासकों ने वैष्णव (*आलवार*) और शैव (*नयनार*) कवियों को सहारा दिया। आरंभिक मध्यकाल में सर्वाधिक यशस्वी ज्ञानी शंकराचार्य (788-820 सी.ई.) ने अपने अल्प जीवनकाल में अत्यधिक नाम कमाया। यह कार्य उन्होंने तमिल दैवीय काव्य का संस्कृत में विकास करके, शैववाद और वैष्णववाद में उसके *अद्वैत* सिद्धांत के माध्यम से समन्वय स्थापित करके किया जो *उपनिषदों* से ग्रहण किया गया था और उसमें बौद्धवाद के तत्व थे। इस कार्य के लिए उन्होंने केरल से कश्मीर तक यात्रा की और वापसी में मठीय केन्द्रों की स्थापना की। शंकराचार्य ने विशिष्ट उच्च ब्राह्मणवादी संस्कृति में लोकप्रिय आस्थावाद को समाहित करने और उसके सामान्यीकरण करने में सहायता दी। वीरशैववाद के एक शक्तिशाली क्षेत्रीय संप्रदाय ने शाही संरक्षण प्राप्त किया और व्यवसायी समुदायों से अनेक अनुयायी बनाए। यह संप्रदाय उत्तरी केरल में क्षेत्रीय रूप से काफ़ी प्रभावशाली हो गया। जहाँ अब *लिंगायत* रहते हैं। इसी प्रकार दक्कन में पंढरपुर में विट्ठल की पूजा को नए प्रजातंत्र के उदय का कारक माना जा सकता है और नई उपासना के समर्थन ने बाद में नए विशिष्ट वर्ग के शासन को वैध बना दिया।

लोकप्रिय भक्तिवाद ने मंदिरों और तीर्थ स्थानों पर हज़ारों श्रद्धालुओं को आकर्षित किया। इससे सार्वजनिक संरक्षण में जटिलता बढ़ गई, क्योंकि संप्रदाय राजनीतिक संघर्ष के लिए निर्णायक सैनिक और आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। फिर भी, मध्यकालीन रिवाज के अनुसार भगवानों में बहुआयामी और स्तरीय प्रभुता जारी रही। इस प्रकार इन संप्रदायों की वृद्धि और नए राजतंत्रों का संघटन मिलकर साथ-साथ चलता रहा।

14.4 मंदिर और उसकी भूमिका

धार्मिक और स्थापत्य परिसर के रूप में मंदिर परवर्ती गुप्त काल में अपनी शान-शौकत में उभरा। छठी से चौदहवीं शताब्दी तक इसका विस्तार और प्रसार हमें महाबलीपुरम से खुजराहो तक के अध्ययन में हमारी मदद करते हैं। पौराणिक साहित्य और संबंधित मिथकों, लोक साहित्य और कलात्मक चित्रों आदि में स्थानीय देवाताओं, अनुष्ठानों, प्रतीकों और अध्यात्मवाद के मिश्रण से प्रभावशाली उपासना की संरचना हुई जिससे स्थानीय देवताओं, उनके उपासकों और संरक्षकों की सांस्कृतिक क्षमता का काफ़ी विकास हुआ। स्थानीय संप्रदाय पौराणिक परम्पराओं, मंदिरों और अनुष्ठानों को अपनाने लगे क्योंकि स्थानीय समुदाय शाही अधिकार के अधीन हो गए थे। भगवानों या देवताओं की महानता शाही संरक्षकों की शान में वृद्धि करती थी। हमें मंदिरों और निष्पादित धार्मिक अनुष्ठानों के साथ प्रदान किए जाने वाले अनुदानों के बारे में अनेक शिलालेखों से पता चला है।

सामाजिक पहचान मंदिरों के आस पास उत्पन्न होने लगी क्योंकि मंदिरों में इंसान और भगवान एक साथ रहते थे। ब्राह्मणों और मंदिरों को राजाओं, भूपतियों, विशिष्ट वर्गों, व्यापारियों और अन्य लोगों द्वारा दिए जाने वाली भेंटों से दानदाताओं की धार्मिक स्थिति में वृद्धि होती थी। कोई मंदिर जितना अधिक लोकप्रिय होता था तो गीतों में उसकी अधिक प्रशंसा, तीर्थ यात्रियों के लिए वह अधिक आकर्षक हो जाता था। इसके संरक्षकों और संबंधित व्यक्तियों का महत्व बढ़ जाता था। भक्ति श्रद्धावाद के प्रगति करने से इसका महत्व, आकार और तीर्थ यात्रियों का वाणिज्यिक मूल्य बढ़ जाता था क्योंकि इससे मंदिर में दान और निवेश बढ़ जाता था। सामाजिक गतिशीलता के साधन और संकेत के रूप में दान देना अधिक लोकप्रिय होता जा रहा था क्योंकि मंदिर व्यावसायिक केन्द्र व भूपतियों, नियोक्ताओं और निर्माताओं के केन्द्र भी बन गए। मंदिर के धार्मिक अनुष्ठानों में बढ़ती भागीदारी से वह सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रभावशाली स्थल बन गए। क्योंकि मंदिर से संबंधित सम्मान पद के अनुसार आवंटित होते थे और भगवान के आगे बैठने का स्थान भी पद के अनुसार था। शासक सबसे पहले आते थे। धनी दानदाता मंदिर में दान के मूल्य के क्रम से आते थे। लोकप्रिय भक्ति आंदोलनों ने सर्वशक्तिमान भगवानों को दैनिक सामाजिक जीवन में पहले से अधिक केन्द्रित कर दिया था। यहाँ तक, शारीरिक श्रम करने वाले गरीब व्यक्तियों के लिए, जिन्हें मंदिर परिसर में पैर रखने की भी मनाही थी, को निम्नतम सामाजिक पद के लोगों के रूप में शामिल कर लिया गया। कुछ गहन भक्ति वाले संत निम्न से निम्नतम श्रेणी से आये और उनकी भक्ति इतनी अधिक थी कि ईश्वर को उनकी भक्ति को स्वीकार करने के लिए मंदिर से बाहर आना पड़ा – ऐसी धारणा मान्यता है। हज़ारों ब्राह्मणों को कृषि भूमि का अधिकार मिला। राष्ट्रकूट शासन के खुले दरबारों में एक शिलालेख के अनुसार 1000 ब्राह्मणों को भूमि के 8000 मापों के अनुदान का उल्लेख है और एक ब्राह्मण को तो अकेले 4000 माप की भूमि-अनुदान का भी उल्लेख है। शिलालेखों में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जब गैर-ब्राह्मण सत्ता गुटों ने ब्राह्मणों को अनुदान देकर अपनी व अपने स्थानीय सहयोगियों की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाया। दूसरे मामलों में, ब्राह्मणों को राज्य अधिकारियों के स्थानीय प्रतिनिधियों के रूप में नियुक्त किया जाता था। ऐसे गाँवों को *अग्रहार* कहा जाता था जहाँ ब्राह्मण छोटे किसानों की अध्यक्षता करते थे जो बिहार में अधिकतर भूमिहीन बटाईदार या बंधुआ मजदूर थे। ये *अग्रहार* गाँव विशेष रूप से छोटे गाँव थे जो बड़े गाँवों की बस्तियाँ थीं जिनमें अनेक जातियों और बड़े भूपतियों के सदस्य भी रहते थे। बिहार में ऐसे *अग्रहार* गाँव प्रचुर संख्या में उभरे और यह बड़ा स्वाभाविक सा है कि ऐसे *अग्रहार* गाँवों में उत्पीड़क सामाजिक सम्बन्धों और जाति आधारित भेदभाव एवं शोषण के सर्वाधिक गहन स्वरूप विकसित हो गए।

लेकिन भारत में इन विकासों के फैलने में समय लगा। पहले ये बंगाल और पूर्वी-उत्तर प्रदेश और धीरे-धीरे भारत में सभी जगह फैल गए। फिर भी, संपूर्ण भारत में यह स्वरूप एक जैसा नहीं था और कुछ भाग इस प्रवृत्ति से अछूते थे। भारत के कुछ *अग्रहार* गाँवों में ब्राह्मणों ने स्थानीय प्रशासकों की भूमिका प्राप्त कर ली थी और वे करों का संग्रह करते थे लेकिन छोटे कृषकों की हालत उतनी दयनीय नहीं थी जितनी कि बिहार में थी। भूपतियों द्वारा शोषण और उत्पीड़न भू-स्वामित्व की बेदखली से जुड़ा था।

ऐसे धर्मों, जिन्होंने ''प्रकट सत्य'' पर जबरदस्त ज़ोर दिया, में हमेशा से ही कट्टरपंथी कठोरता की प्रवृत्ति रही है। किंतु अपने प्रभाव के चरम पर भी भारत के ब्राह्मण कभी भी राष्ट्रीय अथवा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदू धर्म के अभ्यास में किसी भी प्रकार की कठोर एकरूपता को लागू करने में समर्थ नहीं थे। कुछ इलाकों में, निचली जातियां पूरी तरह से ब्राह्मणों के बिना कार्यरत रहीं और अन्य स्थानों – विशेष रूप से दक्षिण, मध्य भारत और उडीशा – में ब्राह्मणों ने अक्सर विरोधी और विधर्मिक पंथों को उचित सम्मान देने के लिए बाध्य महसूस किया और उनकी विश्वास प्रणालियों को मुख्य धारा के हिंदू धर्म में सम्मिलित किया।

आंध्र में लोक धर्मों में ब्राह्मणवादी प्रभावों की मध्यस्थता में शक्तिशाली भूमिका का निर्वाह किया। मुख्य धर्म में स्थानीय प्रभाव के एक महत्वपूर्ण उदारहण को 14-15वीं शताब्दी में विजयनगर के राजाओं द्वारा बनवाये गए श्रीशैलम मंदिर में देखा जाता है। पड़ोसी राज्य कर्नाटक में भक्ति आदर्श और जैन प्रभावों ने प्रचलित परम्पराओं पर अपनी छाप छोड़ी।

भारत में धर्म का विकास काफ़ी संघरित रूप से हुआ और इसमें स्थानीय प्रभावों की एक विशेष भूमिका रही। सभी देवियों और देवताओं के उपासक हुए और देवी को राक्षस की संहारक योद्धा के रूप में दिखाया गया और देवताओं में स्त्रियोचित्त गुण प्रदर्शित किए गए। योगिनी के मंदिर में सभी इष्ट देवियाँ हैं और यद्यपि अब केवल कुछ योगिनी मंदिर बचे हैं (अधिकांशतः उडीशा और मध्य प्रदेश में), यह संभव है कि कई ऐसे मंदिर अस्तित्व में रहे होंगे।

बोध प्रश्न 1

1) धर्म के भूगोल पर एक लेख लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में धर्म को आकार देने में मंदिर ने कोई भूमिका निभाई?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

14.5 सामाजिक-धार्मिक आंदोलन

इस खंड में विभिन्न सामाजिक-धार्मिक आंदोलन जो भक्ति के विचार से प्रेरित थे, की चर्चा की जाएगी। संस्कृत के 'भज' शब्द (अर्थात एक व्यक्तिगत देवता के प्रति निष्ठा, लगन, प्रेम व सहभागिता) से उत्पन्न शब्द भक्ति का यद्यपि एक सामान्य अर्थ है, 'भक्ति' की व्याख्या करने में भिन्नताएं हैं जो कई भक्ति समुदायों का आधार बनती हैं। उस ऐतिहासिक संदर्भ की भी चर्चा होगी जिसमें ये आंदोलन स्थित थे, साथ-साथ उस संदर्भ से जुड़े घटनाक्रमों तथा उन पर इन आंदोलनों की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं पर भी प्रकाश डाला जाएगा।

14.5.1 *संगम* साहित्य में भक्ति का विकास

मध्य काल में दक्षिण भारत में धार्मिक विकासों को चौथी से छठी शताब्दी तक की धार्मिक प्रवृत्तियों में देखा जा सकता है। इस काल के बारे में सूचना ऐसे साहित्य से मिलती है जिसे

मुख्यतः *संगम* साहित्य कहा जाता है। इस साहित्य में किसी औपचारिक धार्मिक समुदाय का उल्लेख नहीं है। पवित्र की संकल्पना *कातावुल/कटावुल* (Kataval) और *अनन्कू* जैसे शब्दों में की गई। संभवतः इन दोनों का अर्थ पूजा के ईश्वरीय स्वरूप से है, और कान्तू/*कान्तु* एवं *पोतियिल* (Potiyil) (खंभों पर बना कक्ष) जैसे शब्दों में अभिव्यक्त हुई है संभवतः यह मंदिर का आद्यरूप (prototype) है जिसका अर्थ पवित्र स्थल है। *कोयिल* शब्द मुखिया के घर का द्योतक था, मंदिर का नहीं। इस शब्द का विकास बाद में हुआ था। परंतु चौथी शताब्दी के अंत तक ईश्वरत्व का व्यवस्थित विकास धर्म से जुड़ गया जिसका उल्लेख प्रसिद्ध व्याकरणिक शोध प्रबंध *तोलकाप्पियम* में *तिनई/तिणई* परंपरा में मिलता है। *तिनई* की अवधारणा में निम्नलिखित पांच पर्यावरणीय क्षेत्र शामिल थे। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट आबादी, रहन-सहन का विशिष्ट ढांचा और एक विशिष्ट ईश्वरीय स्वरूप था :

1) *मुल्लई : मारावारों* (योद्धाओं) और *इटैयरों* के आवास स्थल। चरागाहों के लिए सामूहिक रूप से प्रयोग किया जाने वाला यह शब्द मेयोन/मायोन के लिए देव स्थल था।

2) *कुरिंजी : वेतारों/वेट्टरों* और *कुरवरों/कुरावारों* (शिकारियों), जिन्होंने कृषि को छोड़कर इसे मुख्य पेशा बना लिया था, के पर्वतीय पर्यावरणीय क्षेत्र के लिए प्रयोग किया जाने वाला सामान्य शब्द। यहां के लोग देवता के रूप में मुरुकन की पूजा करते थे।

3) *मरुतम* : नदी-घाटियों के बीच की आर्द्र भूमि और *उलावरों/उलवारों* (किसानों) की कृषि गतिविधियों का केंद्र। *मरुतम* के देवता वेंतन/वेंटन थे।

4) *नेयतल* का अर्थ समुद्र के आसपास का क्षेत्र था जहां परतावर (मधुआरा समुदाय) रहा करते थे। *नेयतल* का देवता वरुणन था।

5) *पल्लै/पालई* का अर्थ शुष्क क्षेत्र था जहां शिकारी/भोजन-संग्रहण जनजातियां रहती थीं जो देवी रूप कोर्रवई/कोर्रावई की पूजा करती थीं।

समस्त देवी-देवताओं में मेयोन के देवता मुरुकन का उल्लेख सबसे ज़्यादा मिलता है। मुरुकन और मेयोन पूजा के विशिष्ट रूप क्रमशः *वेरियातु/वेरियातू* और *कुरावई* (Kuravai) से संबद्ध थे। इनमें भाव-विभोर होकर धार्मिक नृत्य किया जाता था जिसमें पुरुषों और महिलाओं दोनों की भागीदारी होती थी। युवा अवस्था और सौंदर्य के प्रतीक मुरुकन की पूजा खलिहानों, जंगलों, बाज़ारों, वृक्षों, युद्ध भूमियों आदि में हुआ करती थी जिससे उनकी स्थानीयता का पुख्ता सबूत मिलता है। चौथी शताब्दी तक मेयोन उत्तरी कृष्ण संप्रदाय/वैष्णववाद से संबद्ध थे। हालांकि उन्हें दक्षिणी परिवेश के अनुसार ढाल लिया गया था। उदाहरण के लिए, कृष्ण और यमुना नदी के साथ संबंधित साहित्य में कृष्ण का एक महत्वपूर्ण स्थानीय रूप तोलूनाई (Tolunai) है। मेयोन इस काल में दो शासन परंपराओं – प्राचीन तमिल क्षेत्र के दक्षिणी भाग में मदुरै के पांड्य और उत्तरी भाग में कांची के टोंडैमन का शाही प्रतीक भी थे। इसके अलावा, *संगम* साहित्य में मेयोन के अति परिष्कृत पूजा स्थल का भी उल्लेख मिलता है जो कांची के वेहका में स्थित मंदिर था।

परंतु छठी शताब्दी के बाद परवर्ती *संगम* (या उत्तर *संगम*) साहित्य जैसे – *शिलप्पदिकारम, कलित्टोकई, परिपटल* (Paripatal) और *तिरुमुरुकारूपाटै* (Tirumurukarruppatai) में नये धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति की गई। इन ग्रंथों में ईश्वर के संबंध में *संगम* साहित्य की विचारधारा पर उत्तरी महाकाव्यों (*रामायण* एवं *महाभारत*) तथा पौराणिक विचारों के प्रभाव का वर्णन मिलता है। इस प्रभाव के कारण *तिनई* ढांचे में स्थानीयकृत देवी-देवताओं को सर्वव्यापी अतींद्रिय (निराकार एवं अस्थानीय) देवत्वों में रूपांतरित कर दिया गया।

मुरुकन का संबंध युद्ध के आर्य देवता स्कंद से जोड़ दिया गया और मल/मेयोन का संबंध विष्णु से। *मुरुतम* और *नेयतल तिनई* के देवता वेंतन और वरूण धीरे-धीरे हाशिए पर चले गए और परवर्ती काल में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता। *पालई* की देवी कोर्रावई महत्वपूर्ण थीं परंतु शैव पंथ में उन्हें शिव की पत्नी दुर्गा के रूप में समाहित करने की प्रक्रिया पहले ही शुरू हो चुकी थी। *संगम* और पौराणिक तत्वों के बीच अंतःसंबंध में पौराणिक मिथकों से कई विषय चुने गए। स्कंद के कई नायकोचित कार्यों को मुरुकन के साथ जोड़ दिया गया। छठी शताब्दी तक मेयोन अपने अवतार मिथक के अनुसार देवता, ग्वाला-नायक और गोपियों के प्रेमी के रूप में स्थापित हुए और पुनः पांड्यों तथा पल्लवों के शाही प्रतीक के रूप में उभरे।

परिपाटल और *तिरूमुरूकारुपाटै* में पहली बार एक नये भक्तिपरक परिवेश का वर्णन मिलता है। अतींद्रिय देवता के प्रति व्यक्तिगत भक्ति की अवधारणा इन कृतियों में मुरुकन और मेयोन को समर्पित कविताओं में दृष्टिगोचर होने लगी। इन ग्रंथों में अभिव्यक्त भक्ति की विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1) ईश्वर के प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति तमिल में की गई, इस प्रकार पहली बार धार्मिक भाषा के रूप में संस्कृत का विकल्प दिया गया।

2) भक्ति की यह संकल्पना व्यक्तिगत अनुभव नहीं थी, जो परवर्ती भक्ति में दर्शाई गई। इस साहित्य में किए गए उल्लेख वस्तुनिष्ठ और निवैयक्तिक हैं, जैसे कि मानो ये दूसरे व्यक्ति से संबंधित हों।

3) भक्ति की संकल्पना पहली बार मंदिर के प्रचार का आधार बनी। मंदिर में देवी-देवताओं की मूर्ति रखी गई जो लोगों का कष्ट हरने के लिए पृथ्वी पर उनके अवतार का प्रतीक थी। परंतु मंदिर औपचारिक पूजा के केंन्द्र नहीं बने। इसलिए, मंदिर के बारे में अवधारणाएं विकसित हुईं जो सातवीं शताब्दी से विभिन्न सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों का केंद्रीय आधार बनीं। मंदिर का उल्लेख अब *कोयिल* के रूप में किया जाने लगा।

4) मंदिर की स्थिति का भी पहली बार पवित्र भूगोल चित्रित किया गया । इस पवित्र भूगोल में एक देवता के विभिन्न पूजा स्थल, जैसे मेयोन और मुरुकन के पूजा स्थल, शामिल थे। इससे भावी धार्मिक अंतःसंबंधों के लिए आधार तैयार हुआ; उदाहरण के लिए, वेहका (कांची) में मेयोन को समर्पित मंदिरों के रूप में उल्लिखित *शिलप्पदिकारम* और *परिपाटल,* थिरूमलिरंचोलै (मदुरई के निकट), अताकमटम (Atakamatam) (चेर क्षेत्र में स्वर्ण कक्ष) पुहार (मणिवन्नम) (Manivannam)।

इस प्रकार पांचवी-छठी शताब्दी की इस नई धार्मिकता ने संस्कृत भाषा की संस्कृति को तमिल की संस्कृति के अनुरूप बनाकर एकीकृत कर दिया। हालांकि *संगम* साहित्य में अन्य धार्मिक परंपराओं, जैसे मुख्य अनुयायियों के रूप में व्यापारियों वाले शहरी केंद्रों में फले-फूले जैन और बौद्ध धर्म की परंपराओं का भी उल्लेख है, पौराणिक-तमिल आयाम ने समुदायों के विकास के लिए आधारभूत ढांचा प्रस्तुत किया।

14.5.2 प्रसिद्ध भक्ति आंदोलन : *नयनारों* और *आलवारों* की भक्ति (600-1000 सी.ई.)

सातवीं से नौवीं शताब्दी तक भक्ति व्यैक्तिक धार्मिक मनोवृत्ति के रूप में विकसित हुई जो किसी एक देवता, शिव या विष्णु, की गहन भक्ति पर केंद्रित थी। इस आस्तिक आस्था की अभिव्यक्ति प्रारंभिक शैव एवं वैष्णव संतों – *नयनारों* और *आलवारों* के भक्ति-गीतों में हुई है। संबंधित सामुदायिक परंपरा के अनुसार, शैव *नयनारों* को *समयाचार्य* भी कहा जाता था

जो संख्या में 63 हैं और इनमें एक महिला संत कराईकल अम्माइयार हैं। वैष्णव *आलवार* 12 हैं जिनमें एक महिला संत अंडाल/अंदल हैं। सामूहिक रूप से *तेवरम* और *नलयिर दिव्य प्रबंधम* के नाम से विख्यात इन भक्ति-गीतों ने मध्यकाल में शैव और वैष्णव धार्मिक समुदायों के दर्शन को प्रभावित किया। *तेवरम* के कई अर्थ लिए जाते हैं। आमतौर पर यह माना जाता है कि *तेव* का अर्थ देवगृह अर्थात देवताओं का निवास स्थल है और *वरम* का अर्थ देवता के नाम से गाया जाने वाला गीत, इस प्रकार *तेवरम* शब्द बना।

हालांकि *नयनार* और *आलवार* समकालीन थे परंतु ''पवित्र'' की उनकी संकल्पना के तरीकों में मतभेद थे। इस कारण दोनों की अलग-अलग पहचान बनी जो आठवीं-नौवीं शताब्दी तक शैववाद एवं वैष्णवाद के अलग-अलग धार्मिक समुदायों में विकसित हुई। तीव्र भक्ति भावना और ईश्वर के साथ रहस्यमयी समागम की प्रबल इच्छा से अभिभूत भक्ति-गीत तमिल में धार्मिक सम्प्रदायवाद की प्रथम सुदृढ़ अभिव्यक्ति बन गए। दोनों ही प्रकार की भक्तिपरक रचनाओं में *नयनारों* और *आलवारों* ने एक दूसरे की निंदा की और विभिन्न साधनों से यह दर्शाने का प्रयास किया कि उनके देवता दूसरे के देवता से श्रेष्ठ हैं।

भक्ति-गीतों में कुछ ऐसी अवधारणाओं का वर्णन किया गया जो पहले के गीतों में बिल्कुल भी नहीं मिलतीं। ये अवधारणाएं दोनों समुदायों के भावी धार्मिक विकास का आधार बनीं। ये अवधारणाएं इस प्रकार हैं:

1) अत्यधिक व्यक्तिगत धार्मिक मनोवृत्ति जो ईश्वर के साथ वैयक्तिक संबंध पर केंद्रित थी।

2) भक्ति-गीतों में समुदाय की प्रबल भावना को प्रस्तुत किया गया। स्पष्ट है कि *नयनार* और *आलवार* प्रमुख रूप से भक्तों के वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और भक्ति की अवधारणा के माध्यम से उन पर प्रभाव डालने का प्रयास कर रहे थे।

3) समुदाय की छवि जातीय स्तर-क्रम में भक्ति गायकों की मनोवृत्ति से जुड़ी हुई थी। इन प्रारंभिक संतों के भक्ति-गीतों में वैदिक ब्राह्मणों अर्थात चतुर्वेदियों के धार्मिक वर्चस्व के प्रति विरोध दिखाई देता है। जातीय स्तर-क्रम में अपनी उच्च स्थिति के अधिकार से इन चतुर्वेदियों का पूजा पर एकाधिकार था। संतों ने इस एकाधिकार की आलोचना की और जोर देकर कहा कि प्रत्येक की ईश्वर तक समान पहुंच होनी चाहिए चाहे उसकी जाति और आर्थिक स्थिति कुछ भी हो। भक्ति गायकों की गैर-ब्राह्मण पृष्ठभूमि ने ब्राह्मणों के वर्चस्व की धारणा के प्रति असहमति जताई। उदाहरण के लिए कुछ, *आलवार* और *नयनार* वेल्लाल (मुख्यतः किसान जाति के), निम्न जाति के गवैये, जनजातीय वंशों के सरदार आदि थे। परंतु इनमें कुछ संत ब्राह्मण थे और जातीय स्तरीकरण के विरुद्ध उनकी असहमति से ब्राह्मणों के बीच भी स्तरीकरण होने का पता चलता है।

4) परंतु यह जाति प्रथा को पूरी तरह नकारना नहीं था। यह केवल शैव संत थिरूनावुक्करकार (अप्पर/अप्पार के रूप में प्रसिद्ध) के भक्ति-गीतों में ही है जिसे जाति प्रथा को सीधे नकारने के रूप में पढ़ा जा सकता है (चम्पकलक्ष्मी, 1993, पृ. 145)। जाति-स्तरीकरण का विकल्प भक्तों की समुदाय की अवधारणा में दिया गया। भक्तों के इस समुदाय का हिस्सा बनने के लिए सबसे महत्वपूर्ण कसौटी ईश्वर के प्रति भक्ति थी और जाति प्रथा गौण थी। परंतु कभी भी जातीय स्तर को नहीं नकारा गया। गीतों में यह भी कहा गया कि शिव और विष्णु के प्रति भक्ति वैदिक पाठों से काफ़ी श्रेष्ठ है और चतुर्वेदी शिव या विष्णु के निम्न जाति के भक्तों से नीचे थे। साथी भक्तों के लिए नाम (हम) शब्द से अभिव्यक्त किया गया। *अतियार कुट्टम* (भक्त

समुदाय) में न केवल तमिल शैव शामिल थे बल्कि अन्य शैव सम्प्रदाय के अनुयायी भी जैसे – कपालिका और विरति भी शामिल थे जो अन्यथा घृणित समझे जाते थे।

5) तीर्थ यात्रा की अवधारणा ने समुदाय से संबंधित बोध को और गहरा किया। *नयनारों* के भक्ति-गीतों में 274 शैव स्थलों का उल्लेख है। उनमें से छह को छोड़कर सभी तमिल क्षेत्र में स्थित हैं। इन छह स्थलो में आंध्र में श्रीशैलम, कर्नाटक में गोकर्ण और उत्तरी-भारत में हिमालय पर्वत श्रृंखला में केदार, इंद्रनील, गौरीकुंड एवं कैलाश हैं। *आलवारों* ने 90 से अधिक स्थलों का चित्रण किया हालांकि परंपरागत वैष्णव तीर्थ स्थल 108 हैं जो बाद में विकसित हुए। इस मामले में ज़्यादातर तीर्थ-स्थल तमिल क्षेत्र में और शेष केरल, दक्षिणी आंध्र, कर्नाटक और उत्तरी-भारत के स्थलों जैसे – मथुरा, बद्रीनाथ, अयोध्या, नैमिषारण्य, द्वारका आदि में हैं।

14.5.3 शंकराचार्य और *अद्वैत* दर्शन (788-820 सी.ई.)

जहां एक ओर *नयनारों* और *आलवारों* ने व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक आधार वाले प्रचलित भक्ति आंदोलनों का प्रतिनिधित्व किया वहीं आठवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध *अद्वैत* दार्शनिक शंकराचार्य के अधीन *स्मार्त* नामक एक और धार्मिक परंपरा का विकास हुआ। *स्मार्त* परंपरा मुख्य रूप से *वेदों* और *उपनिषदों* के विश्लेषण एवं चिंतन पर आधारित थी और इसलिए बहुत ही सीमित सामाजिक आधार वाली अर्थात अधिकांशतः वैदिक ब्राह्मणों तक सीमित अत्यधिक बौद्धिक परंपरा थी। परंतु *अद्वैत* दर्शन ने ग्यारहवीं शताब्दी के बाद शैव सिद्धांतों और वैष्णव संतों जैसे रामानुज तथा माधवाचार्य के दर्शनों को प्रभावित किया। शंकराचार्य की विभिन्न जीवनियों से पता चलता है कि शंकर केरल के उत्तरी त्रावणकोर क्षेत्र के कलदी (Kaladi) के नम्बूदरी ब्राह्मण थे। छोटी उम्र में ही पिता की मृत्यु हो जाने के बाद वह साधु/संयासी बन गए। शंकर ने समूचे भारत की यात्रा की, *वेदांत* दर्शन के कई शास्त्रार्थ जीते और अपने विचारों का प्रचार किया। उनकी जीवनी के अनुसार उन्होंने बौद्ध संघ या मठ व्यवस्था से प्रभावित होकर सन्यासियों के लिए सन्यासी व्यवस्था का पुनर्गठन किया और अपने सिद्धांतों के अध्ययन एवं प्रचार के लिए कई मठ स्थापित किए। शंकर ने *वेदांत* सूत्रों, *भगवदगीता* और *उपनिषदों* पर कई पुस्तकें और टीकाएं लिखीं, ये सभी संस्कृत में थीं। उनका सबसे बड़ा योगदान बद्रायण/बादरायण के *ब्रह्मसूत्र* पर टीका थी जो उपनिषदिक चिंतन के विभिन्न सिद्धांतों को व्यवस्थित करने का महत्वपूर्ण प्रयास था। उनके कई शिष्य बने जिन्होंने *स्मार्त* परंपरा को आगे बढ़ाया। इस प्रकार शंकर का दर्शन मूलतः सन्यासपरक था जो अत्यधिक बौद्धिक एवं धार्मिक दर्शन था।

दक्षिण भारत में *स्मार्त* शब्द का अर्थ केवल पांच देवताओं की पूजा करना ही नहीं बल्कि शंकर के *वेदांत* दर्शन को अपनाना भी है। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार *स्मार्त* धर्म ने ऐसे धार्मिक मत एवं साधना का विकास किया जिसने शैव और वैष्णव सम्प्रदायवादियों को एक साथ जोड़ा, जैसा कि *नयनारों* और *आलवारों* के भक्ति-गीतों में परिलक्षित होता है। धार्मिक साधना *पंचायतन* पूजा अर्थात पांच देवताओं – शिव, विष्णु, शक्ति (मातृ-देवी), सूर्य एवं गणेश की पूजा के सिद्धांत पर आधारित है। यह पूजा देवी-देवताओं के प्रतीकों की सहायता से घर पर ही की जाती है (के. ए. नीलकंठ शास्त्री, *डेवलपमेंट ऑफ़ रिलीजन इन साउथ इंडिया*, मद्रास : ओरिएंट लौंगमेन, 1963, पृ. 61)।

शंकर के दर्शन की जड़ें *वेदांत* या *उपनिषदों* में पाई जाती हैं और यह बौद्ध धर्म का ब्राह्मणीय/संस्कृतीय विकल्प था। उनके अनुसार शिव और विष्णु दोनों ही सर्वोच्च ब्राह्मण या सर्वव्यापी परमात्मा थे। उन्होंने व्यवस्थित रूप से *उपनिषदों* की एकेश्वरवादी प्रवृत्ति का विकास किया जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि अविशिष्ट *ब्रह्म* ही निर्गुण *ब्रह्म* है। *ब्रह्म* विषय और वस्तु की द्वैतता से परे एक है और शाश्वत है। शंकर ने *अद्वैतवाद*

के अपने *अद्वैतिक* दर्शन में स्पष्ट किया कि ईश्वर, जीव और जगत माया के नियम के कारण भ्रम मात्र हैं। वास्तविक मुक्ति या मोक्ष केवल ज्ञान के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए शंकर ने सांसरिक जीवन का त्याग करने और सन्यासी जीवन-पद्धति को अपनाने की वकालत की। उन्होंने यह भी कहा कि ईश्वर के प्रति भक्ति और धर्मग्रंथों में वर्णित *वर्णाश्रमधर्म* (अर्थात जाति-व्यवस्था के नियम) का पालन *वेदांत* के अध्ययन की क्षमता अर्जित करने के लिए महत्वपूर्ण है। जैसा कि पहले ही कहा गया है कि शंकर के *अद्वैत* दर्शन ने ग्यारहवीं शताब्दी के बाद परवर्ती वैष्णव एवं शैव सिद्धांत को प्रभावित किया और संबंधित समुदायों के लिए एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक आधार बनाया (कौंडुरी सरोजनी देवी (1990), *रिलीजन इन विजयनगर एम्पायर*, नई दिल्ली : स्टर्लिंग प्रकाशन, पृ. 58-59)।

14.6 धार्मिक परंपराओं का गठन : 1000-1300 सी.ई.

नौवीं शताब्दी में चोल शक्ति के संगठित हो जाने से राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र तोंडइनाडु (जिसकी राजधानी कांचीपुरम थी) से स्थानान्तरित होकर चोलनाडु हो गया जिसकी राजधानी तंजावुर थी। पांड्य मदुरै से शासन करते रहे और चोलों का विशेष विरोध किया। चोल और पांड्य दोनों ने ही राजनीतिक एकीकरण के लिए *ब्रह्मदेयों* और मंदिरों का उपयोग करने की पल्लव व्यवस्था को जारी रखा। वर्ण-जाति के व्यापक सैद्धांतिक ढांचे के कारण *ब्रह्मदेय* और मंदिर दोनों ने ही समाज के विभिन्न वर्गों को एकीकृत किया। परंतु केवल मंदिर ही निम्नलिखित तीन प्रकारों से एकीकरण की महत्वपूर्ण संस्था बनकर उभरा :

1) मंदिरों में देवी-देवताओं को चढ़ावा चढ़ाने के अनुष्ठान ने राजनीतिक गठबंधन तंत्र का निर्माण किया। राजा मंदिरों को दान दिया करते थे जो बाद में धार्मिक सामान के रूप में, जैसे कि *प्रसादम* के रूप में, समाज में घूम-फिरकर वहीं आ जाता था और प्रायः बार-बार उसकी बिक्री होती रहती थी, इससे आर्थिक व्यापार चलता था। स्थानीय सरदार भी राजाओं को उपहार देते थे या राजाओं के नाम पर मंदिरों को दान देते थे और बदले में उपाधियाँ तथा सम्मान प्राप्त करके शाही गठबंधन तंत्र के सदस्य बन जाते थे। इस प्रकार इस दान कर्म ने राजनीतिक प्रयोजन से निष्ठाओं एवं गुटों का निर्माण किया और मध्यकालीन दक्षिण भारतीय राज्यों को राजनीतिक स्थिरता प्रदान की। परंतु कोई भी धार्मिक योग्यता/गुण/श्रेष्ठता की अवधारणा को नहीं नकार सकता जो दान कर्म का महत्वपूर्ण पक्ष थी।

2) इसके अलावा मंदिरों ने मध्यकालीन दक्षिण भारतीय राज्यों के लिए विभिन्न सामाजिक वर्गों को एक साथ लाकर 'वैचारिक माध्यम' भी प्रदान किया। *नयनारों* और *आलवारों* के भक्ति-गीतों में पहले ही स्वस्थानिक पंथों और पौराणिक धर्म के बीच संवाद का परिप्रेक्ष्य निर्मित किया जा चुका था जिसके माध्यम से स्वस्थानिक पंथों को मंदिर के ब्राह्मणवादी ढांचे के भीतर सार्वजनिक बनाया गया। राजनीतिक राजवंशों ने महसूस किया कि शैववाद और वैष्णवाद के भक्ति सम्प्रदाय अपनी व्यापक विचारधाराओं के कारण समाज को एकीकृत करने और राजनीतिक तंत्र को संगठित करने में प्रभावी सिद्ध होंगे। इसीलिए विरोध के तत्वों वाले प्रख्यात सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों ने अब सत्ता एवं प्रभुत्व की राजनैतिक विचारधारा को भी प्रभावित करना शुरू कर दिया था (आर. चम्पकलक्ष्मी, 1996)। परिणामस्वरूप, जो भक्ति-गीत शिव और विष्णु के विभिन्न रूपों की शक्ति और सामर्थ्य के काव्यात्मक वर्णनों से ओतप्रोत थे वे अब व्यापक मूर्ति पूजा के कई धार्मिक मंदिरों के निर्माण के लिए प्रेरणास्रोत बन गए। मंदिर की मूर्तियों में पौराणिक देवी-देवताओं के विविध सर्वव्यापी एवं नायकोचित चित्रण राजा की प्रतिमा और उसकी परम शक्ति से संबंधित थे।

3) मंदिरों ने शासकों, विशेष रूप से चोलों को, भी स्वयं में देवत्व अधिरोपित करने का अवसर प्रदान किया। चोलों ने अपने शासकों और शाही परिवार के सदस्यों की प्रतिमाओं का निर्माण कराया और उन्हें मंदिरों में प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं के साथ स्थापित किया। इसके अलावा, स्मारक मंदिरों का निर्माण शाही परियोजना का हिस्सा बन गया। ऐसे कई शाही मंदिरों का नाम उन चोल शासकों के नाम पर रखा गया जिन्होंने इनका निर्माण करवाया था। 1003 सी.ई. में राजराज महान (985-1014 सी.ई.) द्वारा तंजौर में निर्मित बृहदेश्वर मंदिर से इसी प्रवृत्ति का पता चलता है। राजराज की नई शाही शक्ति का प्रतीक 'राजनीतिक स्थापत्य कला' और मुख्य देवता शिव की प्रतिमा को चोल राजा के साथ एकीकृत कर दिया गया और उसे राजराजेश्वर कहा गया (केसवन वेलुथट, 1993, पृ. 30)। इस प्रकार मंदिर में धार्मिक एवं सांसारिक दोनों ही परिवेशों को देखा जा सकता है। परिष्कृत स्थापत्य कला वाले बड़े-बड़े मंदिर परिसरों में विविध देवी-देवताओं के माध्यम से सर्वेश्वरवाद की स्थापना में स्तरीकरण के अनुसार समाज के विभिन्न वर्गो के एकीकरण की प्रक्रिया परिलक्षित होती है। स्तरीकरण के शीर्ष पर शाही परिवार होता था और उसके बाद पूजा करने वाले धार्मिक दृष्टि से विशुद्ध ब्राह्मण पुरोहित होते थे। उनके बाद मंदिर के प्रशासन से जुड़े प्रशासनिक अधिकारी, प्रमुख किसान और व्यापारी वर्ग होते थे और सबसे अंत में मंदिर में सेवा कार्य करने वाले निचली श्रेणी के खेतिहर मजदूर, शिल्पकार और दास थे (आर. चम्पकलक्ष्मी, 1995, पृ. 309)।

ग्यारहवीं शताब्दी के अंत तक *ब्रह्मदेय* एकीकरण की संस्था के रूप में अपना महत्व खो देने के कारण धीरे-धीरे हाशिए पर चले गए। परिणामस्वरूप, मंदिर महत्वपूर्ण संस्था के रूप में उभरे जिनका धार्मिक समुदायों पर प्रभाव पड़ा। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के पांड्य एवं चोल अभिलेखों में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनमें *ब्रह्मदेयों* के गैर-ब्राह्मण गांवों में परिवर्तित हो जाने या उन्हें मंदिरों को *देवदानम* के रूप में दान दिए जाने का उल्लेख है।

14.7 सामाजिक-धार्मिक आंदोलन : आचार्यों की भूमिका

जैन एवं बौद्ध धर्म जैसे विधर्मिक पंथों से कोई चुनौती न मिलने के कारण नए धार्मिक समुदायों का ध्यान शाही संरक्षण और स्थानीय सरदारों का संरक्षण प्राप्त करके अपने संसाधन आधार को बढ़ाने पर केंद्रित हो गया। आचार्यों या विचारकों एवं धर्म शास्त्रियों ने *नयनारों* एवं *आलवारों* के विचारों को सुगठित किया। यह कार्य मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन प्रकारों से किया गया :

क) आचार्यों ने एक साहित्यिक परंपरा विकसित की जिसमें विभिन्न प्रकार के साहित्य – टीकाओं, संत चरित्र संग्रहों और मंदिर-संबंधी ग्रंथों जैसे *आगमों* – को समाहित किया गया। इन सभी रचनाओं में धार्मिक समुदायों की विचारधारा को अभिव्यक्त किया गया।

ख) आचार्यों ने संस्थागत ढांचा निर्मित करके समुदाय को संगठित किया। इसमें विभिन्न विशेषाधिकार प्राप्त करके, उदाहरण के लिए, अनुष्ठान करने का अधिकार प्राप्त करके मंदिरों में उनके आधार को मज़बूत बनाना शामिल था। एक और संस्थागत नव परिवर्तन मठों का अभ्युदय था जिन पर संभवतः *स्मार्त* परंपरा का प्रभाव पड़ा था।

ग) *नयनारों* और *आलवारों* के भक्ति-गीतों में जगह-जगह जाकर अभिव्यक्त तीर्थ यात्रा की अवधारणा को स्थानीय, क्षेत्रीय तथा अखिल-भारतीय संजाल के माध्यम से व्यापक बनाया गया। इस प्रकार समुदाय की सामूहिक चेतना को रूपायिकत किया गया।

14.8 वीरशैववाद

वीरशैववाद, जिसका शाब्दिक अर्थ वीरोचित शैववाद है, शिव की गहन एवं शर्तरहित भक्ति पर आधारित था। यह सामाजिक-धार्मिक आंदोलन तमिल *नयनारों* की भक्ति से प्रभावित हुआ जिन्हें वीरशैव गुरुओं का आध्यात्मिक गुरु कहा जाता था। वीरशैववाद को 'कर्नाटक में कालमुख सम्प्रदाय का सुधारवादी मत' भी माना जाता है (चम्पकलक्ष्मी, 1996, पृ. 159)।

इस आंदोलन का संस्थापक बसव को माना जाता है जो बारहवीं शताब्दी (1160 सी.ई.) में उत्तरी कर्नाटक में कल्याण के कलचुरी राजा बिज्जल/बिज्जाल के दरबार में मंत्री थे। कहा जाता है कि बिज्जल और बसव में बड़े मतभेद थे। 'कल्याण के संकट' के बाद वीरशैवों को विरोध का सामना करना पड़ा। अभिलेखों और साहित्य में भक्तों के उत्पीड़न के संबंध में साक्ष्य मिलते हैं। परन्तु दक्कन, विशेष रूप से उत्तरी कर्नाटक में, यादव नियंत्रण तथा दक्षिणी कर्नाटक में होयसल शासन की स्थापना के बाद वीरशैवों को काफ़ी शाही संरक्षण मिला। कर्नाटक में व्यापार का विकास होने से व्यापारियों और कारीगर समुदायों, विशेष रूप से *बणजिगों,* को काफ़ी समर्थन मिला। यह आंदोलन जैन धम्र के विरोध में था और बारहवीं शताब्दी के बाद भी चलता रहा और मुख्य रूप से कर्नाटक में जैन धर्म के पतन का कारण बना।

वीरशैव परंपरा के अनुसार वह समय इस समुदाय का प्राचीन उद्भव माना गया जब शिव के पांच सिरों से पांच सन्यासी पैदा हुए और उन्होंने पांच मठों की स्थापना की – हिमालय में केदारनाथ, आंध्र प्रदेश के कुरनूल/कुर्नूल जिले में श्रीशैलम, पश्चिमी मैसूर में बालेहल्ली (Balehalli), बेल्लारी में उज्जैन/उज्जयिनी और बनारस। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार साक्ष्यों से पता चलता है कि ये सन्यासी बारहवीं शताब्दी में बसव के समकालीन थे। प्रत्येक वीरशैव गांव में किसी न किसी सन्यासी का मठ है। चूंकि उन्होंने अधिकांश ब्राह्मणवादी प्रथाओं और मंदिरों जैसे संस्थागत संगठनों का खंडन किया इसलिए उन्होंने अपने पुरोहित बनाए जो *जंगम* कहलाए। *जंगम* गुरु या आध्यात्मिक गुरु हुआ करते थे और समुदाय में श्रद्धा के पात्र होते थे। उन्हें शिव का तदरूप माना जाता था। *जंगम* गृहस्थ और ब्रह्मचारी दोनों ही हुआ करते थे और वीरशैव मठों में रहते थे। ब्रह्मचारी *जंगम* दो प्रकार के थे। वीरशैवों ने मंदिरों में प्रतिष्ठित बड़े पाषाण लिंगों (स्थावर *लिंग*) की पूजा का खंडन किया। मंदिर और मंदिर-निर्माण को धनवानों का कार्य मानकर उसकी निंदा की गई। यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने वाले शरीर, विशेषकर गतिशील शरीर, के विरुद्ध स्थैतिक स्थिति का प्रतीक था इसलिए इस स्थैतिक स्थापना की निदा की गई। वीरशैव संत विविध गैर-ब्राह्मण पृष्ठभूमियों से आए थे। संतों को उस परम सत्ता से व्यक्तिगत रूप से संबद्ध निर्गुण भक्त माना जाता था जो शिव का नाम तो धारण कर सकते हैं परंतु गुण या मिथक नहीं रखते।

वीरशैवों के धर्मग्रंथों में *वचन* शामिल थे जो पूरी तरह कन्नड़ में होते थे। *वचन* कन्नड़ का धार्मिक गीत है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'कही हुई बातों को कहना' (ए. के. रामानुजन (1973), *स्पीकिंग ऑफ़ शिव,* बाल्टिमोर : पेंगुइन प्रकाशन)। दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक दासिमय्य (Dasimayya), बसव, अल्लामा और महादेवियक्का जैसे वीरशैव संतों के *वचन* प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इनमें से कोई भी ब्राह्मण नहीं था। ये संत संस्कृत परंपरा और धर्मग्रंथों से विमुक्त थे। यह बात बसव और अन्य वीरशैव संतों के *वचनों* में परिलक्षित होती है। ए. के. रामानुजन (1993) के अनुसार हालांकि *वचन* स्वतःस्फूर्त थे और उनमें औपचारिक शैली की ब्राह्मणवादी संस्कृत *श्रुति* एवं *स्मृति* साहित्य का खंडन किया गया था, परंतु उनमें 'संस्कृत शब्दों और यहां तक कि सामान्य संस्कृत उद्धरणों को भी अलग नहीं किया गया था। बल्कि वचनकारों ने संस्कृत का प्रयोग देशी भाषा कन्नड़ के विरोध में लालित्यपूर्ण एवं मिश्रित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया'।

वीरशैवों का बिल्कुल शुरूआत से ही व्यापक सामाजिक आधार था, उनके अनुयायी विभिन्न जातियों और वर्गों के थे। उनकी परंपराओं और अन्य शैव धार्मिक परंपराओं में संघर्ष हुआ। उनकी सामाजिक परंपरा में विधवाओं के पुनर्विवाह की वकालत की गई थी, रजस्वला महिलाओं पर कोई पाबंदी नहीं थी, अंतर्जातीय खान-पान की परंपरा थी, मृत्यु व्यक्ति के परिवार के लिए शुद्धिकरण का कोई अनुष्ठान नहीं होता था और वे मृत व्यक्ति को दफनाते थे।

वीरशैववाद के विकास के साथ ही इसी प्रकार की मान्यताओं वाले एक और आंदोलन का विकास एवं प्रसार हुआ। यह आंध्र (मुख्यतः कुडापाह [Cuddapah] और कुरनूल जिले) और कन्नड़ क्षेत्र (मैसूर) में *अराध्य/आराध्य* शैव आंदोलन था। यह आंदोलन मल्लिकार्जुन पंडित आराध्य द्वारा चलाया गया था जो बारहवीं शताब्दी में बसव के समकालीन थे। *आराध्य* संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है पूज्यनीय। इसके अनुयायी अधिकतर ब्राह्मण थे। वे अपने गले में लिंग के साथ-साथ जनेऊ भी पहनते थे। उन्होंने वीरशैव पूजा की पद्धतियों को तो अपनाया परंतु अन्य *लिंगायतों* के साथ खान-पान नहीं रखा और न ही *स्मार्तों* के साथ विवाह संबंध बनाए।

बोध प्रश्न 2

1) *संगम* साहित्य में भक्ति के विकास पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों को किस हद तक समकालीन सामाजिक संरचना के विरोध के रूप में इंगित किया गया है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

14.9 सारांश

इस इकाई में हमने प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय समाज के संदर्भ में समग्र दृष्टिकोण को देखा। हमने दक्षिण भारत में चौथी से छठी शताब्दी तक धर्म और भक्ति के विचारों के विकास का पता लगाया। हमने सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के लोकप्रिय भक्ति आंदोलनों का अध्ययन किया। बारहवीं शताब्दी ने धार्मिक समुदायों के विकास और निर्माण व उनसे संबंधित चेतना में एक महत्वपूर्ण चरण का प्रतिनिधित्व किया। भक्तों को प्राप्त और सम्मिलित करने के लिए एक कड़ी प्रतियोगिता आरंभ हुई। समुदायों के धर्मवैज्ञानिक/

आध्यात्म-विद्या संबंधी अभिविन्यास का उद्देश्य गैर-ब्राह्मणवादी तत्वों को शामिल करना था जिससे उनके संबंधित सामुदायिक संगठन का सामाजिक आधार व्यापक हो। शैव और वैष्णव परंपराओं ने अपने लोकप्रिय भजनों और गीतों से वैधता प्राप्त की तथा एक व्यापक आधार पाया। इस तरह के गहन धार्मिक विकास के बीच सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता आम हो गई, खासकर आर्थिक व राजनीतिक रूप से विभिन्न शक्तिशाली सामाजिक समूहों के संरक्षण पर प्रतिस्पर्धी नियंत्रण के संदर्भ में। चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य के प्रवास और स्थापना के साथ, बाद की अवधि में यह तथ्य और अधिक प्रतिबिंबित हुआ।

14.10 शब्दावली

अग्रहार : दक्कन क्षेत्र में ब्राह्मणों को राजा द्वारा भेंट की गई भूमि या गाँव।

आलवार : प्रारंभिक मध्ययुगीन दक्षिण भारत के वैष्णव संत-कवि।

ब्रह्मदेय : दक्षिण भारत में आम तौर पर राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दी जाने वाली भूमि।

लोकप्रिय भक्तिवाद : यहाँ हमारा मतलब ईश्वर के प्रति लोगों के विश्वास और प्रेम से है जो देश के विभिन्न हिस्सों में भक्ति पंथों व समुदायों के रूप में विकसित हुआ।

लिंग : भगवान शिव का एक पूज्यनीय प्रतीक।

नयनार : प्रारंभिक मध्यकालीन भारत के शैव संत-कवि।

तेवरम/थेवरम : दक्षिण भारतीय शैव भक्ति परंपरा के अंतर्गत भजनों का संग्रह।

तिरुमुराई/थिरुमुराई : दक्षिण भारतीय शैव परंपरा।

तिरुत्तोंदर-टोकई (*Tiruttondar-Tokai*) : सुंदरर/सुंदरार द्वारा रचित 62 *नयनार* संतों को सूचीबद्ध करने वाली कृति।

14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 14.2 देखें।

2) भाग 14.4 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 14.5.1 देखें।

2) उप-भाग 14.5.2 देखें।

14.12 संदर्भ ग्रंथ

चम्पकलक्ष्मी, आर. (1995). स्टेट एंड इकॉनॉमीः साउथ इंडिया. सिरका ए.डी. 400-1300. इन थापर, रोमिला (संपादित) *रीसेंट पर्सपेक्टिव्स ऑफ़ अर्ली इंडियन हिस्ट्री.* नई दिल्लीः पौपुलर प्रकाशन।

चम्पकलक्ष्मी, आर. (1996). फ्रौम डिवोशन एण्ड डिस्सेंट टू डौमिनेन्सः द भक्ति ऑफ़ द तमिल आलवार्स एण्ड नयनार्सः *चम्पकलक्ष्मी,* आर. व गोपाल, एस. (संपादित). *ट्रैडिशन, डिस्सेंट एंड आइडियोलॉजीः ऐस्सेज़ इन ऑनर ऑफ़ रोमिला थापर.* नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

डालमिया, वसुधा, मलिनार, एंजेलिका व क्रिस्टॉफ़, मार्टिन (संपादित) (2001). *करिज़्मा एंड कैनन : ऐस्सेज़ औन द रिलीजियस हिस्ट्री ऑफ़ द इंडियन सबकौन्टिनैंट.* नई दिल्ली :ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

नारायणन, एम. जी. एस. व वेलुथट, के. (1978). द भक्ति मूवमेंट इन साउथ इंडिया. इन मलिक, एस. सी. (संपादित). *इंडियन मूवमैन्ट्स : आस्पेक्ट्स ऑफ़ डिस्सेंट, प्रोटैस्ट एंड रिफ़ौर्म्स.* शिमला : इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ ऐडवांस्ड स्टडीज़.

नीलकंठ शास्त्री, के. ए. (1963). *डेवेलपमैंट ऑफ़ रिलीजन इन साउथ इंडिया.* मद्रासः ओरिएंट लौंगमैन.

इकाई 15 शिक्षा, बौद्धिक परम्पराएँ, विचार विमर्श एवं दर्शन*

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 धार्मिक शिक्षण और शैक्षिक संस्थाएँ

15.3 धर्मनिरपेक्ष शिक्षाएँ

15.4 दक्षिण भारत में भक्ति परंपराएँ

15.5 शंकराचार्य एवं वैष्णव आचार्यगण

15.6 शक्ति पंथ और नारित्व सिद्धांत का संयोजन

15.7 सारांश

15.8 शब्दावली

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.9 संदर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित जानकारी प्राप्त करेंगे:

- प्रारंभिक मध्यकाल में विभिन्न क्षेत्रों जैसे कि कश्मीर, बंगाल, तमिलाकम् आदि में हिंदू धर्म और विधर्मी संप्रदायों के पंथों और उप-पंथों का विकास कैसे हुआ;
- बंगाल में पाल शासन के दौरान वज्रयान बौद्ध धर्म, दक्षिण भारत में तमिल भक्ति परंपराएं और कश्मीर में शैव धर्म का उदय ;
- शक्तिवाद के तत्वों को अन्य पंथों और प्रथाओं में किस प्रकार आत्मसात किया गया ;
- किस तरह तमिलाहम् में तिनैं आदिवासी परंपराओं के शैव और वैष्णव भक्ति परंपराओं में बदलाव हुआ;
- शंकराचार्य और वैष्णव आचार्यों के दर्शन ने वेदान्त दर्शन को पुराणिक हिंदू धर्म से कैसे जोड़ा, जिससे हिंदू धर्म का पुनरुद्धार हुआ; तथा
- विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों ने विभिन्न धार्मिक परंपराओं के दर्शन के प्रसार में कैसे मदद की।

15.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में विचार और दार्शनिक विचार की प्रणाली मुख्य रूप से ब्रह्मांड विज्ञान (ब्रह्मांड की प्रकृति), तत्वमीमांसा (वास्तविकता की प्रकृति), तर्क, ज्ञान मीमांसा, नैतिकता, आदि की विभिन्न समस्याओं के चारों ओर घूमती थी। प्राचीन काल के दौरान दर्शन के

* डा. ऋचा सिंह, पी.एच.डी., जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

छह संप्रदाय अस्तित्व में आया, जिसमें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिका, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा शामिल हैं। उत्तर मीमांसा को आमतौर पर वेदांत के नाम से भी जाना जाता है। वेदांत एक सामान्य शब्द है और वेदांत में ही अलग.अलग संप्रदाय हैं। विचार या दर्शन की प्रणालियाँ, प्राथमिक ग्रंथों पर टिप्पणियों के माध्यम से निरंतर चर्चा और संवाद के माध्यम से प्राप्त हुई थीं। इसका उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति था। इसके परिणाम स्वरूप बहुतायत विभिन्न परम्पराएँ, विश्वासों और प्रथाओं का प्रादुर्भाव हुआ। भारतीय विचारधारा में उभरे दो व्यापक वर्गीकरण रूढ़िवादी और विधर्मी परम्पराएँ थीं। रूढ़िवादी परम्पराएँ वैदिक साहित्य पर आधारित थीं जबकि विधर्मिक परम्पराओं (बौद्ध धर्म, जैन धर्म, चार्वाक, अजीवक, आदि) ने वेदों के प्राधिकरण को अस्वीकार कर दिया था।

प्रारंभिक मध्यकाल तक एक ओर श्रमण धर्मों (बौद्ध धर्म और जैन धर्म) और दूसरी ओर हिंदू धर्म में विभिन्न परंपराओं और दार्शनिक प्रणालियों को शामिल किया जाने लगा। हिंदू धर्म के तीन मुख्य संप्रदाय थेः वैष्णववाद, शैववाद और शक्तिवाद और इन संप्रदायों के भीतर, कई उप-संप्रदायों का उदय हुआ। तमिलाहम में भक्ति परंपरा ने वैष्णव और शैव परंपराओं के विस्तार में मदद की। इस समय के आचार्यों ने वेदांत और पुराणिक परंपराओं के बीच एक स्पष्ट संबंध लाने और हिंदू धर्म को पुनर्जीवित करने में मदद की। दशावतार (विष्णु के दस अवतार) की धारणा काफी मानकीकृत/प्रचलित हो गई। हिंदू पंथ में स्वदेशी और आदिवासी देवी-देवताओं को आत्मसात किया गया। इन धार्मिक विकासों के फलस्वरूप अस्तित्व में आए शैक्षिक संस्थानों और साहित्यिक कृतियों ने हिंदू धर्म के दर्शन और प्रथाओं के प्रचार प्रसार में सहायता की।

15.2 धार्मिक शिक्षण और शैक्षिक संस्थाएँ

प्राचीन काल से, भारत शिक्षण का एक प्रमुख केंद्र रहा है। इसने विभिन्न जलवायु और क्षेत्रों के लोगों और तीर्थयात्रियों को अपनी ओर आकर्षित किया। इसके विपरीत, भारत के भिक्षुओं और विद्वानों ने अपनी शिक्षाओं के प्रसार के लिए विभिन्न स्थानों की यात्रा की। व्यापार एक अन्य विधा थी जिसके माध्यम से भारतीय बुद्धिजीवियों ने अपने अर्जित ज्ञान का प्रसार किया। शिक्षा मुख्य रूप से धार्मिक प्रकृति की थी। प्रारंभिक मध्ययुगीन दक्षिण भारत में, *अग्रहार, ब्रह्मपुरी, घटिकाएँ* ब्राह्मणवादी शिक्षा के मुख्य केंद्र बन गए। भूमि अनुदान से ब्राह्मणवादी शिक्षा के प्रचार को बढ़ावा मिला। इस तरह के अनुदान या तो एक ही ब्राह्मण को या कई ब्राह्मण परिवारों को दिया गया जिसे *ब्रह्मदेय* कहा जाता था। *घटिकाएँ* उच्च शिक्षा की संस्थाएँ थीं और बौद्धिक प्रवचनों और वाद-विवादों का केंद्र भी। *अग्रहार,* राजाओं या कुलीन परिवारों द्वारा गाँव या कस्बे या कई गाँवों को ब्राह्मणों को उनके भरण-पोषण के लिए आवंटित किया गया था। मंदिर भी शिक्षा सहित कई सुविधाओं के प्रदाता के रूप में उभर रहे थे। मठों को अक्सर मंदिरों से जोड़ा जाता था। शंकराचार्य ने कई मठ स्थापित किए। ऐसे शैक्षिक केंद्रों में, महाजन (ब्राह्मण शिक्षक) शतकर्म या छह कर्मों को करने के लिए जिम्मेदार थे। पाठ्यक्रम की योजना छात्रों की आवश्यकताओं और संस्थानों के दिशानिर्देश के अनुसार बनाई गई थी।

बौद्धों और जैनों में मठवासी (मठ संबंधी) संस्थान थे तथा शिक्षा प्रदान करने का माध्यम संस्कृत था। विभिन्न स्कूलों के बीच विचारों, चर्चाओं और संवाद का आदान-प्रदान मठवासी संस्थानों द्वारा किया गया था। इनमें वेदांत दर्शन सबसे आगे था। तमिल क्षेत्र में, जैन मठों को *पल्ली* कहा जाता था, जिसका मतलब है विश्राम स्थल। जैन भिक्षुगण बूढ़े होकर जीवन की सायंकालीन अवस्था में गुफाओं में शरण लेते थे जहां वे मृत्यु प्राप्त करने तक लोगों को शिक्षा प्रदान कराते थे। कुछ शिलालेखों से पता चलता है कि काजुगुमलाई पल्ली में 8 वीं और 12 वीं शताब्दी के बीच लगभग पंद्रह महिला शिक्षक और मठवासिनी अध्यापन

कार्य करती थीं। संभवतः, स्कूल और शिक्षा की अवधारणा इस क्षेत्र में प्रारंभिक तमिल जैनों से आई थी। कुड्डलोर में जैनियों का पाटलिपुत्र मठ था। *मत्तविलास प्रहासन,* पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम (571 से 630 सी.ई.) द्वारा लिखित एक संस्कृत नाटक है जिसमें कांची के पास एक समृद्ध बुद्ध मठ में बौद्ध तपस्वी और मठवासिनों का जिक्र (आख्यान) है। जब 642 में ह्वेन त्सांग ने कांचीपुरम का दौरा किया, तो उन्होंने देखा कि लगभग 100 संहराम या बौद्ध मठ और 10,000 बौद्ध पुजारी थे जो महायान बौद्ध धर्म का अध्ययन कर रहे थे। धर्मपाल (530 से 561 सी.ई.) कांचीपुरम के एक बौद्ध विद्वान थे जो बाद में नालंदा विश्वविद्यालय के प्रमुख बने।

हमारे कुछ प्रमुख विश्वविद्यालय भी हैं जो इस दौरान बौद्धिक गतिविधियों के प्रमुख केंद्र बन गए। यहाँ धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों प्रकार की शिक्षाओं को प्रोत्साहित किया गया था । वल्लभी विश्वविद्यालय की स्थापना गुजरात में लगभग 600 सी.ई. में मैत्रक वंश द्वारा की गई थी। कुमारगुप्त प्रथम (415 से 455 सी.ई.) द्वारा स्थापित नालंदा महाविहार में एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था जिसे धर्मगंज कहा जाता था। इससे जुड़ी कुछ प्रख्यात हस्तियों में आर्यभट्ट, ह्वेन त्सांग, आई त्सींग, संतरक्षिता (योगाचार माध्यमिका दर्शन के संस्थापक), नागार्जुन (महायान बौद्ध धर्म के माध्यमिक स्कूल के स्थापक), अतीसा दीपांकर आदि शामिल हैं। नालंदा विश्वविद्यालय में विस्तृत विषयों मसलन वेद, योगशास्त्र, युद्ध कला, ललित कला, राजनीति, खगोल विज्ञान, गणित और चिकित्सा की शिक्षा दी जाती थी। यह दुनिया के सबसे पुराने विश्वविद्यालयों में से एक था। ओदंतपुरी महाविहार बंगाल के पाल वंश के संस्थापक गोपाल प्रथम (750 से 770 सी.ई.) द्वारा बनवाया गया था। धर्मपाल (783 से 820 सी.ई.) नामक एक और पाल शासक ने विक्रमशिला महाविहार की स्थापना की। यहां पढ़ाया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण विषय वज्रयान बौद्ध धर्म था। इसने तिब्बत के साथ संपर्क बनाए रखा और तिब्बत के विद्वान यहां अध्ययन करने आए। 12वीं शताब्दी में, यह माना जाता है कि यहाँ लगभग 3,000 विद्वान अध्ययनरत थे। कई पांडुलिपियाँ संस्कृत में लिखी गईं और उनका तिब्बती में अनुवाद भी किया गया। अतीसा दीपांकर (980 से 1054 सी.ई.), पाल साम्राज्य का एक बौद्ध यहाँ का अध्यक्ष (विश्वविद्यालय के प्रमुख) था। उन्होंने आधुनिक बांग्लादेश में सोमपुर महाविहार की भी स्थापना की। एक तिब्बती बौद्ध विद्वान धर्मपाल ने 50 धार्मिक संस्थानों का निर्माण किया। बाद में 12 वीं शताब्दी के अंत में नालंदा, ओदंतपुरी और विक्रमशिला के महाविहारों को कुतुबुद्दीन ऐबक के एक सैन्य कमांडर बख्तियार खिलजी ने नष्ट कर दिया।

अपनी शिक्षाओं को फैलाने के लिए विद्वानों ने व्यापार मार्गों से आधुनिक नेपाल, तिब्बत, श्रीलंका, दक्षिण पूर्व एशिया और चीन का दौरा किया। वज्रबोधी (671 से 741 सी.ई.) चीन भ्रमण के पूर्व श्री विजय में पांच महीने रुके, जबकि तिब्बती सूत्रों के अनुसार आतिसा दीपांकर 12 साल तक वहां रहे। वे 1025 सी.ई. में वापस आए और फिर 1040 सी.ई. में नेपाल के रास्ते तिब्बत गए जहां उसने नेपाल के शासक अनन्तकीर्ति के पुत्र पद्मप्रभा को बौद्ध धर्म में परिवर्तित किया। पद्मसंभव (रिंपोचे) जो नालंदा में पढ़ाते थे, 747 सी. ई. में अपने राजा थि-सरोंग-डेट्सन के निमंत्रण पर तिब्बत गए जहाँ उन्होंने तांत्रिक बौद्ध धर्म की शुरुआत की।

प्रारंभिक मध्यकाल में कश्मीर भी शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया। उत्पल वंश के संस्थापक अवन्तिवर्मन (855 से 883 सी.ई.) के शासनकाल में एक प्रख्यात विद्वान आनंदवर्धन थे जिन्होंने संस्कृत में *ध्यानलोक* की रचना की थी। उन्हें कश्मीर में संस्कृत शिक्षण को पुनर्जीवित करने का श्रेय दिया जाता है। संस्कृत के कवि क्षेमेन्द्र (990 से 1070 सी.ई.) की रचनाओं में उपदेशात्मक (शिक्षाप्रद) ग्रंथ, भक्ति रचनाएँ, कविताएँ और व्यंग्य (जैसे कि गणिका का रखवाला) शामिल हैं। उन्होंने कविता में औचित्य की

अवधारणा अर्थात् कविता में गुण, रस, अलंकार, पद आदि के सही स्थान पर उपयोग की शुरुआत की। उन्होंने 27 विभिन्न प्रकार के औचित्य का उल्लेख किया है।

कश्मीर में इस दौरान शैव धर्म लोकप्रिय हो चुका था। वासुगुप्त (875 से 925 सी.ई.) नामक ऋषि द्वारा रचित *शिवसुतरानी* मानव चेतना की प्रकृति का वर्णन करती है और हमारे स्वयं के भीतर शिव के विलक्षण गुणों की प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन करती है। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज (975 से 1025 सी.ई.) ने इस पर एक संस्कृत टीका लिखी थी और आगे वसुगुप्त द्वारा मोक्ष या मुक्ति प्राप्त करने की बताई गई विधियों पर भी प्रकाश डाला। स्पंदकारिका में स्पंदन की प्रकृति, पहली कंपन या विस्फोटक स्पंदन का वर्णन है जो ब्रह्मांड और मानव शरीर दोनों की रचना का प्रणेता (अग्रदूत) है। *प्रतभिज्ञहृदयम्* में प्रत्यभिज्ञ का सार या शुद्ध संवेदन (अनुभूति) के ज्ञान के बारे में बताया गया है। प्रत्यभिज्ञ शिक्षालय की स्थापना सोमानंद ने की थी। इस अवधारणा का वर्णन उनकी कृति *शिवदृष्टि* में किया गया था जिसे बाद में उनके पुत्र उत्पलदेव ने विकसित किया था। अभिनवगुप्त ने इसे कश्मीर में शैव धर्म के अन्य स्कूलों के साथ एकीकृत किया। उनका काम भारत में उस समय दर्शनशास्त्र के मौजूदा स्कूलों के बारे में भी बताता है, जो यह दर्शाता है कि विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों और दार्शनिकों के बीच बौद्धिक संपर्क था और वे वर्तमान बौद्धिक रुझानों से अवगत थे।

कश्मीर के त्रिक शैववाद में तंत्र परंपराएं शामिल थीं। तंत्र और शैव धर्म पर कई ग्रंथ लिखे गए थे। *विज्ञान भैरव तंत्र* एक महत्वपूर्ण कृति है जिसमें ध्यान के उन 112 तरीकों के बारे में उल्लेख है जिसके बारे में माना जाता है की इसे शिव ने पार्वती को बताए थे। अभिनवगुप्त द्वारा लिखित *तंत्रलोक* सबसे लोकप्रिय कृतियों में से एक है जिसमें तंत्रगाम की सभी 64 तंत्र परंपराओं और लिंग, मंडल, मुद्रा, आदि के निर्माण से संबंधित कई अवधारणाओं की व्याख्या की गई है। इसी तरह, भक्ति परंपरा और मध्ययुगीन आचार्यों के वेदांत दर्शन ने धार्मिक साहित्यिक कृतियों के कोष का निर्माण किया। *नयनारों* और *आलवारों* के भजनों को एकत्र किया गया और ग्रंथों में संकलित किया गया। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और माधवाचार्य ने बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर टीकाएँ लिखीं। *आगम* नामक मंदिर ग्रंथों की रचना 5 वीं से 15 वीं शताब्दी सी.ई. के दौरान की गई थी जो शैव धर्म की कुछ शाखाओं जैसे कश्मीर शैव धर्म आदि के अनुयायियों के बीच लोकप्रिय हुआ। इसमें मंदिर निर्माण और मंदिर देवताओं की पूजा के विभिन्न पहलुओं के बारे में विस्तृत विवरण है। इस तरह के साहित्यिक कार्यों ने हिंदू धर्म के विकास को एक गति प्रदान की।

15.3 धर्मनिरपेक्ष शिक्षाएँ

धार्मिक शिक्षा के अलावा, धर्मनिरपेक्ष शिक्षाओं को भी प्रोत्साहित किया गया। गणित और खगोल विज्ञान नियमित विषय थे जो प्रारंभिक और उच्च स्तरों पर पढ़ाए जाते थे। हालाँकि, यह वह समय था जब कक्षाओं में किसी कारीगर, धातुविद् या फार्मासिस्ट को व्यावहारिक ज्ञान नहीं प्रदान किया जाता था लेकिन सैद्धांतिक ज्ञान प्रदान किया जाता था। उस समय के कुछ महत्वपूर्ण गणितज्ञ-खगोलशास्त्री महावीराचार्य, श्रीधर, आर्यभट्ट द्वितीय, श्रीपति और भास्कराचार्य (भास्कर द्वितीय) आदि थे।

महावीराचार्य (लगभग 800 से 870 सी.ई.), राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग (814 से 878 सी.ई.) के शासनकाल में एक जैन गणितज्ञ थे। जैन धर्म में, गणित और भौतिकी को चार अनुयोगों का एक हिस्सा बनाया गया था। उनका उद्देश्य जैन तत्वमीमांसा की व्याख्या करना तथा आत्मा की मुक्ति के लिए यथोचित मार्गदर्शन देना था। महावीराचार्य ने आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं को और विकसित किया। पहले ज्योतिष और

गणित को एक ही विषय के रूप में माना जाता था। महावीराचार्य ने दोनों को अध्ययन की विभिन्न शाखाओं के रूप में पहचाना। उन्होंने *गणितसार संग्रह* लिखा। भास्कराचार्य द्वितीय (1114 से 1185 सी.ई.) या भास्कर द्वितीय प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के सबसे महत्वपूर्ण गणितज्ञों में से एक थे। उनके प्रमुख कामों में *सिद्धान्त शिरोमणि* के चार खंड मसलन *लीलावती* (अंकगणित और माप से संबंधित), *बीजगणित अध्याय* (बीजगणित), *गणित अध्याय* (खगोल विज्ञान) और *गोलाध्याय* (खगोल विज्ञान) की रचना शामिल हैं।

सूर्य सिद्धान्त नामक कृति में उन्होंने अक्रस्त शक्ति (गुरुत्वाकर्षण का नियम) की अवधारणा को रखा है, अर्थात् पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल के बारे में उल्लेख किया है। बहुत पहले आर्यभट्ट, *आर्यभट्टियम्* में सूर्यकेन्द्रित सिद्धान्त एवं शून्य की अवधारणा को उजागर करने वाले पहले व्यक्ति थे। उन्होंने पृथ्वी अचल (अचल) है की प्रचलित धारणा को खारिज कर दिया। उन्होंने कहा कि पृथ्वी आकार में गोलाकार है और अपनी धुरी पर घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। उन्होंने पृथ्वी की परिधि की गणना की, पृथ्वी और चंद्रमा के बीच की दूरी बताई तथा सूर्य और चंद्र ग्रहणों के लिए वैज्ञानिक स्पष्टीकरण दिया। उनके निष्कर्षों को अन्य भारतीय गणितज्ञों जैसे ब्रह्मगुप्त, भास्कर प्रथम, महावीर आचार्य आदि तथा अरबों द्वारा भी विकसित किया गया था।

ब्रह्मगुप्त ने शून्य को संख्या पूर्णांक के रूप में परिभाषित किया। 9वीं शताब्दी में पूर्णांक अंकगणित को अरबों द्वारा अपनाया गया था। बीजगणित के जनक अल ख्वारिज़मी ने *किताब-अल-हिसाब अल-हिंदी* ('भारतीय गणना की पुस्तक') और किताब *अल-जाम 'वाल-तफ्रीक अल-हिसाब अल-हिन्दी* (' भारतीय गणित में जोड़ और घटाव') लिखा था। उन्होंने दशमलव प्रणाली के साथ पश्चिम में हिंदू-अरबी अंकों की शुरुआत की जो समय के साथ रोमन अंकों में बदल गई। अरबों ने इस संबंध में प्राप्त ज्ञान से लोगों के मार्गदर्शन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारतीय गणितज्ञों के विपरीत अरब गणितज्ञों जैसे अल ख्वारिज़मी और अल उक्लिदिसी (920 से 980 सी.ई.) ने शून्य को संख्या नहीं बल्कि एक खाली स्थान-धारक के रूप में माना। अरब जगत के माध्यम से भारतीय और अरबी ज्ञान को उत्तरी अफ्रीका और यूरोप तक पहुँचाया गया। उत्तरी अफ्रीका में, पीसा (1170 से 1250 सी. ई.) के लियोनार्डो पिसानो (फाइबोनैचि) ने उन पर महारत हासिल की और अपनी पुस्तक *लिबर अबची* में भारत की गणितीय परंपराओं का दस्तावेजीकरण किया। इस प्रकार, यह वह समय था जब गणित, ज्योतिष आदि के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण विकास हुए थे। इन क्षेत्रों में पूर्व के निष्कर्षों और उनके प्रसार पर आधारित टिप्पणियों और निष्कर्षों के परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में और अधिक विकास हुआ।

15.4 दक्षिण भारत में भक्ति परम्पराएँ

भक्ति शब्द का अर्थ अपने आराध्य देव की भक्ति है। यह अवधारणा बहुत पुरानी है इसके बारे में विस्तृत जानकारी ऋग्वैदिक काल से प्राप्त की जा सकती है। इसका संदर्भ *कथा, मुंडका* और *श्वेताश्वतार उपनिषदों, भक्ति सूत्र* यथा *नारद* और *सांडिल्य भक्ति सूत्र, भागवत पुराण* आदि में पाया गया है। लेकिन दीर्घकालीन इतिहास में इसका अर्थ, संदर्भ के अनुसार बदल गया। यह हिंदू धर्म में एक विशेष पंथ/संप्रदाय तक सीमित नहीं था। 19 वीं शताब्दी के पश्चिमी विद्वानों ने भक्ति को वैष्णववाद के साथ पूरी तरह से पहचाना। बाद के लेखन के साथ उनके सिद्धांत ने भक्ति को उनके सगुण देवता के प्रति पूर्ण समर्पण के रूप में वर्णित किया और उनके बीच विद्यमान द्वैत पर जोर दिया। लेकिन जब मध्यकाल में भक्ति आंदोलन उत्तर भारत में पहुंचा तो कबीर और नानक जैसे व्यक्तित्व निर्गुण भक्ति की बात करने लगे जो निर्वैयक्तिक/व्यक्तित्वविहीन और निर्गुण ब्रह्मन् (परम सत्य) पर केंद्रित थी। इस प्रकार इस अवधारणा को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया।

लेकिन इससे पहले कि हम तमिल भक्ति परंपरा के आगमन को समझें, हमें पहले इसके आगमन से पहले के परिदृश्य को संक्षेप में देख लेना चाहिए।

प्रारंभिक ऐतिहासिक अवधि के दौरान, *तमिलाहम* या *तमिलाकम्* (प्राचीन तमिल क्षेत्र) में आदिवासी राजनीति और परंपराएं थीं, जो कि तिनैं नामक पांच अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों से सम्बद्ध थीं। प्रत्येक *तिनैं* के अपने प्रमुख देवता, अनुष्ठान और संस्कार थे। उदाहरण के लिए, मुरुगन (युद्ध और विजय के देवता), *कुरुंजी* (पहाड़ियों) तिनैं में निवास करने वाले लोगों के मुख्य देवता थे तथा कोर्रवई (युद्ध की देवी) *पालैं* (शुष्क क्षेत्र) तिनैं क्षेत्र के संरक्षक देवता थे। *तिनैं* के निवासियों को वैदिक और ब्राह्मण रिवाजों के साथ-साथ श्रमणों के बारे में पता था, लेकिन स्थानीय परंपराओं का प्रमुख रूप से प्रचलन था।

तीसरी से छठी शताब्दी सी.ई. के दौरान, यह क्षेत्र एक बहुत ही महत्वपूर्ण बदलाव के दौर से गुजर रहा था। कलाभरों के आने के साथ ही श्रमण और ब्राह्मणवादी परंपराओं को महत्व मिलने लगा। इस संक्रमणकालीन चरण के दौरान पांच अलग-अलग *तिनैं* क्षेत्र आपस में जुड़े गऐ। *तिनैं* के स्थानीय देवताओं की पहचान पुराणिक देवताओं के रूप में हुई। कोर्रवई को दुर्गा के रूप में पूजा जाने लगा। शास्त्रीय या संगम युग में संगम साहित्य मुख्य रूप से धर्मनिरपेक्ष विषयों मसलन *अकम* (प्रेम की अंतरंग भावनाओं पर) और पुरम (युद्ध और वीरता पर) से संबंधित है। उत्तर *संगम* काल में, शास्त्रीय विषयों का विशेष रूप से एक नये सिरे से वर्णन किया गया था, विशेष रूप से विरह की अवधारणा के बारे में। विरह में प्रेमियों के बीच की जुदाई को दर्शाया गया है। भक्ति परंपरा में भक्त को अपने भगवान से अलग होने की पीड़ा महसूस होती है। *पुराण* देवताओं और मिथकों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करने व भजन गाने वाले भक्ति संतों के माध्यम से स्थानीकरण(एक स्थायी जगह देने संबंधी) किया गया था। बड़े पैमाने पर मंदिर निर्माण से भक्ति परंपरा के संस्थानीकरण में मदद मिली। भक्ति गीत तमिल संत-कवियों द्वारा रचे गए और गाए गए, जो या तो वैष्णव या शैव संप्रदाय के थे। वैष्णव भक्ति संत संख्या में 12 थे और उन्हें आलवार कहा जाता था जबकि 63 शैव संतों को नयनार के रूप में जाना जाता था। नयनार संतों के सभी भक्ति भजन बारह पुस्तकों में संकलित किए गए जिन्हें सामूहिक रूप से तिरुमुरई कहा जाता है। नाथमुनी (823 से 951 सी.ई.) ने आलवार संतों के 4,000 भजन एकत्र किए और *नलयिरा दिव्यप्रभंदम* को संकलित किया जिसे द्रविड़ वेद या पांचवा वेद भी कहा जाता है। संतों ने मोक्ष प्राप्त करने के लिए भक्ति गीतों का गायन करने की सलाह दी। ये भजन आज भी दक्षिण भारत के मंदिरों में गाए जाते हैं।

भक्ति संतों ने व्यक्ति के अपने आराध्य देव के प्रति पूर्ण समर्पण के भाव के बारे में उपदेश दिया। भगवान अपने भक्तों का ख्याल रखते हैं। उनकी करुणा, कृपा (दया) और दैवीय हस्तक्षेप उनके भक्त को इस सांसारिक दुनिया के मोहपाश से मुक्त कर देता है। भक्ति संत अपने को आराध्य देव की चरण धूली मानते हैं। सुंदरार, चार महान नयनार संतों में से एक थे जो अपने भजन में खुद को वान टोंटर कहते हैं, यानी शिव के एक उत्साही भक्त और भगवान के दोस्त के रूप में क्योंकि वे शिव की आराधना दोस्त के रूप में करते हैं। सखाभाव की यह अवधारणा नारद के *भक्तिसूत्र* और *भगवत पुराण* में व्यक्त की गई है। लेकिन यह दोस्ती असाधारण है। वह कभी-कभी शिव को पागल कहता है और कभी-कभी उन्हें पित्तन (परदादा) के रूप में संबोधित करता है। वे खुद को अतियरक्कुम अतियन (दासों का दास या नौकरों का नौकर) भी कहते हैं। वह अन्य संतों को सेवक मानता है और स्वयं को उनका सेवक मानता है। विष्णुचित्तन, विष्णु को अपना बच्चा मानते हैं। उन्होंने बुरी नजर से बचाने और देवता की रक्षा के लिए गीतों की रचना की। इसलिए, उन्हें सभी आलवारों में सबसे बड़ा और विष्णु से भी ज्येष्ठ माना जाता था और वे विष्णुचित्तन से पेरियालवर या ज्येष्ठ आलवार बन गए।

दूसरी ओर, कुछ भक्ति संतों द्वारा अपनी भक्ति को व्यक्त करने के लिए दुल्हन रहस्यवाद की धारणा का उपयोग किया गया था। नम्मालवार जिनके भक्तिपूर्ण भजनों को तिरुव्यमोली कहा जाता है, मधुरकवि नामक एक अन्य आलवार द्वारा संकलित किया गया था। उन्होंने खुद की कृष्ण के साथ प्यार करने वाली एक महिला के रूप में कल्पना की थी जिसने उन्हें त्याग दिया था। एकमात्र आलवार की महिला संत और पेरियालवर की दत्तक बेटी आन्डाल के भजन भी इस अवधारणा को दर्शाते हैं। उनकी रचनाओं में कामुक तत्वों की प्रमुखता है जिसमें वे विष्णु से शादी करने की अपनी लालसा व्यक्त करती हैं और अपनी पीड़ा और निराशा वशीभूत अपने आराध्य विष्णु के साथ शारीरिक मिलन की अटूट इच्छा रखती है। इन भक्ति संतों के भक्ति गीत में जुदाई और पीड़ा की बात की गई है। इसका प्रसंग आलवार भक्ति भजनों में खूब मिलता है किन्तु नयनारों के गीतों में इसके प्रसंग सीमित हैं। हालांकि, तमिल भक्ति परंपराओं में भक्ति के कुछ चरम रूप मसलन अपने को कोड़े से मारकर घायल करने या किसी और को घायल करके हिंसा का प्रदर्शन करना आदि के बारे में भी पता चलता है। सत्ती नयनार शिव या उनके भक्तों के बारे में बुरा बोलने वाले किसी की भी जीभ काट देते थे। शिकारी कणप्पा ने अपनी दोनों आँखें निकालकर शिव को अर्पित कर दी थी।

इसलिए, भक्ति संगीत मुख्यतः आत्म-समर्पण के सिद्धांत के बारे में है। इस अवधारणा ने 18वीं और 19वीं शताब्दी के बाद श्री वैष्णववाद (वैष्णववाद की एक शाखा) के दो उप-संप्रदायों तेनकलै और वतक्कलै संप्रदायों के बीच "अनुग्रह बनाम कर्म" पर एक गंभीर धार्मिक विवाद को जन्म दिया। तेनकलै संप्रदाय बिल्ली अर्थात् मर्जरैय्या की उपमा के माध्यम से इस बात पर जोर देता है कि भगवान आत्मा की उसी प्रकार से रक्षा करते हैं जैसे एक बिल्ली अपने बच्चों को सुरक्षित स्थान पर ले जाती है। चूंकि आत्मा पूरी तरह निष्क्रिय है इसलिए किसी का कर्म ज्यादा प्रभावी नहीं है। यह भगवान की कृपा है जो उसे बचाती है न कि उसके द्वारा किया गया कर्म। वतक्कलै संप्रदाय इस बात की पुष्टि करता है कि भगवान आत्मा को उस तरह से बचाता है जिस तरह से एक मादा बंदर अपने बच्चे को संभालती है। जिस तरह एक शिशु बंदर अपनी माँ के शरीर से लटकता रहता है, उसी तरह आत्मा को भी मोक्ष के लिए मेहनत करनी पड़ती है और इस तरह, वे मरकटन्याय में विश्वास करते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि तमिल भक्ति परंपराओं के अनुसार किसी के निजी आराध्य देवता से संपर्क करने के लिए अलग-अलग तरीके हैं, जिनकी परदादा, पुत्र, प्रियतम, या एक दोस्त (तोलन), आदि के रूप में कल्पना की जा सकती है। उनका भक्त अंतरंग और बहुत ही व्यक्तिगत है। भक्त के अपने देवता के साथ व्यक्तिगत संबंध पर जोर दिया जाता है। एक भक्त को तोंटर (तमिल "नौकर") या अतियन ("दास") के रूप में दर्शाया जाता है। एक वन टोंटर (कठोर सेवक) का मार्ग जिसने तप और त्याग का जीवन व्यतीत किया, जिसने अपने परिवार, बच्चों और स्वयं का बलिदान किया है, का पालन आम लोगों द्वारा नहीं किया जा सकता है। एक मेन्तोंटर या समर्पित दास का पंथ उनके लिए अधिक संगत/व्यावहारिक था जो समाज के भीतर रहते हुए भी सामाजिक मामलों से अलग थे। वह केवल अपने आराध्य देव के साथ और अन्य भक्तों के साथ अपने संबंधों से संबंधित थे। भक्त बनने से पहले, उसने सभी सामाजिक विशेषाधिकारों को त्याग दिया। मणिक्कवसागर, जो मदुरै में पांड्य शासक, वरगुनवर्मन द्वितीय (862 से 885 सी.ई.) के दरबार में मंत्री थे, ने अपनी सभी सांसारिक महत्वाकांक्षाओं का त्याग कर दिया था।

भक्ति भजनों में भी परस्पर संवाद होने के बारे पता चलता है। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल तक, केवल बौद्ध धर्म और जैन धर्म विधर्मी संप्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में बने रहे। दर्शन और धार्मिक पंथों के अलग-अलग स्कूल थे। और वे राज्य संरक्षण के लिए जमकर

स्पर्धा कर रहे थे, खासकर विधर्मी रूढ़िवादी परंपराओं के बीच दुश्मनी को हवा दे रहे थे। भक्ति संत बौद्ध धर्म और जैन धर्म के बारे में वास्तविक घृणा से बात करते हैं। अप्पार के भजन जो शैव धर्म में परिवर्तित होने से पहले खुद जैन थे, ने जैनों के विरुद्ध भावनाओं का प्रदर्शन किया। सुंदरार ने अपने भजनों में जैनों को गंदा माना। मणिक्कवसागर की रचनाएँ विधर्मी संप्रदायों की कठोर निंदा से परिपूर्ण हैं। अवमानना और शत्रुता केवल संतों के भजनों में स्पष्ट नहीं थी, लेकिन शासक भी उनके संरक्षण का जमकर विरोध करने लगे थे। जैन के रूप में महेंद्रवर्मा प्रथम के अप्पर के साथ संबंध शत्रुतापूर्ण थे, लेकिन जैसा कि वे अप्पार द्वारा शैव धर्म में परिवर्तित हुए थे, उनकी शत्रुता विधर्मी संप्रदायों पर निर्देशित थी। उन्होंने विधर्मी संप्रदायों (बौद्ध धर्म और जैन धर्म): कपालिका और पशुपति पर *मत्तविलास प्रहासना* नाम से एक व्यंग्य की रचना की थी।

इस वजह से, श्रमण विरोधी भावनाएं ब्रह्मणवादी परंपरा और श्रमणिक धर्मों के बीच की दुश्मनी को दर्शाती हैं जो इस समय तक तेज हो रही थीं। बौद्ध और जैन धर्म में इस बात पर जोर दिया गया कि निर्वाण या मोक्ष, अंत, पूरी तरह नकारने और त्याग के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन भक्ति परंपराओं का मानना है कि व्यक्ति अपने आराध्य देव के प्रति पूर्ण समर्पण, भक्ति और पूजा के माध्यम से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जैन धर्म की विशुद्ध रूप से बौद्धिक नैतिक अवधारणाएँ उन लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं कर सकीं जिनके लिए उन अवधारणाओं के साथ-साथ जैन तपस्या की आधिक्य भी अमूर्त लगती थी। बौद्धों और जैनों की यह सोच कि दुनिया दुख और इच्छा से भरी हुई है और बचपन, नारीत्व और मातृत्व के आकर्षण भी खो गए हैं को तमिल समाज ने दृढ़ता से अस्वीकार करते हुए असांसारिक कहा है। इसके विपरीत, तमिल भक्ति संतों ने अपने भजनों में मातृत्व और नारीत्व का खूब गुणगान किया है। नम्मलवार ने खुद को कृष्ण की महिला मित्र के रूप में प्रस्तुत कर भगवान के प्रति अपनी भक्ति व्यक्त करने का सबसे अच्छा तरीका माना था। हालाँकि, *पेरिया पुराणन्* में उल्लेख है कि नयनार संत कराइक्कल अम्मैय्यर ने अपना स्त्रीत्व त्याग दिया ताकि वह शिव की पूजा करने के लिए पूरी तरह से समर्पित हो सकें।

हालांकि, बौद्ध धर्म ने अपेक्षाकृत अपने विचारों, विश्वासों और प्रथाओं की अंतर्निहित एकता को बनाए रखा जिसने इसे धर्म के रूप में अधिक एकीकृत किया। बौद्ध धर्म में दर्शन के विभिन्न स्कूलों/संप्रदायों ने धीरे-धीरे तत्वमिमांसा की स्वयं की प्रणालियों को विकसित किया और विकास के एक अलग मार्ग को उकेरा। वे लोग जो आस्तिक बने रहे और *आत्मन* या *ब्रह्मन्* की उपनिषदिक अवधारणा में विश्वास करते रहे उन्होंने स्वयं की अलग-अलग सांप्रदायिक मान्यताएं और दर्शन की प्रणालियों को चुना। बौद्ध धर्म, जैन धर्म या ऐसे नास्तिक तत्वों (जैसा कि उन्हें कहा जाता था) के प्रभाव को जांचने के लिए यह महत्वपूर्ण था कि वैचारिक रूप से आस्तिकता के अंतर्गत सभी अलग-अलग पहचानों को एकजुट किया जाए। इस प्रकार, मध्ययुगीन आचार्यों ने इस दौरान हिंदू धर्म को पुनर्जीवित और पुनर्गठित करना शुरू किया। इसके बारे में विस्तार से आप आगे पढ़ेंगे।

बोध प्रश्न 1

1) शैक्षणिक संस्थानों और साहित्यिक कार्यों के विकास में प्रारंभिक मध्यकाल में विभिन्न धर्मों के योगदान क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भक्ति परंपरा के आगमन के साथ *तमिलाहम* कैसे बदल गया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15.5 शंकरचार्य एवं वैष्णव आचार्यगण

इस खंड में, आप वेदांत के विभिन्न स्कूलों/संप्रदायों के बारे में पढ़ेंगे जो प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के दौरान अस्तित्व में आए थे। अपने वेदांतिक दर्शन के माध्यम से, उन्होंने हिंदू धर्म की विभिन्न परंपराओं को एक साथ बुना। वेदांत के सभी स्कूल/संप्रदाय व्यक्ति के जीवन के लक्ष्य की बात करते हैं जिसे अंतिम सत्य का एहसास करना है। लेकिन उनके अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के तरीके अलग-अलग हैं। शंकराचार्य (788 से 820 सी.ई.) ने अद्वैत वेदान्त (गैर-द्वैतवाद) के दर्शन को प्रतिपादित किया। *उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र* और *भागवद गीता* पर उनकी टिप्पणी अद्वैत की अवधारणा को समझने में महत्वपूर्ण हैं। वह इस बात पर जोर देते हैं कि ब्रह्मन् परम वास्तविकता है और यह एकमात्र और एकमात्र वास्तविकता है। *ब्रह्मन्* को जानना एक बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि *ब्रह्मन्* को जानना *ब्रह्मन्* बनना है। इसे इंद्रियों के माध्यम से या शब्दों द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता है। यह निर्गुण *ब्रह्मन्* है। यह सत-चित-आनंद (शुद्ध अस्तित्व-शुद्ध चेतना-शुद्ध आनंद) है। यह ब्रह्मन् का कारण या निर्माता नहीं है। *ब्रह्मन्* की भांति सभी प्राणियों में परम शुद्ध आत्मा/चेतना, शुद्ध आत्मा के साथ ही रहती है और इसलिए, *ब्रह्मन्* और आत्मा एक शाश्वत वास्तविकता है।

दोनों एक ही सार हैं और कोई द्वैत नहीं है। दुनिया वास्तविक नहीं है, बल्कि माया (भ्रम) द्वारा निर्मित एक सापेक्ष वास्तविकता है, जो *ब्रह्मन्* में निहित रचनात्मक शक्ति है। आत्मा को मोक्ष या मुक्ति पाने के लिए अविद्या (अज्ञानता) और माया को आवरण की शक्ति (नकाब की शक्ति) और विक्षेप की शक्ति से दूर करने की आवश्यकता है जो व्यक्ति को शरीर, मन और बुद्धि से स्वयं की पहचान करने की शक्ति प्रदान करता है। इसके बाद स्वयं और *ब्रह्मन्* का द्वंद्व मिट जाता है। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन के विपरीत, रामानुज (1017 से 1137 सी.ई.) ने विशिष्ट अद्वैत दर्शन को विकसित किया। उनके अनुसार, *ब्रह्मन्* और *आत्मन्* वास्तव में एक जैसे नहीं हैं। *आत्मन् ब्रह्मन्* का हिस्सा है, लेकिन *आत्मन्* मोक्ष के बाद भी अपनी अलग पहचान रखती है।

यद्यपि शंकराचार्य *ब्रह्मन्* को निर्गुण के रूप में मानते थे, फिर भी उन्होंने *पुराणों* में वर्णित सगुण ब्रह्मन् को समर्पित स्तोत्र (काव्य) की रचना की। उन्होंने तंत्र पर भी लिखा। इस तरह, उन्होंने वैदिक हिंदू धर्म (जैसा कि उनका दर्शन वैदिक ज्ञान पर आधारित था) को पुराणिक परंपरा से जोड़ा। उन्होंने चार प्रमुख मठ भी स्थापित किए। उन्होंने आत्मा की अवधारणा के आधार पर बौद्ध और हिंदू धर्म के बीच के अंतर के बारे में बताया। बौद्ध धर्म में *आत्मन्* के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है जबकि हिंदू धर्म *आत्मन्* और *ब्रह्मन्* को मानता है और इसे समझने के लिए कि *आत्मन्* कैसे *ब्रह्मन्* को प्राप्त करता है, शंकराचार्य और अन्य मध्ययुगीन आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त विकसित किए। यह माना जाता है कि इन सभी प्रयासों ने हिंदू धर्म के भीतर विभिन्न पंथों और परंपराओं को पुनर्जीवित और एकीकृत करने का प्रयास किया, जिससे बौद्ध धर्म की लोकप्रियता में गिरावट आई।

वैष्णव आचार्यों ने आगे चलकर तमिल आलवार भक्ति परंपरा को लोकप्रिय बनाया। रामानुज, अंडाल के बड़े भाई बन गए क्योंकि उन्होंने अंडाल की मन्नत पूरी की थी। रामानुज के काल में आलवार के संत-कवियों की जीवनी पूरी की गई और उनके भजन वैदिक रूप से पूजा का हिस्सा बन गए थे। प्रत्येक आलवार संत विष्णु के किसी न किसी रूप में अवतरित हुए थे। पेरियालवार को विष्णु का वाहन (सवारी) गरुड़ का अवतार माना जाता है। आंडाल भूदेवी या भूमिदेवी के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हुईं। उनके जन्मस्थान, श्रीविल्लिपुथुर में आंडाल न की लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी के रूप में पूजा जाता है। बाद में, आंध्र क्षेत्र पर विजय प्राप्त करने के बाद विजयनगर शासक कृष्णदेव राय ने विष्णु और आंडाल के बारे में तेलुगु में *अमुक्तमाल्यद* नामक महाकाव्य की रचना। इस महाकाव्य के शीर्षक का अर्थ है ''अपनी स्वयं की माला का दाता'', विष्णु के प्रति अपनी श्रद्धा व भक्ति के वशीभूत होकर विष्णु को अपनी माला अर्पित करना। इसलिए रामानुज जो एक वैष्णव थे, ने वैष्णव अध्यात्मविद्या और विष्णु की लोकप्रिय पूजा को वेदांत दर्शन के साथ जोड़ दिया। रामानुज की तरह, अन्य वैष्णव आचार्यों जैसे निम्बकाचार्य, माधवाचार्य और वल्लभाचार्य ने भी वैष्णव पंथ और भक्ति परंपरा में योगदान दिया और वैदिक ज्ञान के साथ *पुराण* के तत्वों को भी जोड़ा।

15.6 शक्ति पंथ और नारित्व सिद्धांत का संयोजन

शक्ति पंथ की जड़ें सिंधु घाटी सभ्यता से जुड़ी हैं जहां देवी की पूजा प्रतीकात्मक और मूर्तीरूप, दोनों रूपों में प्रचलित थी। शक्तिवाद की उत्पत्ति का प्राचीन ब्राह्मणवाद से कोई संबंध नहीं है क्योंकि यह वैदिक काल से पूर्व से है और मूल तत्वों में यह वैष्णववाद एवं शैववाद से अलग है। वैदिक धर्म में देवियों को वो प्रधानता नहीं दी गई थी जो देवताओं को दी गयी है। देवियों को एक अधीनस्थ भूमिका दी गई थी और देवियों की संख्या कम थी। धीरे-धीरे, शक्तिवाद ने ब्राह्मणवादी परंपरा के दर्शन को शामिल किया, लेकिन साथ ही, इसने अपनी कुछ विशेषताओं को बनाए रखा और अन्य पंथों और प्रथाओं के दर्शन को आकार दिया। शक्तिवाद पर *देवी महात्म्य, देवी भागवत पुराण, कलिका पुराण, त्रिपुर उपनिषद* और *शक्ति उपनिषद* कुछ महत्वपूर्ण स्रोत माने जाते हैं।

महायान बौद्ध धर्म के उद्भव के साथ, बोधिसत्व की अवधारणा को एक नया अर्थ मिला। बौद्ध धर्म के थेरवाद में, बोधिसत्व एक व्यक्ति है जो मोक्ष प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर है, जबकि महायान परंपरा में, वह एक प्रबुद्ध व्यक्ति है जो अपने निर्वाण (मोक्ष) की अवधारणा त्याग देता है ताकि बुद्धत्व और निर्वाण प्राप्त करने एवं दुख और सांसारिक (मृत्यु और पुनर्जन्म) चक्र से मुक्त होने में अन्य प्राणियों की मदद कर सके। इस अवधारणा के साथ, बौद्ध धर्म में शाक्ति तत्व भी महत्वपूर्ण हो गए। उदाहरण के लिए, अवलोकितेश्वर (अनंत करुणा और दया का बोधिसत्व) का स्त्री प्रतिरूप देवी तारा है जिसे ज्ञान का अवतार माना जाता है। उन्हें प्रज्ञापरमिता भी कहा जाता है। ज्ञान के अवतार मंजुश्री देवता भी लक्ष्मी या सरस्वती अथवा दोनों को अपनी पत्नी मानते हैं।

लगभग छठी या सातवीं शताब्दी में वज्रायण (जिसका अर्थ है वज्र वाहन) बौद्ध धर्म की स्थापना हुई। यह पूर्वी भारत में लोकप्रिय हो गया और पाल शासकों के अधीन संहिताबद्ध/ सम्बद्ध हो गया। इसमें तांत्रिक घटकों की उपस्थिति के कारण इसे तांत्रिक बौद्ध धर्म भी कहा जाता है।

हीनयान में निर्वाण का मार्ग आत्म-अनुशासन और ध्यान द्वारा स्वयं के अस्तित्व से मुक्त (मोक्ष) होने को बताया गया है। महायान में दिव्य बुद्ध और बोधिसत्व अनुयायियों को निर्वाण प्राप्त करने में मदद करते हैं जबकि वज्रयान अपने अनुयायियों को ज्ञान प्रदान

करने के लिए एक तेज और अधिक प्रभावी मार्ग प्रदान करता है और वह है कि जादुई शक्ति, वज्र, को प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। महायान बौद्ध धर्म की तरह, वज्रयान भी बोधिसत्वों की भूमिका पर जोर देता है और बोधिसत्व देव समूह का विस्तार करता है। देवियां धीरे-धीरे इस पंथ का भाग बन गई। इनमें तारा और चक्रेश्वरी प्रमुख देवियाँ थीं। बाद में बुद्ध और बोधिसत्वों की ये देवियाँ पत्नी या शक्ति के रूप में उभरी। पिशाची (राक्षसिनी), योगिनियां (जादूगरनी) और मतंगी (बहिष्कृत महिला) को कम प्रभावी देवी माना जाता था।

वज्रयान तेजी से एक जटिल दार्शनिक और अनुष्ठान प्रणाली में विकसित हो गया, जिसमें मंत्र (रहस्यवादी शब्दांश), मंडल (अनुष्ठानिक वृत्त), यन्त्र (जादुई आरेख), धरणी (मंत्र) आदि शामिल थे। यौन प्रतीकवाद और संघ इसके धार्मिक संस्कार का एक हिस्सा बन गया।

वज्रायण में देवताओं से संपर्क देवियों द्वारा किया जाता था जिन्हें मनाने के बजाय मजबूर किया जाना चाहिए और इसलिए विस्तृत अनुष्ठान निर्धारित किए गए थे और अनुष्ठान परंपराओं की शिक्षा देने के लिए धार्मिक शिक्षकों/गुरुओं की आवश्यकता पड़ी। वज्रयान तिब्बत पहुंचा और वहां बहुत लोकप्रिय हुआ। तिब्बत में, एक गुरु को *लामा* कहा जाता है। प्रसिद्ध सदक्षर/पवित्र शब्द, "ओम मणि पद्मे हूँ.." (कमल के फूल पर विराजमान देवता की जय) तिब्बती वज्रयान का महान मंत्र है। यह यौन और रहस्यमय धारणाएं मसलन बुद्ध और उनकी शक्ती के बीच या अवलोकितेश्वर और तारा के बीच के मिलन से संबन्धित है। वज्रयान में यह माना गया है कि दुनिया पुरुष और नारी सिद्धांत के परस्पर मिलन से बनी है।

शक्ति अध्यात्म में देवी को परम वास्तविकता के रूप में दर्शाया गया है। उसे सर्वोच्च देवता माना गया है। उन्हें अनेक देवियों के रूप में दर्शाया गया है और सभी में सर्वोच्च देवी का अंश विद्यमान है। उन्हें गतिशील ऊर्जा के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाता है। उन्हें अस्तित्व के रचनात्मक सिद्धांत के रूप में देखा गया है। नारी सिद्धांत के बिना सृष्टि की रचना असंभव है। शक्तिवाद में पुरुषों के अस्तिव को नकारने संबंधी विचारधारा को अस्वीकार किया गया है। नारी की सर्जनात्मक ऊर्जा पुरुषों के सर्जनात्मक ऊर्जा के साथ मिलन के बगैर अक्षम है।

शक्ति के बिना शिव एक शव की तरह हैं। पुरुष और महिला को अन्योन्याश्रित और अविभाज्य वास्तविकताओं के रूप में माना जाता है। यह दर्शन शैव धर्म में अर्धनारीश्वर की प्रतिमा द्वारा अच्छी तरह से दर्शायी गयी है जहाँ शिव की छवि को आधी स्त्री के रूप में दर्शाया गया है। अर्धनारी की व्याख्या 'प्रकृति' (एक मौलिक रचनात्मक या प्राकृतिक शक्ति) के रूप में की जाती है। अर्धपुरुष की पहचान 'पुरुष' के रूप में की जाती है, जो कि वास्तविकता का आध्यात्मिक सार है जो प्रकृति को कई रूपों में विकसित करता है। मूर्ती को शिव के रूप में पहचाना जाता है न कि देवी के रूप में। देवताओं को उनकी शक्ति से संपन्न माना गया है और इसलिए उनका एक रूप स्त्री का भी है। हालांकि ऐसी कोई देवी नहीं है जिनका कोई नर रूप हो। अर्धनारीश्वर की कल्पना में संलयन/विलयन न तो सहचरी (जैसा कि उमा-महेश्वर की प्रतिमा में देखा गया है) की अवधारणा के अनुरूप है और न ही लैंगिक समानता की अवधारणा से।

शैववाद का शक्तिवाद से जुड़े शक्तिपीठ से संबंधित मिथकों के द्वारा संयोजन किया गया है। महाकाव्य और *पुराण* परंपराओं में सती के आत्म-यज्ञ की बात की गई है, जो कि शिव की पत्नी है और उनके अंग भारत के विभिन्न हिस्सों में गिरे जिन्हें 51 शक्तिपीठों के रूप में मान्यता दी गई थी।

इस परिप्रेक्ष्य में यह महत्वपूर्ण है कि इसने शक्तिवाद से जुड़े पवित्र भौगोलिक विस्तार को किस प्रकार प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे, शक्ति पंथ के उदार के साथ-साथ उग्र पहलुओं (जैसे दुर्गा, महिषासुरमर्दिनी, आदि) को शैव धर्म में समाहित कर लिया गया।

शक्तिवाद के तत्व वैष्णववाद में भी दिखाई देने लगे। गुप्त काल की शुरुआत से, वैष्णववाद में नारी सिद्धांत को विष्णु की पत्नी लक्ष्मी या श्री के रूप में दर्शाया गया था। तमिल क्षेत्र में, आंडाल, एक आलवार महिला संत, जिसने विष्णु को समर्पित अपने भक्ति भजनों में कामुकता का खुल कर प्रदर्शन किया था, माना जाता है कि उनका विवाह विष्णु से हुआ था। श्रीविल्लिपुत्तुर के आंडाल मंदिर में, उन्हें विष्णु की पत्नी के रूप में पूजा जाता है। उनके भक्ति गीतों में परिलक्षित वैवाहिक रहस्यवादी चिंतन की अवधारणा को बाद में राधा को कृष्ण के दिव्य साथी के रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त किया गया था। जैन धर्म ने भी शक्ति पंथ के प्रभाव के आगे कुछ हद तक अपने घुटने टेके थे। शक्तिवाद की अवधारणा को हालांकि महिला रचनात्मक सिद्धांत के रूप में शामिल किया गया था, इसे एक पूरक भूमिका दी गई थी। देवियां एक ऐसा माध्यम बन गई जिसके माध्यम से देवताओं से संपर्क किया जा सकता था। शैव मत में स्त्री सिद्धांत की धारणा वैष्णववाद की तुलना में अधिक स्पष्ट थी।

बोध प्रश्न 2

1) शंकराचार्य के दर्शन पर एक नोट लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) बताइए कि शुरुआती मध्यकाल में महिला रचनात्मक सिद्धांत की अवधारणा ने अन्य धार्मिक पंथों और संप्रदायों को कैसे प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

15.7 सारांश

इस अवधि में धार्मिक संप्रदाय और दार्शनिक परंपराओं में वृहत विविधता देखी गई। गूढ़ वैचारिक मतभेद और राज्य संरक्षण प्राप्त करने की दौड़ आदि के मुद्दों ने विशेष रूप से *तमिलाहम्* क्षेत्र में टकराव को जन्म दिया। भक्ति परंपरा ने पुराणिक मिथकों को स्थानीय बनाने और विभिन्न *तिनैं* क्षेत्रों के स्थानीय देवताओं को आत्मसात करने में मदद की। आचार्यों ने अपने वेदांत दर्शन को पुराणिक देवताओं से जोड़ा और हिंदू धर्म को अधिक से अधिक जनमानस से जोड़ा जिसने विभिन्न पंथों और प्रथाओं के एकीकरण और हिंदू धर्म के पुनरुद्धार और विस्तार में प्रभावी रूप से मदद की। इसके परिणामस्वरूप नास्तिक संप्रदायों की लोकप्रियता में गिरावट आई।

15.8 शब्दावली

निर्गुण : हिंदू धर्म में, परम वास्तविकता को *ब्रह्मन्* के रूप में माना जाता है। विचारधारा के दो स्कूल हैं, निर्गुण और सगुण, जो *ब्रह्मन्* की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं। निर्गुण विचारधारा के लोगों की मान्यता है कि ब्रह्मन् का कोई रूप या आकार नहीं है और न ही कोई गुण है।

पुराणिक हिंदू धर्म : पुराणिक हिंदू धर्म त्रिमूर्ति (तीन प्रमुख देवताओं) की अवधारणा से संबंधित जिसमें ब्रह्मा (निर्माता), विष्णु (रक्षक) और शिव (विनाशक) के रूप मैं जाने जाते हैं। भक्ति इसका एक अभिन्न हिस्सा है।

सगुण : सगणु अवधारणा वालों का मानना है कि ब्रह्मन् का एक रूप और उनके खास गुण हैं जिसे विभिन्न देवी और देवता के रूप में दर्शाया गया है

15.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 15.2 देखें।

2) भाग 15.4 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 15.5 देखें।

2) भाग 15.6 देखें।

15.10 संदर्भ ग्रन्थ

बनर्जी, जे. एन. (1966). *पुराणिक एंड तांत्रिक रेलिजियन.* कलकत्ताः युनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता.

भंडरकर, आर. जी. (1938). *वैषनज्मि, शैविज्म एंड अदर माईन रेलिजियस सिस्टम्स.* पूनाः भंडरकर ओरिंटल रिसर्च इंस्टीटयूट.

चंपकलक्षमी आर. (2011). *रेलिजियन, ट्रडिशन एंड आईडियोलोजी इन प्री-कोलोनियल साऊथ इंडिया.* नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस.

देहेजिया, विद्या (1988). *स्लेवस ऑफ द लॉर्ड : द पाथ ऑफ द तमिल सेंट्स.* नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहरलाल.

शर्मा, कृष्णा (1987). *भक्ति एंड द भक्ति मूवमेंट. ए न्यू पर्सपेक्टिव, ए स्टडी इन द हिस्ट्री ऑफ आईडियास्.* दिल्लीः मुंशीलाल मनोहरलाल.

वरदचारी, के. सी. (1966). *अलवार्स ऑफ साऊथ इंडिया.* बॉम्बे : भारतीय विद्या भवन.

वेलुथट, केसवन (1979). द टेंपल-बेस ऑफ द भक्ति मूवमेंट इन साऊथ इंडिया. *प्रोसीडिग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस.* इंडियन हिस्ट्री कॉंग्रेस. https://www. jstor.org/stable/44141959

इकाई 16 भाषाएँ और साहित्य*

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 संस्कृत साहित्य

- 16.2.1 काव्य साहित्य
- 16.2.2 विधि साहित्य
- 16.2.3 वैज्ञानिक कृतियाँ
- 16.2.4 धार्मिक कृतियाँ

16.3 क्षेत्रीय भाषाएँ

- 16.3.1 क्षेत्रीय भाषाओं के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि
- 16.3.2 हिंदी
- 16.3.3 तमिल
- 16.3.4 कन्नड़
- 16.3.5 तेलुगू

16.4 सारांश

16.5 शब्दावली

16.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.7 संदर्भ ग्रन्थ

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको निम्न जानकारियाँ प्राप्त होंगी :

- इस काल अवधि में संस्कृत में रचित कृतियों की गुणवत्ता में हुए ह्रास की समीक्षा;
- निम्नलिखित श्रेणियों में कुछ उल्लेखनीय संस्कृत कृतियों का विकासः काव्य, विधि पुस्तकें, वैज्ञानिक ग्रंथ और धार्मिक रचनाएँ;
- उत्तर भारत में क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्य के विकास के लिए जिम्मेदार कारक; और
- दक्षिण भारत में भाषाओं और साहित्य का विकास।

16.1 प्रस्तावना

साहित्य की दृष्टि से 750 से 1206 सी.ई. के बीच की अवधि को भारतीय इतिहास के सबसे उत्पादक और रचनात्मक कालों में से एक माना जाता है। शाही दरबारों के संरक्षण में कई साहित्यिक कृतियों की रचना की गई। पूर्व काल की तरह साहित्य में संस्कृत का महत्व बरकार रहा। यह दरबारी कवियों की पसंदीदा भाषा थी। इसके साथ ही स्थानीय भाषाओं में ग्रंथों की रचना करने के अभ्यास ने गति पकड़ी। जबकि तमिल भाषा के ग्रंथों के बारे में 300 बी.सी.ई. से ही ज्ञात है, पहली बार कन्नड़ और तेलुगू की क्षेत्रीय भाषाओं

* डॉ. आवंतिका शर्मा, सहायक प्राध्यापक, आई.पी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय। इस इकाई के कुछ भाग ई.एच.आई.–03, खंड 8, इकाई 33 से ग्रहित हैं।

में साहित्यिक ग्रंथों की रचना देखी गई। इस प्रकार, शेल्डन पोलोक (2006) ने इसे एक परिवर्तनकारी चरण माना है। यह वह समय था जब संस्कृत की गौरवपूर्ण साहित्यिक स्थिति को स्थानीय भाषाओं द्वारा चुनौती दी गई।

इस अवधि के साहित्य के बारे में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि हमें उस समय के कवियों के संरक्षक व उनके काल अवधि की निश्चित जानकारी मिलती है। पहले की अवधि में बहुत कुछ जानकारियाँ अटकलों पर आधारित थीं। उदाहरण के लिए, हमारे पास वास्तव में कालिदास या भास के जीवन एवं शाही दरबारों द्वारा उनको प्रदत्त संरक्षण की अवधि के बारे में निश्चित जानकारी नहीं थी। लेकिन इस अवधि में महत्वपूर्ण कवियों, उनके कार्यों और उनके संरक्षकों के संबंध में अधिक निश्चित जानकारी उपलब्ध है।

16.2 संस्कृत साहित्य

इस काल के संस्कृत ग्रंथों को साहित्य, वैज्ञानिक ग्रंथों, विधि पुस्तकों और धार्मिक ग्रंथों में बांटा जा सकता है। इस अवधि में रचित कानून की पुस्तकों और धार्मिक ग्रंथों का अभी भी आधुनिक हिंदू समाज पर व्यापक प्रभाव है। इन रचनाओं में अभिजात वर्ग की भाषा का प्रयोग किया गया था क्योंकि यह मुख्य रूप से दरबारों से जुड़ी हुआ थी। दाउद अली (2014) के अनुसार संस्कृत गुप्त और उत्तर-गुप्त काल (350 से 750 सी.ई.) के दौरान काफ़ी प्रचलित थी। उस समय यह एक आम राजनीतिक संस्कृति की लोकभाषा के रूप में उभरी। इसी तरह की स्थिति राष्ट्रकूटों, गुर्जर-प्रतिहारों, पालों, चोलों, पश्चिमी चालुक्यों, परमारों और चंदेलों की दरबारों में भी बनी रही। इन शासकों ने अपने दरबार में कवियों को संरक्षण दिया और कभी-कभी महान ग्रन्थों की भी रचना की ।

सामान्यतः यह माना जाता है कि सल्तनत काल में राजा के संरक्षण की कमी की वजह से संस्कृत साहित्य की स्थिति में गिरावट आई। हालांकि यह सच है कि फारसी संस्कृत की जगह राजभाषा के रूप में प्रतिस्थापित हुई लेकिन संस्कृत साहित्यिक कृतियों के रचना लेखन में कोई ज़्यादा मात्रात्मक गिरावट नहीं आई। यह अवधि संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं जैसे काव्यात्मक कथा (काव्य), धर्म और दर्शन, व्याकरण, नाटक, कहानियों, चिकित्सा, खगोल विज्ञान, टिप्पणियों और विधि पुस्तकों के संकलन (धर्मशास्त्र) तथा अन्य शास्त्रीय संस्कृत की साहित्यिक रचना के लिए जाना जाता है। कई राजाओं, विशेषकर दक्षिण भारत और राजस्थान के राजाओं ने संस्कृत के कवियों को संरक्षण देकर संस्कृत के शासकीय/आधिकारिक संरक्षण की कमी को पूरा किया। एक ओर तो संस्कृत में बड़े पैमाने पर रचनात्मक कार्य जारी रहे किंतु दूसरी ओर इन रचनाओं की गुणवत्ता में गिरावट देखी गयी। यह गिरावट सल्तनत की स्थापना से पहले शुरू हो गई थी और सल्तनत काल के दौरान इसकी गुणवत्ता में अधिक स्पष्ट गिरावट देखी गई। इस अवधि में रची गई संस्कृत की अधिकांश रचनाओं में मौलिकता का अभाव था। संस्कृत में लिखित अधिकांश रचनाएँ थकाऊ, बार बार दोहरायी गयी, कृत्रिम और जबर्दस्ती थोपी गई लगती हैं। धार्मिक विषयों पर संस्कृत में लिखित ग्रन्थों/पुस्तकों में अक्सर आध्यात्मिक अटकलों की भरमार होती थ। जीवनी-संबंधी रचनाओं में राजा की वीरता का बखान तथा उनके गुणगान एवं प्रेम - प्रसंगों की कहानियां थीं। नए फारसी भाषी शासक वर्ग द्वारा संस्कृत को उचित संरक्षण नहीं दिया गया लेकिन सल्तनत ने संस्कृत साहित्यिक कृतियों की स्वतंत्र रचना में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। दरअसल, सल्तनत काल में कागज के प्रयोग ने *रामायण* और *महाभारत* जैसे पहले से मौजूद संस्कृत ग्रंथों के पुनरुत्पादन और प्रसार जैसी साहित्यिक गतिविधि को गति प्रदान की।

संस्कृत की साहित्यिक रचनाओं के निर्माण में दक्षिण भारत, बंगाल और पश्चिमी भारत ने अग्रणी भूमिका निभाई। विजयनगर राजाओं ने संस्कृत कवियों को संरक्षण दिया। संस्कृत

साहित्य को बढाने में पश्चिमी भारत के जैन विद्वानों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। पश्चिमी भारत में संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचंद्र सूरी थे जो 12वीं शताब्दी काल के थे। उत्तरी बिहार में मिथिला नगर संस्कृत के एक और केंद्र के रूप में विकसित हुआ। बाद में, सल्तनत काल के अंत और मुगल काल के दौरान बंगाल और उडीशा में चैतन्य आंदोलन ने नाटकों चंपू (कविता और गद्य का मिश्रित रूप), व्याकरण आदि जैसे कई क्षेत्रों में संस्कृत में ग्रंथ–रचना में योगदान दिया।

16.2.1 काव्य साहित्य

साहित्य का एक प्रमुख अंग जो इस काल में रचा गया वह था काव्य साहित्य या अलंकृत कविता लेखन। इस कविता को कई समानार्थी शब्दों, कृत्रिम छंदों, दुर्लभ शब्दों, यौगिक शब्दों (एक से अधिक अर्थ वाले शब्द) के इस्तेमाल के रूप में चिह्नित किया गया (विंटरनिट्ज 2015)। इस शैली का उपयोग विभिन्न चरितों (जीवनी) और नटिकाओं (नाटक) में दिखाई देता है। चरित एक प्रकार का जीवन वृतांत–ग्रंथ है जिसका नायक राजा या मंत्री होता है। आधुनिक जीवनी लेखन के विपरीत इन रचनाओं में शासक के पूरे जीवनकाल या उनके शासन काल की विशेष घटनाओं के बारे में विशेष जानकारी मिलती है। नतीजतन, जीवन–वृतांत में राजा के पूर्व की घटनाओं के महत्वपूर्ण सूत्र या स्रोत हो सकते हैं किन्तु इन्हें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक लेखन के रूप में नहीं लिखा गया है। अक्सर चरित साहित्य में शासक का महिमामंडन करने वाले स्तवन (प्रशंसा भाषण) और उसके परिवार के अतीत के गौरवशाली राजवंशों के बारे में उल्लेख भी होता है। इस प्रकार शासक के साथ संबंध के सम्मान में लिखे गए चरित के माध्यम से उसके शासन को वैध ठहराया गया (थापर, 2013)।

चरित साहित्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण *हर्षचरित* है जिसे हर्षवर्धन के दरबारी-कवि बाणभट्ट ने लिखा था। इसमें हमें उनके संरक्षक राजा हर्षवर्धन की वंशावली और बचपन का ब्यौरा मिलता है, जिसमें उन घटनाओं पर विशेष ध्यान दिया गया है जिनके कारण वह कन्नौज के शासक बने (थापर, 2013)। अन्य महत्वपूर्ण चरित हैं: कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य VI के शासन काल में बिल्हण द्वारा रचित *विक्रमदेवचरित,* परमार शासक पदमगुप्ता की *नवसाहसंक चरित* तथा पाल शासक के दरबारी कवि संध्याकरनंदिन नंदी द्वारा रचित *रामचरित*। संध्याकरनंदिन की रचना एक विशिष्ट साहित्यिक रचना है जिसमें पाल नरेश रामपाल की उपलब्धियों को महाकाव्य *रामायण* से जोड़कर एक दोहरी कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस कविता में राजा रामपाल द्वारा कैवर्तों से वरेन्द्री क्षेत्र हासिल करने के बारे में उल्लेख है। कैवर्तों ने पाल शासक के खिलाफ बगावत कर दी थी। इसमें वह वरेंद्री को सीता और रामपाल को राम के चरित से जोड़कर दर्शाते हैं। एक और चरित गुजरात में मिलता है जहां हेमचंद्र ने अन्हिलवाड़ा के शासक कुमारपाल की जीवनी कुमारपालचरित की रचना की। इस रचना का मकसद शासक की तारीफ़ करने के अलावा व्याकरण के नियमों को भी समझाना था। यह रचना द्विभाषी प्रकृति की है जो संस्कृत और प्राकृत दोनों में रचित है (सिंह, 2008)।

इस काल में संस्कृत साहित्य का एक और महत्वपूर्ण रूप नाटिका (नाटक) है। ये नाटक आमतौर पर *पुराणों* के पात्रों या महाकाव्यों की घटनाओं पर आधारित होते थे। राजा हर्षवर्धन को तीन नाटकों (*रत्नावली, प्रियदर्शिका* और *नागानंद*) के लेखन का श्रेय दिया जाता है (विंटरनिट्ज, 2005, पृष्ठ 54)। पहले दो नाटकों *रत्नावली* और *प्रियदर्शिका* का एक ही विषय है। *रत्नावली* वत्स के राजा (भास द्वारा रचित अन्य संस्कृत नाटिका के नायक) उदयन की कहानी है जिसे नौकरानी की छद्मवेशधारी राजकुमारी रत्नावली से प्रेम हो जाता है। दूसरी नाटिका का कथानक भी *प्रियदर्शिका* से काफ़ी मिलता-जुलता है

लेकिन नाटक में एक नई साहित्यिक युक्ति देखने को मिलती है जिसमें नाटक के अंदर नाटक को बड़ी ही खूबसूरती से प्रस्तुत किया गया है। तीसरा नाटक *नागानंद* (नाग की खुशी) एक बोधिसत्व जीमूतवाहन की कहानी है। नाटक में हिंदू और बौद्ध तत्वों को जोड़कर प्रस्तुत किया गया है। हर्ष के दरबारी कवि बाणभट्ट ने *कादंबरी* नामक नाटक की रचना की जिसमें प्रेमी युगल के दो जन्मों की घटनाओं जैसी जटिल कथानक को प्रस्तुत किया गया है।

इस काल के सबसे प्रसिद्ध नाटककार भावभूति थे जो कन्नौज नरेश यशोवर्मन के दरबार में रहते थे। उनकी प्रसिद्ध कृति/रचना *मालतीमाधव* में मालती और माधव के जीवन को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा उनके दो नाटक *महावीरचरित* और *उत्तररामचरित रामायण* पर आधारित हैं। वह विशेष रूप से भाषा के बेहतर उपयोग के लिए जाने जाते हैं तथा कालिदास के बाद के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। उनके संरक्षक राजा यशोवर्मन को *रामअभ्युदय* नामक नाटक की रचना का श्रेय दिया जाता है। राजा यशोवर्मन ने प्राकृत कवि वाक्पतिराज को भी संरक्षण दिया जिन्होंने *गौड़वाहो* की रचना की जिसमें राजा की सैन्य कार्यवाही के बारे में विस्तार से वर्णन है।

अगले प्रमुख नाटककार राजशेखर थे जो शासक महेंद्रपाल के अधीन प्रतिहारों के राज-दरबार में रहते थे। वे संस्कृत और प्राकृत दोनों में पारंगत थे तथा अपने गद्य में महान कहावतों को शामिल कर रोचक ढंग से प्रस्तुत करते थे। उनके दो संस्कृत नाटक *बालरामायण* और *बालभारत* क्रमशः *रामायण* और *महाभारत* पर आधारित हैं। उन्हें प्राकृत में लिखे हास्य प्रधान नाटक *कर्पूरमंजरी* के लेखन के लिए भी जाना जाता है।

11वीं से 12वीं शताब्दी के दौरान कश्मीर में भी कुछ लोकप्रिय कवि हुए। कवि बिल्हण के बारे में पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। इसके अलावा, क्षेमेन्द्र ने *महाभारत, रामायण,* धार्मिक कविताओं, कविता, छंद शास्त्र और राजनीति पर शिक्षाप्रद ग्रंथों के संक्षिप्त संस्करणों को लिखा। सोमदेव ने भारतीय दंतकथाओं पर आधारित *कथासरितसागर* का एक संग्रह बनाया; राजा जयसिम्हा के अधीन मंक्खा (Mankkha) ने एक महाकाव्य *श्रीकुंठचरित* लिखा जो शिव की किंवदंतियों से संबंधित है। 1148 सी.ई. में कवि कल्हण ने *राजतरंगिणी* की रचना की। *राजतरंगिणी* को एक महत्वपूर्ण कृति माना जाता है जो कश्मीर का एक सच्चा ऐतिहासिक इतिवृत्त (Chronicle) है।

अन्य नाटक जो पारंपरिक रूप से अत्यधिक सम्मानित श्रेणी में शामिल हैं वे हैं : कवि मुरारी (1050-1135 सी.ई.) द्वारा रचित *अनर्घराघव* जो *रामायण* का पुनर्कथन है; भास्करभट्ट द्वारा रचित *उन्मत्तराघव* जिसमें सीता के रावण द्वारा अपहरण के बाद राम की कारुणिक दशा का वर्णन किया गया है। जहां अधिकांश नाटकों ने मुख्य रूप से रामायण से प्रेरणा ली, वहीं कुछ कवियों की रचना *महाभारत* पर आधारित थी। इस प्रकार केरल के राजा कवि कुलशेखरवर्मन ने *तपतीसंवरण* और *सुभद्रधनन्जय* लिखा। इसके अलावा कुछ नाटक हैं जो आदर्शवादी और सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र के जीवन की नाटकीय प्रस्तुति हैं, जैसे कवि क्षेमीश्वरा द्वारा लिखित *चंद्रकौशिक* और रामचन्द्र (12वीं शताब्दी) की *सत्यहरिशचंद्र* (विंटरनित्ज़, 2005, पृष्ठ 279)।

कुछ नाटक ऐसे हैं जो चौहान शासक पृथ्वीराज और गुप्त शासक चंद्रगुप्त द्वितीय के जीवन पर आधारित हैं। चंद बरदाई द्वारा रचित *पृथ्वीराजरासो* एवं अज्ञात लेखक द्वारा रचित *पृथ्वीराजविजय* में तराइन की पहली लड़ाई में मुहम्मद गौरी पर राजा पृथ्वीराज की जीत का वर्णन है।

16.2.2 विधि साहित्य

इस अवधि में कानून से संबन्धित नई स्मृति शायद ही लिखी गई, इसके बजाय मौजूदा महत्वपूर्ण स्मृतियों पर टिप्पणियां टीकाएं लिखने पर ध्यान केंद्रित किया गया । इस प्रकार, *मनुस्मृति* पर कम से कम तीन टिप्पणियों के बारे में पता चलता हैः मेधातिथि द्वारा रचित *मनुभाष्य* (9वीं शताब्दी सी.ई.), गोविंदराज द्वारा रचित *मनुडिका* (11वीं / 12वीं शताब्दी सी. ई.) और कुल्लूका भट्ट द्वारा रचित *मानवर्थ मुक्तावली*। *याज्ञवल्क्य स्मृति* पर दो ग्रंथ जैसे विज्ञानेश्वर द्वारा *मिताक्षरा* (11वीं-12वीं सदी) और अपारक द्वारा *याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र निबंध* (12वीं शताब्दी) (जोस, 2004, पृष्ठ 37)। *मिताक्षरा* टीका कानून पर एक प्रभावशाली कृति है और आज भी कई हिंदू कानून इस ग्रंथ पर आधारित हैं।

अन्य महत्वपूर्ण कृतियाँ, जीमूतवाहन द्वारा बंगाल में लिखा गया *दयाभाग* है। यह मुख्य रूप से संपत्ति के विभाजन और विरासत जैसे मामलों से संबंधित है। यह *मिताक्षरा* से बहुत अलग है जो पुत्रों को जन्म के समय से ही संपत्ति के अधिकार को वैध ठहराता है, जबकि *दयाभाग* में पिता की मृत्यु के बाद ही पुत्र को संपत्ति का अधिकार देने की बात कही गई है। इस पाठ / रचना में लिखित संपत्ति कानूनों का अभी भी बंगाल में पालन किया जाता है। कानून की व्याख्या करने वाले दो अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ लक्ष्मीधर कृत्य कल्पतरु (12वीं शताब्दी) एवं देवनभट्ट की *स्मृतिचंद्रिका* हैं।

16.2.3 वैज्ञानिक कृतियाँ

ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से संबंधित कई ग्रन्थों की रचना भी शाही दरबार में की गई। 9वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष के दरबार में जैन लेखक महावीराचार्य ने अंकगणित से संबंधित ग्रंथ गणितसार संग्रह लिखा। यह संग्रह गहराई और ऊंचाई एवं छाया को मापने जैसे मुद्दों को हल करने के प्रयास के लिए जाना जाता है। गणित पर एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ 12वीं सदी में लीलावती भास्कराचार्य है।

12वीं शताब्दी के चालुक्य नरेश भूलोकमल्ल सोमेश्वर ने राजनीति, सेना, ज्योतिष, गहने, भोजन जैसे अन्य कई विषयों से संबन्धित विश्वकोश *मानसोल्लास* या *अभिलीषतार्थ चिंतामणि* लिखा था। यह 8000 ग्रन्थों का बहुत बड़ा संग्रह है। एक अन्य शासक जो विपुल लेखक (विशाल परिमाण में रचना करने वाला) के रूप में जाना जाते है वो राजा भोज हैं (1010 से 1055 सी.ई.)। उन्होने कई अलग-अलग विषयों पर ग्रंथों की रचना की, मसलन, वास्तुकला पर *समरांगण सुत्रधार*, काव्य साहित्य पर; *श्रृंगार प्रकाश* और *सरस्वतीकंठाभरण*, चिकित्सा पर एक ग्रंथ, *राजमार्तण्ड* आदि। कुल मिलाकर, लगभग 84 ग्रंथों को संग्रहित करने का उन्हें श्रेय दिया गया है (विष्णुलोक और श्रीवास्तव, 2009)।

यहाँ दो और ग्रन्थों के बारे में उल्लेख करना ज़रूरी है : अपराजितप्रच्छ और कृषिपराशर। भुवनदेव द्वारा लिखित *अपराजितप्रच्छ* ज़्यादातर दक्षिण भारत की वास्तुकला से संबंधित है। *कृषिपराशर* बंगाल में लिखा गया एक पाठ / रचना है जिसमें कृषि के विभिन्न पहलुओं, मसलन, मौसम, प्रौद्योगिकी और फसलें आदि के बारे में चर्चा की गई है। यह ग्रंथ एक अज्ञात लेखक, सम्भवतः एक ब्राह्मण लेखक द्वारा लिखा गया है जिसमें ब्राह्मणों को भूमि-अनुदान प्राप्त होने पर कृषि कार्य में उनकी बढ़ती भागीदारी की ओर इशारा किया गया है।

16.2.4 धार्मिक कृतियाँ

पुराणिक साहित्य हिंदू अनुष्ठानों को समझने के लिए एक समृद्ध भंडार है। इनमें आम तौर पर पांच विषयों, मसलन दुनिया का निर्माण, इसका विनाश, देवताओं और ऋषियों

की वंशावलियां, 14 मनुओं के शासन राज्य तथा सौर और चंद्र राजवंशों के शासकों के इतिहास आदि का उल्लेख है (फ़्लड, 2014)। इस साहित्य का अधिकांश हिस्सा गुप्त काल के दौरान रचा गया था। हालांकि, कुछ *पुराणों* की रचना उत्तर गुप्त काल में भी हुई, जैसे *भागवत पुराण* (10वीं शताब्दी), *ब्रह्मवैवर्त पुराण* (10वीं से 16वीं शताब्दी) और *कालिका पुराण* (10/11वीं शताब्दी) आदि। इनमें तीर्थयात्रा, धार्मिक प्रतिज्ञाओं या व्रतों, धर्म और अन्य विषयों पर चर्चा की गयी है। इससे हमें उस समय की मुख्य धार्मिक प्रथाओं के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

बोध प्रश्न 1

1) मध्यकालीन काल के शुरुआती दौर में संस्कृत का प्रदर्शन कैसा था ? संस्कृत साहित्य की किन्हीं दो श्रेणियों पर चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) इस अवधि में रचित वैज्ञानिक कृतियों पर एक लेख लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

16.3 क्षेत्रीय भाषाएँ

इस अवधि के साहित्यिक इतिहास की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है भारत के विभिन्न भागों में क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य का विकास। इस अवधि में उत्तरी भारत में क्षेत्रीय भाषाएँ जैसे पंजाबी, बंगाली, असमिया, उड़िया, मराठी और गुजराती का तेजी से प्रसार और विकास हुआ। इनमें से प्रत्येक भाषा की उत्पत्ति भारत-आर्य प्राकृत अपभ्रंश से हुई है। इनका उद्भव सातवीं-आठवीं शताब्दी में खोजा जा सकता है। तीन दक्षिण भारतीय भाषाएं - तमिल, कन्नड़ और तेलुगू का उत्तर-भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं की तुलना में साहित्यिक इतिहास अधिक पुराना है। तमिल भाषा का साहित्यिक इतिहास आम तौर पर सामान्य युग की शुरुआत से ही माना जाता है। कन्नड़ और तेलगु भाषा की भी उत्तर भारत की क्षेत्रीय भाषाओं की तुलना में पुरानी साहित्यिक परंपराएं हैं। मलयालम दक्षिण भारतीय भाषाओं में सबसे युवा (नवीन) है और इस भाषा का चौदहवीं शताब्दी से पहले एक स्वतंत्र साहित्य के रूप में विकास नहीं हुआ था।

16.3.1 क्षेत्रीय भाषाओं के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि

प्रारम्भिक मध्ययुगीन काल के दौरान क्षेत्रीय साहित्यिक भाषाओं के साहित्य के विकास में योगदान देने वाले महत्वपूर्ण कारक इस प्रकार हैं:

i) उत्तर गुप्त काल के दौरान सामंती समाज, अर्थव्यवस्था और औद्योगिक विकास के परिणाम स्वरूप लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी में क्षेत्रीय संस्थाओं और संस्कृतियों का उद्भव हुआ। क्षेत्रवाद के विकास के परिणाम स्वरूप अपभ्रंश से क्षेत्रीय भाषाओं के आरंभिक स्वरूपों का उद्भव हुआ।

ii) जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, संस्कृत साहित्य की गुणवत्ता में गिरावट की शुरुआत दिल्ली सल्तनत की स्थापना से बहुत पहले हो गई थी। 10वीं-11वीं शताब्दी में लिखे गए अधिकांश संस्कृत साहित्य में सहजता/स्वाभाविकता का अभाव था तथा यह आम जन तक अपना प्रभाव नहीं स्थापित कर पाया। इसका प्रभाव बहुत छोटे ब्राह्मण वर्ग तक ही सीमित था। सल्तनत काल के दौरान आधिकारिक भाषा के रूप में फारसी द्वारा संस्कृत के प्रतिस्थापन ने संस्कृत साहित्य के ह्रास की प्रक्रिया को और तेज कर दिया। एक बार संस्कृत के सरकारी/आधिकारिक संरक्षण खोने के पश्चात उस अवधि में सल्तनत के दौरान राज्यों में क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा दिया गया क्योंकि फारसी अब भी देश के कई हिस्सों में एक अपरिचित भाषा थी। पूर्व तुर्की काल के दौरान भी कई राज्यों में प्रशासनिक कामकाज में संस्कृत के अलावा क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग किया जाता था। दिल्ली के सुल्तानों के शासन में आने वाले प्रदेशों में स्थानीय स्तर पर हिन्दी बोलने वाले राजस्व अधिकारियों के बारे में पता चलता है।

iii) 13वीं शताब्दी के दौरान तुर्कों के उत्तर भारत पर विजय ने राजपूत-ब्राह्मण गठबंधन का अंत किया और परिणाम स्वरूप समाज में ब्राह्मणों का प्रभाव कम हो गया। उच्च जाति का वर्चस्व कम होते ही संस्कृत भाषा को जबर्दस्त झटका लगा और आम जनों में प्रचलित क्षेत्रीय भाषाएं सामने आईं।

iv) गैर-ब्राह्मणीय और गैर-अनुरूपवादी नाथपंथी आंदोलन और बाद के विभिन्न अनुरूप और कट्टरपंथी एकेश्वरवादी भक्ति आंदोलनों के विस्तार ने क्षेत्रीय साहित्य के तेजी से विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। नाथपंथी के उदय से पहले उनके पूर्ववर्तियों के अधिकांश *साहित्य– बौद्ध सिद्ध – हिंदी* सहित क्षेत्रीय भाषाओं में लिखे गए थे। ब्राह्मणवाद के घटते प्रभाव का सीधा फायदा नाथपंथी को मिला। 13वीं और 14वीं शताब्दी के दौरान नाथपंथी अपने चरम पर था तथा इस अवधि में क्षेत्रीय लोकप्रिय भाषाओं को बढ़ावा दिया गया। 15वीं शताब्दी के बाद से उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के विकास ने क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और इन भाषाओं में साहित्य के एक महान कोष के तेजी से विकास में योगदान दिया। भक्तों ने अपनी ओर आकर्षित लोगों द्वारा समझी गई भाषाओं में अपने श्लोकों की रचना की। उन्होंने लोकप्रिय मुहावरों, लोकप्रिय किवदंतियों और लोक कथाओं का उपयोग किया। भक्ति आंदोलन ने लोकप्रिय क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में अन्य तरीकों से भी योगदान दिया। साधु संत, विशेष रूप से जो भक्ति आंदोलनों की पारंपरिक धारा से संबंधित थे, उन्होंने महाकाव्यों, *पुराणों* और *भगवद्गीता* जैसे संस्कृत में लिखित ग्रन्थों को लोगों के लिए सहज व सुलभ बनाने हेतु क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद किये। इस तरह, भक्ति कवियों ने विभिन्न संस्कृत ग्रंथों की उपकथाओं की रचना कर भक्ति को लोकप्रिय बनाया। इन ग्रंथों के विषयों का न केवल आम जनों की समझ की भाषा

में अनुवाद किया गया बल्कि सरल व बोधगम्य शब्दों के माध्यम से भी प्रस्तुतीकरण किया गया।

16.3.2 हिंदी

जिस हिन्दी को आज हम जानते हैं वह मध्यकाल में विभिन्न रूपों में विकसित हुई। हिंदी की बोलियों में ब्रज भाषा, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, मालवी आदि शामिल थे। हमारे काल में (वर्तमान में) हिंदी भाषा का साहित्य इन बोलियों से विकसित हुआ। इन बोलियों के अलावा हिंदी का एक मिश्रित रूप, जिसे खड़ी बोली (मूल रूप से ठेठ, अपरिष्कृत और अप्रौढ) के नाम से जाना जाता है, भी विकसित हो रहा था।

विद्वानों ने हिंदी भाषा की उत्पत्ति को 7वीं से 10वीं सदी के बीच रखा है . इसी काल में हिंदी अपभ्रंश से विकसित हो रही थी। 7वीं-8वीं शताब्दी और 14वीं शताब्दी के बीच (भक्ति काव्य के उदय से पहले) को विद्वानों द्वारा 'वीरगाथा काल (वीर रस की कविता का काल) के रूप में चित्रित किया गया है। इस अवधि का वर्णन करने के लिए उपयोग किया जाने वाला एक और नाम आदिकाल (प्रारंभिक अवधि) है। इस अवधि के अधिकांश काव्यों की रचना दरबारी कवियों (चारणों) द्वारा की गई थी जिन्हें विभिन्न राजपूत शासकों द्वारा संरक्षण दिया गया। इन दरबारी कवियों ने अपने संरक्षकों के गुणों को शौर्य और बहादुरी के रूप में महिमामंडित किया। उन्होंने अपने काव्यात्मक आख्यानों में प्रेमप्रंसग के तत्वों पर भी प्रकाश डाला। मूल अर्थ में यह साहित्य राजपूत शासक वर्गों के मूल्यों और दृष्टिकोणों का प्रतीक है। इस साहित्य की रचना करने वाले दरबारी कवियों को आम लोगों की अपेक्षाओं से कोई सरोकार नहीं था। ज़्यादातर दरबारी कवियों के काव्यात्मक आख्यान हिंदी की राजस्थानी बोली में रचित थे। उनमें से सबसे प्रसिद्ध *पृथ्वीराजरासो* है जिसे सबसे लोकप्रिय राजपूत राजा पृथ्वीराज चौहान के दरबारी मंत्री चंद बरदाई ने उनके सम्मान में लिखा गया है।

अन्य वीर काव्य आख्यान में *विसालदेवरासो, हम्मीररासो, खुमनरासो* आदि शामिल थे। उनके मौजूदा रूपों में इन रासो रचनाओं की प्रामाणिकता गंभीर संदेहों के घेरे में है और ऐसा लगता है कि बाद की शताब्दियों में इन रचनाओं की अंतरवस्तु को बाद की विस्तारपूर्वक लिखा गया। उदाहरण के लिए इस अवधि (12वीं शताब्दी) के दौरान *पृथ्वीराजरासो* के मूल की रचना की गई थी तथा मूल मसौदे में बाद में अंतरवेषण (उदाहरण व आख्यान) से सुसज्जित किया गया था। 7वीं-8वीं शताब्दी और 14वीं शताब्दी के बीच की अवधि के सभी हिंदी साहित्य, भाटों द्वारा रचित कविता शैली में नहीं लिखी गई थी। बौद्ध सिद्ध और बाद में नाथपंथ योगियों ने हिंदी के प्राचीन/पुरातन रूप में धार्मिक कविता की रचना की। पश्चिम भारत में जैन विद्वानों ने भी राजस्थानी में धार्मिक कविता की रचना की जिसमें लोगों के धार्मिक और सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया था। फारसी साहित्य में अमीर खुसरो का योगदान अविस्मरणीय है। लेकिन उन्होंने हिंदी के मिश्रित रूप में भी कविताओं की रचना की जो अंतत खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी में विकसित हुई। उन्होंने इस भाषा को हिंदवी कहा। उनके कुछ हिंदी छंद/पद्य उनकी *खालिकबाड़ी* में पाए जाते हैं जिसे अक्सर उनके द्वारा रचित होने की बात की जाती है लेकिन शायद यह बहुत बाद में लिखा गया था ।

16.3.3 तमिल

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल का प्रारंभिक भाग मुख्य रूप से भक्ति से प्रेरित साहित्यिक आंदोलन की निरंतरता थी जो छठी शताब्दी सी.ई. में उभरा था। इस साहित्यिक संस्कृति की उत्पत्ति छठी शताब्दी में हुई जब दो राजवंशों पाल और पांड्य के संरक्षण में कवियों ने या तो शिव या विष्णु को समर्पित भजनों की रचना की ।

शैव कवियों को नयनारों और वैष्णव कवियों को आलवारों के नाम से जाना जाता था। उनके भजन तमिल भाषा के विकास में एक महत्वपूर्ण चरण का प्रतिनिधित्व करते थे, क्योंकि *संगम* काल के शास्त्रीय तमिल के विपरीत मध्यम तमिल में इनकी रचना की गई थी। इन भजनों का एक बड़ा हिस्सा सातवीं और नौवीं शताब्दी के बीच बना था। जबकि बाद की शताब्दियों में नए भजनों की रचना जारी रही, इन भजनों का संग्रह तैयार करने के प्रयास भी किए गए। इस तरह का पहला संग्रह सुंदरार (780-830 सी.ई.) द्वारा संकलित किया गया था जिन्होंने 62 नयनारों की कविताओं को एकत्र किया था। इसके अलावा उन्होंने कई नए भजन भी लिखे जिन्हें 11वीं शताब्दी में नाम्पी अंतर नाम्पी (1080-1100 सी. ई.) (ज़वेलेबिल, 1974, पृ. 91) द्वारा 11वीं शताब्दी में सार-संगह में संकलित किया गया था। बाद में वैष्णव धर्मवैधानिक ग्रन्थ '*नालयिरेतिव्य प्रपंतम* (साहित्यिक अर्थः चार हजार दिव्य कार्य) का 10वीं शताब्दी में नाटमुनी द्वारा संकलित किया गया था। इसमें 4000 भजनों का संग्रह है जो 14 कवियों द्वारा रचा गया था तथा इन कवियों में 12 आलवार पंथ के थे।

नौवीं शताब्दी से, चोलों के संरक्षण में, तमिल साहित्य में नए रुझान देखने को मिले। दरबार प्रशंसात्मक साहित्य की दो शैलियों *परणी* और *उला* का शुभारंभ हुआ। *परणी* मुख्य रूप से सैन्य अभियानों से संबंधित हैं। पहला लेखन जयमगोंडा ने किया था, जो कुलोटुंगा चोला के दरबार में एक कवि था। उन्होंने *कलिंगट्टुपरणी* का लेखन किया, जिसमें कलिंग पर उनके अभियान के बारे मे विस्तार से उल्लेख किया गया है। यह रचना उस समय की युद्ध रणनीति की विस्तृत समझ प्रस्तुत करने के साथ ही शांति काल और युद्ध के आतंक के खतरों के बारे में व्याख्या भी करती है (ज्वेलेबिल, 1968, पृष्ठ 14) ।

साहित्य की दूसरी शैली '*उला* को कवि ओटुकुटर द्वारा पेश किया गया था, जो तीन चोल सम्राटों विक्रम चोला, कुलोटुंगा द्वितीय और राजराजा द्वितीय के दरबारी कवि थे। साहित्यिक शब्द का अर्थ है शोभा यात्रा। यह आराध्य देवता की शोभायात्रा की संकल्पना की नए सिरे से प्रस्तुती है जिसमें आराध्य देव की जगह राजा ले लेता है (देहेजिया, 2009, पृष्ठ 59)। साहित्य, शांतिपूर्ण समय के दौरान शासक को महिमा मंडित करने का प्रयास है, और इस में राजा को विदेशी या घरेलू परेशानियों से मुक्त होकर शहर में निर्बाध घूमने का उल्लेख है। साहित्य को दो भागों में विभाजित किया गया हैः पहले भाग में राजा के बारे में, उसके पूर्वजों, उसकी उपलब्धियों और उसके दरबार की चर्चा है; और दूसरे भाग में शहर के उनके दौरे के बारे में है कि शहर भ्रमण के दौरान उनका लोगों द्वारा किस प्रकार गर्मजोशी से स्वागत किया गया (वेंकटसुब्रमण्यन, 2010, पृष्ठ 35)। ओटटुकुटार द्वारा लिखित तीन कृतियाँ क्रमशः *विक्रम-चोलाउला, कुलोटुंगा चोलाउला* और *राजराजाचोलाउला* हैं।

सबसे प्रसिद्ध चोल कवि कंपन थे जो तमिल *रामायण* की अपनी रचना के लिए जाने जाते हैं। वे कुलोटुंगा III (1178-1217 सी.ई.) के शासनकाल के दौरान थे। उन्हें चक्रवर्ती कवि के रूप में सम्मानित किया गया था। उनकी *रामायण* को *राम-अवथारम* के नाम से जाना जाता है और आज भी आम जनता के बीच लोकप्रिय है। हालांकि उन्होंने *रामायण* का केवल अनुवाद ही नहीं किया बल्कि इसके कुछ हिस्सों की पुनर्व्याख्या भी की है। उनकी भाषा को शानदार माना जाता है, कविता की अर्थपूर्ण भाषा और संगीतता के साथ चिह्नित है (ज़वेलेबिल, 1968, पृष्ठ13)।

जैन तपस्वी कवि तिरुट्टक्कादेवार की रचना *जीवकचिंतामणी* का तमिल साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान था। कवि मदुरै में रहते थे। उनके द्वारा रचित महाकाव्य को मैननुल या विवाह की पुस्तक के रूप में जाना जाता है। इसकी कथानक राजकुमार जीवक की कहानी के इर्द-गिर्द घूमती है जो सांसारिक सुखों की निरर्थकता को महसूस करता है, और त्याग (जैन मार्ग) की ओर प्रवृत्त होता है (रामास्वामी, 2017, पृष्ठ 178)। यह एक

महत्वपूर्ण ग्रंथ है क्योंकि इसमें पहली बार तमिल में संस्कृत काव्य साहित्य शैली को अपनाया गया (मुखर्जी, 1998, पृष्ठ 151)। इसने कम्पन जैसे कवियों को प्रेरित किया। एक अन्य महत्वपूर्ण चोल कवि सेक्कीझार थे जिन्होंने 63 संतों की संतचरित *'पेरियापुरानम'* की रचना की। इन महान कार्यों के अलावा, *महाभारत* की नल और दमयंती की कहानी को संस्कृत से तमिल में अनुवाद कर तमिल साहित्य को समृद्ध किया गया था, जिसे कंपन के समकालीन पुगलेंदी द्वारा *नलवेनबा* कहा जाता था। 14वीं शताब्दी में, कवि विलिपुत्थूरार द्वारा *महाभारत* के संक्षिप्त संस्करण की रचना की गई थी।

16.3.4 कन्नड़

कन्नड़ साहित्य के विकास को प्रारंभिक प्रोत्साहन, राष्ट्रकुटों की दरबारों और उनके सामंतों से मिला। हालांकि शिलालेखों में कन्नड़ का उपयोग पांचवीं शताब्दी से जाना जाता है किन्तु कुछ सबूत/प्रमाण यह दर्शाते हैं कि हैं कि सबसे पुराने उत्तरजीवी ग्रंथ प्रारम्भिक मध्ययुगीन काल से प्राप्त हुए। पहला महत्वपूर्ण कन्नड़ कृति *'कविराजमार्ग'* (कवियों की शाही सड़क) नौवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष (814-878 सी.ई.) के दरबार में लिखा गया था। हालांकि पारंपरिक रूप से इसकी रचना का श्रेय राजा को दिया जाता है किन्तु कुछ विद्वानों का मानना है कि यह मुख्य रूप से उनके दरबारी कवि श्री विजय द्वारा लिखा गया था। यह ग्रंथ जिसमें 527 छंद और तीन अध्याय शामिल हैं, काफ़ी हद तक कन्नड़ व्याकरण और काव्यशास्त्र के नियमों से संबंधित हैं। इसे संस्कृत काव्य माना जाता है जिसमें विद्वानों ने दंडिन की प्रमुख कृति *काव्यादर्श* और *भामा* काव्यालंकार के प्रभाव को नोट किया। इसमें ध्वनियों के संयोजन और अन्य तरीकों से कन्नड़ और संस्कृत को एक करने के नियमों की चर्चा की गई है। यह कन्नड़ कवियों द्वारा कन्नड़ काव्य के विकास में महत्वपूर्ण पथप्रदर्शक साबित हुआ।

तीन महान कवियों पंपा, पोन्ना और रण्णा कन्नड़ साहित्य के तीन रत्न माने जाते हैं जिनके उद्भव से अगली सदी में नए साहित्यिक आंदोलन को और मजबूती मिली। तीनों कवियों ने मुख्य रूप से जैन धर्म और *महाभारत* के बारे में लिखा था। प्रथम कवि पंपा, राष्ट्रकूट का सामंती और वेमुलवडा के राजा अरिकेसरी द्वितीय के दरबारी कवि थे। वे दो महत्वपूर्ण कार्यों *आदिपुराण* और *पंपा-भारत* के लेखन के लिए जाने जाते हैं। पहली कृति *आदिपुराण* प्रथम जैन तिरथंकर के जीवन पर आधारित है। इस कृति को इसकी साहित्यिक शैली के लिए जाना जाता है। दूसरी कृति *पंपा-भारत*, जिसे *विक्रमार्जुन* विजय के नाम से भी जाना जाता है, महाकाव्य *महाभारत* की एक प्रमुख पुनर्व्याख्या है। पांच पांडवों के बजाय कहानी का मुख्य नायक अर्जुन है और अंत में उसे हस्तिनापुर के राजा के रूप में ताजपोषित किया जाता है ।

कहानी हालांकि अपने संरक्षक का महिमामंडन करने के उद्देश्य से भी है जिसमें राजा की तुलना अर्जुन से की गई है। दूसरे कवि पोन्ना, राष्ट्रकूट शासक कृष्णराजा (939-968 सी.ई.) के दरबार में थे। वह एक द्विभाषी कवि थे, जिन्होंने संस्कृत और कन्नड़ दोनों में खूबसूरती से लिखा, इस प्रकार अपने लिए *उभय-कवि-चक्रवर्ती* (दोनों भाषाओं में शाही कवि) का खिताब अर्जित किया। एक जैनधर्मांतरित होने के नाते, उनका काम जैनधर्म के विषयों पर केंद्रित था। *शांति पुराण* उनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है। यह सोलहवें जैन तीर्थंकर शांतिनाथ के जीवन पर आधारित है। उनका दूसरा महत्वपूर्ण अक्षरबद्ध कविता *जिनाक्षरमाले* था जिसमें जिनों की तारीफ़ की गई है ।

तीसरे महत्वपूर्ण कवि रण्णा (Ranna) पश्चिमी चालुक्य के दरबार से जुड़े थे । हालांकि, उन्हें शुरू में समकालीन गंगा चावमुंडा राय के एक मंत्री द्वारा संरक्षण दिया गया था। वह जल्द ही शासक, तैलपा (973-997 सी.ई.) और उनके उत्तराधिकारी सत्याश्रय (997-1008

सी.ई.) के दरबारी कवि बन गए। उनके मुख्य ग्रंथ हैं, दूसरे तीर्थंकर के जीवन पर आधारित *अजितपुराण*; भीम के जीवन पर आधारित *साहस्यभीम विजय* या *गधा.युद्ध*। ग्रंथ / पाठ में राजा तैलपा की भीम के शौर्य से तुलना की गयी है।

अन्य महत्वपूर्ण कृति में चावुंड राय द्वारा चौबीस तीर्थंकरों का इतिहास *त्रिशष्टी-लक्षणा-महा-पुराण* लेखन है जिसे *चावुंदुर राय पुराण* के नाम से भी जाना जाता है। नागवर्मा प्रथम ने *छंदोबुंद्धी* (छंद-शास्त्र का महासागर) लिखा है जो कन्नड़ छंद शास्त्र के रूप में चर्चित है। इसके अलावा उन्होंने बाणभट्ट की *कादम्बरी* का कन्नड़ में अनुवाद भी किया। चोलों के साथ युद्ध के कारण 11वीं शताब्दी से साहित्यिक आंदोलन थम गया लेकिन अगली सदी में यह पुनर्जीवित हो गया।

जैन के नजरिये से *रामायण* की पुनर्व्याख्या की रचना 12वीं शताब्दी में नागचंद्र ने की। हालांकि, बसवा द्वारा स्थापित शैव संप्रदाय वीरशैव का बहुत बडा प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ जिसने ब्राह्मणों के अधिकार को अस्वीकार कर दिया। उनका संप्रदाय जाति की परवाह किए बिना सभी के लिए खुला था। उन्होंने एक नए प्रकार के गद्य साहित्य वाचनों या वाक्यों की शुरुआत की जो विविध पृष्ठभूमि के लोगों द्वारा रचित था। इनकी रचना एक साधारण भाषा में की गई थी, जिसके लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की जरूरत नहीं थी। वे मुख्य रूप से धार्मिक संस्कार, धन और किताबी शिक्षा की निरर्थकता जैसे धार्मिक मुद्दों से निपटते हैं। इसके बजाय वे लोगों को सरल जीवन जीने व शिव में विश्वास करने के लिए प्रेरित किया। इसकी रचना विविध पृष्ठभूमि के लोगों द्वारा की गई थी जिसमें कुछ महिला लेखकों को भी शामिल किया था।

16.3.5 तेलुगू

शिलालेखों में तेलुगु का उपयोग छठी शताब्दी से ही मिलता है, लेकिन प्रथम साहित्यिक ग्रंथ की रचना मध्ययुगीन काल के शुरुआत में की गई थी। तेलुगू साहित्य में सबसे प्राचीन कृति कवि ननैया द्वारा *महाभारत* के आदि और सभापर्व का अनुवाद है। इसकी रचना 11 वीं शताब्दी सी.ई. में की गयी थी। आगे, बाद की शताब्दियों में भी *महाभारत* के अनुवाद हुए। दो कवियों टिक्कना (1220-1300 सी.ई.) और येर्रप्रागड़ा (1280-1350 सीई) ने क्रमशः विराट-पर्व और वन-पर्व का अनुवाद किया। इन कृतियों ने तेलुगू साहित्य की नींव रखी और तीनों कवियों को कवितराय के रूप में माना जाता है। *रामायण* के दूसरे महान महाकाव्य का अनुवाद 13वीं शताब्दी में कोण बुद्धराजा ने किया था। इस प्रकार, तेलुगू साहित्य में कुछ प्राचीन कृतियाँ प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद हैं।

बोध प्रश्न 2

1) क्षेत्रीय भाषाओं के उदय की सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दक्षिण भारत की किसी भी दो भाषाओं के उत्पत्ति और विकास की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

16.4 सारांश

इस इकाई में हमने मध्ययुगीन काल के दौरान भाषा और साहित्य के विकास का पता लगाया है। इस अवधि में रचित संस्कृत कृतियों की गुणवत्ता में गिरावट के बारे में विस्तृत चर्चा की गयी है। इस इकाई में क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्य के विकास का वर्णन किया गया है। बंगाली, उर्दू, पंजाबी, असमिया, उड़िया, गुजराती जैसी कई अन्य भाषाएं भी फली-फूली लेकिन उनकी समयावधि इस इकाई के दायरे से बाहर है।

16.5 शब्दावली

प्रोसोडी : छंद-विद्या, छंद-शास्त्र , पिंगल।

एलिगोरिकल : व्यंजनापूर्ण लेखन, लेखन की शैली जिसमें पात्रों और घटनाओं के बारे में बढा–चढाकर व्यक्त किया जाता है

हैजिओग्राफी : संत का चरित्र लेखन।

16.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 16.2 एवं उसके उप-भागों को देखें।

2) उप-भाग 16.2.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 16.3.1 देखें।

2) उप-भाग 16.3.2 से 16.3.5 देखें

16.7 संदर्भ ग्रन्थ

दौद अली (2004). कोर्टली कल्चर एंड पोलिटिकल लाईफ इन अर्ली मेडिवल इंडिया. *कैम्ब्रिज स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एंड सोसाईटी.* न. 10. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस.

दत्त, ए. (1987). *ऐनसाईक्लोपीडिया ऑफ इंडियन लिट्रेचर.* साहित्य अकादमी.

जोा, आर. (2004). *लीगल एंड कोन्सटीटयूशलन हिस्ट्री ऑफ इंडियाः ऐशियंट, जूडीशियल एंड कोन्सटीटयूशनल सिस्टम.* यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग.

मैक डोनैल, ए. ए. (1915). *ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिट्रेचर.* तीन वॉल्यूम. डी. एपलटन.

मजुमदार, आर. सी. (1977). *ऐशिन्ट इंडिया.* मोतीलाल बनारसी पब्लिशर्स।

पॉलौक, शैलडन (2006). *द लैंगुऐज़ ऑफ गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑफ मैनः संस्कृत, कल्चर एंड पॉवर इन प्री-मोर्डन इंडिया.* कैलिफोर्निया युनिवर्सिटी प्रैस.

राईस, ई.पी. (1982), *ए हिस्ट्री ऑफ कन्नड़ लिट्रेचर.* ऐशियन एडुकेशन सर्विसेज़.

सिहं, उपिंदर (2008). *ए हिस्ट्री ऑफ ऐशिंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया.* पियर्सन एडुकेशन इंडिया.

थोपर, रोमिला (2013). *द पास्ट लिफोर अस.* हावर्ड युनिवर्सिटी प्रैस.

वॉर्डर, ए. के. (1972). *इंडियन काव्य लिट्रेचर. द बोल्ड स्टाईल (शक्तिमद्र टू धनपाल).* मोतीलाल बनारसीदास.

विंटननिट्ज, एम (2005). *हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिट्रेचर. वॉल्यूम III.* मोतीलाल बनारसीदास.

ज्वेलेबिल, के. (1974). *तमिल लिट्रेचर.* ओट्टो हर्रासोविट्ज वेरलाग.

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 17 विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण*

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 प्रारंभिक मध्यकाल में विज्ञान और शिक्षा

- 17.2.1 गणित
- 17.2.2 अरबी विज्ञान पर प्रभाव
- 17.2.3 खगोल विज्ञान
- 17.2.4 भारत में नक्षत्र-यंत्र
- 17.2.5 रसायन शास्त्र
- 17.2.6 चिकित्सा विज्ञान

17.3 प्रौद्योगिकी

- 17.3.1 सिंचाई प्रौद्योगिकी
- 17.3.2 पाठ्य सन्दर्भ
- 17.3.3 दक्षिण भारत

17.4 पर्यावरण

- 17.4.1 मध्यकालीन दक्षिण एशिया
- 17.4.2 अश्व, वृषभ और ऊँट

17.5 सारांश

17.6 शब्दावली

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस बारे में जानेंगेः–

- प्रारंभिक मध्यकाल में गणित, खगोल विज्ञान, रसायन विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्रों में हुई उपलब्धियाँ;
- जोरदार अनुवाद गतिविधि जिसने अरब दुनियां और भारत के बीच आदान-प्रदान को चिन्हित किया;
- प्रौद्योगिकी में परिवर्तन; तथा
- मध्यकाल में शुष्क क्षेत्रों का बढ़ता महत्व जिसने स्थायी समाजों और घुमन्तु समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित किया।

17.1 प्रस्तावना

प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियां हुई। भारत में मुस्लिम शासन की शुरुआत ने शिक्षा की परंपराओं को बदल दिया। देसी

* डा. शुची दयाल, शैक्षणिक सहायक, इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

इस इकाई का अधिकांश भाग विनोद बी. सतपथी कृत *हिस्ट्री ऑफ साइन्स एंड टेक्नोलोजी* इन इंडिया से लिया गया है।

शैक्षणिक, परंपराएं धीरे-धीरे विलुप्त हो गई और उनका स्थान मक्तब और मदरसों ने ले लिया। हालांकि ग्रन्थों की रचना देसी रूप से होती रही। गणित, खगोल विज्ञान, रसायन विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान में ग्रन्थों ने शिक्षा के वातावरण को समृद्ध बनाया। अनेक भारतीय ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया था। इस इकाई में हम गणित, खगोल विज्ञान आदि क्षेत्रों में उपलब्धियों पर दृष्टिपात करेंगे। हम मुस्लिम शासन द्वारा शुरू किये गये प्रौद्योगिकी के बदलावों की भी जाँच करेंगे।

मध्यकाल में दक्षिण एशिया का पर्यावरण कैसा था यह इकाई के बाद के भाग में अध्ययन का विषय होगा। दक्षिण एशिया एक बड़े शुष्क क्षेत्र का भाग बन गया जिसमें मध्य एशिया, मध्य पूर्व और उत्तरी अफ्रीका के क्षेत्र शामिल थे। इस शुष्क क्षेत्र में घुमन्तु और स्थायी बसे कृषि समाजों के बीच पूरकता का संबंध था। शुष्क क्षेत्र घोड़े, बैलों, भेड़-बकरी और ऊँटों के प्रजनन के लिए उपयुक्त थे। इनकी कृषि समाजों में काफी माँग थी। मध्यकाल में उभरी कुछ राजनैतिक व्यवस्थाएं अरब के अच्छे घोड़ों पर निर्भर थी और ऊंट परिवहन के उत्कृष्ट साधन थे। शक्तिशाली युद्ध के घोड़ों, ऊँटों और मवेशियों ने युद्ध व्यापार और कृषि के विस्तार की मौजूदा क्षमता को काफी बढ़ा दिया। इन संसाधनों का पूरी तरह से दोहन करके, नये योद्धा-राज्य जंगल और कृषि योग्य भूमि के अंतराफलक पर उभरे।

17.2 प्रारंभिक मध्यकाल में विज्ञान और शिक्षा

भारत में मुस्लिम शासन आने के साथ देसी शास्त्रीय शिक्षा की परंपरा को एक झटका लगा। अरब देशों में, शिक्षा का प्रारुप मक्तब और मदरसों से परिलक्षित होता था। ये संस्थाएं भारत में भी स्थापित होने लगी और उनके लिए शाही संरक्षण को भी बढ़ाया गया। जबकि स्थानीय लोगों को, जो शिक्षा की विभिन्न शाखाओं के विशेषज्ञ थे, इन संस्थाओं का प्रमुख बनाया गया, अरब, फारस और मध्य एशिया से विद्वान जनों को भी मदरसों का प्रभार लेने के लिए आमंत्रित किया गया था। मुस्लिम शासकों ने प्राथमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में सुधार किया। प्राथमिक शिक्षा के भाग के रूप में अंकगणित, क्षेत्र नीति, ज्यामिति, खगोल विज्ञान, लेखा-जोखा, लोक प्रशासन और कृषि जैसे विषयों को पढ़ाया जाता था। एक नयी तरह की शिक्षा का उदय हुआ जो परंपरागत भारतीय वैज्ञानिक संस्कृति और विज्ञान के लिए प्रचलित मध्यकालीन दृष्टिकोण के बीच एक संश्लेषण था। शाही घरानों और सरकारी विभागों को प्रावधान, भंडार और उपकरण की आपूर्ति करने के लिए कारखाना नामक बड़ी कार्यशालाएं बनाई गई थी। कारखाने न केवल विनिर्माण एजेंसियों के रूप में काम कर रही थी, बल्कि लोगों के लिए तकनीकी और व्यवसायिक प्रशिक्षण के केन्द्र के रूप में भी काम कर रही थी। अनेक कारीगर और शिल्पकार कारखानों की अलग-अलग शाखाओं में प्रशिक्षित किये गये और बाद में इन लोगों ने अपने स्वयं के कारखानों की स्थापना की।

17.2.1 गणित

जैसा कि पहले के दौर में हुआ था, इस अवधि में भी गणित के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियां हासिल हुई। गणित में रची विभिन्न कृतियां नरसिम्हा दैवज्ञण की *गणित कौमुदी* और *बीजगणित वतास* और गुजरात के गंगाधर द्वारा रचित लीलावती कर्म दीपिका, *सुद्धांतदीपका, लीलावती व्याख्या* हैं इनमें कोसाई, टेन्जेंट और कोटेन्जेंट जैसे त्रिकोणमीतिस पारिभाषिक शब्दों के नियम दिए गए हैं। नीलकंठ सोमासुतवन द्वारा एक अन्य ग्रन्थ, *तंत्र* संग्रह में त्रिकोणमीए सर्वसमिकाओं के नियम शामिल है। गणेश देवज्ञण की *लीलावती* पर एक टीका जिसे *बुद्धि विलासिनी* कहा गया था, उसमें बहुत से चित्र थे। वलहल्ला परिवार के कृष्ण ने भास्कर तृतीय के *बीजगणित* पर *नवांकुर* नामक टीका लिखी और पहले और दूसरी श्रेणी के अनिश्चित समीकरणों के नियमों का विकास किया। नीलकंठ ज्योर्तिविदा ने *ताजिक* को संकलित किया जिसमें बड़ी संख्याओं में फारसी तकनीकी शब्द है।

17.2.2 अरबी विज्ञान पर प्रभाव

अबासिद खलीफा के समय से अरबों ने अरबी में संस्कृत से खगोल विज्ञान, गणित और चिकित्सा पर कई पुस्तकों का अनुवाद किया। भारतीय वैज्ञानिक ज्ञान का मुस्लिम वैज्ञानिकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारत और अरबों के बीच वैज्ञानिक सहयोग ने विज्ञान और शिक्षा में एक फलदायी चरण शुरू किया। अरबों को न केवल ग्रीक शिक्षा में रुचि थी बल्कि ज्ञान अर्जन में अपनी बढ़ती रुचि को पूरा करने के लिए हिन्दू विज्ञानों की ओर भी देखा। खलीफा अलमंसूर (753-774 सी.ई.) ने *ब्रहम सिद्धान्त* का अरबी में अनुवाद शुरू किया। वह चाहते थे कि वैज्ञानिक इस ग्रन्थ के आधार पर एक ऐसी रचना तैयार करें जो ग्रहों की गति की गणना के लिए एक आधार के रूप में काम करे। यह 750 सी. ई. में हिन्दू पंडितों के सहयोग से इब्राहिम *अल-फज़ारी* और याकूब इब्न तारिक़ द्वारा किया गया था और पुस्तक को अलजिज़ *जला-सिनि अल-अरब या सिंधहंद अल-कबीर* कहा गया।

इस तरह के अनुवादों के माध्यम से भारतीय अंकों को भारत से बगदाद पहुंचाया गया। *अल-फज़ारी* ने हिन्दू पंडितों की मदद से ब्रह्ममगुप्त की *खन्डक आद्यका* का अनुवाद किया और इसे अरबी नाम *अरकन्ड* दिया। इन दोनों कृतियों ने इस्लामी दुनियां में खगोल विज्ञान के विकास पर गहरा प्रभाव डाला। अलेक्जेंडरिया के वैज्ञानिक टालेमी से पहले अरबों ने ब्रहमगुप्त (सातवीं शताब्दी सी. ई.) से खगोल विज्ञान सीखा।

गणित में भी अरबों ने हिन्दू प्रणालियों से सीखा। अंकों के लिए अरबी शब्द *हिन्दसाह* है जिसका अर्थ है ''भारत से''। वास्तव में जिसे हम अरबी अंक कहते हैं वास्तव में भारतीय संख्याएं थी। इराक में अरब वैज्ञानिकों, मोहम्मद *मूसा-अल* ख्वारिज़मी (नौवीं शताब्दी सी. ई.) ने बीजगणित विकसित करने के लिए नये अंकों का उपयोग किया। अंग्रेजी शब्द एलगोरिथम उनके नाम से लिया गया है।

उल्लेखनीय अनुवाद कार्यों में से कुछ थेः दसवीं शताब्दी में *किताब अल-फेहरिस्त* के रूप में इब्न नादिम द्वारा अनुवादित तर्क और जादू पर रचनाएँ; इब्न *अल-मुक्कफ्फा* द्वारा कलील वा दिम्न के रूप में अनुवादित *पंचतंत्र*। *महाभारत* के कुछ हिस्सों को अली जबालि द्वारा 1026 सी. ई. में अरबी में प्रस्तुत किया गया था और खलीफा *अल-मंसूर* के वजीर खालिद बारमाकी के संरक्षण में बड़ी संख्या में संस्कृत चिकित्सा, औषधीय, और विष विद्या संबंधी ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया था। चिकित्सा के ग्रन्थ *सुश्रुत संहिता* का अनुवाद खलीफा हरून अल-रशीद (786-809 सी.ई.) के तहत किया गया था।

अनेक अरबी यात्रियों ने दवाओं को प्राप्त करने और भारतीय रीति-रिवाजों के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए भारत की यात्रा की। यह ज्ञान विभिन्न वृत्तांतों में शामिल किया गया है। याकूब किंडी का वृत्रांत (873 सी.ई.) एक ऐसा ही वृत्रांत है। अली इब्न हुसैन मसूदी (956 सी.ई.) ने भारत का दौरा किया और हिन्दू मान्यताओं और किवदंतियों से उनके इतिहास के बारे में लिखा और उनकी उपलब्धियों की प्रशंसा की और उन्हें काले लोगों में 'सबसे चतुर' के रूप में सराहा। बगदाद के पुस्तक विक्रेता इब्न अल-नदीम, *अल-बिरुनी, अल-अशारी, सहारस्तानी* और कई अन्य लेखकों ने भारतीय धर्मों और विज्ञानों के बारे में लिखा। मसूदी द्वारा उल्लेखित *अल-नुबखती की किताब अल-आरा-ए-वलदन्याए-मदाहिब अलहिन्द* शायद हिन्दू सम्प्रदायों का सबसे शुरुआती अध्ययन था। सुलेमान एक व्यापारी थे जिन्होंने 851 सी.ई. में भारत का दौरा किया था। वह चिकित्सा, खगोल विद्या और दर्शन शास्त्र में हिन्दूओं की प्रवीणता की सराहना करते थे। हिन्दूओं के खगोलविदों ने कई तकनीकी शब्द, देशान्तरों और आकाक्षाओं की मुस्लिम गणना और केलेन्डर, *जिज़,* की कई चीजों को अपनाया।

अबू रेहान अलबीरूनी (मृत्यु 1053) इस्लाम के पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने हिन्दू विज्ञान का गहन अध्ययन किया। उन्हें इण्डोलोजी (भारतीय विद्या) का संस्थापक बताया गया है। वे संस्कृत में इतने पारंगत हो गये थे कि हिन्दू विद्वानों ने उन्हें *विद्यासागर* (ज्ञान का सागर) की उपाधि दी। अपनी रचना *तहकीक अल-हिन्द* में, उन्होंने भारत के सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक और धार्मिक इतिहास का वर्णन किया। भारत में गजना के महमूद की सैन्य घुसपैठ के कारण हिन्दू विद्वानों ने *दूर-दराज* के धार्मिक केन्द्रों का रूख किया था। इस आवेशित वातावरण में बेरूनी ने स्वयं पर वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता का सख्त अनुशासन लगाया। उन्होंने किसी भी वाद-विवाद में ना पड़ते हुए बिना किसी पूर्वाग्रह के हिन्दू सिद्धान्तों को समझाने की कोशिश की। हिन्दू विज्ञान के लिए बेरूनी का दृष्टिकोण तुलनात्मक था जो यूनानी और हिन्दू सभ्यताओं के बीच अनुरूपताएं देखता है। उनकी दो सभ्यताओं की तुलना में उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुंचाया कि हिन्दू विज्ञान में आदर्श पूर्णतः नहीं ला सके और हिन्दूओं के वैज्ञानिक सिद्धान्त पूरी तरह से भ्रम की स्थिति में है। किसी भी तार्किक क्रम से रहित हैं और हमेशा भीड़ की मूर्खतापूर्ण धारणाओं के साथ मिश्रित होते है। वह *भगवत् गीता* के अध्ययन को मुस्लिम दुनियां में पेश करने वाले पहले व्यक्ति थे और *पुराणों* का अध्ययन करने वाले और पंतजलि और *सांख्य* का अरबी में अनुवाद करने वाले पहले मुस्लिम थे। काफी विस्तार से उन्होंने हिन्दू खगोल विज्ञान, भूगोल, गणित और चिकित्सा के सिद्धान्तों को रेखांकित किया। बेरूनी ने एक संस्कृत पुस्तक *बटकल* को *बटाजंल* के नाम से अनुवाद किया। इस कृति से उन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया जिसका उपयोग उन्होंने अपनी प्रसिद्ध गणित, ज्यामिति और खगोल विज्ञान पर 1500 पृष्ठों की रचना *कानून मसूदी* में किया। भारत के सभी ऋषियों ने संख्याओं या अंकों और युगों (*त्वारिख*) के बारे में जो कुछ कहा है वैसा ही अबुरेहान द्वारा *बटकल* (सतपथी, दिनांकित नहीं) के अपने अनुवाद में दिया है।

17.2.3 खगोल विज्ञान

प्रारंभिक मध्यकालीन समय में भारत में काफी संख्या में खगोल वैज्ञानिक फलते-फूलते रहे। ये गाविन्दस्वामीन, शंकरनारायण, आर्यभट्ट द्वितीय, श्रीपति और शतनन्द थे। उनकी रचनाओं से इस अवधि में भारत में गणित और खगोल विज्ञान के उत्कर्ष के बारे में पता चलता है।

गोविन्दस्वामिन (800-850 सी.ई.) ने *महाभाषकन्या* पर एक टिप्पणी लिखी। उन्होंने आर्यभट्ट की प्रणाली में महारत हासिल की। वह केरल के राजा रविवर्मन के दरबार में थे। उन्होंने *गोविन्दकृति* भी लिखी जो कि खगोल विज्ञान और गणित पर एक मूल कृति थी। उनके शिष्य शंकरनारायण (825-900 सी. ई.) की *लघुभदसकेरिया* पर टिप्पणी भी उल्लेखनीय है। उन्हें केरल के चेर राजवंश के रविवर्मन के दरबार में मुख्य खगोल वैज्ञानिक के रूप में नियुक्त किया गया था। आर्यभट्ट द्वितीय (950 सी. ई.) ने *महासिद्धान्त* नाम एक ग्रन्थ रचा। यह काफी हद तक रूढ़िवादी विचारों पर आधारित एक सारगार्भित रचना है जो अनश्चित समीकरणों के व्यवहार में कुछ मौलिकता दिखाती है।

श्रीपति (999 सी. ई.) ने ऐसी रचनाएँ रची जिनमें (1) *धिकोटि, आर्यभट्टिय* पर एक कराना रचना, (2) *सिद्धान्त अखर* नामक एक पूर्व खगोलीय रचना और (3) एक गणितिए ग्रन्थ *गणिततिलक*। उन्हें चन्द्रमा की दूसरी असमानता की खोज का श्रेय दिया जाता है। शतानन्द (ग्याहरवीं शताब्दी सी.ई.) उड़ीसा के पुरी से थे और *सूर्य सिद्धान्त* की शैली में कमोबेश *भाषवती* नामक एक कराना रचना लिखी थी। इस रचना को पूर्वी क्षेत्रों के खगोलविदों और पंचाग निर्माताओं के बीच काफी लोकप्रियता मिली।

कुछ मौलिक रचनाओं के बावजूद इस अवधि में गौण रचनाओं और काफी संख्या में टिप्पणियों का उत्पादन हुआ। हालांकि इस अवधि को केवल टीकाओं के रूप में चिन्हित

करना अवास्तविक होगा। इस प्रकार का साहित्य यदि पहले नहीं तो आठवीं या नौवीं शताब्दी से दिखाई पड़ने लगा था। टीकाकारों द्वारा विपुल लेखन निम्नलिखित है:

- उत्पल ने वराहमिहिर पर विशेषज्ञता हासिल की और उनकी रचनाओं पर टीकाएँ लिखी;
- पृथुदक स्वामिन (860 सी. ई.) ने ब्रह्मगुप्त पर टीकाएं लिखी;
- आर्यभट्ट के विद्वान सूर्यदेव यजवन (1191-1250 सी.ई.) ने मजुंला के *लघुमानस,* भास्कर प्रथम और आर्यभट्ट पर टिप्पणियां लिखी;
- प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य सूर्यदेव ने वराहमिहिर और श्रीपति की *क्रमपद्धति* पर टीकाएं लिखी।

17.2.4 भारत में नक्षत्र-यंत्र

भारत में नक्षत्र-यंत्र (खगोलिय उपकरण) के उपयोग का श्रेय अरबों को जाता है। यह उपकरण मुस्लिम खगोलविदों द्वारा भारत लाया गया था। यह एक यूनानी आविष्कार था। टॉलेमी इससे परिचित थे और उन्होंने त्रिविमिय प्रक्षेपण पर एक निबन्ध लिखा जिसे दसवीं शताब्दी में अरबी में और बारहवीं शताब्दी में अरबी से लेटिन में अनुवाद किया गया था। अरब खगोलविदों ने नौवीं शताब्दी सी.ई. से नक्षत्र-यंत्र के उपयोग को लोकप्रिय बनाया। अल-फज़ारी (800 सी. ई.) जो सबसे प्रारंभिक मुस्लिम खगोलविदों में से एक थे, उन्होंने इस विषय पर एक लेख लिखा। अरब संस्कृति क्षेत्र के अन्य उल्लेखनीय प्रारंभिक खगोलविद जिन्होंने नक्षत्र-यंत्र पर महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे उनमें अबू अल-माशार, उमर अल-बल्ख़ी, बगदाद के अली इब्न ईसा, अल-फरघानी (830 सी. ई.), अल-बिरूनी (973-1048 सी. ई.), कोंड़ोवा के अल-मजरीति (1000 सी. ई.), अल-जकली (1029 सी. ई.) और नासिर अल-दीन-अल-तुसी (1201-74 सी. ई.) शामिल थे। उपकरण पर अल-बिरूनी के दो लेख *कम्प्रीहेन्सिव स्टडी ऑन पॉसिबल मेथड्स फोर दना कन्सट्रक्शन ऑफ एस्ट्रोलेब* और *'द बुक ऑफ इन्सट्रक्शसन इन द एलीमेन्टस ऑफ द आर्ट आफ एट्रोलोजी'* ने बहुत लोकप्रियता हासिल की और ये यूरोपीय भाषाओं के अनुवादों में उपलब्ध हैं।

नक्षत्र-यंत्र दिन और रात के दौरान समय की गणना में मदद कर सकता है, सूर्य और तारों की स्थिति का पता लगा सकता है, ऊँचाईयों और दूरियों की समस्याओं को हल कर सकता है, अन्य गणना कर सकता है और सबसे बढ़कर अपनी प्लेटों और अपने श्रेणीकरण के साथ खगोल विज्ञान के तत्वों को सिखाता है।

17.2.5 रसायन शास्त्र

यद्यपि रस विद्या वैदिक काल से ज्ञात थी परन्तु इसका व्यवहारिक प्रयोग तंत्रीय चरण के दौरान लोकप्रिय हुआ। विभिन्न तांत्रिक ग्रन्थों में तीन धातुओं को सोने में बदलने के तरीकों के बारे में बताया गया है। प्रसिद्ध बौद्ध रस शास्त्री नागार्जुन जिनकों *रस रत्नाकर* का श्रेय दिया जाता है, उसमें अनेक गन्धकीय यौगिकों की तैयारी और इस विद्या की प्रक्रियाओं का वर्णन मिलता है। यह जस्ता, पारा और ताँबे के निष्कर्षण और क्रिस्टलीय पाटे के लाल सल्फाइड, *स्वर्ण सिन्दुर* या *मकर ध्वज* की तैयारी जैसी कई रासायिक प्रक्रियाओं का वर्णन देता है। इस औषधि का अभी भी स्वदेशी चिकित्सा पद्धति में उपयोग किया जाता है। इस ग्रन्थ में आसवन, उधृवपातन, निष्कर्षण, केलशीकरण, पाचन, वाष्पीकरण, निस्पंदन, धूनी देने, संलयन, चूर्णन, वाष्प और रेत द्वारा गर्म करने और विभिन्न भौतिक रसायनिक प्रक्रियाओं को करने के लिए दो दर्जन से अधिक उपकरणों का वर्णन है।

रसारनव या *देवीशास्त्र* (बारहवीं शताब्दी) शैववंथ का एक तंत्र है जो रसविद्या और रसायन विद्या से संबंधित है। यह ताँबा, टिन, सीसा या लोहे जैसे विभिन्न धातु के यौगिकों के द्वारा आग की लपटों को दिए गए विभिन्न रंगों का वर्णन देता है। विभिन्न प्रकार के खनिजों और अयस्कों, पाइराइट्स से तांबे और केलेमाइन से जिंक के निष्कर्षण, फिटकरी के आसवन (संभवतः जिससे सल्फ्यूरिक एसिड बनता है) और आसवन द्वारा पारे की शुद्धि का वर्णन इस तांत्रिक ग्रन्थ में किया गया है। भारत के रस विद्या के विचार और ग्रन्थ चीन और तिब्बत एक फैल गये। संस्कृत में एक तांत्रिक ग्रन्थ, *धातुवाद* जो तिब्बती साहित्य के तंजूर विभाग में अनुवादित पाया गया, वह एक ताँबे के लवण के घोल से तांबे के निक्षेप और तांबे के और सफेद सीसे के मिश्रण से तैयार यौगिकों का विवरण देता है। इसी समय के संस्कृत के एक अन्य तांत्रिक ग्रन्थ *सर्वेकररसायन* क्यूप्रस सल्फाइड बनाने की प्रक्रिया की व्याख्या करता है। स्फीबनाइट और लोहे के मिश्रण को गर्म करके सूरमा बनाने की तैयारी का उल्लेख *राशेन्द्र चूड़ामनी* (तेरहवीं शताब्दी) में किया गया है। इससे पता चलता है कि यह प्रक्रिया भारत में बेसिल वेलंटाइन (1604) द्वारा यूरोप में खोज की तुलना में बहुत पहले से ही जानी जाती थी। फिटकरी से केलोमेल और विट्रियोल का तेल (सल्फ्यूरिक एसिड) को बनाना, रजंक के लिए मोडेन्ट के रूप में फिटकरी का उपयोग और केलामाइन से जस्ते का निष्कर्षण *रसप्रकाशसुधाकर* (तेरहवीं शताब्दी) में दिया गया है (सतपथी), (दिनांकित नहीं)।

हीन धातुओं को सोने में बदलने की संभावनाओं के बारे में रसायनविदों के विचारों ने प्रयोगों में बार-बार विफल होने के कारण धीरे-धीरे अपना आकर्षण खो दिया। लेकिन इस प्रक्रिया में प्राप्त पारा, लोहा, ताँबा और अन्य धातुओं के विनिर्मित पदार्थों का चिकित्सा में उपयोग किया जाने लगा। परिणामस्वरूप धातु से विनिर्मित पदार्थों के उपयोग से सम्बन्धित कई चिकित्सा ग्रन्थों का संकलन किया गया था। ऐसी एक रचना बौद्ध ग्रन्थ *रसरत्न समुच्चय* में तत्कालिक रसायनिक जानकारी की एक विशाल मात्रा है लेकिन बहुत कम है जो नया और अर्न्तनिहित मूल्य का है। यह पारा, खनिज, धातुओं, बहुमूल्य रत्नों, द्रवीकरण, भस्मीकरण, उपकरणों के निर्माण, धातुओं के परिशोधन और सार के निष्कर्षण (सक्रिय सिद्धान्तों के परिशोधन) के बारे में बात करता है। यूरोप में जो हुआ उसके विपरीत भारत में रसविद्या तर्क संगत वैज्ञानिक रसायन में विकसित होने में विफल रही। परिणामस्वरूप यह धीरे-धीरे विलुप्त हो गई।

मध्यकाल में रसायनिक ज्ञान और प्रक्रियाओं के उपयोग के बहुत सारे प्रमाण हैं जो विशेष रूप से धातु विज्ञान और धातु कर्म, बारूद, शोरा, खनिज अम्ल, फिटकरी, कागज, स्याही, साबुन और सौन्दर्य प्रसाधनों से संबंधित है। मुगल बादशाहों द्वारा तांबे, कांस्य और पीतल से बनी भारी तोपों का उपयोग किया गया था। बड़े पैमाने पर पिटवां लोहे को तपाकर हथौड़े के माध्यम से घढ़ने के काम के उदाहरण निम्नलिखित द्वारा प्रदान किये जाते हैंः धार में लौह स्तम्भ, मांउट अबू में स्तम्भ (चौदहवीं शताब्दी), कोणार्क और पुरी के मन्दिरों में लोहे के बड़े शहतीर (12वीं शताब्दी), बीजापुर, हैदराबाद और मुर्शिदाबाद में पाई गई मुगलकाल की लोहे की बड़ी तोपें। भारत में विभिन्न स्थानों पर स्टील की तलवारें के निर्माण के उदाहरण *जुक्तीकलपतीरू* (11वीं शताब्दी) और *श्रृंगधारा पड़बली* (14वीं शताब्दी) में पाये जाते हैं।

तांबे के बर्तनों को कलई करने की शुरुआत मध्यकालीन भारत में संभवतः मुसलमानों के आगमन के बाद शुरू हुई। इस अवधि के दौरान बिडरी (आन्ध्र प्रदेश का एक शहर बिदर) नाम की एक मिश्र धातु तांबा, सीसा और टिन या तांबा, सीसा और जस्ता से बनती थी और इसका उपयोग फूलदान, बेसिन और प्याले आदि बनाने के लिए किया जाता था जिसमें फिर सोना और चांदी भी जड़ा जाता था। ये उत्पाद बड़े पैमाने पर हैदराबाद,

बंगाल और उत्तर पश्चिम भारत में बनाए गये थे। सोडा-लैड़ग्लास के साथ मिश्रित धातु के ऑक्साइड के साथ विभिन्न रंगो में सोने और चांदी के आभूषणों पर मीनाकारी करना पुरे भारत में ज्ञात था।

लगभग 1000 सी. ई. में नेपाल के माध्यम से चीन से भारत में कागज बनाने की शुरुआत हुई और यह मुगल और पेशवा अवधि के दौरान एक समृद्ध उद्योग बन गया। इसमें उपयोग किये जाने वाले कच्चे माल में मुख्य रूप से फटे-पुराने कपड़े, पुराने टेंट, कुछ झाड़ियों और पेड़ों की छाल और इसी प्रकार के पदार्थ होते थे। इन्हें चूने से बने पानी के जलाशय में लुगदी के रूप में पीटा जाता था और फिर सांचों की मदद से कागज की चादरें बनाई जाती थी। सौन्दर्य प्रसाधन और सुगन्धों को तैयार करना भी छठी शताब्दी सी.ई. से ज्ञात था। सौन्दर्य प्रसाधन और सुगन्धों की तैयारी के लिए कई सुगंधित अवयवों का विस्तृत विवरण और तकनीकी प्रक्रियाएँ *गन्धसार* में दिया गया है जिसका संकलन 1000 सी.ई. के आसपास 500 से 1000 सी.ई. के बीच के दिनांकित पहले के ग्रंथों के आधार पर किया गया था।

इस प्रकार भारत में रसायन शास्त्र का विकास आनुभाविक रूप से हुआ। यह कमोबेश विभिन्न प्रकार की व्यवहारिक कलाओं जैसे मिट्टी के बर्तन बनाने, धातु विज्ञान और धातुकर्म और औषधियों के निर्माण से जुड़े तथ्यों की आकस्मिक खोज से जुड़ा हुआ था और उसमें रसायनिक सिद्धान्तों या रसायनिक परिवर्तनों की प्रकृति पहचान के बिना था। इसका परिणाम यह हुआ कि विचार प्रायोगिक अवलोकनों और सत्यापन के आधार पर वैज्ञानिक सिद्धान्तों के रूप में अंकुरित नहीं हो सके (सतपथी, दिनांकित नहीं)। इसी तरह व्यवहारिक कला के अनुकरण में प्रदर्शित यांत्रिक कौशल वैज्ञानिक ज्ञान के मार्गदर्शन और सुझावों के अभाव में प्रौद्योगिकी में विकसित नहीं हो सका। सोचने और जानने की तुलना में रसायन विज्ञान पर देखने और विश्वास करने का वर्चस्व था। नागार्जुन के काल के बाद भारतीय ग्रन्थ बहुत कम रसायनिक जानकारी प्रदान करते हैं, हालांकि 16वीं शताब्दी के अन्त तक काफी बड़ी संख्या में टीकाएँ और संकलन तैयार किये गए थे। फिर भी, खनिजों, धातुक्रम तकनीकों, रोजमर्रा के उपयोग के रसायनों के प्रशंसकरण, उनके अयस्कों से धातुओं के निष्कर्षण और कुछ धातु के निर्माण में शिल्प कौशल जिसके लिए कुछ रसायनिक प्रक्रियाओं की महारत की आवश्यकता थी, इन क्षेत्रों में भारतीय उपलब्धियां काफी उल्लेखनीय थी। प्राचीन भारतीय रसायनज्ञों और धातुविदों द्वारा प्रदर्शित कुछ तकनीकी कौशल वास्तव में उल्लेखनीय थे।

17.2.6 चिकित्सा विज्ञान

मध्यकाल के दौरान भारतीय औषधिय विज्ञान जिस पर पहले आयुर्वेद का वर्चस्व था उसमें कई परिवर्तन देखे गये। नई शिक्षा पद्धतियों जैसे यूनानी को भारत में अरबों द्वारा लाया गया था। अरब प्रभाव ने चिकित्सा पद्धति औषध बनाने की विद्या और औषध विज्ञान में परिवर्तन लाए। मुस्लिम चिकित्सकों को उनके पदनाम *हकीम* या *तबीब* से जाना जाता था। *हकीम* का अर्थ वैज्ञानिक या विद्वान व्यक्ति होता है जबकि *तबीब* का अर्थ है चिकित्सक। *जराह* एक सज्जन था और शल्य चिकित्सा को *इल्मे जराहत* कहा जाता था। अधिकांश चिकित्सा संबंधी और वैज्ञानिक पुस्तकें अरबी और फारसी में लिखी गई। भारत में इस्लामी चिकित्सा की स्थापना दो फारसी चिकित्सकों की पुस्तकों पर आधारित थी जिन का नाम जकारिया राज़ी और हकीम इब्न सेना था। टोगिन के शासन के दौरान (1098-1127) ख़्वार्जम से एक विद्वान हकीम जैनुद्दीन इब्राहिम इस्माइल ने चिकित्सा शास्त्र पर *ज़ख़ीरा ख्वाज़िम* नामक किताब लिखी। इस संग्रह ने भारत में 12वीं से 15वीं शताब्दी तक बहुत प्रभाव डाला। पुस्तक औषधि की परिभाषा देती है और एक बीमारी का निदान, बीमारी के

कारण, बुखार, विष के प्रकार और मानवीय शरीर की बनावट का वर्णन करती है। उन्होंने एक अन्य पुस्तक *अद्यराज़ अल-तिब्बती* भी लिखी जो चिकित्सा के स्थानीय चिकित्सकों के बीच भी लोकप्रिय थी। उनका *तिब्बी यादगार* 11 अध्यायों का एक व्यापक औषध कोश था।

बोध प्रश्न 1

1) प्रारंभिक मध्यकाल में गणित और खगोल विज्ञान के क्षेत्रों में क्या उपलब्धियां थी?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारतीय ग्रन्थों के अरबी में विभिन्न अनुवादों ने अरबी विज्ञान को कैसे प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) एक नक्षत्र-यंत्र क्या है? खगोल विज्ञान में इसके महत्व का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.3 प्रौद्योगिकी

कभी भी कोई मानव बस्ती नहीं रही जिसने अपने अस्तित्व के लिए किसी प्रकार की तकनीक या शिल्प का इस्तेमाल नहीं किया। वास्तव में प्रौद्योगिकी का इतिहास राजनैतिक या आर्थिक अध्ययन से कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रौद्योगिकी एक समाज की भौतिक संस्कृति का एक अविभाज्य हिस्सा है। एक बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि अधिकांश रूप से औजार, उपकरणों और यंत्रों को लकड़ी और मिट्टी से ही बनाया जाता था जबकि लोहे को केवल तभी काम में लाया जाता था जब सबसे आवश्यक हो। जरूरत पड़ने पर रस्सी, चमड़ा और बांस का भी इस्तेमाल किया जाता था। यही कारण है कि वे सस्ती थी।

आइए अब हम प्रारंभिक मध्यकाल की कुछ तकनीकी विशेषताओं पर नजर डालें।

17.3.1 सिंचाई प्रौद्योगिकी

प्रारंभिक भारतीय कृषि सिंचाई और प्राकृतिक वर्षा पर निर्भर थी। कई प्राथमिक स्त्रोतों की सूचनाएं और साथ ही साथ गौण आंकड़े हमें प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में सिंचाई प्रौद्योगिकी के बारे में बहुत कुछ बताते हैं। सिंचाई को मौटे तौर पर दो अर्थात् प्राकृतिक सिंचाई और कृत्रिम सिंचाई में वर्गीकृत किया जा सकता है। मानसून वर्षा के माध्यम से प्राकृतिक सिंचाई होती है जो नदी निकायों को जल पहुंचाती है और सिंचाई का एक अच्छा स्त्रोत बन जाती है। अन्यथा बारिश के दौरान खेतों पर पानी का छिड़काव एक महान सिंचाई तरीका है। कुओं, नहरों की खुदाई, जलीय अभियांत्रिक प्रयासों के माध्यम से कृत्रिम सिंचाई होती है। कुंओं और टेंकों की खुदाई का प्रचार भारत में पुण्यशील धर्मार्थ कार्य के रूप में किया गया। सिचांई के अप्रत्याक्षित प्राकृतिक साधनों के कारण कृषि विस्तार और परिणामस्वरूप मानव सभ्यता का विकास गंभीर रूप से पर्याप्त जलीय संसाधनों की उपलब्धता से संबंधित है। इसलिए ये आश्चर्य की बात नहीं है कि भारतीय इतिहास के मध्यकाल में जलीय उपकरणों के पर्याप्त उपयोग की ओर अत्यधिक ध्यान दिया गया था।

17.3.2 पाठ्य संदर्भ

बारहवीं शताब्दी की एक रचना *अपराजितप्रच्छ* बावलियों, कुंओं, तालाबों आदि की चर्चा करने वाला एक पूरा अध्याय समर्पित करने वाला सबसे पहला ग्रन्थ प्रतीत होता है। प्रारंभिक मध्यकालीन ग्रन्थ *बृहतकल्पसूत्रभाष्य* जलीय उपकरणों की विविधता के बारे में एक उल्लेखनीय जागरूकता दिखाता है और इसलिए हम विभिन्न क्षेत्रों में भंडारण प्रणालियों और सिंचाई क्रिया विधि की बहुलता पाते हैं। लता (दक्षिण गुजरात) का क्षेत्र पूरी तरह से बारिश पर निर्भर था, सिन्धु (निचली सिन्धु घाटी और सिन्धु डेल्टा) नदियों पर निर्भर थी, द्रविड़ देश (सुदूर दक्षिण भारत) जलाशयों की भूमि थी और उत्तरा पथ (आमतौर पर उत्तर भारत) में कुएं सबसे प्रमुख थे। चूंकि बारिश की विफलता एक सामान्य घटना थी इसलिए कुंओं, टेंकों और भंडारण जलाशयों जैसे सिंचाई के कृत्रिम साधनों पर काफी निर्भरता थी। यहाँ तक कि *अल-बेरूनी* भारत में असमान वर्षा के प्रारुप पर ध्यान देते हैं।

कश्मीर में, आविष्कारशील, इन्जीनियरिंग कौशल के बारे में बताने वाली सबसे महत्वपूर्ण सिंचाई परियोजना कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मन की है। उनके मंत्री सुइय्या ने कश्मीर को महापद्म झील की विनाशकारी बाढ़ से बचाने के लिए वितस्ता (झेलम) नदी पर बाँध बाँधा। सुइय्या ने वितस्ता के दोनों छोरों पर नदी की तलहट को गहरा किया। और सभी खतरे वाले बिन्दुओं पर एक स्थायी पत्थर के बाँध का निर्माण करने के बाद नदी के तल को साफ किया और नदी के किनारे सात योजन तक सुरक्षात्मक पत्थर के तटबंधों का निर्माण किया। इस प्रकार वह वितस्ता और सिन्धु के संगम को पुराने से अपने मौजूदा स्थान पर स्थानांतरित करने में सक्षम रहा। जल के स्तर से ऊपर की गई भूमि पर उन्होंने अनेक गाँव बसाये जो गोलाकार तटबंधों द्वारा सुरक्षित थे और व्यापक परियोजनाओं का निर्माण किया। उनके कार्यों ने व्यापक समृद्धि उत्पन्न की जिस पर कलहन भी टिप्पणी करते हैं। कश्मीर के एक अन्य राजा ललितादित्य मुक्तपीड़ ने कई जलभराव वाले क्षेत्रों को लक्षधारा पर वितस्ताके पानी के संचालन करने के लिए और पानी के पहियों की एक श्रृंखला का निर्माण करने के लिए एक व्यवस्था की जिसके माध्यम से विभिन्न गाँवों में पानी का वितरण किया गया। इसके अलावा राजा हर्ष को बड़ी पम्पा झील की खुदाई का श्रेय दिया जाता है जिसकी स्टाईन ने आधुनिक पम्पासर से पहचान की है।

राजस्थान में गुजरात की तुलना में कम बारिश होती थी। यहाँ 11वीं शताब्दी के बाद के शिलालेखों में सिंचाई प्रौद्योगिकी का उल्लेख है जिसने इस शुष्क क्षेत्र में विविध फसलों के

उत्पादन को संभव बनाया। गुजरात के चालुक्यों ने भी कई सिंचाई कार्य शुरू किये। ऐसा प्रतीत होता है कि राजवंश के पहले राजा मूलराज प्रथम ने भी सिंचाई की व्यवस्था पर ध्यान दिया। श्रीधर ने अपनी प्रशस्ति में दावा किया है कि उनके एक पूर्वज को मूलराज प्रथम (941-996 सी.ई.) ने वापी, कुएं और टैंक खोदने के लिए नियुक्त किया था। टेंक, वापी, जलाशय, झीलों, कुंओं की एक लम्बी सूची का निर्माण राजस्थान के राजाओं और रानियों ने किया था। इनमें से कुछ अपनी तकनीकी कौशल का प्रदर्शन करते हैं। उदाहरण के लिए जय सिंह सिद्धराज (1099-1144 सी.ई.) को बड़ी संख्या में टेंक और वापी के निर्माण का श्रेय दिया जाता है। उन्होंने अपनी राजधानी में सहस्त्रलिंग झील नामक एक बड़े जलाशय का निर्माण किया था। पुरातत्व इस सिंचाई परियोजना में प्रयोग किये गये उच्च इंजीनियरिंग कौशल की पुष्टि करता है। झील को सरस्वती नदी से पानी मिलता था जिसके साथ यह 300 फीट लम्बी नाली से जुड़ा हुआ था। खुदाई ने पत्थर के जलमार्ग को प्रकाश में लाया है जिसके माध्यम से झील तक पानी पहुँचाया जाता था। इसके अलावा भीमदेव द्वितीय (1178-1242 सी.ई.) के शासनकाल के दौरान उत्तर-पश्चिम सौराष्ट्र और कच्छ में सिंचाई की सुविधाओं को बढ़ाने का प्रयास किया गया था। केवल राजाओं ने ही नहीं बल्कि सामंतों और व्यापारियों ने भी वापियों के निर्माण और अन्य सिंचाई सुविधाएं प्रदान करने की दिशा में काफी सरोकार दिखाया। वास्तव में शुष्क क्षेत्रों में जलसाधनों का निर्माण एक पुण्य कार्य माना जाता था।

हालांकि बड़े पैमाने पर क्षेत्र से परे स्थानीय सिंचाई की योजनाओं के कुछ उदाहरण भी हैं। *लेखापद्धति* में *वारिग्रहकरण* (सिंचाई के प्रभारी अधिकारी) का उल्लेख है। यह बताता है कि सिंचाई का एक विभाग था और राज्य सिंचाई कार्यों में रूचि लेता था। जहाँ तक कुंओं से पानी उठाने के लिए उपयोग किये जाने वाले तकनीकी उपकरणों का संबंध है बहुत सारे साक्ष्य उपलब्ध हैं। *देसीनाममाला अग्गट्टी, उनड़्डी, ढेंका* जैसे शब्दों का उल्लेख करती है जिसका अर्थ होता है पानी सीचने की तरकीब जिसमें एक छोर पर एक बाल्टी के साथ क्षेतिज बीम लटका होता है। यह तरकीब शायद पैर से संचालित होती थी और इसका उपयोग कुंओं और टेंकों पर किया जा सकता था जहां पानी कम होता था। बाण *घटी* के माध्यम से धान के खेतों की सिंचाई का उल्लेख करता है। खेतों को सिंचित करने के लिए मेरतुंग ने भी पानी के पहिये के उपयोग को देखा। पानी के पहिये के घूमने का वर्णन करके उन्होंने कहा कि खाली बाल्टी भर गई और भरी बाल्टी खाली हो गई। दक्षिण राजस्थान में विशेष रूप से जोधपुर, उदयपुर, बंसवाड़ा, सांचौर और सिरोही के क्षेत्रों के अभिलेख बार-बार *अरहट्टा/ अरघट्टा* और *धीमड़ा* या *धीकू* की मदद से सिंचाई का उल्लेख करते है। आमतौर पर फारसी व्हील के रूप में अनुवादित अरघट्टा की तकनीकी प्रकृति एक विवाद का विषय है। अरघट्टा का अनिवार्य हिस्सा घटीयंत्र था जो एक घड़ों वाला उपकरण था। आमतौर पर जिस पर पहिये लगे होते थे लेकिन इसके रिम से जुड़े नहीं होते थे। इसलिए सिंचाई यंत्र के रूप में घटीयंत्र को अक्सर घड़ों की एक माला के रूप में देखा जाता है। सिद्धार्शी (906 सी.ई.) की रचना *उपामितिभावप्रपंचकथा* उपकरण का सबसे विस्तृत विवरण प्रस्तुत करती है। ग्रन्थ के अनुसार अरघट्टा एक जलाशय से पानी सींचता था जो अपना पानी एक सिंचाई के कुंए से प्राप्त करता था। ग्रन्थ पहिये के आरे (आरक) को उजागर करता है जो एक घूमने वाला उपकरण था। हालांकि यह किसी भी दांतेदार पहिये के क्रम को संदर्भित नहीं करता है जो क्षेतिज घूर्णी गति को एक उर्ध्वाकर घूर्णी गति में परिवर्तित करने में सक्षम करता है। बाद की विशेषता जो 14वीं शताब्दी से दिखाई देने लगी, वह विशिष्ट फारसी पहिया या साक्य का प्रतिनिधित्व करती थी। मन्दसौर (पाली जिला, राजस्थान) से जलीय मशीन के रूप में अरघट्टा की व्यापकता को 11वीं शताब्दी की पट्टिका द्वारा भली-भांति प्रदर्शित किया गया है।

17.3.3 दक्षिण भारत

यहाँ हम एक बार फिर से यह याद कर सकते हैं कि प्रारंभिक मध्यकालीन ग्रन्थ *ब्रहत कल्पभाष्यसूत्र* जलीय संसाधनों और परियोजनाओं में क्षेत्रीय विविधताओं को स्वीकारते है। यह ग्रन्थ द्रविड़ देश में अर्थात् सुदूर दक्षिण में कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित टेंकों का महत्व को उजागर करता है। प्राचीनतम् तमिल कविता *संगम गद्यावली* हमें प्राचीनतम् तमिलाकम् में पांच परिस्थितिक क्षेत्रों के बारे में बताती है। यह थे *नेयदल* (कृषि क्षेत्र), *मरूदम्* (तटीय क्षेत्र), *कुरींजी* (वनों से ढ़का पर्वतीय क्षेत्र), *मुल्लै* (चरागाही क्षेत्र), और *पालै* (शुष्क क्षेत्र)। पाँचवी शताब्दी सी.ई. तक *तमिलाकम्* में ज्यादातर बस्तियाँ तटीय और कृषि क्षेत्र में स्थित थी। केवल 600 सी.ई. अवधि के बाद ही स्थाई कृषि बस्तियाँ *नेयदल* और *मरूदम* पारिस्थितिक क्षेत्रों से बाहर फैली हैं। यह बड़ी संख्या में भूमि अनुदान जारी करके कृषि के विस्तार के साथ संभव हो पाया। कृषि का विस्तार अविभाज्य रूप से सिंचित क्षेत्र के विस्तार के साथ जुड़ा हुआ है। दक्षिण में अधिकाश नदियों का स्वरूप बारह मासी नहीं है उस क्षेत्र में सिंचाई कृषि का प्रसार काफी हद तक टैंक सिंचाई पर निर्भर था। हालांकि यह कई मामलों में ग्राम समुदाय की पहल थी परन्तु शासकों के स्तर पर टैंक सिंचाई के लिए समर्थन के ज्ञात उदाहरण हैं। इस बिन्दु पर हम कुछ उदाहरण पेश करेंगे। पल्लव और चोल विशेष रूप से प्रभावशाली आकार के टैंकों की खुदाई के लिए जाने जाते हैं। इन टेंकों के निर्माण का वर्णन करने वाले शाही शिलालेख हमें उन जलद्वारों के बारे में सूचित करते हैं जो टेंकों से खेतों तक पानी को विनियमित करने और वितरित करने के लिए थे। त्रियानेरी टेंक में 23 जलद्वार जबकि वीरानेरी टेंक में 74 जलद्वार थे। राजेन्द्र चोल के तिरूवलंगाडु ताम्रपत्र में चोलगंगा टेंक के वर्णन में कई जलद्वार बताए गये हैं। ये जलमार्ग शिलालेखों के अनुसार सिंचाई मार्गों से जुड़े थे। इन जलद्वार को ग्रेनाइट के पट्टियों से तैयार किया गया था। कई जलद्वारों का अस्तित्व, संभवतः एक प्रभावशाली आकार में, बड़े आकार के टेंकों के बारे में बताता है और उनके द्वारा सिंचित पर्याप्त क्षेत्र की जानकारी देता है।

17.4 पर्यावरण

भारतीय उपमहाद्वीप में हम मुख्य रूप से दो प्रकार की जीवनशैली पाते हैं: एक मुख्यतः चरागाही-खानाबदोशी और दूसरी मुख्य रूप से स्थायी कृषि। मध्यकाल में भूमि के अनुदान की बढ़ती प्रथा के साथ स्थायी कृषि सीमा का विस्तार नये क्षेत्रों में होता गया। विभिन्न राज्य व्यवस्थाओं के तहत् ब्राह्मण अनुदान भोगियों ने किसानों को बंजरभूमि को खेती के तहत् लाने में मदद की और सिंचाई के कृत्रिम साधनों के साथ उन्होंने ग्रामीण इलाकों में कृषि अधिशेष और समृद्धि सुनिशिचित की। हालांकि भूमि के इन कृषि योग्य स्थानों के बिलकुल विपरीत शुष्क परिदृश्य भी अपनी गतिशीलता के साथ मौजूद थे। उनमें मवेशियों के लिए कई बार झगड़े होते थे और चरागाहों के लिए झड़पें होती थी। जैसा कि दक्कन और दक्षिण भारत में अनेक वीरागल (हीरोस्टोन) इंगित करते है। दो क्षेत्रों के बीच अवास्तविक द्विविभाजन ध्यान आता है। जैसे प्रारंभिक काल में बस्ती या जनपद या वन या अरण्य, के बीच; नदी के नम कृषि क्षेत्रों और शुष्क परिदृश्य के बीच पूरकता इसी तरह नजदीकी पारस्परिक आदान-प्रदान और सहजीवन का संकेत देते हैं।

नीचे कुछ अवलोकन प्रस्तुत किये गये है जो जोस गोमेन्स के शोध कार्य पर आधारित है। मध्य एशिया, अफ्रीका और मध्यपूर्व के व्यापक सन्दर्भ में दक्षिण एशिया के गतिशील और तृण वातावरण में कैसे पूर्वआधुनिक युग में अपने स्थानिक और लौकिक आयामों को व्यक्त किया है, इस पर उनका कार्य आधारित है।

17.4.1 मध्यकालीन दक्षिण एशिया

मध्यकाल में भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकांश भाग और पहले के समय भी, नम कृषि भूमि के बड़े और कभी-कभी निर्बाध विस्तृत क्षेत्र द्वारा परिलक्षित होते थे। बंजर भूमि को जोतने योग्य बनाया गया और खेती के लिए जंगलों को साफ किया गया। गंगा, गोदावरी और कृष्णा नदी की उपजाऊ घाटियों ने अधिशेष उत्पन्न किया जिसने राज्यों के उद्भव की नींव रखी। यह एक विशेष रूप से स्थायी कृषि का क्षेत्र था और मध्य एशिया और मध्य पूर्व से खानाबदोशों की घुसपैठ केवल कुछ ही उदाहरण थे। इस तरह की घुसपैठ ने खानाबदोश सीमांत और कृषि समाज के बीच टकराव को रेखांकित किया। मुख्य रूप से एक स्थायी कृषि व्यवस्था होने के बावजूद, भारतीय उपमहाद्वीप घुमन्तू जन-जातियों का भी घर था जिनमें से कुछ स्थायी समाजों के हाशियें पर रहते थे और अन्य स्थायी ग्राम जीवन के साथ अधिक निकटता से जुड़े थे।

गोमेन्स का कहना है कि मध्यकाल से, भारतीय उपमहाद्वीप बड़े शुष्क क्षेत्र का एक हिस्सा बन गया था जो यूरोशिया के शुष्क क्षेत्र से फेला हुआ था, जो उत्तरी अफ्रीका के अटलांटिक तट से लेकर भारतीय उपमहाद्वीप के पूर्वी और दक्षिणी छोर तक फैला हुआ था। इस विशाल भू-भाग में यूरेशिया और मध्यपूर्व की घुमन्तू जीवन शैली धीरे-धीरे भारतीय उपमहाद्वीप में अधिक स्थाई कृषि नम वातावरण में बदल जाती है। अरबी, फारसी और तुर्की खानाबदोश तत्वों के रूप में घुड़सवार योद्धाओं के रूप में घुमन्तू लोग खुरासान और ट्रांसोक्सेनियां से उत्तर-पश्चिम सीमा क्षेत्र से भारतीय उपमहाद्वीप में प्रवेश करते हैं।

प्रारंभिक मध्यकालीन राज्यव्यवस्थाओं में से अधिकांश कावेरी डेल्टा और उत्तर में गंगा उपजाऊ नदी घाटियों से लाभान्वित हुई। हालांकि इस समृद्ध कृषि भूमि ने पूरे उपमहाद्वीप में एक अखंड श्रृंखला नहीं बनाई। पश्चिम में सिन्ध और राजस्थान के शुष्क क्षेत्र, थार रेगिस्तान के दक्षिणवर्ती क्षेत्र में एक विस्तार के साथ और शुष्क पश्चिमी दक्कन का पठार रायलसीमा क्षेत्र तक फेला हुआ था जो तुंगभद्रा और कृष्णा के मध्य में स्थित था और यह दक्षिण पश्चिम में मैसूर पठार के साथ उस शुष्क क्षेत्र का निर्माण करता था जो पहले वर्णित मध्य एशिया और मध्यपूर्व को भारतीय महाद्वीप से जोड़ता था।

शुष्क क्षेत्र, पोष्टिक घासों के विकास के कारण लेकिन अनिश्चित निर्वाह की संभावनाओं के साथ पशु-पालन के लिए सही था। यहां के लोगों ने घोड़ों, बैलों और ऊँटों का पालन किया। घास और जंगली झाड़ियों के अलावा शुष्क बाजरा के डंठल और पत्तियां, शुष्क क्षेत्र की प्रमुख फसलों में से एक ने उत्कृष्ट पूरक चारे के रूप में काम किया। इसलिए दक्षिण एशिया में अभावग्रस्त शुष्क क्षेत्रों में पशुपालन ने जड़े जमा ली।

मध्यकाल में शुष्क क्षेत्र पशुओं, लोगों, वस्तुओं और विचारों के संवाहक के रूप में परिपक्वता तक पहुंच गया। ''इस समय से दक्षिण एशिया में विस्मयकारी परिवर्तन देखे गये जिसमें मुख्य रूप से मुस्लिम और तेलुगू योद्धा समूहों का बड़े पैमाने का प्रवासन और दक्कन में यादव और दक्षिण-पूर्व भारत में कल्लार और मारावर जैसे पहले के हाशिये पर स्थित आदिवासी समूहों का उद्य सम्मिलित था। प्रवासी योद्धा, चरवाहें और खेती करने वाले अपने विभिन्न देवी-देवताओं को अपने साथ नये क्षेत्रों में ले गये, जिससे भक्ति और तीर्थयात्रा के जटिल अर्न्तक्षेत्रीय संजाल का निर्माण करने में मदद मिली'' (गोमेन्स, 2012)। यह वह समय था जब मन्दिर भू-परिदृश्य में प्रमुख वितरण केन्द्रों के रूप में उभरे। बेहद गतिशील व्यापारियों और साम्प्रदायिक पुजारियों ने दूर-दराज की बस्तियों को एक घनिष्टता से जुड़ी हुई अर्थव्यवस्था और समाज के रूप में एकीकृत करने में मदद की।

इस्लाम के प्रसार ने शुष्क क्षेत्र के लोगों को स्थाई बसे हुए समाजों पर अपना नियन्त्रण बनाने में सक्षम बनाया। मानवीय गतिविधियों के पैमाने और गति में वृद्धि हुई। इतना ही

नहीं बल्कि इस क्षेत्र में हो रहे विकासों में भेड़-बकरी बैल, घोड़े, और ऊँटों जैसे पशुओं के पालन ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

17.4.2 अश्व, वृषभ और ऊँट

दूसरी सहस्त्राब्दी सी.ई. से, घोड़े, ऊँटों और बैलों की भूमिका काफी बढ़ गयी थी। सबसे अच्छे युद्ध के घोड़ों का मूल क्षेत्र मध्य एशिया और ईरान था। दक्षिण एशिया में पौष्टिक चारे की घासों की कमी ने घोड़े के पालने की संभावनाओं को सीमित कर दिया। इस समय के दौरान युद्ध के घोड़ों का महत्व कई गुना बढ़ गया। गज़नवियों, गौरियों और ख़लजियों की मुस्लिम सेनाओं के सफल अभियानों ने गतिशील युद्ध की खासकर घोड़े पर अच्छी तरह से प्रशिक्षित धुर्नधारियों की ताकत को साबित किया। शुरू के दौर में अधिकांश अश्व योद्धा ईरान और मध्य एशिया के थे। उनकी सैन्य और अश्व संबंधी विशेषता ने उन्हें भारतीय सेनाओं में काम पर रखने में मदद की। उन्हें मुसलमान या तुर्क (तुरूश्क) कहा जाता था। घोड़ों पर आसीन वे अश्वपति (घोड़ों के स्वामी) या *इराउत्तर* (घुड़सवार) के नाम से जाने जाते थे। मुसलमानों की घुड़सवार तकनीक की राजपूतों, मराठों और नायकों द्वारा नकल की गई थी और यह उनकी सैन्य सफलता के लिए जिम्मेदार थी। ''लगभग इसी समय घोड़े अश्व यौद्धाओं जैसे खांडोबा या भगवान अययानार जैसे धार्मिक पंथों में प्रकट हुए और अन्य गतिशील चरवाहों के सैन्य परंपराओं में उभरे। यह सब दक्षिण एशिया की राजनीति और अनुष्ठान दोनों पर घुड़सवार योद्धा के भारी प्रमाण का सुझाव देता है'' (गोमन्स, 2012)।

उत्तरी अरब की काठी के आविष्कार और ऊँट पालक घुमन्तु लोगों के स्थायी बसे हुए समाज में एकीकरण के साथ, ऊँट मध्य-पूर्व में परिवहन का सबसे महत्वपूर्ण साधन बन गया। कुछ विशेष विकासों ने इस चरण को चिन्हित किया। *मुक्ति* नामक एक नयी संकर नस्ल थी जो ठंड और कठोर परिस्थितियों के लिए अधिक प्रतिरोधी थी और मध्य-पूर्व के साथ मध्य एशियाई क्षेत्र को जोड़ती थी। इसके अलावा एक कूबड़वाला ऊँट ईरान और दक्षिण मध्य एशिया के ठंडे जलवायु के अनुकूल एक नई नस्ल के रूप में विकसित किया गया था। दक्षिण-एशिया में, 1000 सी.ई. के बाद से एक कूबड़ वाला ऊँट काफी प्रमुख बन गया था।

जबकि अच्छी गुणवता के घोड़े और ऊँट केवल दक्षिण एशिया के बाहर ही उपलब्ध थे, विशेषकर मध्य एशिया और मध्य पूर्व के स्टेपी और रेगिस्तान में, बैल काफी हद तक दक्षिण एशियाई था। बैलों को दक्षिण एशिया की शुष्क जलवायु में पाला जाता था। जबकि कुछ नस्लें जैसे गुजरात और मैसूर की नस्लें अनुकरणीय थी, अधिकांश मिश्रित नस्लें थी। मवेशियों की एक श्रेणी गांव के मवेशियों की थी जो बंजर भूमि और ऊसर भूमि की स्थानीय साझा भूमियों पर बेदखल चरते थे। हालांकि इसने मवेशियों के अधिकांश भाग का गठन किया और ये दुग्ध उत्पादों के मुख्य स्त्रोत थे लेकिन यह कृषि और लंबी दूरी के परिवहन की जरूरतों के अनुकूल नहीं थे। दूसरी श्रेणी वह थी जिसको घुमन्तू और स्थायी बसे दोनों प्रकार के व्यवसायिक चरवाहे पालते थे। चयनात्मक प्रजनन और खुले चरागाहों के पहुंच के कारण चुनी हुई और उच्च गुणवत्ता के मवेशियों का पालन किया गया। मवेशियों की इस नस्ल की कृषक और घुमन्तू व्यापारियों के बीच उच्च मांग थी।

बैल ने बारहवीं शताब्दी से शुष्क क्षेत्र में कृषि के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसने खाद उपलब्ध कराया, गांव के कुंओं से पानी ऊपर खींचा, खलिहान में कटी हुई फसल को रौदनें का काम किया और उत्पाद को स्थानीय बाजार तक पहुंचाया। कर्नाटक और दक्कन की कपास पैदा करने वाली काली मिट्टी को कमजोर बैलों द्वारा नहीं जोता जा सकता था। पेशेवर पशुपालकों द्वारा पाले गये अच्छी नस्ल के बैल कृषि उद्देश्यों के

लिए कृषि को कृषि योग्य बनाने में मदद कर सकते थे। इस प्रकार बैल, ऊँट और युद्ध के घोड़ों के प्रसार से कृषि, परिवहन और युद्ध की क्षमता में वृद्धि हुई।

बर्टन स्टीन का कहना है कि भारतीय उपमहाद्वीप में प्रारंभिक मध्यकालीन राज्य अर्न्तराज्यीय राजनीतिक क्षेत्रों में स्थित थे, जिसने राज्य गठन में उच्च भूमि के शुष्क क्षेत्रों के बढ़ते महत्व को रेखांकित किया। बारहवीं शताब्दी से, व्यापारियों, चरवाहों और योद्धाओं के माध्यम से, युद्ध के घोड़ों, ऊँटों और बैलों के प्रसार के बाद शुष्क क्षेत्र के आंतरिक सीमांत ने न केवल दक्षिण एशिया के इर्द-गिर्द के क्षेत्र को एक साथ लाया बल्कि उन्हें तुर्क फारस के व्यापक प्राकृतिक आवासों का हिस्सा भी बनाया।

दिल्ली सीमांत शुष्क क्षेत्र के ऐतिहासिक महत्व का एक उदाहरण है। दिल्ली की हिन्दुस्थान की दर-अल-सल्तनत के रूप में निरंतर केन्द्रीयता इसके पश्चिम में अस्थिर क्षेत्रों के और इसके पूर्व की अधिक स्थिर क्षेत्रों के संगम पर इसकी स्वयं की परिधिय स्थिति पर टिकी हुई थी। दुविधा यह थी कि दिल्ली शासकों का शासन स्थायी बसे समाज की स्थायी व्यवस्था से संबंधित था यद्यपि इनकी वास्तविक शक्ति शुष्क, बंजर क्षेत्रों से प्राप्त होती थी।

बोध प्रश्न 2

1) प्रारंभिक मध्यकाल में विभिन्न प्रकार के जलीय उपकरण क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) जो गोमन्स द्वारा वर्णित शुष्क क्षेत्रों की विशेषताओं का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.5 सारांश

इस इकाई में आपने गणित, खगोल विज्ञान, चिकित्सा, रसायन विज्ञान आदि क्षेत्रों में हुई उपलब्धियों के बारे में सीखा। हालांकि अधिकांश देशी रचनाएँ टीकाएं थी। नई प्रकार की शिक्षण संस्थाएं उभरी। अरब अपने साथ शिक्षा की अपनी स्वयं की परंपराएं लाएं। अरबी शिक्षा की परंपरा और भारतीय के बीच संलयन से दोनों के बीच एक संश्लेषण ने शिक्षा के वातावरण को सजीव बना दिया। बड़ी संख्या में भारतीय ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया। प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में कृषि में कई प्रगतियां हुई जो कई जल द्वारों के साथ जलीय उपकरणों और टेंकों के निर्माण द्वारा चिन्हित की जा सकती थी। सम्पूर्ण दक्षिण

एशिया एक शुष्क क्षेत्र का भाग बन गया जो मध्य एशिया, मध्य-पूर्व से दक्षिण एशिया की सीमाओं तक फेला हुआ था। इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर खानाबदोश सीमान्तों का प्रभुत्व के लिए कृषि क्षेत्रों के साथ टकराव हुआ। हालांकि दोनों के बीच एक पूरकता भी थी। शुष्क भूमि में पाले जाने वाले पशुओं का उपयोग कृषि समाजों द्वारा किया जाता था और इससे व्यापार, कृषि और परिवहन आसान हुआ।

17.6 शब्दावली

शुष्क क्षेत्र : उष्ण और शुष्क क्षेत्र जहाँ वर्षा का अभाव रहता है।

मदरसा : इस्लामिक शिक्षा का एक महाविद्यालय।

मकतब : एक इस्लामिक प्राथमिक विद्यालय।

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 17.2.1 और 17.2.3 देखें।

2) उप-भाग 17.2.2 देखें।

3) उप-भाग 17.2.4 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 17.3.1, 17.3.2 और 17.3.3 देखें।

2) उप-भाग 17.4.1 और 17.4.2 देखें।

17.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

गोमन्स, जोश (2012). द साइलेन्ट फ्रन्टियर ऑफ साउथ एशिया, 1100-1800 सी.ई. इन रंगराजन, महेश एंड शिवारामाकृष्णन्, के. *इंडियाज एन्वायरमेन्टल हिस्ट्रीः फ्रोम एनशिएंट टाइम्स टू द कलोनियल पीरियड. ए रीडर.* रानी खेतः पर्मानेंट ब्लैक.

सतपथी, विनोद बिहारी (दिनांकित नहीं). *हिस्ट्री ऑफ साइन्स एंड टेक्नोलोजी इन इंडिया*। DDCE@fgLV^{a}h@ M.A/SLM/ पेपर